की विभिन्न प्रक्रियाओ और प्रतिक्रियाओ का परिणाम है। अत प्रत्येक शब्द अपने निर्माण या सरचना के मूल मे अनेक प्रकार की सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्यान्य मानवीय प्रक्रियाओ को सजोये हुए है। आज शब्दो मे सुगठित अर्थो को प्रकट करने की अन्तर्हित शक्ति इन्ही प्रक्रियाओ का परिणाम है। ध्यान देने की बात यह है कि यह प्रक्रिया न तो कभी रुकती ही है और न मन्द ही पडती है। इसी कारण भाषा का परिवर्तन, परिवर्द्धन या विकास स्वतः ही होता रहता है। उसमे नये सर्जनात्मक शब्द जुडते रहते हैं और पुरानो का अवसान भी साथ होता रहता है। यह सब सामयिक या युगीन परिस्थितियो के परिणामस्वरूप ही हुआ करता है। यही कारण है कि विश्व की किसी भी भाषा का जो रूप एक हजार वर्ष पहले था, आज नही है।

हिन्दी भाषा का उद्भव कब हुआ, यह विषय अधिक विवादपूर्ण नही है। व्युत्पत्ति की दृष्टि मे 'हिन्दी' शब्द की उत्पत्ति 'सिन्धु' शब्द से मानी जाती है। बहुत पहले सिन्धु नदी के आसपास का भाग सिन्धु देश कहलाता था। कुछ विदेशी लोग 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे, इस कारण सिन्धु, शब्द का उच्चारण 'हिन्दु' होने लगा। धीरे-धीरे इस भू-भाग का नाम 'हिन्द' प्रसिद्ध हो गया। यहाँ के निवासी 'हिन्दी' कहे जाने लगे और उनके द्वारा प्रयोग मे लाई जाने वाली भाषा 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' कही जाने लगी। डॉ० भोलानाथ तिवारी जैसे अनेक भाषा-वैज्ञानिक 'सिन्धु' शब्द को सस्कृत मूल का न मानकर द्रविड या किसी पूर्ववर्ती भाषा का मानते हैं। वहाँ से यह सस्कृत में आया और ईरानी मे जाकर 'हिन्दु' हो गया। यही शब्द बाद मे समूचे भारत के लिए 'हिन्द' और वहाँ के निवासियो की भाषा के लिए 'हिन्दी' के रूप मे प्रचलित हुआ। हिन्दी भाषा के प्रसग मे इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग १४२४ ई० मे रचे गये शरफुद्दीन यज्दी के 'जफरनामा' मे उपलब्ध होता है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पहले उर्दू और हिन्दी दोनो के लिए 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग होता था। 'तजकिरा मजमुल-नवादर' मे आता है कि 'दर जबाने की हिन्दी कि मुराद उर्दू अस्ते'। पर १९वी सदी मे आकर अग्रेजो की विभेदपूर्ण भाषा-नीति के कारण हिन्दी तथा उर्दू को अलग अलग माना जाने लगा।

हिन्दी शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से हिन्दी प्रदेशो मे बोली जाने वाली समस्त
ओ के लिए होता है, जबकि सकुचित अर्थो मे खडी बोली के साहित्यिक
के अर्थ मे होता है। यह हिन्दी प्रदेशो की सरकारी भाषा होने के साथ-
पूरे भारत की राजभाषा है। देश का अधिकाश काम-काज इसीमे होता है।
१७ शब्दावली मे इसे 'मानक हिन्दी' या 'परिनिष्ठित हिन्दी' भी कहा
है। हिन्दी के दो रूप माने जाते हैं—एक पूर्वी हिन्दी और दूसरी पश्चिमी
। पर सामान्यतया इन दोनो को 'हिन्दी' ही कहा जाता है। पारिवारिक
१९५ की दृष्टि से हिन्दी भाषा यूरेशिया खण्ड के भारोपीय परिवार की एक
भाषा है। इस परिवार के 'शतम्' और 'कतम्' नाम से दो वर्ग माने जाते
'शतम्' वर्ग से ही आर्य परिवार की भाषाओ का सम्बन्ध है। आर्य भाषा-
ार के भी तीन अंग हैं—(१) ईरानी भाषा-वर्ग, (२) दरद भाषा-वर्ग
(३) भारतीय भाषा-वर्ग। इस अन्तिम वर्ग के अन्तर्गत ही भारत मे बोली
वाली अधिकाश भाषाएँ आती हैं। वैदिक सस्कृत से लेकर लौकिक सस्कृत,
, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा अन्य आधुनिक आर्य भाषाएँ इसीके अन्तर्गत
हैं। रूप-विधान की दृष्टि से हिन्दी श्लिष्ट योगात्मक भाषा है। इसका
व कठिनता से सरलता की ओर है। भाषा की प्रवृत्ति प्राय परिवर्तनशील
। है। यह परिवर्तन या विकास की प्रक्रिया बहुत ही लम्बी है। हमारे विचार
न्दी वैदिककाल से ही बोली जानेवाली आम बोलचाल की भाषा का विकृत,
सित या अपभ्रष्ट रूप है। इसी कारण आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास
स-ग्यारह सौ वर्ष पुराना मानते हुए भी हम उसे पूर्ववर्ती भाषाओ से सम्बद्ध
ा हैं। यह सम्बद्धता उसके विकास-क्रम की ही द्योतक है। इसी कारण हिन्दी
त भाषा है। वह अन्य अनेक भाषाओ के समान स्थिर होकर जड या मृत
हो गई है। सस्कृत के समान इसके नियम स्थिर नही हो गए और न ही
ास-क्रम रुकने पाया है।

हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषाएँ—भाषा का अनवरत प्रवाह नदी की धारा के
न सतत प्रवहनशील रहता है। यह हम मान चुके हैं कि हिन्दी प्राचीनतम
चाल की भाषा का ही विकृत या विकसित रूप है, अत विकास-क्रम की

दृष्टि से इनके सम्बन्ध मे सक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर लेना अधिक समीचीन होगा। इन सम्बद्ध भाषाओ का स्वरूप निम्नलिखित है

१ वैदिक सस्कृत—इस भाषा मे ऋषि प्रणीत ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद तक का समूचा साहित्य रचा गया है। इस कारण यह भाषा वैदिक सस्कृत कहलाती है। ऋग्वेद मे और अन्य वेदो मे भी भाषायी परिवर्तन देखा जा सकता है। इससे भाषा की निरन्तर परिवर्तनशीलता का सहज ही अनुमान हो जाता है। कुछ विद्वानो के अनुसार ऋग्वेद की भाषा से बोलचाल की भाषा अवश्य ही भिन्न रही होगी। उन्ही भिन्न रूपो को वैदिक सस्कृत या भाषा कहा जाता है। क्योकि प्रत्येक युग की साहित्यिक और बोलचाल की भाषा मे एक स्पष्ट अन्तर रहा करता है, विकास-क्रम की दृष्टि से हिन्दी का मूल उत्स वे बोल-चाल की वैदिक भाषाएँ ही रही होगी, क्योकि हमारे विचार मे कोई भी भाषा एक ही दिन और युग का नही, बल्कि युग-युगान्तर के व्यवहार का क्रमश विकसित परिणाम हुआ करती है।

२ लौकिक सस्कृत या सस्कृत—वैदिक भाषा के साथ-साथ जिस प्रमुख लौकिक या बोलचाल की भाषा का प्रयोग होता था, आगे चलकर उसमे भी साहित्य की रचना होने लगी। साहित्यिक प्रक्रिया मे पडकर इस भाषा का रूप सस्कार होने लगा। बाद मे इस विकसित भाषा को व्याकरण के नियमो मे बाधा जाने लगा। व्याकरण की दृष्टि से सुसस्कृत होकर ही वैदिक भाषा 'सस्कृत' या 'लौकिक सस्कृत' के नाम से प्रसिद्ध हो गई। इस सस्कृत भाषा का समस्त विशाल साहित्य अत्यन्त समृद्ध है और विश्व की समस्त भाषाओ के साहित्य मे बेजोड माना जाता है। व्याकरण के, विशेषत पाणिनि-व्याकरण के नियमो से नियमित हो जाने के कारण इसका विकास-क्रम अवरुद्ध हो गया है। फिर भी प्राचीनतम काल १५०० से भी अधिक ई० पू० से लेकर आज तक इसमे [illegible] रूप से साहित्य की रचना अनवरत हो रही है।

पाणिनि—व्याकरण के समुचित नियमो मे आबद्ध हो जाने के कारण धीरे-धीरे [illegible] जनभाषा न रहकर मात्र विद्वानो की भाषा ही रह गई। तब स्वत लोकव्यवहार की अनेक प्रकार की प्रादेशिक भाषाएँ विकसित होने लगी। इनमे से

-य या पूर्वी वोली और पश्चिमी वोली ये दो रूप विशेप उल्लेखनीय हैं। चमी भाषा का साहित्यिक रूप ही 'पालि' कहलाया। इस भाषा मे काफी द्ध साहित्य रचा गया। गौतम बुद्ध ने इसी जनभाषा मे अपने सिद्धान्तो का ार किया। यह भाषा बौद्ध-प्रभाव के कारण अनेक पडोसी देशो मे भी प्रचलित ।

प्राकृत भाषाएँ—सस्कृत के समान जव पालि भाषा भी साहित्यिक भाषा कर रह गई, तो जनता मे वोलचाल के लिए अन्य भाषाओ का विकास होने गा। प्रकृति और भौगोलिक विभेदो के कारण प्राकृत के अन्तर्गत यहाँ अनेक ाषाओ का विकास हुआ। इनमे से निम्नलिखित चार रूप विशेप महत्त्वपूर्ण ाने जाते हैं—शौरसेनी प्राकृत, मागधी प्राकृत, अर्द्ध मागधी प्राकृत और महाराष्ट्री कृत। इनमे महाराष्ट्री प्राकृत को अधिक सम्पन्न माना जाता है। ईसा की थम शती मे प्राकृतो का साहित्यिक रूप स्थिर हो गया था। शूरसेन—मथुरा ाथा आसपास के प्रदेशो में वोली जाने वाली प्राकृत शौरसेनी कहलाई। ध्यान रहे, ाज की हिन्दी का सीधा विकास इसी प्राकृत से माना जाता है और उर्दू भी इसीका ग या विकसित रूप है, जो लिपि की दृष्टि से १६वी शती मे अलग हुआ। र्वी प्रदेशो मे व्यवहृत प्राकृत भाषा मागधी कही जाने लगी। शौरसेनी और मागधी प्रदेशो की मध्यवर्तिनी को अर्द्धमागधी कहा जाने लगा। इसी प्रकार मध्य देश के वरार आदि प्रदेशो मे व्यवहृत प्राकृत महाराष्ट्री कही गई। प्राय. सभी प्राकृतो मे अनेक प्रकार का विधात्मक साहित्य रचा गया। समय की गतिशीलता के साथ जव प्राकृतो को भी व्याकरण के नियमो मे वाँधा जाने लगा, तो जनता की वोलचाल की भाषा इनसे अलग होती गई।

अपभ्रश—समय के साथ-साथ साहित्यिक प्राकृतो का रूप स्थिर हो गया और जनता की वोलचाल की भाषा मे से एक नई भाषा का विकास होने लगा। इस विकास के फलस्वरूप जो भाषा सामने आई, वह अपभ्रश कहलाई। 'अपभ्रश' शब्द का सामान्य अर्थ 'विगडा हुआ या अपभ्रष्ट' माना जाता है, जो कि युक्ति-सगत नही है। क्योकि कोई भी भाषा या तो स्थिर हो जाती है (जैसे सस्कृत) या फिर परिवर्तित और विकसित होती है। अत अपभ्रश को विकास का ही पर्याय

मानना चाहिए। इन्ही अपभ्रशो से ही आधुनिक भारतीय भापाओ का उद्भव हुआ है। भापा-वैज्ञानिक हिन्दी, वगला, गुजराती, मराठी, उडिया, असमिया आदि का जन्म इन्हीसे ही मानते है।

हिन्दी—शौरसेनी प्राकृत से ही अपभ्रश के क्रम और प्रक्रिया से गुजर कर हिन्दी भापा का उद्भव तथा विकास हुआ। आज हिन्दी भापा जिस रूप मे विकसित हुई और हो रही है, वह भी अनेक प्रक्रियाओ और प्रतिक्रियाओ का परिणाम है। कुछ विद्वान् आधुनिक हिन्दी का उद्भव सातवी शती से मानते हैं, जबकि अन्य ऐसा नही मानते। प्राय विद्वानो ने इसका विकास-क्रम सम्वत् १०५० अर्थात् ग्यरहवी शती के उत्तरार्द्ध से ही माना है।

हिन्दी भापा उद्भव और विकास

भापा-विज्ञान की दृष्टि खडी वोली के नाम से अभिहित की जाने वाली हिन्दी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रश मे हुआ है। भापा-वैज्ञानिक पूर्वी और पश्चिमी नाम से हिन्दी के दो रूप मानते हैं। इस दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी का उद्भव यदि शौरसेनी से है तो अर्द्धमागधी से भी पूर्वी हिन्दी का उद्भव मानना पडेगा। पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी की लगभग १७ वोलियाँ तथा उप-वोलियाँ मानी जाती है। इस दृष्टि से हिन्दी के व्यापक उद्भव मे शौरसेनी, अर्द्धमागधी के अतिरिक्त मागधी का योगदान भी स्वीकार करना पटता है। 'परिनिष्ठित' या 'मानक' हिन्दी का उद्भव शौरसेनी प्राकृत से ही मानना अधिक समीचीन है।

विकास-क्रम की दृष्टि से हिन्दी के कुछ प्रारूप पाली भापा मे ही उपलब्ध होने लगते हैं, पर प्राकृतो के काल मे उन रूपो मे अधिक अभिवृद्धि हो गई। अपभ्रश-काल मे आकर इन रूपो का प्रतिशत चालीस के आसपास पहुँच गया। यदि हिन्दी भापा का वास्तविक उद्भव १००० ईस्वी या १०५० से मानें तो नौ-साढे-नौ सौ वर्षो के विकास के इस इतिहास को निम्नलिखित तीन भागो या अन्तर्युगो मे विभाजित किया जा सकता है

१ आदिकाल—१००० या १०५० ई० से १५०० तक।

हिन्दी मे प्रवेश करने लगे। कृष्णभक्ति के प्रदेश मे व्रज और रामभक्ति के प्रदेश में अवधी भाषा का प्रचार-प्रसार विशेष हुआ। मैथिली, खड़ीबोली, डिंगल आदि भाषाओ मे भी इस काल मे साहित्य रचा गया।

३ आधुनिक काल (१८०० ई० से आज तक)—इसे हिन्दी भाषा के चरम विकास का युग कहा जा सकता है। क्योकि आज हिन्दी मे ससार की अति समृद्ध भाषाओ से टक्कर ले सकने की पूर्ण क्षमता आ गई है। उसकी कई उपभाषाएँ और बोलियाँ आज पूर्ण विकसित होकर भाषा का आसन ग्रहण कर चुकी हैं। हिन्दी भाषा ने अन्य अनेक भाषाओ के बहुसख्यक शब्दो को अपने मे पूर्णतया पचा लिया है। सामयिक आवश्यकताओ के अनुरूप हजारो की सख्या मे नये शब्दो की रूप-रचना हुई है और हो रही है। सस्कृत और अग्रेजी शब्दो का हिन्दीकरण अधिकाधिक हुआ एव हो रहा है। देश की अन्य सजातीय या विजातीय भाषाओ के शब्दो को ग्रहण करके भी आज की हिन्दी समृद्धि-पथ पर अग्रसर है। ज्ञान-विज्ञान की प्रगतियो के परिवेश मे शब्द-रचना का विशेष महत्त्व है। कई नई ध्वनियाँ भी विकसित हुई हैं। जैसे—ऑ (डॉक्टर, कॉलेज, पॉल आदि)। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे खड़ी बोली का ही प्रयोग प्रमुख रूप से चल रहा है। कई सयुक्त ध्वनियाँ या स्वर आज मूल स्वर बन गये हैं।

इससे स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा आज पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी है। फिर भी इसमे आगामी विकास के द्वार अवरुद्ध नहीं हुए हैं। नये-पुराने अनेकानेक भाषाविद् और साहित्यकार इसके भावी विकास के लिए पूर्णतया प्रयत्नशील हैं

लिपि उद्भव तथा विकास

भाषा के इतिहास के समान लिपि का इतिहास भी पर्याप्त पुराना है। क्योकि केवल उच्चारण द्वारा भाषा को प्रयोग मे लाकर मानव की महानतम वैचारिक या भावात्मक उपलब्धियो को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता था। अत विकासशील आदिम समाज के मानवो ने लिपि (लेखनविधि) की आवश्यकता का अनुभव किया। फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये जाने लगे। उन्ही प्रयोगो और प्रक्रियाओ का फल आज विभिन्न सर्वांगीण लिपियाँ हैं।

भारत मे दो लिपियो का प्रयोग मिलता है—एक ब्राह्मी तथा दूसरी खरोष्ट्री या खरोष्ठी। खरोष्ठी या खरोष्ट्री को पूर्णतया भारतीय नही माना जाता। दूसरे इसका प्रयोग भी कम ही हुआ है। हिन्दी की लिपि देवनागरी के समान भारत के आर्य परिवार की प्राय सभी भाषा-लिपियो का विकास ब्राह्मी से ही माना जाता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने ब्राह्मी लिपि को भी विदेशी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। इन विद्वानो मे राईस डेविस, प्रिसेम, वर्नेल, विल्सन, मैक्समूलर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। राईस डेविस ने तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस किया है कि ब्राह्मी लिपि का विकास युफ्रेटिस नदी की तराई मे प्रचलित किसी प्राचीनतम विदेशी लिपि से हुआ। अन्य विद्वान् और असीरी या फोनोशियन लिपियो से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं, पर ये मत सर्वथा निराधार हैं। इनका विरोध करते हुए अनेक भारतीय विद्वानो ने ब्रह्मी को पूर्णतया भारत की मौलिक लिपि प्रमाणित किया है। प० गौरीशकर हीराचन्द ओझा के अनुसार—

"यह भारत का मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुन्दरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पडा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणो की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो, परन्तु इसमें सन्देह नही कि इसका फोनोशियन आदि से कोई सबध नही।"

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ० राजबली पाण्डेय, डॉ० तारापुर वाला कनिघम, एडवर्ड, थॉमस आदि अनेक भारतीय एव पाश्चात्य विद्वान् भी इसी मत से सहमत हैं।

पांचवी सदी ई० पू० मे भी पहले से ब्राह्मी लिपि के नमूने उपलब्ध हुए हैं। हमारे विचार मे ऋग्वेद के रचना-काल मे भी पूर्व यह लिपि अस्तित्व मे आ गई होगी। तभी वैदिक साहित्य के रूप मे विश्व के श्रेष्ठतम साहित्य को सुरक्षित रखा जा सका। बाद मे उत्तर और दक्षिण भारत की दृष्टि से ब्राह्मी लिपि के रूपों मे एक स्पष्ट अन्तर आने लगा। उत्तर भारत के रूप प्राचीनतम रूपो के अधिक निकट रहे, जबकि दक्षिणी रूप परिवर्तित होने लगे। ये परिवर्तित रूप क्रमश (१) उत्तरी शैली और (२) दक्षिणी शैली के नाम से अभिहित किये जाने लगे। इन दोनो शैलियो को ही समस्त भारतीय भाषायी-लिपियो का मूल

उद्गम माना जाता है। शेष सभी लिपियाँ इन्ही दो के अन्तर्गत आ जाती हैं।

ब्राह्मी लिपि की उत्तरी शाखा या शैली से पहले गुप्त वंश के राजाओ के काल मे 'गुप्त लिपि' का विकास हुआ। तदनतर इसी 'गुप्त लिपि' से 'कुटिल लिपि' का एक नया रूप विकसित हुआ। क्योकि इस लिपि के स्वरो एव मात्राओ आदि की आकृतियाँ कुटिल अर्थात् टेढी थी, अत यह नाम स्वत ही प्रचलित हो गया। प्राचीन नागरी तथा शारदा लिपियो का उद्भव एव क्रमश. विकास इसी कुटिल लिपि से ही माना जाता है।

ब्राह्मी और इससे क्रमश विकसित नागरी लिपि की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि अपनी वैज्ञानिकता के कारण इसमे उच्चरित ध्वनियाँ ज्यो की त्यो लिखी जा सकती हैं। मात्रा-स्वर आदि योजना मे कुछ स्थान का व्यतिक्रम अवश्य करना पडता है, फिर भी वह इतना निश्चित है और हम लोग परम्परा गत रूप से इसके इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि इसे अवैज्ञानिक कहना एक दम्भ का पालन और मानसिक दासता के सिवाय और कुछ भी नही है। अपनी इसी वैज्ञानिकता के कारण ही देवनागरी या नागरी लिपि आज भारत मे सर्वाधिक प्रचलित है। नेपाली, मराठी, मैथिली, अवधी आदि अनेक भाषाएँ इसीमे लिखी जाती हैं। बगला, गुजराती, असमिया, उडीसा, गुरुमुखी आदि लिपियो की वर्ण योजना तो देवनागरी की है ही, इनका रूप भी बहुत कुछ इससे मिलता-जुलता है। इसी कारण भारतीय सविधान मे 'देवनागरी' या 'नागरी' को ही भारत की राष्ट्रलिपि घोषित किया गया है। निश्चय ही नागरी सारे देश मे भाषायी एकता स्थापित कर सकने मे सक्षम है।

२ | अपभ्रंश भाषा और साहित्य

प्रथम अध्याय मे स्पष्ट हो चुका है कि आधुनिक हिन्दी भाषा का विकास 'अपभ्रंश' भाषा, विशेषत शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। अत इस भाषा के उपलब्ध साहित्य पर यहाँ पृथक् से चर्चा कर लेना अधिक समीचीन होगा। यह सत्य है कि कई आधुनिक इतिहासज्ञ आगे आने वाले आदि काल (वीरगाथा काल) की काल-सीमा को अनिश्चित मानकर अपभ्रंश-साहित्य की चर्चा भी इसीके अन्तर्गत करते हैं, परन्तु हमारे विचार मे हिन्दी साहित्य के इतिहास के सामान्य पाठकों की दृष्टि से इसकी पृथक् चर्चा करना ही अधिक सुविधाजनक और वैज्ञानिक है। इसी दृष्टि से यहाँ आरम्भ मे ही, इसकी पृथक् चर्चा की जा रही है।

'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग कुछ विद्वानो ने 'अवहट्ट' रूप में भी किया है। यह 'अवहट्ट' शब्द अपभ्रंश का ही अपभ्रष्ट या विकृत रूप माना जाता है। हमारे विचार मे प्राकृतो के युगो के बाद अपभ्रंश भाषा का युग आया। पहले अपभ्रंश कही जाने वाली भाषाओ का प्रयोग बोलचाल के लिए ही किया जाता रहा, बाद मे इसमे साहित्य भी लिखा जाने लगा। जब यह भाषा साहित्यिक भाषा के रूप मे काफी विकसित हो गई, तो इसमे पुरानी हिन्दी या अन्य देश-भाषाओ के रूप भी मिलने लगे। तब कुछ लोग अपभ्रंश को ही 'अवहट्ट' कहने लगे, जो वर्तमानता की दृष्टि से उचित भी प्रतीत होता है। शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी आदि भाषाओ का उद्भव और विकास इसी प्रक्रिया मे हुआ है। इसके अनन्तर

२ नाथ साहित्य ।

३ जैन साहित्य ।

४ शुद्ध लौकिक साहित्य ।

आगे साहित्य के इन चारो रूपो का पृथक् से उल्लेख किया जा रहा है।

१ सिद्ध साहित्य

लगभग पचास-साठ वर्ष पूर्व तक या तो इस प्रकार के साहित्य की पूर्णतया जानकारी ही न थी, यदि कुछ जानकारी थी भी तो इसे धार्मिक या साम्प्रदायिक साहित्य कहकर इसकी उपेक्षा की जाती रही है। परन्तु सन् १९१४ मे श्री चिमनलाल डाह्याजी ने पाटण-स्थित जैन-ग्रन्थ-भण्डारो मे सुरक्षित अनेक साहित्यिक पाण्डुलिपियो को खोज निकाला। इस खोज के फलस्वरूप अब्दुर्रहमान-विरचित 'सदेश रासक', स्वयभू द्वारा रचा गया 'पउम चरिउ' तथा धनपाल धक्कड द्वारा रचित 'भविसयत्त कहा' जैसे अपभ्रश के श्रेष्ठ ग्रन्थ हमारे सामने आये। इसी प्रकार सन् १९१८ मे श्री जिन विजय मुनि ने भी कुछ रचनाएँ खोज निकाली। इनमे उल्लेखनीय नाम हैं—'तिसट्ठी लक्खण महापुराण' तथा स्वयभू द्वारा रचा गया 'हरिवश पुराण' नामक ग्रन्थ। सिद्ध या बौद्ध साहित्य के अन्य विभिन्न ग्रन्थों का अन्वेषण करने वाले अन्वेषक विद्वानो मे श्री राहुल, डॉ० बागची, प० हरप्रसाद शास्त्री, हेमराज शर्मा आदि के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके प्रयत्नो के फलस्वरूप अपभ्रश साहित्य की विकसित परम्परा का सम्पूर्ण ज्ञान हो सका।

सिद्धो की परम्परा बौद्ध धर्म की विकृति मानी जाती है। ४८३ ई० पू० बुद्ध के निर्वाण के बाद कुछ वर्षों तक तो बुद्ध मत का प्रचार जोरो पर रहा, पर आगे चलकर इसकी महायान और हीनयान नामक दो शाखाएँ हो गई। हीनयान वालो ने सिद्धान्त-पक्ष को प्राथमिकता दी, जबकि महायान वाले व्यावहारिकता की ओर अग्रसर होते गये। बाद मे शकर के शैव-धर्म से प्रभावित होकर इस धर्म ने तन्त्र-मन्त्रादि को भी अगीकार कर लिया। धीरे-धीरे इसमे भी अन्य तान्त्रिको के समान जन्त्र, मन्त्र, भैरवीचक्र, मद्य-मैथुन की प्रवृत्ति ने घर

कर लिया। सदाचार नाममात्र को भी न रहा। अन्य धर्मों की देखादेखी ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास न करने वाले ये बौद्ध गौतम बुद्ध की भी ईश्वर के रूप मे उपासना करने लगे। तन्त्र-साधना ने इस धर्म की मूल दिशा एकदम परिवर्तित कर दी। सयम और त्याग के स्थान पर भोग और सुखो को ही प्रश्रय दिया जाने लगा। इसकी नई शाखाएँ, प्रशाखाएँ हो गई। इन्हींमे से मन्त्रो द्वारा सिद्धि चाहने वाले सिद्ध कहलाए।

सिद्धो का प्राबल्य दक्षिण भारत मे प्रमुख रूप से हुआ। श्री पर्वत इनका प्रधान केन्द्र था। बगाल तथा बिहार प्रदेश भी इन सिद्धो से काफी प्रभावित हुए। इधर इनकी 'मगही' भाषा मे रचित रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इन सिद्धो की संख्या चौरासी तक स्वीकार की जाती है। इनका समय ७९७ से लेकर १२५७ ई० तक माना जाता है। चौरासी सिद्धो मे से ५३ की रचनाएँ उपलब्ध है, जबकि १४ सिद्धो की रचनाओ को ही कुछ महत्त्व प्राप्त है। इन चौदह मे से भी सरहपा, शबरपा, लुईपा, शान्तिपा, ततिपा, कण्हपा, तिलोपा आदि के नाम विशेष उल्लेख्य हैं। 'पा' शब्द का प्रयोग प्रत्येक सिद्ध के नाम के साथ अवश्य जुडा मिलता है। इन्होने प्रधानतया गीति और मुक्तक शैली मे ही काव्य रचे। गीतियाँ इनमे प्रचलित सिद्धियो के अवसर पर गाई जाती थी। मुक्तको मे सामान्य नीतियो और सिद्धान्तो की चर्चा मिलती है। इन्होने बोधिचित्त का रागात्मक वर्णन ही प्रधान रूप से किया है। इसी कारण कई विद्वान् इन पर रहस्यात्मकता का आरोप कर कुछ गहन आध्यात्मिक तत्त्व खोज निकालने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि इसमे अलौकिक तत्त्वो या प्रेम का तत्त्व उतना नही, जितनी लौकिक भोगवाद की अश्लीलता है।

इनमे खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति के दर्शन भी यत्र-तत्र होते हैं। कही-कही सामान्य तात्त्विक विवेचन भी मिलता है। ऐसी उक्तियाँ साहित्यिक न होकर धार्मिक ही अधिक है। सिद्ध प्रायः हीन जातियो के अशिक्षित और अनपढ थे, अत. इनकी रचनाओ मे कोई विशेष दार्शनिक तत्त्व नही खोजा जा सकता। धर्म और आध्यात्मिकता की साधना की आड मे ये डोम आदि नीची जातियो की नारियो के शरीर का उपभोग करते रहे।

इनकी कुछ रचनाएँ अर्द्ध मागधी अपभ्रंश के निकट की मानी जाती हैं। इन्हें ही श्री राहुल जैसे विद्वानो ने पुरानी हिन्दी का नाम दिया है। इसे सध्या भाषा भी कहा गया है। रचनाओ मे शृगार के साथ-साथ शान्त रस भी कही-कहीं दिखाई दे जाता है। आत्मसन्तुष्टि का भाव भी रस की दृष्टि से कही-कही देखा जा सकता है। इन्होने उपदेशात्मक, नीति और आचार सम्बन्धी तथा रहस्यवादी या साधना-सम्बन्धी तीन प्रकार की रचनाएँ की। कही-कही मुक्तक पदो में काव्यशास्त्र की फुटकर चर्चा भी मिलती है। शैली मे सामान्य और प्रतीकात्मक दोनो प्रकार के तत्त्व विद्यमान है। सामान्य शैली अधिक प्रभावी तथा ग्राह्य है। इन्होने सादृश्यमूलक अलकारो का प्रयोग अधिक किया है।

अन्त मे कहा जा सकता है कि सिद्ध साहित्य मे कुछ अच्छी बाते अवश्य थी, परन्तु इनका झुकाव भौतिक विलासिता की ओर ही अधिक होता जा रहा था। यही देखकर गोरखनाथ को कहना पडा था —

"चारि पहिर आलिगन निद्रा, ससार जाई विषया बाही।"

इन्ही बातो की प्रतिक्रिया आगे चलकर सन्तो की वाणी मे प्रकट हुई थी।

२ नाथ साहित्य

ऊपर यह बताया जा चुका है कि गौतम बुद्ध की मृत्यु के बाद इनका मत महायान और हीनयान नामक दो शाखाओ मे विभाजित हो गया था। आगे चल कर मत्रो की सिद्धियो पर विश्वास करने के कारण महायान भी 'मत्रयान' मात्र बनकर रह गया। इसके भी दो भाग हो गये। इनके नाम ये वज्रयान और सहजयान। इस वज्रयान की सहज साधना-पद्धति ही आगे चलकर नाथ-सम्प्रदाय के रूप मे विकसित हुई। इन्होने व्यर्थ के कर्मकाण्डो मे जीवन को मुक्त किया और अध्यात्म-साधना को सहज रूप की ओर ले गये। अत कहा जा सकता है कि नाथ-सम्प्रदाय सिद्ध-सम्प्रदाय का ही सशक्त एव विकसित रूप है। अपनी सशक्तता के कारण ही लगभग १४वी शती तक इस सम्प्रदाय ने देश को अत्यधिक प्रभावित किया। आज भी यह सम्प्रदाय विद्यमान है।

नाथ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो मे शैवमत और हठयोग का अद्भुत समन्वय देखा

जा सकता है। ये ईश्वर को 'अलख निरजन' आदि नामो से सम्बोधित करते थे। ये निवृत्ति-मार्गी थे। इस सम्प्रदाय मे निवृत्ति और मुक्ति गुरु के प्रसाद से ही सम्भव मानी जाती है, अत गुरु का विशेष महत्त्व है। आध्यात्मिक मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयत्नशील रहने के कारण इस सम्प्रदाय का प्रचार अधिक न हो सका। आध्यात्मिक सकेतो के लिए इन्होने रहस्यात्मक शैलियो का प्रयोग किया है, जो सामान्य जन की पहुँच से परे है। इन्द्रिय-दमन और नारी का सग-त्याग इनकी प्रमुख मान्यता रही है। प्राण-साधना और मन-साधना भी इनकी साधना के प्रमुख अग हैं। शिव और शक्ति ही इनकी दृष्टि मे आदि तत्त्व हैं। मन-साधना का तात्पर्य मन को सासारिकता की ओर से मोडकर शिव और शक्ति तक केन्द्रित करना है, ताकि मुक्ति सुलभ हो सके।

इन्होने अपनी मान्यताओं और साधन-सिद्धान्तो के प्रचार के लिए भी उस समय की जनभाषा अपभ्रश को ही अपनाया। काव्यो मे साधना पक्ष की नैतिकता का स्वर स्पष्ट सुना जा सकता है। ये साखियाँ और पद रचकर अपने सिद्धान्तो का प्रचार और वामाचारो का विरोध करते रहे। नीति, आचार, सयम और योग इनकी साहित्यिक साधना के प्रमुख स्वर हैं। ये चारित्रिक और मानसिक शुद्धि पर अधिक बल देते रहे।

नाथ-सम्प्रदाय की भी कई परम्पराएँ मिलती हैं। चौरासी सिद्ध तो प्रसिद्ध हैं ही, नव नाथो की प्रसिद्धि भी कम नही। हमारे विचार मे चौरासी मे से ही महत्त्वपूर्ण नौ नाथो को छाँटकर 'नव नाथ' प्रसिद्ध हुए। इन नव-नाथो मे शिव को आदि नाथ माना जाता है। इनके अतिरिक्त मत्स्येन्द्र या मच्छन्दरनाथ, जालन्धरनाथ और गोरखनाथ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अधिकाश विद्वान् नाथ-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक मत्स्येन्द्र या मच्छन्दरनाथ को ही मानते हैं, पर सर्वाधिक महत्त्व (व्यावहारिक और साहित्यिक दोनो) गोरखनाथ को ही प्राप्त है। इन्ही की प्रसिद्धि अधिक है। गोरखनाथ के नाम से अनेक ग्रथ मिलते हैं, पर उनकी प्रामाणिकता अभी तक सन्देहास्पद बनी हुई है। फिर भी इनमे से चौदह रचनाओ को विद्वान् प्राय: प्रामाणिक मानते हैं। इनमे से पद शिष्यादर्शन, प्राणसकली, सप्तवार, मच्छिन्दर-गोरखबोध, ज्ञानतिलक, पचमासा

आदि का विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। कुछ विद्वान् यह भी कहते है कि उपरोक्त समस्त रचनाएँ गोरखनाथ की ही रची हुई नही हैं, बल्कि इनके मत को प्रचारित करने के लिए इनके नाम से शिष्यो ने रची। कुछ भी हो, इनका साम्प्रदायिक और साहित्यिक महत्त्व तो स्वीकार किया ही जाता है। इनमे सरलता, सुबोधता और स्वाभाविक प्रभविष्णुता आदि गुण विद्यमान हैं। उदाहरणत गोरखनाथ का यह पद्य देखें —

दरपन माही दरसन देष्या, नीर निरन्तर झाई।
आपा माही आपा प्रगट्या, लखै तौ दूर न जाई।।

इस भाषा को यदि चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और श्री राहुल पुरानी हिन्दी कहते हैं तो कोई अत्युक्ति नही। नाथ-साहित्य के प्रभाव और देन को आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी के इन शब्दो मे अंकित किया जा सकता है —

"उसने परवर्ती सन्तो के लिए श्रद्धाचरण प्रधान धर्म की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। जिन सन्त-साधको की रचनाओ से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हे बहुत कुछ बनी-बनाई भूमि मिली थी। इस दृढ स्वर ने यहाँ धार्मिक साधना मे गलदश्रु, भावुकता और ढुलमुलेपन को आने नही दिया।"

३ जैन साहित्य

किसी भी व्यक्ति या सम्प्रदाय के लिए अपने विचार जन-जीवन तक पहुँचाने के लिए जनभाषा को अपनाना परम आवश्यक होता है। इसी तथ्य से अवगत होकर बौद्धो या सिद्धो के समान जैन धर्म-प्रचारको ने भी अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए तत्कालीन प्रचलित लोकभाषा अपभ्रंश को ही अपना माध्यम बनाया। आठवी शती से लेकर तेरहवी शती तक जैन-श्रमणको की काठियावाड गुजरात मे यद्यपि प्रधानता रही, पर उत्तर भारत मे भी इनका प्रभाव कम नही था। आज श्री जिन विजय मुनि, श्री राहुल, हीरालाल आदि के प्रयत्नो से पर्याप्त मात्रा मे जैनसाहित्य उपलब्ध हुआ है। अभी तक यद्यपि इस साहित्य का अध्ययन सम्पूर्ण नही हो पाया, तो भी जितना हो सका है, उससे इस साहित्य की श्रेष्ठता एव सर्वाङ्गीणता मे सन्देह नही रह जाता।

जैन धर्म हिन्दू धर्म के अधिक समीप माना जाता है। इसमे परमात्मा की सत्ता
ो स्वीकार करते हुए भी इसे चित् तथा आनन्द का स्रोत मानते हैं, सृष्टि का
यामक नही। इनके मतानुसार कोई भी व्यक्ति अविरत साधना के मार्ग पर
लकर परमात्मा हो सकता है। अहिंसा, करुणा, दया, आचार-विचार की शुद्धता,
ागमय जीवन इनके प्रमुख सिद्धान्त हैं। इन्होने अपने साहित्य के द्वारा इन्हीं
द्धान्तो के प्रचार का प्रयत्न किया। अत इसका साम्प्रदायिक प्रचारात्मक
महत्त्व ही अधिक है। फिर भी, जैसाकि हम ऊपर कह चुके है, यह अपने मे पूर्ण
है; क्योकि अनेक कवियो की वाणी ने साम्प्रदायिक प्रचार की सीमा लाँघकर
उदात्त मानवीय भावनाओ का सहज स्वर भी मुखरित किया है। अहिंसा, कष्ट-
सहिष्णुता और सदाचार से सम्बन्धित बातें इसी प्रकार की मानी जा सकती हैं।
यही कारण है कि तात्कालिक व्याकरण जैसे ग्रन्थो मे भी उदाहरणत इन रचनाओ
के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

जहाँ तक इनके विषय-वर्णन का प्रश्न है, इन्होने रामायण और महाभारत
के कथानको और कथानायको को अपने विश्वास और मान्यताओ के साँचे मे ढाल
कर प्रस्तुत करने के सफल प्रयत्न किये। इन्होने पौराणिक पुरुषो के अतिरिक्त
पने सम्प्रदाय के महापुरुषो के जीवनो को भी काव्यबद्ध किया। इसके साथ-
साथ प्रचलित लोककथाओ को भी काव्यात्मक प्रश्रय दिया। कुछ रहस्यात्मक
काव्य भी रचे। पर इनका प्रयत्न सर्वत्र प्रायः साम्प्रदायिक रग देने का ही रहा।
फिर भी खण्डन-मण्डन की व्यवहार-शून्य प्रवृत्ति इनमे नही रही। इसी कारण
इनकी अनेक रचनाओ मे मानव-मन की सहज कोमल अनुभूतियो के दर्शन होते
हैं और इसी कारण इनका साहित्यिक महत्त्व भी स्वीकार किया जाता है।

इनकी रचनाओ मे प्रबन्धात्मकता प्रमुख है। प्राय· १६ मात्राओ वाले पद्धरि
छन्द का अधिक प्रयोग हुआ है। स्वयभू, पुष्पदन्त आदि इस सम्प्रदाय के प्रमुख
और प्रख्यात रचनाकार माने जाते हैं। 'स्वयभू' का समय ७९० ई० के आसपास
ाना जाता है। इसकी चार रचनाएँ प्राप्त हैं। इनके नाम हैं—पउम चरिउ
पद्म चरित), रिट्ठणेमि चरिउ (अरिष्टनेमि चरित-हरिवश पुराण), स्वयंभू
न्दस और पचनि चरिउ। इनमे से प्रथम दो प्रबन्ध काव्य हैं। तीसरी रचना

छन्दशास्त्र से सम्बन्ध रखती है । पहली दो रचनाएँ अपनी सरसता के कार
अधिक लोकप्रिय है । इनका धार्मिक महत्त्व भी है ।

स्वयभू के बाद जैन-साहित्यकारो मे 'पुष्पदन्त' का विशेष महत्त्व माना जात
है । इसका समय दसवी शताब्दी है । पुष्पदन्त जाति के ब्राह्मण, शिवभक्त थे
किन्तु बाद मे इन्होने जैन मत ग्रहण कर लिया था । यह स्वभाव के बडे
स्वाभिमानी कहे जाते हैं । इनकी प्रमुख तीन रचनाओ मे 'महापुराण' एक बृह
प्रबन्ध काव्य है और 'णायकुमार चरिऊ' (नागकुमार चरित) तथा 'जस
चरिऊ' (यशोधरा चरित) जैन-धर्म से सम्बन्ध रखने वाले खण्ड काव्य हैं ।

इन दोनो के अतिरिक्त लौकिक कथाओ के माध्यम से जैन धर्म की शि
देने वाले व्यक्तियो मे 'धनपाल' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इन
रचना 'भविसयत्तकहा' काफी प्रसिद्ध है । इनके अतिरिक्त धर्मसूरि, जोइ
रामसिह और हेमचन्द आदि के नाम भी इस परम्परा मे विशेष उल्लेख
है । इन सबने हिन्दी साहित्य को काफी प्रभावित किया । अत इसे धार्मिक
साम्प्रदायिक साहित्य कहकर इसकी उपेक्षा नही की जा सकती ।

४ शुद्ध लौकिक साहित्य

उपर्युक्त सम्प्रदाय विशेषो से सम्बन्धित साहित्य के अतिरिक्त अपभ्रंश
र कुछ शुद्ध साहित्य या लौकिक साहित्य भी रचा गया । इसका महत्त्व सा
की स्वच्छन्दता की दृष्टि से ही अधिक है । सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य
मुख्य प्रयोजन वास्तव मे साम्प्रदायिक प्रचार और सिद्धान्त प्रतिपादन ही
यह अलग बात है कि इसमे कुछ उदात्त मानवीय भावनाओ का समावेश भ
गया है । परन्तु इसके साथ-साथ विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से साहित्य-सर्जन
अवश्य होती रही होगी, इस बात के प्रमाण हमे कुछ उपलब्ध रचनाओ से मि
है । इन रचनाओ पर किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता का आरोप नही
जा सकता । इनमे सहज मानव अनुभूतियो की तरल अगडाइयाँ अत्यधिक
एव स्वाभाविक है । ऐसे अनेक उदाहरण हमे जैन आचार्य हेमचन्द के '
व्याकरण' मे मिलते है । इन उदाहरणों मे शृगार और वीर रस की

स्वाभाविक छटा देखी जा सकती है। इसी प्रकार मेरुतुग नामक जैन आचार्य की रचना 'प्रवन्ध चिन्तामणि' मे अनेक प्राचीन राजाओ के आख्यान सस्कृत भापा मे उपलब्ध होते है। सस्कृत के इन आख्यानो के वीच कही-कही अपभ्रश भापा के पद्य भी मणि-काचनवत् जडे हुए दिखाई देते है। लक्ष्मीधर नामक एक अन्य रचयिता की रचना 'प्राकृतपैंगलम्' मे उज्जल, वव्वर, विज्जहर आदि कवियो के उदाहरण विशेप रूप से दर्शनीय हैं। खेद का विपय यह है कि इन सभी कवियो के मूल ग्रन्थ आज उपलब्ध नही हैं। इससे सहज ही अनुमान हो जाता है कि अन्य लौकिक या शुद्ध स्वच्छन्द काव्य रचने वाले कवि भी उस युग मे अवश्य रहे होगे। इनका साहित्य आज जाने कैसे काल-कवलित हो गया है।

अपभ्रश भापा मे इस प्रकार की एकमात्र प्राप्त सम्पूर्ण रचना है—'सन्देश रासक' जिसके रचयिता हैं सहृदय कवि अब्दुर्रहमान। वियोग शृगार की यह रचना एक प्रकार का दूत या सन्देश काव्य है। इसे सस्कृत के दूत काव्यों का प्रभाव कहा जा सकता है। रचना अत्यधिक सरस एव मार्मिक है। काव्य-विधा की दृष्टि से यह एक खण्डकाव्य है। एक वियोगिनी नायिका एक पथिक के माध्यम से अपने वियुक्त पति के पास सन्देश भेजती है। वियोग शृगार की प्रमुखता होने पर भी इसका अन्त भारतीय परम्परा के रूप मे सयोग मे ही होता है। २१६ पद्यो वाले इस काव्य मे सरस शृगार का वर्णन वास्तव मे वेजोड है। पर इसका रचना-काल अभी तक विवाद का विपय वना हुआ है। विद्वान् इसका रचना-काल १२वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर १४वी शती के मध्य तक मानते हैं। हमने अपभ्रश भापा की दृष्टि से ही इसकी चर्चा इस प्रसग मे की है।

'सन्देश रासक' कितना श्रेप्ठ एव सरस काव्य है, इस सम्वन्ध मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत विशेप दर्शनीय है। वे कहते हैं—"इस सदेश रासक मे ऐसी करुणा है जो पाठक को वरवस आकृप्ट कर लेती है। उपमाएं अधिकाश मे यद्यपि परम्परागत और रूढ ही हैं तथापि वाह्यवृत्त की वैसी व्यजना उसमे नही है जैसी आन्तरिक अनुभूति की।' सारा वातावरण विश्वास और घरेलूपन का है।"

इसके अतिरिक्त जैन कवि धनपाल द्वारा रचित 'भविप्यदत्त कथा', रामसिह

की रचना 'पाहुड दोहा' और 'ढोला मारू रा दोहा' जैसी रचनाओं को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। इन सबका अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। स्वच्छन्द लौकिक साहित्य की प्रतिनिधि रचना हम 'सन्देश रासक' को मान सकते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा में भी पर्याप्त साहित्य रचा गया यद्यपि इसका अधिकांश साहित्य साम्प्रदायिक ही है, तो भी इसमें सहज मानवी आवेगों का चित्रण अनेकश स्वाभाविक रूप में हुआ है। इस भाषा और साहि ने परवर्ती हिन्दी साहित्य को सभी प्रकार से काफी प्रभावित भी किया है। अ इसे केवल साम्प्रदायिक साहित्य कहकर छोटा नहीं जा सकता। इसका मह साहित्यिक दृष्टि से निश्चय ही अक्षुण्ण है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के स्रोत और काल-विभाजन | ३

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि अतीत भारत मे इतिहास-लेखन की प्रवृत्ति तो रही, पर सन्-सम्वत् आदि देने की ओर इतिहासकारो ने ध्यान नही दिया। ये चरित्र के महत् गुणो के उद्घाटन करने मे ही विशेष रूप से प्रवृत्त रहे। यही कारण है कि यहाँ के विश्वप्रसिद्ध कवियो और साहित्यकारो की भी ठीक तिथियाँ ज्ञात नहीं, या फिर विवादास्पद हैं। सस्कृत के साहित्य मे कालिदास जैसे कवि का काल-निर्णय आज तक नही हो पाया। हिन्दी मे 'पृथ्वीराज रासो' जैसी कतिपय रचनाओ के सम्बन्ध मे, सूर और तुलसी आदि के सम्बन्ध मे भी अनेक प्रकार के विवाद प्रचलित हैं। फिर भी इसे हिन्दी साहित्य का सौभाग्य ही कहना चाहिए कि यहाँ सस्कृत आदि भाषाओ के समान इतिहास-मूल के ग्रन्थो का सर्वथा अभाव नही रहा। मध्यकाल के पूर्व भाग तक कवि और साहित्यकार ऐसे व्यक्ति रहे हैं, जिनका महत्त्व प्राय भक्ति की दृष्टि से भी रहा है। अतः साहित्यकार के रूप मे न सही, तो भक्त या अन्य किसी सामाजिक मान्यता के कारण इनके चरित्रों के प्रारूप मिल ही जाते हैं। इन्हीके आधार पर हिन्दी साहित्य के इतिहास का लेखन कार्य हुआ और हो रहा है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल-विभाजन

साहित्य मानव-जीवन की सूझों, विचारो और क्रिया-प्रतिक्रियाओं —

सामूहिक लेखा-जोखा है। अत इसकी गति अबाध है। यह स्वय मे ही गतिशील है। समय और स्थिति के अनुरूप उसकी गति-दिशा मे स्वत ही परिवर्तन होता रहता है। साहित्यकार जिस युग मे जीता है, अपनी परम्पराओं से अविच्छिन्न रहते हुए भी प्रत्यक्षत जीवन्त परिवेश एव आयाम से समग्र प्रभाव ग्रहण करता है। मानव सस्कृति की परम्परा अबाध एव अविच्छिन्न है। अत मानव सस्कृति का स्वय को एक सबल अग मानकर साहित्यकार अपनी सर्जनात्मक प्रक्रिया एक तो शाश्वत मानव मूल्यो एव सत्यो को अपनाता है, साथ ही वह सामाजिक प्रभावो, रीति-नीतियो, धर्म, समाज, अर्थ, राजनीति आदि के प्रभावो को भी ग्रहण करता है। इस ग्रहण की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही इस प्रकार के विधात्मक साहित्य की सर्जना होती है, जो सामयिक होते हुए भी शाश्वत तत्त्वो से अन्वित रहता है। सामयिक परिस्थितियो एव प्रवृत्तियो का प्रभाव अनिवार्य है। ये परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ ही साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन करने का आधार बन सकती हैं। हमारे विचार मे इन्ही बातो को ध्यान मे रखकर ही सभी प्रमुख इतिहासकारो ने थोडे-बहुत अन्तर के साथ प्राय समान रूप से ही काल-विभाजन करने का प्रयत्न किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने से पूर्ववर्ती (मिश्र बन्धुओ) के काल-विभाजन का ध्यान रखते हुए पूर्ण वैज्ञानिक ढग से काल-विभाजन करने का सर्वप्रथम प्रयत्न अपने इतिहास मे (सन् १९२९) किया। बाद के विद्वान् प्राय कही-कही सामान्य भेद के साथ इसीको उपयुक्त मानते हैं। यह विभाजन इस प्रकार है —

(१) आदि काल (वीरगाथा काल)—सवत् १०५० से १३७५ तक।
(२) पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल)—सवत् १३७५ से १७०० तक।
(३) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल)—सवत् १७०० से १९०० तक।
(४) आधुनिक काल (गद्यकाल)—सवत् १९०० से आज तक।

काल-विभाजन से सम्बन्धित इन नामो के बारे मे कुछ मतभेद भी देखे जा सकते हैं। नामकरण से यह नही मान लिया जाना चाहिए कि किसी काल-विशेप मे अन्य प्रकार का साहित्य रचा ही नही गया। जैसे—आदिकाल या

वीरगाथा काल का यह तात्पर्य नही कि इस युग मे वीरगाथाओ के या वीर रस के अतिरिक्त और कुछ रचा ही नही गया। इस काल मे शृगार, भक्ति और लोक-साहित्य की रचना भी हुई है। प्रमुखत इसी कारण इसे आदिकाल कहा जाता है। यह नामकरण या विभाजन प्रमुख प्रवृत्तियो, जन-रुचियो, परिस्थितियों और एक ही भावना से सम्बन्ध रखने वाली उपलब्ध अधिक रचनाओ की प्रमुखता की दृष्टि से ही किया गया है। क्योकि प्रत्येक युग मे सभी प्रकार की प्रवृत्तियां और रुचियां न्यूनाधिक रहा ही करती हैं। इतिहासकार इनमे से प्रमुख को खोजकर इसीको प्रधान मानकर चलता है।

ऊपर दी गई सीमाओ के सम्बन्ध मे प्राय इतिहासकार सहमत है। हाँ, नामकरण के सम्बन्ध मे कही-कही सामान्य मतभेद अवश्य पाया जाता है। इन सबका व्योरा तथा प्रत्येक काल का सामान्य परिचय इस प्रकार है —

१. आदि काल (वीरगाथा काल)—आदि काल या वीरगाथा काल के नामकरण के सम्बन्ध मे विद्वानो मे अधिक मतभेद पाया जाता है। यह बात ध्यान देने की है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पहले मिश्रबन्धु भी काल-विभाजन और काल-नामकरण का प्रयत्न कर चुके थे। किन्तु विशेष रूप मे इस सम्बन्ध मे कुछ नही कह सके। तत्पश्चात् आचार्य शुक्ल ने ही निर्णयात्मक रूप मे कुछ कहा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आदि काल को 'वीरगाथा काल' कहना ही अधिक समीचीन माना। इनके अनुसार ऐतिहासिक परिवेश मे इस काल की जन-रुचियाँ एव प्रवृत्तियाँ वीरता की ओर ही अधिक थी। ऐतिहासिक वातावरण भी तलवार की धार की छाया मे पल-पनप रहा था। अत कवियो ने अपनी रचनाओ मे वीर रस को ही प्रमुखता दी। वैसे तो इस काल मे कुछ धार्मिक एव साम्प्रदायिक रचनाएँ भी मिलती हैं, पर आचार्य शुक्ल इनका साम्प्रदायिक महत्त्व ही अधिक स्वीकार करते हैं, साहित्यिक नही। साम्प्रदायिक प्रचार-साहित्य विशुद्ध साहित्य की कोटि मे नहीं आता। अत वीर रस और वीरता की प्रवृत्ति ही प्रमुख थी। इन्ही की द्योतक वीरगाथात्मक रचनाएँ इस काल मे अधिक रची गई। इसलिए आचार्य शुक्ल 'वीरगाथा काल' नाम ही उचित मानते है। इस काल मे प्राप्त होने वाले देशभाषा के ग्रन्थ—खुमान रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज

रासो और वीसलदेव रासो आदि वीरगाथात्मक काव्य ही है। इनके विपरीत विजयपाल रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका और हम्मीर रासो आदि ग्रन्थ भी इस काल मे प्राप्त होते है, पर ये युगीन प्रवृत्तियो और रुचियो के समग्रत द्योतक नही। अत 'वीरगाथा काल' नाम ही सर्वथा उचित है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल के नामकरण का विरोध कर इस काल को आदि काल कहना ही अधिक समीचीन माना है। क्योकि इनके अनुसार यह विविध विकासोन्मुख प्रवृत्तियो का युग है। फिर जिस साहित्य को मात्र धार्मिक या साम्प्रदायिक कहकर उपेक्षा कर दी गई है, उसमे भी सहज और उदात्त मानवीय भावनाओ के दर्शन होते है। दूसरे धर्म, आध्यात्मिक या सम्प्रदाय विशेष का नाम साहित्य की सहज प्रेरणा मे बाधक नही माना जा सकता। ऐसा मान लेने पर भक्ति काल के समूचे साहित्य को निकालकर एक तरफ रख देना होगा। इसके अतिरिक्त शृगार, लोक-रुचियो मे विविधता भी इस युग मे देखी जा सकती है। अत आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'वीरगाथा काल' के स्थान पर 'आदि काल' नाम अधिक सगत मानते हैं।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस काल को 'चारण काल' और 'सन्धिकाल' नाम दिया है। इनके विचारानुसार क्योकि इस काल के कवि चारण और भाट जातियो से सम्बन्धित थे, अत 'चारण काल' कहना अधिक उपयुक्त है। परन्तु हमारे विचार मे किसी काल को कवियों या साहित्यकारो की जाति के साथ जोडने का प्रयत्न किसी भी दृष्टि से स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक नही है। दूसरे ये आठवीं शती के 'पुष्प' नामक कवि की रचनाओ को हिन्दी कविता का मूल स्रोत मानकर कहते हैं कि आदि काल मे अपभ्रश की पुरानी परम्परा और नई परम्परा का मेल हुआ, एक समाप्त हुई और दूसरी का चलन हुआ, अत. 'सन्धिकाल' नाम भी उचित माना जा सकता है। स्पष्ट है कि डॉ० वर्मा की यह मान्यता भी जन एव साहित्य की रुचि और प्रवृत्ति को स्पष्ट नही करती। अत ये दोनो नाम उपयुक्त नही कहे जा सकते।

एक अन्य अन्वेषक श्री राहुल साकृत्यायन आदि काल को 'सिद्ध-सामन्त-युग' कहना अधिक उचित समझते हैं। इनके अनुसार इस काल के समाज पर सिद्धो

का और राजनीति पर सामन्तो का एकाधिकार था। इन्ही का यशोगान इस काल के कवियो ने प्रमुख रूप से किया है। फिर युगीन प्रवृत्तियो और रुचियो पर भी सामन्ती प्रभाव स्पष्ट है। काव्यो मे भी सामन्ती युग का समूचा वातावरण साकार हो उठा है। इन वातो से सहमत होते हुए भी हम 'सिद्ध-सामन्त-युग' नाम मे सहमत नही, क्योकि यह नाम व्यक्तियो का वोधक है, साहित्यिक या जन-रुचियो का नही।

इसी प्रकार 'वीरगाथा काल' के नामकरण के सम्बन्ध मे कुछ अन्य विद्वानो के मतभेद भी प्राप्त होते है। परन्तु इनका कोई उल्लेख्य महत्त्व नही। डॉ० श्यामसुन्दरदास नाम के सम्बन्ध मे तो आचार्य शुक्ल के समर्थक है, हाँ काल-सीमा इन्होने २५ वर्ष बढाकर—अर्थात् १०५० से १३७५ तक न मानकर १४०० तक मानी है। २५ वर्ष का यह अन्तर कोई विशेष महत्त्व नही रखता, क्योकि युग समाप्त हो जाने पर भी इसकी सामान्य प्रवृत्ति वनी रह सकती है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस काल मे वैविध्य रहते हुए भी वीर रस की ही प्रमुखता रही। देशभाषा और अपभ्रश भाषा दोनो साथ-साथ चलती रही, वल्कि कही-कही तो विलकुल घुल-मिल भी गई। एक वात और भी ध्यातव्य है कि साम्प्रदायिक या धार्मिक कहा जाने वाला साहित्य प्राय अपभ्रश मे ही रचा जाता रहा, जवकि देशभाषा (डिंगल आदि) मे वीरगाथात्मक साहित्य की रचना हुई। इसी साहित्य को अधिक महत्त्व भी प्राप्त हुआ, क्योकि युग की प्रमुख प्रवृत्तियो का उद्‌वोधक यही साहित्य था। अत हमारे विचार मे 'वीर-गाथा काल' नाम ही अधिक वैज्ञानिक है। हाँ, आधुनिक हिन्दी साहित्य का क्रमशः विकास यही से जुडता है, परम्परा यही से चलती है, इस कारण यदि कोई 'आदि काल' ही कहना चाहे तो हमे आपत्ति नही होनी चाहिए।

२ भक्तिकाल—पूर्व मध्यकाल—अर्थात् स० १३७५ से लेकर १७०० वि० तक के काल को 'भक्तिकाल' कहने के सम्वन्ध मे सभी इतिहासकार पूर्णतया एकमत है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य भी है कि इतने समय मे भक्ति-भावनाओ से ओतप्रोत साहित्य ही प्रमुखत रचा गया। विशेषता यह है कि इनमे किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता का (सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य के समान) आग्रह

रासो और वीसलदेव रासो आदि वीरगाथात्मक काव्य ही हैं। इनके विपरीत विजयपाल रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका और हम्मीर रासो आदि ग्रन्थ भी इस काल मे प्राप्त होते है, पर ये युगीन प्रवृत्तियो और रुचियो के समगत द्योतक नही। अत 'वीरगाथा काल' नाम ही सर्वथा उचित है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल के नामकरण का विरोध कर इस काल को आदि काल कहना ही अधिक समीचीन माना है। क्योंकि इनके अनुसार यह विविध विकासोन्मुख प्रवृत्तियो का युग है। फिर जिस साहित्य को मात्र धार्मिक या साम्प्रदायिक कहकर उपेक्षा कर दी गई है, उसमे भी सहज और उदात्त मानवीय भावनाओ के दर्शन होते हैं। दूसरे धर्म, आध्यात्मिक या सम्प्रदाय विशेष का नाम साहित्य की सहज प्रेरणा मे बाधक नही माना जा सकता। ऐसा मान लेने पर भक्ति काल के समूचे साहित्य को निकालकर एक तरफ रख देना होगा। इसके अतिरिक्त शृगार, लोक-रुचियो मे विविधता भी इस युग मे देखी जा सकती है। अत आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'वीरगाथा काल' के स्थान पर 'आदि काल' नाम अधिक सगत मानते हैं।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस काल को 'चारण काल' और 'सन्धिकाल' नाम दिया है। इनके विचारानुसार क्योकि इस काल के कवि चारण और भाट जातियो से सम्बन्धित थे, अत 'चारण काल' कहना अधिक उपयुक्त है। परन्तु हमारे विचार मे किसी काल को कवियो या साहित्यकारो की जाति के साथ जोडने का प्रयत्न किसी भी दृष्टि से स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक नही है। दूसरे ये आठवी शती के 'पुष्प' नामक कवि की रचनाओ को हिन्दी कविता का मूल स्रोत मानकर कहते हैं कि आदि काल मे अपभ्रश की पुरानी परम्परा और नई परम्परा का मेल हुआ, एक समाप्त हुई और दूसरी का चलन हुआ, अत 'सन्धिकाल' नाम भी उचित माना जा सकता है। स्पष्ट है कि डॉ० वर्मा की यह मान्यता भी जन एव साहित्य की रुचि और प्रवृत्ति को स्पष्ट नही करती। अत ये दोनो नाम उपयुक्त नही कहे जा सकते।

एक अन्य अन्वेषक श्री राहुल साकृत्यायन आदि काल को 'सिद्ध-सामन्त-युग' कहना अधिक उचित समझते हैं। इनके अनुसार इस काल के समाज पर सिद्धो

का और राजनीति पर सामन्तो का एकाधिकार था। इन्ही का यशोगान इस काल के कवियो ने प्रमुख रूप से किया है। फिर युगीन प्रवृत्तियों और रुचियो पर भी सामन्ती प्रभाव स्पष्ट है। काव्यो मे भी सामन्ती युग का समूचा वातावरण साकार हो उठा है। इन बातो से सहमत होते हुए भी हम 'सिद्ध-सामन्त-युग' नाम से सहमत नही, क्योकि यह नाम व्यक्तियो का बोधक है, साहित्यिक या जन-रुचियो का नही।

इसी प्रकार 'वीरगाथा काल' के नामकरण के सम्बन्ध मे कुछ अन्य विद्वानो के मतभेद भी प्राप्त होते हैं। परन्तु इनका कोई उल्लेख्य महत्त्व नही। डॉ० श्यामसुन्दरदास नाम के सम्बन्ध मे तो आचार्य शुक्ल के समर्थक हैं, हाँ काल-सीमा इन्होने २५ वर्ष बढाकर—अर्थात् १०५० से १३७५ तक न मानकर १४०० तक मानी है। २५ वर्ष का यह अन्तर कोई विशेष महत्त्व नही रखता, क्योकि युग समाप्त हो जाने पर भी इसकी सामान्य प्रवृत्ति बनी रह सकती है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस काल मे वैविध्य रहते हुए भी वीर रस की ही प्रमुखता रही। देशभाषा और अपभ्रंश भाषा दोनो साथ-साथ चलती रहीं, बल्कि कही-कही तो बिल्कुल घुल-मिल भी गई। एक बात और भी ध्यानव्य है कि साम्प्रदायिक या धार्मिक कहा जाने वाला साहित्य प्राय अपभ्रंश मे ही रचा जाता रहा, जबकि देशभाषा (डिंगल आदि) मे वीरगाथात्मक साहित्य की रचना हुई। इसी साहित्य को अधिक महत्त्व भी प्राप्त हुआ, क्योकि युग की प्रमुख प्रवृत्तियो का उद्बोधक यही साहित्य था। अत हमारे विचार मे 'वीर-गाथा काल' नाम ही अधिक वैज्ञानिक है। हाँ, आधुनिक हिन्दी साहित्य का क्रमशः विकास यही से जुडता है, परम्परा यही से चलती है, इस कारण यदि कोई 'आदि काल' ही कहना चाहे तो हमे आपत्ति नही होनी चाहिए।

२ भक्तिकाल—पूर्व मध्यकाल—अर्थात् स० १३७५ से लेकर १७०० वि० तक के काल को 'भक्तिकाल' कहने के सम्बन्ध मे सभी इतिहासकार पूर्णतया एकमत है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य भी है कि इतने समय मे भक्ति-भावनाओ से ओतप्रोत साहित्य ही प्रमुखत रचा गया। विशेषता यह है कि इनमे किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता का (सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य के समान) आग्रह

रासो और बीसलदेव रासो आदि वीरगाथात्मक काव्य ही हैं। इनके विपरीत विजयपाल रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका और हम्मीर रासो आदि ग्रन्थ भी इस काल में प्राप्त होते हैं, पर ये युगीन प्रवृत्तियों और रुचियों के समगत द्योतक नहीं। अत 'वीरगाथा काल' नाम ही सर्वथा उचित है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल के नामकरण का विरोध कर इस काल को आदि काल कहना ही अधिक समीचीन माना है। क्योंकि उनके अनुसार यह विविध विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का युग है। फिर जिस साहित्य को मात्र धार्मिक या साम्प्रदायिक कहकर उपेक्षा कर दी गई है, उसमे भी सहज और उदात्त मानवीय भावनाओं के दर्शन होते हैं। दूसरे धर्म, आध्यात्मिक या सम्प्रदाय विशेष का नाम साहित्य की सहज प्रेरणा मे बाधक नहीं माना जा सकता। ऐसा मान लेने पर भक्ति काल के समूचे साहित्य को निकालकर एक तरफ रख देना होगा। इसके अतिरिक्त शृगार, लोक-रुचियों मे विविधता भी इस युग मे देखी जा सकती है। अत आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'वीरगाथा काल' के स्थान पर 'आदि काल' नाम अधिक सगत मानते हैं।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस काल को 'चारण काल' और 'सन्धिकाल' नाम दिया है। इनके विचारानुसार क्योंकि इस काल के कवि चारण और भाट जातियों से सम्बन्धित थे, अत 'चारण काल' कहना अधिक उपयुक्त है। परन्तु हमारे विचार मे किसी काल को कवियों या साहित्यकारों की जाति के साथ जोडने का प्रयत्न किसी भी दृष्टि से स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है। दूसरे ये आठवीं शती के 'पुष्प' नामक कवि की रचनाओं को हिन्दी कविता का मूल स्रोत मानकर कहते है कि आदि काल मे अपभ्रश की पुरानी परम्परा और नई परम्परा का मेल हुआ, एक समाप्त हुई और दूसरी का चलन हुआ, अत 'सन्धिकाल' नाम भी उचित माना जा सकता है। स्पष्ट है कि डॉ० वर्मा की यह मान्यता भी जन एव साहित्य की रुचि और प्रवृत्ति को स्पष्ट नहीं करती। अत ये दोनों नाम उपयुक्त नहीं कहे जा सकते।

एक अन्य अन्वेषक श्री राहुल साकृत्यायन आदि काल को 'सिद्ध-सामन्त-युग' कहना अधिक उचित समझते है। इनके अनुसार इस काल के समाज पर सिद्धों

का और राजनीति पर सामन्तो का एकाधिकार था। इन्ही का यशोगान इस काल के कवियो ने प्रमुख रूप से किया है। फिर युगीन प्रवृत्तियो और रुचियो में भी सामन्ती प्रभाव स्पष्ट है। काव्यो मे भी सामन्ती युग का समूचा वातावरण साकार हो उठा है। इन बातो से सहमत होते हुए भी हम 'सिद्ध-सामन्त-युग' नाम से सहमत नही, क्योकि यह नाम व्यक्तियो का बोधक है, साहित्यिक या जन-रुचियो का नही।

इसी प्रकार 'वीरगाथा काल' के नामकरण के सम्बन्ध मे कुछ अन्य विद्वानो के मतभेद भी प्राप्त होते हैं। परन्तु इनका कोई उल्लेख्य महत्त्व नही। डॉ० श्यामसुन्दरदास नाम के सम्बन्ध मे तो आचार्य शुक्ल के समर्थक है, हाँ काल-सीमा इन्होने २५ वर्ष बढाकर—अर्थात् १०५० से १३७५ तक न मानकर १४०० तक मानी है। २५ वर्ष का यह अन्तर कोई विशेष महत्त्व नही रखता, क्योकि युग समाप्त हो जाने पर भी इसकी सामान्य प्रवृत्ति बनी रह सकती है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस काल मे वैविध्य रहते हुए भी वीर रस की ही प्रमुखता रही। देशभाषा और अपभ्रंश भाषा दोनो साथ-साथ चलती रही, बल्कि कही-कही तो बिल्कुल घुल-मिल भी गई। एक बात और भी ध्यातव्य है कि साम्प्रदायिक या धार्मिक कहा जाने वाला साहित्य प्राय अपभ्रंश मे ही रचा जाता रहा, जबकि देशभाषा (डिंगल आदि) मे वीरगाथात्मक साहित्य की रचना हुई। इसी साहित्य को अधिक महत्त्व भी प्राप्त हुआ, क्योकि युग की प्रमुख प्रवृत्तियो का उद्‌बोधक यही साहित्य था। अत हमारे विचार मे 'वीर-गाथा काल' नाम ही अधिक वैज्ञानिक है। हाँ, आधुनिक हिन्दी साहित्य का क्रमशः विकास यही से जुडता है, परम्परा यही से चलती है, इस कारण यदि कोई 'आदि काल' ही कहना चाहे तो हमे आपत्ति नही होनी चाहिए।

२ भक्तिकाल—पूर्व मध्यकाल—अर्थात् स० १३७५ से लेकर १७०० वि० तक के काल को 'भक्तिकाल' कहने के सम्बन्ध मे सभी इतिहासकार पूर्णतया एकमत हैं। यह एक ऐतिहासिक तथ्य भी है कि इतने समय मे भक्ति-भावनाओ से ओतप्रोत साहित्य ही प्रमुखत रचा गया। विशेषता यह है कि इनमे किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता का (सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य के समान) आग्रह

कतई नही है। भक्ति की चाहे निर्गुण परम्परा रही हो, चाहे सगुण, सत्य एव शुद्धता के प्रति ही आग्रह यहां मिलेगा, विद्वेष नहीं। विद्वेष या विरोध असत्य एव आडम्बर के प्रति ही दिखाई देता है। निर्गुण-सगुण का समन्वय प्राय सभीने करने का प्रयत्न किया, यद्यपि इनमे से एक के प्रति विशुद्ध (द्वेषजन्य नही) आग्रह भी रखा। निर्गुणवादी कवियो और साधको म से किसीने ज्ञान को प्रधानता दी तो किसीने प्रेम को। पर दूसरे की ग्राह्य बातो की उपेक्षा कही नही की। इस प्रकार सगुणवादियो ने माधुर्य और मर्यादा को प्रमुखता देकर कृष्ण और राम को अपना आराध्य बनाया। पर विरोध यहां भी नही। सर्वत्र समन्वय का उदात्त भाव ही दिखाई देता है। इस कारण भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है, जो एक साहित्यिक और ऐतिहासिक तथ्य है।

३ रीतिकाल—उत्तर मध्यकाल, अर्थात् सवत् १७०० से लेकर १९०० वि० तक के समय को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रीतिकाल' पूर्ण वैज्ञानिक नाम दिया। क्योकि इस काल मे काव्य रचने की एक विशेष परिपाटी या रीति का प्रचलन हुआ। ध्यान देने योग्य बात है कि शुक्ल जी के पूर्व मिश्रबन्धुओ का ध्यान भी 'रीति' शब्द की ओर गया था, पर ये उसे उत्तर मध्य काल ही कहकर रह गये, रीतिकाल नही कह सके। वैसे तो सस्कृत मे 'रीति' नाम से एक विशेष काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय भी चला। पर यहां इससे कोई सम्बन्ध नही। यहां तो इसका अर्थ 'काव्य रचने की विशेष परिपाटी' ही है। कवियो ने काव्यशास्त्र के लक्षण रचकर इन्हें स्पष्ट करने के लिए स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किये—काव्य रचने की यह परिपाटी ही रीति कहलाई। अत यह नाम पूर्णतया युक्तिसगत है। प्राय इतिहासकार इसी नाम का प्रयोग करते हैं।

रस की दृष्टि से इस काल मे शृगार की प्रधानता रही। अत आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे कुछ विद्वानो ने इसे 'शृगार काल' भी कहा है। आचार्य शुक्ल भी इसमे कोई विरोध प्रगट नही करते। पर हमारे विचार से 'रीतिकाल' नाम इस दृष्टि मे भी समीचीन है कि इस काल मे केवल शृगार की ही रचना न होकर भक्ति, नीति और वीरता आदि की भी उत्कृष्ट रचनाएँ की गई। यह सबकुछ रीति-परम्परा के आलोक मे ही हुआ। अत रीतिकाल

नाम सर्वमान्य होना चाहिए।

४ आधुनिक काल—इसे गद्यकाल भी कहा जाता है, क्योकि सम्वत् १९०० मे जो साहित्य रचा जाने लगा, उसमे विधात्मक दृष्टि से गद्य का ही विकास अधिक और प्रमुखत हुआ है। अत गद्यकाल कहना भी उचित ही है। किन्तु प्रवृत्तियो और रुचियो की दृष्टि से इस काल मे अपने पूर्ववर्ती कालो से स्पष्ट विभिन्नता है। उस विभिन्नता मे आधुनिक वैविध्य भी है, अत आधुनिक काल नाम समीचीन है। इसमे गद्य पद्य की समस्त साहित्यिक विधाओ का स्वत समावेश हो जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—"आधुनिक काल मे गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान घटना है।" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी इस तथ्य को मुक्त कठ से स्वीकार करते है। एक तथ्य ध्यान देने के योग्य यह है कि आज कविता गद्य बनती जा रही है और कहानी तथा उपन्यास कविता के निकट आते जा रहे हैं। इस दृष्टि से भी आधुनिक काल नाम अधिक सगत है, जबकि 'गद्यकाल' नाम की भी उपेक्षा नही की जा सकती, क्योकि यह भी एक सर्वमान्य वैज्ञानिक तथ्य है कि ज्ञान-विज्ञान के विकास की विशेष प्रगति के युग मे जन-प्रवृत्ति पद्यात्मकता की अपेक्षा स्वत ही गद्यात्मक हो जाया करती है। यह भी तथ्य है कि आज कविता अपनी परम्परा से विच्छिन्न होकर मृत्यु-शय्या के निकट पहुँच रही है, जबकि गद्य का विधात्मक साहित्य विकास के चरम शिखरो की ओर अग्रसर है।

प्रमुख प्रवृत्तियो और प्रभावशाली व्यक्तित्वो के प्रभाव के कारण आधुनिक काल को चार अन्तर्युगो मे विभाजित किया गया है—(१) भारतेन्दु-युग, (२) द्विवेदी-युग, (३) छायावादी या प्रेमचन्द-प्रसाद-युग, और (४) प्रगतिवादी युग। इन चारो मे काव्य और गद्य साहित्य-सर्जना की प्रवृत्ति साथ-साथ विकसित हुई है। अत विधात्मक साहित्य रचना की दृष्टि से इन्हे 'गद्य और पद्य-खडो' मे अलग-अलग भी विभाजित किया जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे तात्पर्य इन चारो युगो और इनके अन्तर्युगो मे सृजित होने वाले प्रवृत्यात्मक और विधात्मक साहित्य का अध्ययन ही है। अगले पृष्ठो मे यही अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

४ आदिकाल (वीर गाथा काल)
(संवत् १०५० से १३७५ वि० तक)

आदिकाल (वीरगाथा काल) परिस्थितियां और प्रवृत्तियां

साहित्य का मूल उत्स जीवन है और विभिन्न प्रकार की परिस्थितियां ही जीवन के सद् असद् रूपो का सृजन करती है। जीवन की इन विविध परिस्थितियो से प्रेरित होकर ही कोई सर्जक कलाकार साहित्य-रचना मे प्रवृत्त होता है। जन-सामान्य तो परिस्थितियो पर कोई सामान्य टीका-टिप्पणी करके ही रह जाता है, किन्तु टीका-टिप्पणियां साहित्यकार के रागात्मक तत्त्वो से समन्वित होकर सृजन की प्रक्रिया मे पडकर जो विधात्मक रूप एव आकार ग्रहण करती हैं, इसे ही साहित्य की उपमा दी गई है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक युग का साहित्य शाश्वत मानव मूल्यो से समन्वित होते हुए भी अपने परिवेश से भी प्रमुखत प्रभावित होता है। अत किसी युग के साहित्यकारो का सही मूल्य अकित करने के लिए परिस्थितियो तथा प्रवृत्तियो का अध्ययन करना अनिवार्य होता है। ये परि-स्थितियां निम्नलिखित मानी जाती हैं —

(१) राजनीतिक परिस्थितियां।

(२) धार्मिक परिस्थितियां।

(३) सामाजिक परिस्थितियां।

(४) पूर्ववर्ती और समकालिक साहित्यिक परिस्थितियां।

आदि काल (वीरगाथा काल) का आरम्भ जिन परिस्थितियो मे हुआ, यह जिन परिस्थितियो मे विकास की प्रक्रियाओ मे से गुजरा, ये किसी भी दृष्टि से अच्छी और सन्तुलित नही मानी जाती। इनका व्योरा सक्षेप मे इस प्रकार है —

(१) राजनीतिक परिस्थितियाँ—ऐतिहासिक दृष्टि से इस युग मे भारत अराजनीतिक असन्तुलन और व्यवस्था का केन्द्र था। चारो ओर पराजित मनोवृत्तियाँ काम कर रही थी। फलस्वरूप पहले से ही खण्डित भारत अव छिन्न-भिन्न होने लगा था। गृह-कलह वडे विकराल रूप से उभर रही थी। कोई भी ऐसी केन्द्रीय सत्ता नही थी, जो देश की राजनीति को सन्तुलित रख सकती। अत छोटे-वडे सामन्त और सरदार जहाँ अपनी सत्ता का विस्तार करने मे सलग्न थे, वहाँ अपने पडोसियो तक को नीचा दिखाने और इन्हे कष्ट मे देखकर इन पर और भी आघात करने मे व्यस्त थे। चारो तरफ अनेकता और फूट का राज था। इससे लाभ उठाकर विदेशी मुसलमान आक्रमणकारी यहाँ पर धडाधड आक्रमण कर लूट-मार मचाने लगे थे। सामूहिक रूप से इनका सामना करने के स्थान पर अनेक देशी नरेश, देशद्रोही और भ्रातृद्रोही वनकर इन्हीकी सहायता कर रहे थे। वैसे तो महाराजा दाहर की पराजय के वाद सिन्ध और पजाव के प्रान्त मुसलमानो के अधिकार मे जा ही चुके थे, अव इनकी लोलुप दृष्टि आगे भी वढने लगी थी। राजा हर्षवर्द्धन की मृत्यु के वाद से तो एकता और अखडता की भावना का सर्वथा लोप हो गया था। राष्ट्रीयता और देशभक्ति अपने उपप्रदेशो और ग्रामो के खेतो की सीमा तक सिकुडकर रह गई थी। फलस्वरूप राजनीतिक सत्ता और स्थितियो का निरन्तर ह्रास होता जा रहा था। वैसे तो हिन्दुओ मे वीरो की कमी नही थी, इनकी राज्यविस्तार की इच्छा भी प्रवल थी। वस, अभाव था तो एकता और सगठन का। दृष्टिकोण भी अत्यधिक सकुचित था। इनके लिए सारा भारत देश और राष्ट्र नही था। इस सकुचित सामन्तवादी दृष्टिकोण के कारण ही इन्हे निरन्तर पराजित होना पड रहा था। यह पराजय देश की राजनीति के लिए वहुत महँगी प्रमाणित हो रही थी। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि राजनीतिक दृष्टि से यह युग अनवरत पराजय का युग था।

(२) धार्मिक परिस्थितियाँ—राजनीति के समान इस काल की धार्मिक परिस्थितियों को भी किसी भी दृष्टि से समुन्नत एवं समुचित नहीं कहा जा सकता। धर्म के नाम पर अनाचार और आडम्बर ही निरन्तर पनप रहे थे। वैदिक और पौराणिक धर्म तो विभिन्न सम्प्रदायों की दलदल में फँसकर ह्रासोन्मुख थे ही, बौद्ध और जैन धर्म भी अपने मूल आदर्शों से हटकर तन्त्रों और सिद्धियों के आल-जाल में बुरी तरह उलझ रहे थे। उनकी कई शाखाएँ-प्रशाखाएँ हो गई थीं। इनके सैद्धान्तिक पक्ष यद्यपि अच्छे थे किन्तु व्यवहार-पक्ष तो निरन्तर जन-जीवन का अनिष्ट ही कर रहे थे। धर्म के नाम पर अनेक प्रकार की गुप्त क्रियाएँ विलास-वासना की पूर्ति का साधन मात्र बनकर रह गई थीं। चमत्कार की प्रवृत्ति और कामुकता को प्रश्रय मिल रहा था। सिद्ध, नाथ, जैन तो थे ही, शैव, शाक्त, वैष्णव और स्मार्त आदि जाने कितने धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हो गये थे। अन्य अनेक वामाचारों और वाममार्गियों की तो कोई गिनती ही न थी।

इन परिस्थितियों में यवनों के आक्रमणों ने यहाँ की धार्मिक परिस्थितियों को और भी अधिक जर्जर कर दिया। इसका प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा था। एक ओर यहाँ के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के संघर्ष, ऊपर से यवनों के करारे प्रहार, बस, सारा शीराजा ही बिखरता जा रहा था। भारतीय समाज और जन-जीवन वास्तविक धर्म-ज्ञान के अभाव में निरन्तर विघटन के मार्ग पर अग्रसर हो रहा था। यद्यपि नाथों तथा शंकराचार्य, रामानुज, निम्बार्क स्वामी आदि ने यहाँ के वास्तविक एवं आडम्बरशून्य धर्म का महत्त्व प्रतिपादन करना आरम्भ कर दिया था, पर अभी तक इनका प्रभाव अनेक प्रकार के वामाचारों के सामने टिक नहीं पा रहा था। अतः यही कहा जायेगा कि आदिकाल (वीरगाथा काल) का धार्मिक वातावरण अत्यधिक दूषित और विघटनकारी था।

(३) सामाजिक परिस्थितियाँ—इस समय का सामाजिक जीवन पूर्णतया राजनीति और धर्म पर अवलम्बित था। अतः इनकी दुर्दशा के काल में सामाजिक जीवन की समुन्नति की कल्पना करना व्यर्थ ही है। जाति-पाँति की कट्टरता

बहुत बढ गई थी। समाज जातियो के अतिरिक्त उपजातियो एव वर्गो-उपवर्गों मे बडी बुरी तरह से विभाजित हो गया था। ऊँच-नीच, छुआछूत का दौर-दौरा पूरे ज़ोरो पर था। हिन्दू जाति तो अत्यधिक सकीर्णताओ से घिर गई थी। समाज अनेक प्रकार की रूढियो मे बुरी तरह से ग्रस्त हो चुका था। अनेक प्रकार की सामाजिक कुप्रथाएँ भी उजागर हो रही थी। बाल-विवाह, सती-प्रथा, स्वयवरो के नाम पर कुत्सित आकाक्षाओ की पूर्ति और खून-खराबा आदि बातें आम थी। भोग-विलास की प्रवृत्ति निरन्तर बढ रही थी। सामान्य समाज आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक विपन्न था। इसका सारा परिश्रम सामन्तो और सरदारो की वासनापूर्ण महत्त्वाकाक्षाओ की आग मे जलकर राख हुआ जा रहा था। बहु-विवाह की प्रथा तो इस सीमा तक थी कि सामान्य राजा और सामन्त भी अपने अन्तःपुर मे सैकडो नारियाँ रखते थे। रखैलो की भी कमी न थी। नारी को केवल विलास की चल सामग्री और सम्पत्ति माना जाता था। मातृ-सत्ता के प्रति विश्वास के भाव का सर्वथा अभाव था।

ऐसी परिस्थितियो मे भारतीय समाज इस्लामी समाज से भी आक्रान्त होने लगा था। राजसत्ता और राजनीति आदि पर इस्लाम का आधिपत्य होने के कारण यहाँ के समाज पर इसका प्रभाव पडना स्वाभाविक और अनिवार्य था। फलस्वरूप सकुचित सामाजिक मनोवृत्तियाँ और भी कसती जा रही थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि राजनीति और धर्म के समान इस काल की सामाजिक स्थितियाँ भी अत्यधिक दयनीय और विघटनात्मक थी।

(४) **पूर्ववर्ती और समकालिक साहित्यिक परिस्थितियाँ**—वास्तव मे देखा जाये तो यह युग किसी भी दृष्टि से ठीक नही था। गृह-कलह ने समूचे युग को खोखला करके रख दिया था। इतने पर भी इस युग मे सस्कृत-साहित्य की पर्याप्त सर्जना हुई। दर्शन, ज्योतिष, कर्मकाण्ड आदि विषयो पर नव्य ग्रन्थो की रचना के साथ-साथ टीका-टिप्पणियाँ भी चलती रही। काव्यशास्त्र सम्बन्धी विषयो पर भी चमत्कारपूर्ण ग्रन्थ रचे जाते रहे। इसी ह्रासोन्मुख युग मे श्री हर्ष द्वारा 'नैषध चरित' जैसा प्रसिद्ध काव्य रचा गया। धार के शासक भोज के भी कुछ ग्रन्थ प्रकाश मे आये। जयदेव की रचनाएँ भी इसी युग की देन हैं।

कुन्तक, क्षेमेन्द्र, महिम भट्ट जैसे विद्वान् तथा अन्य अनेक भी इसी पीठिन काल मे ही हुए। परन्तु यह बडे आश्चर्य की बात है कि सस्कृत के इस साहित्य और ऐसे-ऐसे उद्भट विद्वानो का प्रभाव हिन्दी-साहित्य ने तनिक भी ग्रहण नही किया।

एक बात स्पष्ट है कि सस्कृत की परम्परागत प्रवृत्तियाँ प्राय ह्रासोन्मुख हो रही थी। अपभ्रश और देशभाषा मे भी काव्य रचे जा रहे थे, पर वहा भी साहित्यिक उच्चता का अभाव अखरने वाला है। धार्मिक विचारो की प्रमुखता को निहारकर लगता है कि इन लोगो को सामयिक जीवन और वहाँ घटित स्थितियो से कोई लगाव न था। सिद्धो, नाथो और जैनियो ने अपभ्रश भाषा मे अपने काव्य रचे (पीछे उल्लेख हो चुका है), पर इनमे भी सामयिक स्थितियो के वास्तविक दर्शन नही होते। धार्मिकता या साम्प्रदायिकता की ही वहाँ प्रमुखता रही। हाँ, इस युग के चारणो और भाटो का ध्यान सामयिक यथास्थितियो के वर्णन की ओर कुछ अवश्य गया। इनके साहित्य मे युगीन प्रवृत्तियो के दर्शन अवश्य होते है। इसी प्रकार का साहित्य वीरगाथाओ के रूप मे रचा गया। इसी कारण विद्वान् इसे आदिकाल और वीरगाथा काल कहते है।

प्रवृत्तियाँ

ऊपर हम साहित्यिक परिस्थितियो के अन्तर्गत देख चुके है कि ह्रासोन्मुख स्थिति होते हुए भी इस काल मे पर्याप्त सस्कृत-साहित्य रचा गया। परन्तु इसके आधार पर हम युग की और युग-जीवन की प्रवृत्तियो का अनुमान नही लगा सकते, क्योकि सस्कृत के सर्जक, लगता है अपनी सामयिक स्थितियो के प्रति, समाज और राजनीति के प्रति, यहाँ तक कि धर्म के प्रति भी प्राय उदासीन रहे। अत यहाँ प्रवृत्ति का प्रश्न ही नही उठता। ये तो परम्परा को ही ढोते आ रहे थे। इसी प्रकार इस युग मे रचे गये अपभ्रश भाषा के साहित्य से भी जन-जीवन की समग्र और सहज प्रवृत्तियो का अनुमान कर पाना प्राय कठिन है। वहाँ केवल धार्मिक और साम्प्रदायिक भावनाओ को ही प्रश्रय मिला। व्यवहार-पक्ष मे धार्मिक अनाचार और पाखण्डवाद का ही बोल बाला हुआ। युग की मूल प्रवृत्तियो के

दर्शन यदि कही होने है तो चारणो और भाटो द्वारा रचे गये साहित्य मे ही हो पाते है।

चारणो और भाटो द्वारा विरचित वीरगाथात्मक और शृङ्गारिक साहित्य के अध्ययन से यह बात प्रायः स्पष्ट हो जाती है कि युग की प्रवृत्ति वीरता और शृगार से समन्वित थी। जन-जीवन पर युद्धो की तलवार सदैव लटकती रहती थी, फिर चाहे यह किसी शासक की वासना की पूर्ति के लिए तनी हो या किसी आक्रमणकारी के आक्रमण का उत्तर देने के लिए। चारण और भाट अपने आश्रय-दाताओ को प्रसन्न करने के लिए इनकी सामान्य बातो को भी अतिशयोक्तिपूर्ण वीरत्व का रग देकर काव्य रच रहे थे। युगीन सुन्दरियो का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करके वासना-भाव को भडकाना और इसे पूरा करने के लिए युद्ध की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। इन्ही सब बातो को देखकर युगीन प्रवृत्तियो पर प्रकाश डालते हुए डॉ० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है :—

"गृह-कलह ने थोथे शौर्य की भावना उत्पन्न कर दी थी, जिसका प्रदर्शन पारम्परिक युद्धो और स्वयवरो मे किया जाता था। साधारण जनता नृपतियो को अर्पित होती गई।"

स्पष्ट है कि वीरता और शृगार की प्रवृत्ति ही मुख्य थी। इन प्रवृत्तियो के वर्णन के लिए कवि लोग समस्त प्रचलित काव्य-रूढियो का पालन कर रहे थे। प्राय प्रबन्ध-काव्य रचे जा रहे थे। कथा-नायको के महत्त्व-प्रतिपादन के लिए प्रचलित लोक-कथाओ और रूढियो का खुलकर प्रयोग किया जा रहा था। इसी कारण ऐतिहासिक कसौटी पर इस काल के काव्य प्राय: खरे नही उतरते। ऐसा करना शायद कवियो की सामयिक विवशता थी। क्योंकि आश्रयदाताओ की आँखो मे अपना महत्त्व बनाये रखना आजीविका के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता थी। इसी कारण इस काल के साहित्य मे सामन्ती जीवन और इनकी प्रवृत्तियाँ तो समग्रत उभर पाई है; किन्तु सामान्य जीवन के सम्बन्ध मे समूचा साहित्य सर्वथा मौन है। इसके विषय मे कहा जायेगा कि कवि लोग जिन सामान्य वर्गो से आये थे, वे इनके प्रति अपना कर्त्तव्य निभा नही पाये।

आदिकाल (वीरगाथा काल) सामान्य विशेषताएँ

आदिकाल (वीरगाथा काल) का जीवन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियो का युग था। चारण और भाट जाति क कवि वास्तविक जीवन और समाज से पूर्णतया कटकर आश्रयदाताओ की प्रसन्नता के लिए काव्य रच रहे थे। इन का साहित्य वीरगाथात्मक है। कवियो के आश्रित होने के कारण इनके काव्यो मे स्वतन्त्र चिन्तन-मनन और जन-जीवन के चित्रण का अभाव बहुत ही खटकने वाला है।

इस काल के प्राय ग्रन्थ 'रासो' नाम से अभिहित किये जाते हैं। 'रासो' शब्द का अर्थ काफी विवादास्पद है। सामान्यतया यह शब्द काव्य का पर्यायवाची माना जाता है। कुछ लोगो ने 'रासो' शब्द का सम्बन्ध रहस्य, रसायन, लडाई-झगडा, वीरता आदि से भी जोडा है। कुछ लोग 'रासक' नामक छन्द से इसे जोडते है। हमारे अपने विचार मे रासो शब्द का सम्बन्ध लोक-भाषा के 'रास' या 'राठ' शब्द से भी हो सकता है। पश्चिमी पजाब के अनेक स्थानो पर ये दो शब्द वीर और प्रमुख व्यक्तियो के लिए प्रयुक्त होते थे। कुछ भी हो, आज यह शब्द काव्य का पर्याय ही अधिकाश रूप मे माना जाता है।

ये 'रासो' काव्य दो रूपो म रचे गये। एक तो प्रबन्ध काव्यो के रूप मे, जैसे—पृथ्वीराज रासो आदि। दूसरे मुक्तक वीर-गीतो के रूप मे, जैसे—वीसलदेव रासो आदि। अन्य कोई विधात्मक साहित्यिक स्वरूप इस काल मे नहीं मिलता। इस दृष्टि से सकुचित मनोवृत्तियो का आरोप उचित है।

आदिकाल (वीरगाथा काल) के साहित्य मे 'वीर रस' की प्रधानता है। हमारे विचार मे 'रासो' शब्द वीरता का परिचायक भी है। अपने आश्रयदाताओ की वीरता को उभारना और प्रशसा तथा पारितोषिक प्राप्त करना कवियो का मुख्य लक्ष्य था। किसी भी दृष्टि से क्यो न हो, वीर रस का पूर्ण और प्रभावशाली परिपाक इस युग के साहित्य मे देखने को मिलता है। क्योकि वातावरण पूर्णतया युद्ध एव शस्त्रो की झकार का था, अत वीर रस का परिपाक स्वाभाविक ही है।

वीर रस के साथ इसके विरोधी रस शृगार का समन्वय इस काल के

साहित्य की सबसे बडी विशेपना है। क्योकि जो युद्ध हुए, इसके मूल मे किसी सुन्दरी नारी की कल्पना कर ली गई। फलस्वरूप यहाँ एक साथ कगना की झकार और तलवार की सनसनाहट सुनी जा मकती है। कही-कही तो ये सम्मिलित ध्वनियाँ इतनी अधिक मुखरित हो गई हैं कि वीरता की मूल भावनाएँ प्राय दवी-सी हो गई हैं। पर यह ध्यातव्य है कि प्रेम-शृगार का वर्णन वामना के आँगन से वाहर नही झांक पाया। अत यह उत्तेजित तो कर सकता है, पर प्रेम-शृगार की सहज भावना को शमित नही कर सकता। हाँ, वीर-शृगार का समन्वय युगीन कलाकारो की जागरूकता और कुशाग्रता का परिचायक अवश्य है। शृगार और वीर के अन्तर्गत परम्पराओ का निर्वाह अवश्य हुआ है। वीर के सहयोगी रौद्र आदि रसो का वर्णन भी इन काव्यो मे मिलता है। हाँ, हास्य और शान्त रसो की ओर कवियो का ध्यान नही गया।

युद्धो और युद्धो मे काम आने वाली सामग्रियो का मजीव वर्णन इस साहित्य की अन्य प्रमुख विशेपता है। वीरता और युद्धो की प्रमुख प्रवृत्ति के कारण इस सजीवता का रहस्य स्पष्ट है। इस युग के कवियो को जिस राजनीतिक दरवारी वातावरण मे साँस लेना पड रहा था, वहाँ सदैव किसी न किसी युद्ध की चर्चा होती रहती थी। दूसरे, कवि लोग, एक हाथ मे कलम और दूसरे मे तलवार रखते थे। अर्थात् ये लोग युद्धो के अवसर पर वहाँ मौजूद तो रहते ही थे, समय आने पर तलवार उठाकर युद्ध भी किया करते थे। अत ऐसे वर्णनो मे प्रखरता के साथ सजीवता का आना स्वाभाविक ही कहा जायेगा। इस सम्बन्ध मे आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी के विचार विशेष दर्शनीय है —

" ··लडने वाली जाति के लिए सचमुच चैन से रहना असभव हो गया था। क्योकि उत्तर, पूरव, दक्षिण, पश्चिम सव ओर से आक्रमण की सम्भावना थी। निरन्तर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग थे। इनका कार्य ही था हर प्रसग मे आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का आविष्कार।"

फलस्वरूप ऐसे वर्णनो मे स्वत ही सजीवता आती गई। कही-कही युद्ध का मूल कारण नारियो को भी वीर महिला के रूप मे चित्रित किया गया है। सबने

बडी बात है कवियो का स्वय युद्ध के समय उपस्थित रहना और उनमे भाग लेना। अत युद्ध के साथ साथ प्रयुक्त सामग्रियो के सजीव वर्णनो मे भी विशिष्टता आ गई है।

सामन्ती जीवन का समग्र चित्रण भी अच्छा हुआ है। उसकी प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया का सजीव वर्णन हुआ है। दूसरी ओर सामान्य जीवन का सर्वथा अभाव विशेष रूप से खटकने वाली बात है। इसका कारण है कवियो का अपने मूल परिवेश से कटकर राज-दरबारो तक सीमित हो जाना। फलस्वरूप जन-जीवन इस काल के काव्यो मे कही भी नही उभर पाया, बल्कि प्राय दृष्टिगोचर ही नही होता।

इस युग के साहित्यकार सामान्य जन-जीवन से कटे-छटे हुए थे, अत उनके काव्यो मे जिस देशभक्ति और राष्ट्रीयता का चित्रण हुआ है, वह सर्वथा सीमित और सकुचित है। वृत्ति पाने के लिए चारण और भाट कवि अयोग्य तथा अनधिकारी राजाओ और सामन्तो की अनधिकृत वीरता के पुल बाँधते रहे। 'राष्ट्र' शब्द अपने राज्य, ग्राम और खेत की सीमा तक ही सिकुडकर रह गया। देशद्रोही कहे जाने वाले जयचन्द जैसे राजाओ की प्रशसा मे भी काव्य रचे जाते रहे। अत स्पष्ट है कि देशभक्ति और राष्ट्रीयता आश्रयदाता की खुशामद तक ही सीमित होकर रह गई थी।

देश, काल और वातावरण की सामन्ती स्थितियो का इस काल के काव्यो मे अच्छा वर्णन हुआ है। सामान्य जीवन की स्थितियो का अभाव खटकने वाला है। कवियो ने प्रकृति-चित्रण भी अपने काव्यो मे किया। प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूप मिलते हैं। वस्तु-वर्णन भी पर्याप्त उपयुक्त है। हाँ, प्रकृति के स्वतत्र चित्रण की ओर कवियो ने प्राय नही और कही-कही बहुत कम ध्यान दिया है। कही-कही प्रकृति-चित्रण नीरसता का ही सचार कर पाते हैं। उद्दीपन रूप अधिक है और पर्याप्त सजीव भी है।

जहाँ तक काव्य के स्वरूप और शैली-पक्ष का सम्बन्ध है, प्रबन्ध और मुक्तक दोनो प्रकार के काव्य इस काल मे रचे गये। छन्दो का बहुमुखी प्रयोग करने मे कवियो को विशेष सफलता मिली है। इससे ज्ञात होता है कि कवि छन्दशास्त्र

से भली भाँति परिचित थे। दोहा या दूहा, ताटक, तोटक, तोमर, गाहा या गाथा, पद्धरि, आर्या, रोला, कुण्डलिया, उल्लाला आदि छन्दो का प्रयोग प्रमुखता और कलात्मकता से किया गया। छन्द-प्रयोग की विशेषता के सम्बन्ध मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्द दर्शनीय है .—

"रासो के छन्द जब बदलते है तो श्रोता के चित्त मे प्रसगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते है।"

स्पष्ट है कि छन्दो का वैविध्य केवल चमत्कारक ही नही, बल्कि प्रसगानुकूलता का भी द्योतक है।

भाषा-प्रयोग की दृष्टि मे भी इस काल का साहित्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। उस समय साहित्यिक राजस्थानी भाषा का 'डिगल' नाम से प्रयोग किया जाता था। वीर-विषय की दृष्टि से यह भाषा अत्यधिक उपयुक्त स्वीकार की गई है। व्रजभाषा का भी 'पिगल' नाम से इस युग मे प्रयोग हुआ। इस्लामी प्रभाव के फलस्वरूप अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओ के कुछ शब्द इस काल के काव्यों मे देखने को मिलते हैं। तत्सम, तद्भव और देशज शब्दो का प्रयोग भी खूब हुआ। समस्त भाषायी प्रयोग प्रसगानुकूल साँचे मे ढले हुए हैं।

इन समस्त विशेषताओ के रहते हुए भी इस काल का साहित्य प्राय सन्दिग्ध है। उपलब्ध प्रमुख रचनाओ मे से खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो और परमाल रासो आदि को अप्रमाणित माना जाता है। इनके भाषायी प्रयोगो से अनुमान होता है कि इनमे शतियो तक परिवर्तन, सशोधन और परिवर्द्धन का क्रम चलता रहा। खुमान रासो मे तो १६वीं शताब्दी तक के वर्णन मिलते हैं। पृथ्वीराज रासो को लेकर आज भी विद्वान् एकमत नही हो पाये। इनके अतिरिक्त इस काल की अधिकांश रचनाएँ मूलत· ऐतिहासिक होते हुए भी इतिहास से मेल नही खाती। इनमें नामो, घटनाओ और तिथियो का व्यतिक्रम विशेष विवाद का विषय है। काव्यो मे उतना इतिहास नहीं, जितनी कल्पना है। अत इनकी ऐतिहासिकता का मूल स्वरूप ही भ्रष्ट-सा प्रतीत होता है।

इन सबके अतिरिक्त विशुद्ध शृगार, भक्ति, लोकरजन की दृष्टि से भी कुछ साहित्य इस युग मे रचा गया। इस दिशा मे कवि अनेक जैन कवियो और अमीर

खुसरो आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस दृष्टि से भाषायी वैविध्य भी दर्शनीय है, क्योंकि अपभ्रंश और मैथिली भाषा का प्रयोग भी इस युग में किया गया है, जब कि अमीर खुसरो की भाषा क्रियाहीन खड़ी बोली के बिल्कुल निकट है।

विवादास्पद होते हुए भी कवि चन्दवरदाई को वीरगाथा काल का प्रतिनिधि कवि और इनकी रचना 'पृथ्वीराज रासो' को इस काल का प्रतिनिधि काव्य माना जाता है।

महत्त्व और परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

इस काल के साहित्यिक महत्त्व के सम्बन्ध मे विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। वे कहते हैं—"राजस्थानी भाषा के प्रत्येक पद्य में वीरत्व की जो भावना और उमग गुम्फित है, वह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारतवर्ष के गौरव का विषय है। वह स्वाभाविक, सच्ची और प्रकृत है।" इसी प्रकार आदिकाल (वीरगाथा काल) के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए डॉ० श्यामसुन्दरदास एक स्थान पर लिखते हैं —

"इस काल के कवियो का युद्ध-वर्णन इतना मार्मिक तथा सजीव हुआ है कि उसके सामने पीछे के कवियो की अनुप्रासगर्भित, किन्तु निर्जीव रचनाएँ नकल-सी जान पडती हैं। कर्कश पदावली के बीच वीर भावो से भरी हिन्दी के आदि युग की यह कविता सारे हिन्दी साहित्य मे अपनी समता नही रखती।"

अत यह स्पष्ट है कि आदिकाल (वीरगाथा काल) की रचनाओ का केवल ऐतिहासिक क्रम जोडने या विवेचन करने की दृष्टि से ही महत्त्व नही है, बल्कि साहित्यिक और जातीय काव्य के रूप मे भी इसका विशेष महत्त्व है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस साहित्य की उपेक्षा नही की जा सकती। कल्पना का आधिक्य होते हुए भी सहस्रो वर्ष पूर्व के भारत और विशेषत. राजस्थान के इतिहास की कडियाँ इसमे खोजी-जोडी जा सकती हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी प्राचीन भाषाओ और आज की हिन्दी के मूल उद्गम को खोजने की दृष्टि से इस काल के साहित्य का प्राय भाषा-वैज्ञानिक अत्यधिक महत्त्व

स्वीकार करते हैं। हमारे विचार मे इस काल का महत्त्व इस दृष्टि से भी आंका जाना चाहिए कि काव्यो की एक नियमित परम्परा इस ह्रासोन्मुख युग मे मिलती है, जो कि हमे रीतिकाल के विद्वान् कवि और आचार्य भी प्रदान न कर सके। छन्द-वैविध्य का सुष्ठु प्रयोग भी उपेक्षा की दृष्टि से नही देखा जा सकता। हिन्दी-साहित्य के इतिहास की बिखरी कडियाँ जोडने की दृष्टि से तो इसका महत्त्व है ही सही। भारतीय परम्पराओ के ह्रास के कारण भी यहाँ खोजे जा सकते हैं और जन-जीवन से कटकर साहित्य की क्या दशा होती है, यह भी जाना जा सकता है।

इस काल के साहित्य ने अगली कई शतियो तक हमारे देश की समूची भाषाओ को प्रभावित किया। प्राय सभी कालो के कवियो ने इस काल के साहित्य का प्रभाव किसी न किसी रूप मे ग्रहण किया है। भक्तिकाल के स्वच्छ साहित्यिक वातावरण मे भी इसीके प्रभाव से वीर रस की योजना हो सकी। इस दृष्टि से तुलसीदास और केशवदास तक को इनका आभारी माना जा सकता है। रीतिकाल ने भूषण, सूदन और गोरेलाल और आगे चलकर गुरु गोविन्दसिंह आदि ने इस परम्परा को जीवित रखा। भक्तिकाल मे भी डिंगल भाषा और वीर रस मे स्वतत्र काव्य रचे गये। आज के युग मे वियोगीहरि, श्यामनारायण पाण्डेय जैसे कवियो को इसी परम्परा मे रखा जा सकता है। अन्य अनेक कवि भी इस परम्परा से प्रभावित हुए हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वीरगाथा काल मे जिस साहित्यिक परम्परा का आरम्भ हुआ था, उसकी धारा आज भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है। हाँ, सामयिक परिवेश मे इसके बाह्य स्वरूप का परिवर्तन अवश्य ध्यातव्य है।

आदिकाल (वीरगाथा काल) : प्रमुख कवि और काव्य

दलपति विजय—इनके द्वारा रचे काव्य का नाम 'खुमान रासो' है। यह एक वीर-गीति-काव्य है। इसमे श्री रामचन्द्र से लेकर इतिहास-प्रसिद्ध वीर खुमान तक का वर्णन मिलता है। इस वैविध्य के कारण ही इसे वीर-गीति-काव्य कहा जाता है। वास्तव मे दलपति विजय और इनके नाम से प्रचारित 'खुमान रासो'

दोनों विवादास्पद हैं। 'खुमान रासो' का सर्वप्रथम उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' नामक रचना में किया गया। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इसका रचयिता का नाम ब्रह्मभट्ट माना है। अन्य इतिहासकार ब्रह्मभट्ट नाम न मानकर दलपति विजय की कृति मानते हैं। इस रचना की मूल प्रति उदयपुर के सरस्वती भण्डार में विद्यमान है। कुछ अन्य प्रतियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। इन पर दलपति विजय का नाम ही रचयिता के रूप में अंकित है। पर कुछ विद्वान इसे मूल लेखक न मानकर मात्र उद्धर्ता मानते हैं। परन्तु परवर्ती अनुसन्धानों ने इस रचना को अठारहवीं शती की रचना प्रमाणित कर दिया है। इसका रचयिता कवि मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) का समकालीन था, जिसका शासन-काल सं० १७६७ से १७९० वि० माना जाता है। अब यह भी प्रमाणित हो चुका है कि इसमें 'खुम्माण' नामक किसी एक व्यक्ति का वर्णन नहीं है। बल्कि खुम्माण मेवाड़ के राजाओं की पदवी है। इसी कारण कवि ने राणा-वंश और मेवाड़ राज्य के संस्थापक बाप्पा रावल से लेकर संग्रामसिंह (द्वितीय) तक के सभी राजाओं के इतिहास का वर्णन किया है। इसका रचना-काल सं० १७९० वि० माना जाने लगा है। जहाँ तक इसमें वर्णित ऐतिहासिक सामग्री का प्रश्न है, इसे पूर्णतया प्रमाणित नहीं माना जाता है।

यह काव्य आठ खण्डों में विभक्त है। वीर और शृंगार दोनों रसों का इसमें समान रूप से वर्णन मिलता है। इसमें कवि ने रस के उपयुक्त विविध छन्दों का प्रयोग किया है। इसकी भाषा-शैली को सरल एवं स्वाभाविक बताते हुए डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने अपने वैज्ञानिक इतिहास में इसका निम्नलिखित उदाहरण उद्धृत किया है

> पीउ चित्तौड न आविऊ, सावण पहिली तीज।
> जोवे वाट राति विरहिणी, खिण खिण आणवै खीज॥
> संदेशो पिण साहिबा, पाछो फिरिय न देह।
> पथी चाल्यो पीजरे, धूरण रो संदेह॥

परवर्ती रचना प्रमाणित हो जाने के बाद भी परम्परा-निर्वाह के लिए ही इसकी चर्चा यहाँ की गई है।

नरपति नाल्ह – इस कवि का रचनाकाल सम्वत् १२१२ के आसपास माना जाता है। यह विग्रह-राज चतुर्थ के समकालीन थे। यह मूलत अजमेर के निवासी थे या गुजरात के, इस विषय पर अभी विद्वानो मे मतभेद बना हुआ है। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना का नाम है—'वीसलदेव रासो'। यह एक प्रबन्ध परम्परा का काव्य है। कुछ इतिहासकार इसे वीर-गीति परम्परा मे न रख प्रेमाख्यानक काव्यो की परम्परा मे रखना अधिक उचित मानते हैं, क्योंकि इसमे विग्रहराज या वीसलदेव (चतुर्थ) के भोज परमार की पुत्री राजमति के साथ प्रेम-विवाह आदि प्रसगो का ही प्रमुखत वर्णन हुआ है। विवाह के बाद दाम्पत्य प्रेम का विकास चित्रित किया गया है। फिर इसमे विरह आदि का वर्णन भी पर्याप्त एव मार्मिक हुआ है। अत यह काव्य वीर रस की कोटि मे नही आता। विशेप बात यह है कि वीसलदेव की वीरता, पराक्रम और उसकी अनेक विजयो का इसमे कही भी वर्णन नही किया गया।

इसकी भापा राजस्थानी होते हुए भी गुजराती मे काफी प्रभावित है। अपभ्रंश और हिन्दीपन भी इसकी भापा मे स्पप्ट देखा जा सकता है। इसकी प्रामाणिकता अभी तक विवादास्पद बनी हुई है। इसका महत्त्व 'विरहकाव्य' की दृष्टि से ही अंकित किया जाना चाहिए, वीर-काव्य के रूप मे नहीं।

जगनिक—यह चदेलराज्य कालिंजर के राजा परमर्दिदेव का आश्रित कवि था। इसका नाम 'जगनायक' भी उल्लिखित किया जाता है। इसके जीवन-चरित्र के सम्बन्ध मे अन्य कोई विशेप वर्णन नही मिलता। इसकी जाति भाट ही बताई जाती है।

'परमाल रासो' या 'आल्हा खण्ड' इसकी एकमात्र उपलब्ध प्रसिद्ध रचना है। इसमे महोवा के दो प्रसिद्ध वीरो—आल्हा और ऊदल की वीरता का बड़ा ही सजीव और हृदयग्राही वर्णन है। रचना वीर-गीतो मे है, जो गेय है और आज भी बड़े चाव से गाये जाते हैं। कुछ दिनो तक इस काव्य को 'पृथ्वीराज रासो' का एक भाग मात्र समझा जाता रहा है। सम्वत् १९७६ मे डॉ० श्यामसुन्दरदास ने 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी से इसका एक अलग और स्वतत्र रचना के रूप मे प्रकाशन किया। इन्होंने 'आल्हा खण्ड' को 'परमाल रासो' नाम भी दिया।

मि० चार्ल्स इलियट नामक एक व्यक्ति ने भी लोक मे प्रचलित आल्हा ऊदल-सम्बन्धी गीतो को सकलित करके प्रकाशित करवाया था। पर इस प्रकाशन मे जगनिक के मूल काव्य का रूप सुरक्षित नही रह सका।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे बहुत पुरानी रचना नही मानते। इनका कथन है कि यदि यह प्राचीन रचना होती तो प्राय सभी काव्यशैलियो को अपनाने वाले गोस्वामी तुलसीदास इसकी शैली को भी अवश्य अपनाते। पर हमारे विचार मे यह कोई बहुत ही आवश्यक बात नही है। यह अवश्य है कि मौखिक रूप से प्रचलित रहने के कारण इसके मूल रूप मे काफी परिवर्तन आ गया है। इस सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत देखने के योग्य है। वे कहते है—"यदि यह काव्य साहित्यिक प्रबन्ध के रूप मे लिखा गया होता, तो कहीं न कही राजकीय पुस्तकालयो मे इसकी प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिए ही रचा गया था जनता के बीच ही इसकी गूंज बनी रही—पर यह गूंज मात्र है, मूल शब्द नही।" डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी प्राय इसी मत के हैं। इसमे सन्देह नही कि इस रचना ने अपने मूल के बाद परिवर्तन और परिवर्द्धन के अनेक दौर देखे हैं। इतने पर भी इसकी भाव-धारा अपरिवर्तित है। इसी कारण आज भी वह रसिको को आप्लावित करने की क्षमता रखती है।

हम्मीर रासो—'रासो' परम्परा मे इस रचना की भी विशेष चर्चा की जाती है। पर इसके रचयिता कौन थे, इस सम्बन्ध मे अभी तक कोई निर्णय नही हो सका। कुछ लोग 'शारगधर' को रचयिता मानते है और कुछ लोग 'उज्जल' नामक किसी अन्य कवि को। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य और 'शारगधर'-पद्धति नामक आयुर्वेदिक रचना के रचयिता शारगधर को ही हम्मीर रासो के रचयिता माना है। इधर राहुल साकृत्यायन जैसे कुछ इतिहासकार इसे 'उज्जल' कवि की रचना कहते हैं। यह भी मान्यता है कि मूल 'हम्मीर रासो' आज उपलब्ध नही। उपलब्ध कृति की रचना या पुनर्लेखन स्मृति के आधार पर किया गया। अत शारगधर और उज्जल दोनो ही इस रचना से सम्बन्धित हो गये। अभी तक निर्णायक रूप से इस रचना के सम्बन्ध मे कोई मत व्यक्त नहीं किया जा सकता। आचार्य शुक्ल द्वारा विरचित्त इतिहास मे इसका यह पद्य उद्धृत

किया गया है —

पिधउ दिढ सन्नाह, वाह उप्परि पक्खर दइ।
वन्धु समदि रग धसेउ सामि हम्मीर वअणलइ॥
हम्मीर कज उज्जल भणइ कोहाणल मइ-मइ जलउ।
सुलितान सीख करवाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलउ॥

श्रीधर—इनकी 'रणमल छन्द' नामक रचना मानी जाती है। इसका रचना काल स० १३६७ कहा जाता है। इस दृष्टि से यद्यपि यह काव्य वीरगाथा काल की अन्तिम सीमा (१३७५) से वाहर आ जाता है, परन्तु परम्परा की दृष्टि से यह उसीमे आता है। इसमे कवि ने ईडर के राठौर राजा रणमल्ल की वीरता का वर्णन किया है। इसमे वीर रस प्रधान है। काव्य मे तत्कालीन समस्त प्रवृत्तियो के दर्शन होते हैं।

कवि नल्लसिंह—कवि नल्लसिंह का रचना-काल सम्वत् १२९८ स्वीकार किया जाता है। कवि के जीवन के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त नहीं। इनकी रचना का नाम है—'विजयपाल रासो'। काव्य का वर्ण्य विषय राजा विजयपालसिंह की वीरता ही है। सन् १०३६ मे विजयपालसिंह के पग राजा के साथ हुए युद्ध को इसमे प्रमुखता दी गई है।

भाषा और शैली की दृष्टि से विद्वान् इसके रचना-काल के सम्बन्ध मे एक-मत नही हैं। क्योंकि काव्य मे प्रयुक्त भाषा-शैली रचना-काल की भाषा-शैली से काफी भिन्न है। अत विद्वान् इसे काफी बाद की रचना मानते हैं। फिर भी परम्परा की दृष्टि मे इसे यही रखना उचित है।

इनके अतिरिक्त बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय में प्राप्त 'राठोणरी ख्यात' नामक रचना मे भट्ट केदार द्वारा रचित 'जयचन्द्र प्रकाश' और मधुकर द्वारा रचित 'जयमयक जस चन्द्रिका' नामक रचनाओ के उल्लेख भी मिलते हैं। इनमे पृथ्वीराज चौहान के समकालीन राजा जयचन्द का यशोगान किया गया है। लगता है कि इनकी रचना कवि चन्दवरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' के अनुकरण पर, पृथ्वीराज की तुलना मे उसके विपक्षी जयचन्द को महत्त्व प्रतिपादन के लिए की गई होगी। पर दोनो प्रतियाँ उपलब्ध न होने के कारण निश्चित रूप से कुछ

भी नहीं कहा जा सकता।

चन्दवरदाई और उनका पृथ्वीराजरासो

कवि चन्द या चन्दवरदाई को समूचे वीरगाथा काल का प्रमुख और प्रतिनिधि कवि माना जाता है। इसी प्रकार इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना 'पृथ्वीराज रासो' को इस काल का प्रतिनिधि काव्य माना जाता है। हिन्दी-साहित्य मे महाकाव्यो की परम्परा वास्तव मे यही से आरम्भ होती है। फिर भी कवि चन्द और उसकी रचना 'पृथ्वीराज रासो' आज हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक विवादास्पद विषय हैं। कुछ लोग तो कवि चन्दवरदाई और उसकी रचना के वीरगाथा काल मे होने के अस्तित्व से सर्वथा इन्कार करते हैं, जबकि अन्य उसके अस्तित्व और प्रामाणिकता को असदिग्ध मानते है। अर्ध-प्रामाणिक मानने वालो की भी कमी नही है। इस ऊहापोह का परिणाम यह हुआ है कि प्रश्न का मूल रूप ही प्राय विकृत होकर रह गया है। आलोचको ने कवि और उसकी सर्जना दोनो को एक खिलवाड-सा बना दिया है।

फ्रैंच विद्वान् गॉर्सा द तॉसी तथा अनेक विद्वान् यह मानते है कि कवि चन्दवरदाई का जन्म स० १२०६ मे उसी दिन हुआ था, जिस दिन पृथ्वीराज चौहान पैदा हुए थे। इनकी जाति ब्रह्मभट्ट और जन्मस्थान लाहौर था। यह भी माना जाता है कि यह पृथ्वीराज के साथ ही खेल-कूदकर बडे हुए और पले-पुसे। इसी कारण जब पृथ्वीराज ने अपने शासन की बागडोर सँभाली तो इन्हे न केवल अपना राजकवि ही बनाया, बल्कि प्रमुख सामन्त और सलाहकार भी नियुक्त किया। यह भी मान्यता है कि पृथ्वीराज और चन्दवरदाई की मृत्यु भी एक ही दिन हुई थी। चन्द प्रत्येक कार्य और प्रत्येक स्थान पर सखा के रूप मे पृथ्वीराज चौहान के साथ रहे। ऐसा कहा जाता है कि शहाबुद्दीन गोरी के साथ अन्तिम युद्ध मे पराजित होकर पृथ्वीराज बन्दी बनाकर गजनी ले जाये गये, तो कवि भी अपना रचना-लेखन का कार्य अपने बेटे 'जल्हण' के हाथो सौपकर पीछे-पीछे गजनी जा पहुँचे। वहाँ गोरी के सामने पृथ्वीराज द्वारा चलाये जाने वाले शब्द-बेधी बाण की प्रशसा करके उसे उसका प्रदर्शन देखने के लिए राजी कर लिया।

प्रदर्शन के समय कविता मे चन्द ने संकेत पाकर पृथ्वीराज ने वाण का निशाना साध गोरी का वध कर डाला। वाद मे शत्रुओ ने हाथो पडने के स्थान पर चन्द और पृथ्वीराज ने अपनी कटारो से आत्महत्या कर ली।

कवि चन्द षट्भाषा-व्याकरण, छन्दशास्त्र, ज्योतिष, साहित्य, काव्य-शास्त्र, नाटक, पुराण आदि विविध विषयो के पूर्ण ज्ञाता और विद्वान् थे। इनकी रचना पढने से इस वात का स्पष्ट आभास मिल जाता है।

वालसखा होने के कारण पृथ्वीराज चौहान चन्द से वहुत स्नेह करते थे। प्रत्येक वात मे इनका परामर्श लेते थे। जव पृथ्वीराज ने नागौर नामक नगर वसाया, तो वहाँ चन्द को वहुत सारी भूमि तथा अन्य सम्पत्ति प्रदान की। चन्द के वंशज आज भी नागौर मे उस भूमि पर निवास करते हैं। कुछ विद्वान् चन्द के पूर्वजो का निवास-स्थान मगध को मानते है, किन्तु रासो के अनुसार चन्द का जन्म लाहौर मे ही माना जाता है। दूसरी ओर प्रो० वूलर जैसे कुछ विद्वान् चन्दवरदाई की सत्ता और अस्तित्व को ही नही स्वीकार करते। इसका कारण यह है कि पृथ्वीराज के समान काल मे रची गई कुछ पुस्तको मे पृथ्वीराज की चर्चा तो है, पर वहाँ चन्द का नाम कहीं भी नही मिलता है। पर यह कोई वात नहीं। कई वार किसी अन्य की प्रतिभा-प्रसिद्धि से चिढकर भी ऐसा किया जा सकता है। मुनि जिनविजय जैसे विद्वानो ने अपने अकाट्य तर्को के द्वारा कवि चन्द के अस्तित्व को इस काल मे प्रमाणित किया है। फिर कई शतियो मे जो वात प्रामाणिक रूप मे मान्य की जा रही हैं, अनुश्रुतियो मे भी प्रचलित है, उसे एकदम असत्य एव कपोलकल्पित कैसे माना जा सकता हैं। हमारे विचार मे भारतवर्ष के इतिहास तथा कई अन्य रचनाओ के समान चन्दवरदाई का वृत्त भी देश के अस्थिर वातावरण के कारण काल के अन्तराल मे समा गया है। अत इस सम्वन्ध मे पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर स्वतन्त्र अनुसन्धान आवश्यक हैं। कुछ भी हो, कवि चन्द के अस्तित्व को नहीं नकारा जा सकता।

कवि चन्द की प्रसिद्ध रचना का नाम है—पृथ्वीराज रासो। यह काव्य समूचे वीरगाथा काल का प्रतिनिधित्व करता है। उस सामन्ती युग के समूचे परिवेश का जितना जीवन्त चित्रण इसमे हुआ है, प्रचलित काव्य-रूढियो का

निर्वाह और रासवत की कथा इसमे हुई है, पर इस युग में इसकी किसी भी रूप म उपलब्ध नही।

पृथ्वीराज रासो—कवि चन्द के महान इसकी रचना 'पृथ्वीराज रासो' भी आज तक विद्वानो मे विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद के कई कारणो मे से एक कारण इसकी छोटी-बडी अनेक हस्तलिखित प्रतियो का मिलना भी है। उपलब्ध प्रतियो का ब्योरा इस प्रकार है —

१ वृहद् सस्करण—उदयपुर राज्य के पुस्तकालय मे इस प्रकार की कई प्रतियाँ सुरक्षित है। इनसे ज्ञात होता है कि इनका रूपान्तरण सम्वत् १७५० के वाद हुआ था। इसी को आधार वनाकर नागरी प्रचारिणी सभा ने इस रचना को प्रकाशित किया था। इसमे ६९ समय (सर्ग) है तथा कुल १६३०६ छन्द हैं।

२ मध्यम सस्करण—इस प्रकार के भी कई रूपान्तर प्राप्त हुए है। इनकी कुछ प्रतियाँ अवोहर स्थित साहित्य सदन, कुछ वीकानेर के जैन भण्डार और कुछ श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित है। ये प्रतियाँ भी सम्वत् १७०० के वाद की मानी जाती हैं। इनमे छन्दो की कुल सख्या सात हजार है। प० मथुराप्रसाद दीक्षित इसीको प्रामाणिक प्रति मानते हैं।

३ लघु सस्करण—इस प्रकार की तीन प्रतियाँ वनाई जाती है, जो वीकानेर राज्य के अनूप सस्कृत पुस्तकालय मे सुरक्षित है। इनमे कुल १९ सर्ग और उन सर्गो मे ३५०० के लगभग श्लोक है। इसका पुनर्लेखन किसी चन्द्रसिंह नामक व्यक्ति द्वारा किया गया वताया जाता है।

४ लघुतम सस्करण—इस सस्करण की खोज श्री अगरचन्द नाहटा ने की थी। इसमे सर्ग-विभाजन नही है। छन्दो की कुल सख्या १३०० है। डॉ० दशरथ शर्मा इसीको मूल और प्रामाणिक सस्करण स्वीकार करते है।

ऐसा स्वीकार किया जाता है कि पृथ्वीराज रासो का उद्धरण एव पुनर्लेखन का कार्य झल्लर या जल्हण, चन्द्रसिंह और अमरसिंह नामक तीन व्यक्तियो ने किया था। जल्हण कवि चन्दवरदाई का वेटा कहा जाता है और यह भी प्रचलित है कि गजनी जाते समय कवि अपनी अधूरी रचना इसे पूरी करने के लिए दे गया था—"पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृपकाज।" वाद मे जल्हण ने ही

पृथ्वीराज और कविचन्द की मृत्यु आदि की सभी घटनाओ का समावेश इसमे किया।

रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता—आरम्भ मे इस रचना को पूर्णतया प्रामाणिक माना जाता रहा। इसी कारण प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता कर्नल टॉड ने इसके तीस हजार पद्यो का अग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। इसका प्रकाशन भी बगाल की एशियाटिक रॉयल सोसाइटी द्वारा आरम्भ कर दिया गया था। किन्तु १८७५ ई० मे डॉ० बूलर को जब काश्मीर मे 'पृथ्वीराज विजय' नामक सस्कृत-काव्य प्राप्त हुआ तो उसमे कवि चन्द का नाम न देखकर 'रासो' को अप्रामाणिक मानकर इसका प्रकाशन स्थगित कर दिया गया। फ्रैंच विद्वान् गॉर्सा द तॉसी भी इसे प्रामाणिक ही मानते रहे, किन्तु बाद मे इसकी प्रामाणिकता को लेकर विद्वानो मे एक स्पष्ट तुमुल युद्ध-सा छिड गया। इस विषय मे स्पष्टत विद्वानो के कई वर्ग बन गये। इनमे से निम्नलिखित तीन वर्ग प्रमुख है —

(क) सर्वथा अप्रामाणिक मानने वाले—कविराज मुरारीदान, श्यामलदास, गौरीशकर हीराचन्द ओझा, डॉ० बूलर, मुशी देवीप्रसाद, अमृतलाल शील, आचार्य रामचद्र शुक्ल और डॉ० रामकुमार वर्मा प्रभृति विद्वान् इसी वर्ग मे आते हैं। इनके विचार मे पृथ्वीराज के काल मे न तो चन्दवरदाई नामक कवि ही हुआ और न 'पृथ्वीराज रासो' नाम का कोई काव्य ही रचा गया।

(ख) प्रामाणिक मानने वाले—डॉ० श्यामसुन्दरदास, मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, मथुराप्रसाद दीक्षित, मिश्रबन्धु और मोतीलाल मेनारिया प्रभृति विद्वान् इस वर्ग के हैं। इनके विचार मे 'रासो' मे प्रक्षेप और मिश्रण तो हुआ है, पर उसे तथा उसके सर्जक को एकदम उस काल मे अस्तित्वहीन नही किया जा सकता।

(ग) मूल रूप को अप्राप्य मानने वाले—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, मुनि जिनविजय, अगरचन्द नाहटा, डॉ० दशरथ शर्मा और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान् इस वर्ग मे आते है। इनकी मान्यता है कि पृथ्वीराज के युग मे कवि चन्द ने 'पृथ्वीराज रासो' की रचना तो की थी, परन्तु उसकी मूल प्रति आज उपलब्ध नही है। अत. उपलब्ध प्रतियो को अर्द्ध-प्रामाणिक माना जायेगा।

इन तीन के अतिरिक्त एक चौथा वर्ग भी है, जो यह मानता है कि पृथ्वीराज के काल मे कवि चन्दवरदाई के अस्तित्व मे तो इन्कार नहीं किया जा सकता, हाँ यह सत्य है कि उसने प्रबन्ध रूप मे किसी काव्य की सर्जना नहीं की थी। उसने पृथ्वीराज के सम्बन्ध मे फुटकर पद ही रचे थे, जो जैन ग्रन्थ भाषा मे उपलब्ध हैं। इस प्रकार 'पृथ्वीराज रासो' और इसके रचयिता को लेकर एक अच्छा-खासा विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसका आज तक भी अन्तिम निर्णय नहीं हो सका है।

अप्रामाणिकता के कारण—रासो के अप्रामाणिक मानने वालो ने उसके कई कारण खोज निकाले है। उन कारणो मे से मुख्य है रासो मे दिये अनेक नामो और घटनाओ का भारतवर्ष के इतिहास से मेल न खाना। उदाहरणत रासो मे परमार, चालुक्य और चौहानो की उत्पत्ति अग्निवश मे मानी गई है, जबकि प्राचीन उपलब्ध सामग्रियो के अनुसार ये सब लोग सूर्यवशी हैं। इसी प्रकार रासो मे दिया गया पृथ्वीराज की माता और उसके वश का नाम भी इतिहाससम्मत नही है। पृथ्वीराज की माँ को रासो मे अनगपाल की लडकी और जयचन्द को अनगपाल को दोहता बताया गया है, यह मान्यता भी इतिहास से मेल नही खाती। सयोगिता-स्वयवर की घटना भी मनगढन्त है। इस प्रकार की अन्य अनेक घटनाएँ और नाम भी हैं, जो इतिहास सम्मत नही।

अप्रामाणिकता का दूसरा कारण तिथियो और सम्वतो का व्यतिरेक अर्थात् इतिहास से मेल न खाना माना जाता है। उदाहरणत रासो मे पृथ्वीराज की मृत्यु सम्वत् ११५८ मे हुई बताई गई है जबकि इतिहास मे ११४८। जन्म की तिथियाँ भी इतिहास के अनुरूप नही। अनेक युद्धो तथा पृथ्वीराज के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओ की तिथियाँ भी इतिहास की विरोधी हैं। शहाबुद्दीन गोरी का पृथ्वीराज के हाथो से मरा जाना रासो मे १२४९ मे बताया गया है, जबकि इतिहास के अनुसार उसकी हत्या गक्खरो ने सम्वत् १२६३ मे की थी। अन्य अनेक सम्वत् भी ठीक नही।

रासो मे भाषा सम्बन्धी अव्यवस्था भी विद्यमान है। अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओ का प्रयोग पृथ्वीराज के युग मे सम्भव नहीं था। इसी अव्यवस्था

को निहारकर आचार्य शुक्ल ने कहा—"यह ग्रन्थ न तो भाषा के इतिहास और न ही साहित्य के जिज्ञासुओ के काम का है।" भाषा-विज्ञान के आधार पर ही प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इस काव्य को अप्रामाणिक ठहराया।

प्रामाणिक मानने वालो की युक्तियाँ—काफी बाद मे प्राप्त होने वाले 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' नामक ग्रन्थ मे पृथ्वीराज रासो के चार ऐसे छन्द मिले हैं, जो ऊपर वर्णित की गई लघुतम प्रतियो मे भी मिलते है। अत इन्ही (लघुतम प्रतियो) को प्रामाणिक मानते हुए इस वर्ग के लोगो का कथन है कि अपने मूल रूप मे यह काव्य आकार मे लघु था। अतः भाषा और साहित्य दोनो दृष्टियो से इसके अस्तित्व से इनकार नही किया जा सकता। हाँ, समय-समय पर इसमे प्रक्षेप पर्याप्त हुआ है, जिस कारण इसका मूल रूप कुछ विकृत हो गया है। फिर लघु प्रतियो मे घटनाओ के सम्बन्ध मे भी कोई वैषम्य नही है। वश की उत्पत्ति और नामो की विकृति भी इन प्रतियो मे सामान्य ही है। सयोगिता-स्वयवर की घटना का विवरण सभी लघु प्रतियो मे मिलता है, अत उसे मनगढन्त नही कहा जा सकता। इसी प्रकार अन्य सामान्य वैषम्यो के परिहार का भी सशक्त प्रयत्न किया गया है।

तिथियो और सम्वतो की विषमता का परिहार करने के लिए प० मोहन-लाल विष्णुलाल पण्ड्या ने एक 'आनन्द' नामक नये सम्वत् की परिकल्पना प्रस्तुत की है। 'आनन्द' से उनका अभिप्राय 'अ' से शून्य—० और 'नन्द' से नौ—९ (क्योकि इतिहास मे नव नद हुए हैं, राजपूत उनके काल को नही मानते, क्योकि उन्हे शूद्र तथा अत्याचारी माना जाता है)। इस प्रकार नौ+शून्य मिलाकर ९० बन जाता है। ९० वर्ष का व्यवधान समस्त तिथियो के हेर-फेर को समाप्त कर देता है। इस पक्ष के समर्थक आनन्द सम्वत् के अतिरिक्त एक 'भट्टायत' नामक चारण-भाटो का अपना सम्वत् भी मानते हैं। इनका कथन है कि बहुत सम्भव है चन्द ने इस अपने सम्वत् को ही माना हो।

नामो के हेर-फेर के सम्बन्ध मे इनका कथन है कि कई बार व्यक्ति के घरेलू और प्रसिद्ध नाम मे अन्तर हुआ करता है। पृथ्वीराज का अन्तरग मित्र होने के कारण बहुत सम्भव है कि चन्द ने प्यार और स्नेह के कारण घरेलू नामो का ही

प्रयोग किया हो, जिससे ऐतिहासिक नामो मे समानता नही हो पाती।

घटना-वैषम्य के सम्बन्ध मे हमारा कथन है कि समय-समय पर भारतीय इतिहास के साथ विदेशी आक्रान्ताओ द्वारा पर्याप्त खिलवाड किया जाता रहा है। विदेशियो ने यहाँ के वीरो-महापुरुषो को हीन बनाने के लिए और अपना महत्त्व तथा श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए इतिहास को काफी तोडा मरोडा है, अत इसे ही प्रमाणिक क्यो स्वीकारा जाये ? फिर इस बात ॰ ॰ ॰—चन्द-बरदाई तो प्रत्यक्षदर्शी थे, अत इन्हे ही प्रामाणिक माना जाना चाहिए। हाँ, इन सब वर्णनो मे कुछ अतिशयोक्ति अवश्य हो सकती है।

अर्द्ध प्रामाणिकता—'पृथ्वीराज रासो' को अर्द्ध प्रामाणिक मानने वाले विद्वानो का मत भी विशेष दर्शनीय है। ऐसे विद्वानो मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये रासो के काव्य-रूप को दसवी शताब्दी के समान मानते है। इसकी काव्य-रूढियाँ प्राचीन है। सयुक्त ॰ ॰ ॰ की प्रवृत्ति भी १२वी शती तक की है। इसमे इतिहास को विशुद्ध इतिहास के रूप मे नही बल्कि सास्कृतिक दृष्टि से तथा काव्यात्मक दृष्टि से देखा गया है। कल्पना और तथ्य, इतिहास और निजधरी (लोक-प्रचलित) प्रथाएँ सम्प्रवाहित हुई हैं। ये शुक-शुकी सम्वाद वाले सभी सर्गो को मूल मानते है। अत इनके विचार मे काव्य के आगे लिखे अश प्रामाणिक है —

प्रारम्भिक अश, इञ्छिनी-विवाह, शशिव्रता का गन्धर्व-विवाह, तोमर पाहार द्वारा शहाबुद्दीन को पकडना, सयोगिता-विवाह, कैमास-वध, गोरी-वध का इतिहास आदि। यद्यपि अन्य अनेक विद्वानो ने इस मत पर आक्षेप किये है, परन्तु हमारे विचार मे इसमे काफी तथ्य है। बाद मे प्रक्षेप और मिलावट हो सकती है, पर नितान्त अप्रामाणिक नही कहा जा सकता। हमारे अपने विचार मे राजनीतिक उथल-पुथल के कारण हो सकता है कि मूल प्रति मे गडबड हो गई हो और बाद मे स्मृति के आधार पर उसका पुनर्लेखन किया गया हो। ऐसी स्थिति मे कुछ छूट जाना और कुछ नया मिल जाना कोई बडी बात नही है। अनेक प्रतियो का मिलना भी इसकी लोकप्रियता का प्रमाण तो है ही सही, इस तथ्य का भी द्योतक है कि जिसे मूल का जितना अंश रुचा, उतना ही उद्धृत कर लिया

गया।

रासो की भाषा की गडबडी के सम्बन्ध मे डॉ० श्यामसुन्दरदास जैसे विद्वानो का कथन है कि, क्योकि कवि चन्द मूलत. लाहौर के निवासी थे और उस ओर काफी पहले से ही मुस्लिम आक्रमण हो रहे थे, अत' उनकी भाषाओ का प्रभाव पडना स्वाभाविक ही है। अरबी, फारसी और तुर्की शब्दो के रासो मे मिल जाने से ही उसे अप्रामाणिक नही ठहराया जा सकता।

अन्त मे निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि रासो की मूल प्रति आज उपलब्ध नही है। उपलब्ध प्रतियाँ उद्धृत ही अधिक हैं। इनमे प्रक्षेप पर्याप्त हुआ है। परिवर्तन भी असम्भव नहीं। यह सब होते हुए भी इसे अप्रामाणिक नही कहा जा सकता। इस सम्बन्ध मे अधिक वाद-विवाद भी व्यर्थ है। क्योकि उन्होने जिज्ञासु पाठको को काफी परेशान कर रखा है। इस सम्बन्ध मे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सर्वथा ठीक कहा है—"निरर्थक मन्थन से जो दुस्तर फेन राशि तैयार हुई है उसे पार करके ग्रन्थ के साहित्यिक रस तक पहुँचना द्विवेदी के विद्यार्थियो के लिए असम्भव-सा व्यापार हो गया है।" इससे निकलने का एक ही मार्ग है कि अब यह विवाद इस मान्यता के साथ समाप्त हो कि 'पृथ्वीराज रासो' नामक काव्य कवि चन्दवरदाई द्वारा रचा गया था, परन्तु अपने मूल रूप मे आज वह उपलब्ध नही है।

इस काल के अन्य कवि

अमीर खुसरो—अब्दुल हसन, उपनाम अमीर खुसरो का जन्म एटा जिला के पटिलायी नामक गांव मे सम्वत् १३१२ मे हुआ था। इनके सम्बन्ध मे प्रसिद्ध है कि इन्होने दिल्ली मे ग्यारह सल्तनतें देखी थी। उनमे से सात सल्तनतो मे यह सम्मानित राज-कर्मचारी रहे थे। यह स्वभाव के अत्यन्त उदार, मौजी, मिलनसार और आनन्दप्रिय थे। इन्हे सूफी सन्तो की श्रेणी मे रखा जा सकता है।

अमीर खुसरो अनेक भाषाओ के विद्वान् थे। तुर्की, अरबी, फारसी और खडी बोली (हिन्दी) पर इन्हे समान अधिकार प्राप्त था। इसके द्वारा विरचित सौ के लगभग रचनाएँ मानी जाती हैं; किन्तु उपलब्ध रचनाओ की संख्या बीस-

वाईस मे अधिक नही है। फारसी भाषा के समान खडीबोली मे भी इन्होंने पर्याप्त लिखा। हिन्दी मे इनके द्वारा विरचित फुटकर पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सखुने और तिन सखुने ही प्राप्त होते है। इनका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन ही प्रतीत होता है। कही-कही इनमे सामान्य लोक-व्यवहार और लोक-नीतियो के दर्शन भी होते हैं। कुछ फुटकर गीत भी इनके नाम पर प्रचारित हैं। विद्वानो के मतानुसार इनकी सर्जनाओं मे प्रक्षेप पर्याप्त मात्रा मे हुआ है। उनकी रोचक, ज्ञानवर्द्धक और जिज्ञासा-शामक पहेलियो के दो उदाहरण देखें —

एक थाल मोती से भरा, सब के सिर पर औंधा धरा।
चारो ओर थाल वह फिरे, मोती उसका एक न गिरे।।

(तारो भरा आकाश)

एक कहानी मैं कहूँ, सुन ले तू मेरे पूत।
बिना परो वह उड गया, बाँध गले मे सूत।।

(पतंग)

इसी प्रकार उनके द्वारा रचे गये दो सखुने और तिन सखुने भी जिज्ञासा-शामक, ज्ञानवर्द्धक होने के साथ-साथ मनोरजक भी हैं। एक-दो उदाहरण देखें—

पान सडा क्यो ? घोडा अडा क्यो ? (फेरा न था)
ब्राह्मण प्यासा क्यो ? गधा उदासा क्यो ? (लोटा न था)

सबसे बडी बात तो यह है कि कविता के राज्याश्रय मे पलने के कारण सामान्य जनता से उसका सम्बन्ध टूट चुका था, अमीर खुसरो के प्रयत्न से वह अब फिर से जन-सामान्य के समीप आ गई। अमीर खुसरो का महत्त्व एक गायक के रूप मे भी बहुत अधिक है। इन्होने ही सर्वप्रथम लोकप्रिय 'कव्वाली' का आविष्कार किया था। इसी कारण आज भी प्रतिवर्ष इनके उर्स (स्मृति-दिवस) पर कई दिनो तक कव्वालियो का कार्यक्रम चलता रहता है। इनके सम्बन्ध मे डॉ० रामकुमार वर्मा द्वारा कहे गये शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। ये लिखते है —

"चारण कालीन रक्तरंजित इतिहास मे जब पश्चिम के चारणो की डिंगल कविता उद्धत स्वरो मे गूँज रही थी और उनकी प्रतिध्वनि और भी उग्र थी, पूर्व

मे गोरखनाथ की गम्भीर धार्मिक प्रवृत्ति आत्मशासन की शिक्षा दे रही थी, उन काल मे अमीर खुसरो की विनोदपूर्ण प्रकृति हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक महान् निधि है। मनोरंजन और रसिकता का अवतार यह कवि अमीर खुसरो अपनी मौलिकता के कारण सदैव स्मरणीय रहेगा।"

निस्सन्देह अमीर खुसरो ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे एक नवीन सरणी प्रशस्त की, जिसका प्रमुख स्वर है स्वच्छन्द आनन्द।

हिन्दी-रासो-परम्परा

उपर्युक्त कवियो और इनकी रचनाओ के अतिरिक्त परवर्ती अनुसधानो के परिणामस्वरूप कुछ ऐसे 'रास काव्य' प्राप्त हुए हैं कि जिनकी हिन्दी को विद्वानो ने हिन्दी के प्रारम्भिक रूप मे मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। दूसरे, इन रास काव्यो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे भी किसी प्रकार का विवाद नही है। यह ठीक है कि ये रचनाएँ जैन कवियो द्वारा रची गई हैं, इस दृष्टि से इनका निश्चय ही साम्प्रदायिक महत्त्व है। परन्तु निस्सन्देह इन रचनाओ मे उन उदात्त मानवीय भावनाओ और तत्त्वो का भी समावेश मिलता है कि जिन्हे उत्कृष्ट काव्य-रचना के लिए आवश्यक माना जाता है। इन्ही सब दृष्टियो से उपलब्ध साहित्य मे से कुछ प्रमुख कवियो और इनके साहित्य का परिचय यहाँ दिया गया है।

शालिभद्र सूरि—इन्हे हिन्दी-रासो-परम्परा का प्रवर्तक कवि माना जाता है। इनका रचना-काल फाल्गुन मास की पचमी, स० १२४१ वि० निश्चित है। कवि ने स्वय ही अपनी रचना मे इसका उल्लेख कर दिया। इनकी उपलब्ध रचना का नाम 'भरतेश्वर-बाहुबलि रास' है। मुनिजिन विजय इसे हिन्दी-जैन-रास परम्परा का आदि ग्रन्थ मानते हैं। डॉ० दशरथ ओझा तथा डॉ० हरीश प्रभृति विद्वानो ने भी इस स्कद को देशी-भाषा और हिन्दी का प्रथम रासक काव्य माना है।

वर्ण्य विषय के अनुसार कवि ने आरम्भ मे जिनेश्वर ऋषि, सरस्वती देवी और गुरु-चरणो की वन्दना की है। कथानक का आधार पुष्पदन्त का महापुराण है। इसमे बताया गया है कि ऋषभ का बेटा भरत सब राजाओ को जीतकर चक्रवर्ती

वन जाना है, किन्तु इगका अपना ही छोटा भाई वाहुवलि इसकी अधीनता स्वीकार नही करता। अत यह क्रुद्ध होकर उन पर आक्रमण कर देता है। दोनो मे भयानक युद्ध छिड जाता है। अपनी जीत होती न देख भरत दैवी शक्तियो से अभिमन्त्रित विशेष चक्र चलाकर वाहुवलि को पराजित करना चाहता है कि इसी क्षण इसे स्मरण हो आता है कि यह चक्र अपने पारिवारिक जनो पर वार नही करता और इसमे नष्ट करने की शक्ति नही रह जाती। अत यह चिन्तित हो उठता है। उधर वाहुवलि के मन मे भी भाई-भाई के प्रति हिंसा-भावना से विरक्ति का उदय हो जाता है। भरत का मन भी ग्लानि से भर जाता है। वैराग्य-भावना से भरे नव मुनिराज (वाहुवलि) के चरणो पर गिरकर भरत क्षमा मांग लेता है। परिणाम युद्ध स्वत ही समाप्त हो जाता है और चारो ओर शान्ति की धारा प्रवाहित होने लगती है।

इस प्रकार वीर रस से प्रारम्भ होकर काव्य की चरम परिणति शान्त रस मे दिखाई गई है जो कि जैन धर्म की साम्प्रदायिक भावनाओ के सर्वथा अनुरूप है। कवि ने यद्यपि युद्ध-वर्णन और वीर-भाव का चित्रण वडी प्रखरता मे किया है, पर इसका उद्देश्य शान्त रस को प्रश्रय देना ही है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार—"वस्तुत यह काव्य न केवल शान्त रस का एक उत्कृष्ट नमूना है अपितु यह उस स्थापना का भी आधार है कि शान्त रस का आधार शुष्क उदासीनता मे नही अपितु स्वच्छ, स्निग्ध एव सच्चे स्नेह मे है।" चरम परिणति ार रस-परिपाक की दृष्टियो से तो यह एक सफल काव्य है ही सही, वस्तु-र्णन, सम्वाद-योजना, छन्द-योजना और अभिव्यक्ति की सहज कुशलता आदि ष्टियो से भी यह एक उत्कृष्ट रचना है।

भाषा गुजराती-मिश्रित राजस्थानी है। परन्तु प्रधानता राजस्थानी की ही ै। इसके अतिरिक्त भाषा पर उत्तरकालीन अपभ्रंश का भी यत्किंचित् प्रभाव दखाई देता है। अलकारो और छन्दो का वैविध्य इसकी एक अन्य प्रमुख वेशेषता है।

कुछ लोग मुनि शालिभद्र सूरि की 'वुद्धि रास' नामक एक अन्य उपलब्ध रचना भी मानते हैं, परन्तु उस पर अभी अन्तिम निर्णय होना वाकी है कि वह उन्ही

की है या इस नाम के किसी अन्य कवि की, क्योकि इम नाम के अन्य दो कवियों का उल्लेख भी मिलता है। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिए।

धिग-धिग ! ए एय ससार, धिग धिग ! राणिम राजरिद्धि,
एत्तडु ए जीव सहार, कीधउ कुण विरोधवसि ?
कीजइ ए कहि कुण काजि, जउ प्रण वधव आवरइए।
काजन ईणइ राजि, धरि पुरि नयरि न मदिरिहि ॥

कवि आसगु—इनका रचना-काल सम्वत् १२५७ ई० के आसपास माना जाता है। इनकी दो रचनाएँ उपलव्ध हुई है। उनके नाम है—'चन्दन-वाला-रास' और 'जीव-दया-रास।' इनमे से पहली रचना 'चदन-वाला-रास' एक ऐतिहासिक प्रवन्ध-काव्य है। इसमे चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन की कन्या के जैन-माध्वी चन्दन वाला वनने की कहानी कही गई है। कहानी मे आता है कि कौशाम्बी के राजा शतानीक (जो चम्पा के राज्य दधिवाहन का वास्तव मे सम्वन्धी भी था) चम्पा पर आक्रमण कर देता है। दधिवाहन उसको शान्त करने की प्रक्रिया मे वलिदान हो जाता है। शतानीक राजकुमारी और उसकी माँ धारिणी को वन्दी वना लेता है। आत्मग्लानि के कारण धारिणी तो आत्महत्या कर लेती है! पर राजकुमारी किमी प्रकार खरीदी जाकर एक सेठ के हाथ पड जाती है। वह उसे वेटी के समान मानता है, पर उसकी पत्नी अपने पति के राजकुमारी के साथ गुप्त मम्वन्ध मानकर अनेक यातनाएँ देती है। वह उसे एक तहखाने मे वन्द करके स्वय पीहर चली जाती है। वाद मे प्रव्रज्या के लिए घूमते महावीर स्वामी उसके हाथ से भोजन करके उसे ज्ञान और मुक्ति प्रदान कर देते है।

काव्य मे कवि ने सतीत्व, सयम और माधना आदि वातो पर अपने जैन धर्म की मान्यताओ पर ही प्रकाश डाला है और इन सद्‌गुणो की अन्तिम विजय दिखाकर इन्हे मुक्ति का मार्ग वताया है। स्पष्टत कवि का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक ही अधिक है। इतना होने पर भी डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुमार—"इसमे रचना की काव्यात्मकता मे विशेष अन्तर नही आया है। इसने नारी-सौन्दर्य, नायिका की चेष्टाओ, रति, करुणा, उत्साह, आदि भावो की व्यजना पूर्ण सरसता

से की है।" इसकी शैली के सम्बन्ध मे डा० हरीश कहते हैं—"छन्द और अलकारो की दृष्टि से कृति का विशेष महत्त्व नही लगता। परन्तु भाषा तथा सरल भावपूर्ण शब्दावली के कारण रास का महत्त्व बहुत बढ जाता है। भाषा की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमे गुजराती और राजस्थानी का मिश्रण है। ऐसी भाषा को सरलता से पुरानी हिन्दी कहा जा सकता है।"

उस राम-काव्य की कविता का एक उदाहरण देखें —

दधि वाहण गेहिणी सुगाहिणी, रूपवत सा धारिणी राणी।
तुग पयोहर खीर सर कुडिल केस भुय नयण सुरगी।
हस गमणि सा भृग नयणि नव जोवण नव नहे सुरगी॥

विशेष ध्यातव्य बात यह है कि इसी कथानक को लेकर आधुनिक काल मे एक उपन्यास भी लिखा जा चुका है। उस उपन्यास का नाम है 'राह न रुकी' और लेखक है—डॉक्टर रागेय राघव।

इसी कवि की दूसरी रचना का नाम है—'जीव-दया-रास'। परन्तु इसका विशेष साहित्यिक महत्त्व नही माना जाता, क्योकि यहाँ कवि दृष्टियाँ विशुद्ध साम्प्रदायिक और उपदेशात्मक ही हैं। फिर भी, इसमे कही-कही सरस पदावली और रूपकात्मक योजनाएँ भी देखने को मिल ही जाती हैं।

इनके अतिरिक्त भी अनेक रासो-काव्य इस परम्परा मे लिखे गये है और इनकी सख्या काफी लम्बी है। इनकी परम्परा १५वी-१६वीं शताब्दी तक चली जाती है। इनमे से कुछ प्रमुख रास या रासो काव्यो का यहाँ नामोल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। इनमे से 'स्थूलिभद्र रास' रचना-काल स० १२६६ वि०) के रचयिता का नाम काव्य के अन्त मे उपलब्ध 'जिणधाम' शब्द के आधार पर जिन धर्म सूरि' अनुमानित किया जाता है। इसमे जैन-तपस्वी स्थूलिभद्र सूरि की तपस्या और सयम का वर्णन प्रभावशाली रूप मे हुआ है। काव्य का मूल भाव निर्वेद होते हुए भी प्रसग मे आने वाली नारियो के सदर्भ मे नारी-सौन्दर्य, उसके विविध हाव-भाव, प्रकृति, कामेच्छा आदि भावो की अभिव्यक्ति बडे ही सरस और प्रभावशाली ढग से हुई है।

सम्वत् १२८८ वि० मे विजय जिन सूरि द्वारा विरचित काव्य 'रेवत गिरि

रास' इस परम्परा का अगला काव्य है। इसमे कवि ने रेवतगिरि नामक जैन-तीर्थ का ऐतिहासिक एव पौराणिक महत्त्व प्रतिपादित किया है। इसमे वर्णित प्रकृति-सौन्दर्य विशेष आकर्षक है। कथा-प्रतिपादन की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया। कवि ने बीच-बीच मे दानवीरता आदि का महत्त्व भी प्रतिपादित किया है। अभिव्यक्ति-शैली आलकारिक है।

पल्हण द्वारा रचित 'आबू रास' (सम्वत् १२८९ वि०) मे आबू के प्रसिद्ध जैन-मन्दिर का रोचक वर्णन किया गया है। सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा मे रचे गये इस काव्य मे धार्मिक वातावरण की स्थापना है। मन्दिर-निर्माण मे योगदान करने वाले व्यक्तियो की धार्मिकता और दान-वृत्ति का वर्णन भी इसमे मिलता है।

सुमति गणि द्वारा स० १२९५ वि० मे विरचित 'नेमिनाथ रास' इस परम्परा की अगली कडी है। इसमे कुल ५८ छन्दो मे जैन तीर्थंकर नेमिनाथ के चरित का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। इसमे उत्साह, निर्वेद और रति आदि भावो की अभिव्यक्ति विशेष प्रसगो मे प्रभावी ढग से हुई है। डॉक्टर हरीश के अनुसार "इसका सौन्दर्य-वर्णन पर्याप्त सुघड है तथा सौन्दर्य के उपमानो मे भी मौलिकता है।"

इनके अतिरिक्त प्रज्ञातिलक विरचित 'कच्छुली रास' (सम्वत् १३६३) और चौदहवी शताब्दी मे रचे गये देल्हण के काव्य 'गद्य सुकुमाल रास' आदि का भी अपना अक्षुण्ण महत्त्व है। इन सबके अध्ययन से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि साम्प्रदायिक या धार्मिक काव्य होते हुए भी कवियो ने अपनी रचनाओ मे सहज मानवीय मनोभावो का स्वाभाविक चित्रण किया है। फिर पुरानी हिन्दी की रचनाएँ कहलाने के अधिकारी वास्तव मे यही ग्रन्थ ही है।

५ | भक्ति काल
(सम्वत् १३७५ से १७०० तक)

हिन्दी-साहित्य मे भक्ति-भाव का उदय तथा विकास

भक्ति-भावना का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति की आत्मा मे विद्यमान अध्यात्म-चेतना से है। उसका लक्ष्य भौतिक जगत् की जडता से मुक्ति पाकर अपनी आत्मा को सर्वातम तत्त्व मे तल्लीन कर देना या मुक्ति पाना है। वैसे तो सामान्यत. धार्मिक या आध्यात्मिक चेतनाओ को विशुद्ध ललित साहित्य के अन्तर्गत रखने मे पर्याप्त विवाद भी प्रचलित है, किन्तु हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत जिस भक्ति साहित्य या उसकी आध्यात्मिक चेतनाओ की सर्जना हुई, उसका व्यवहार-जगत् से सम्बन्धित सास्कृतिक, राष्ट्रीय और जातीय महत्त्व भी है। वह कोरा अध्यात्म-वाद या अध्यात्म-चिन्तन ही नही, जीवन की जडता को स्पन्दित करने वाली अविरत सरणी भी है, जिसने अनादि काल से मानव की जीवन-धारा को सयम, अनुशासन एव कर्त्तव्य-पालन करते हुए अन्त मे मुक्ति के तट-बन्ध भी प्रदान किये हैं। भक्ति-भाव के साहित्य मे उदय तथा विकास के इतिहास को इन्ही सन्दर्भो मे यथातथ्य समझा और परखा जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य मे भक्ति-भाव के उदय और विकास के सम्बन्ध मे विभिन्न इतिहासकार विद्वानो के विभिन्न मत रहे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० श्यामसुन्दरदास जैसे विद्वान् इसका उदय राजनीतिक पराजय के कारण

पराजित मनोवृत्तियो मे से मानते हैं। डॉ० गुलाबराय का कथन है "मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार हार की मनोवृत्ति मे दो बातें सम्भव हैं—या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग-विलास मे पडकर हार को भूल जाना। भक्तिकाल मे लोगो मे प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई।" इसके विपरीत ग्रियर्सन, कीथ, वेबर जैसे अनेक पाश्चात्य विद्वान् भारत मे भक्ति के उदय को मूल ईसाई धर्म के मूल मे खोजने का हठपूर्वक प्रयत्न करते हैं, जो किसी भी दृष्टि से सद्भावना का परिचायक नही कहा जा सकता। कइयो ने तो 'कृष्ण' को 'क्राइस्ट' का रूपान्तर तक भी कह दिया है। दूसरी ओर कुछ मुस्लिम भक्तो और राष्ट्रीयता के अन्ध दुराग्रहो से जुडे व्यक्तियो ने हिन्दी-साहित्य मे भक्ति-भाव के उदय को इस्लाम के उदय से जोडने तक का असफल प्रयास किया है। परन्तु ये समस्त मान्यताएँ नितान्त दुरागपूर्ण एव भ्रामक हैं। वास्तव मे हम इसके उदय का मूल स्रोत परम्परागत भारतीय धारणाओ के मन्थन मे ही खोज सकते हैं। हिन्दी-साहित्य की भक्ति परम्परा वास्तव मे भारतीय चिरन्तन परम्परा का ही समन्वित एव विकसित रूप है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानो ने उपरोक्त मान्यताओ का खण्डन कर इसका प्रारूप भारतीयता मे ही खोजने का प्रयत्न किया है। भारत मे मात्र सुखान्त साहित्य की सर्जना भी इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यहाँ निराशा की भावना यदि रही भी तो वाह्य रूप से रही। आन्तरिक रूप से सदा-सर्वदा समन्वित आशावादी दृष्टिकोण रहा। इसका मूल सम्बल परम्परागत भक्ति-भाव ही था, जिसने इसे मुस्लिम आक्रमणो के भयावह युग मे भी टूटने नही दिया। जब यहाँ की संस्कृति को समूल उखाड़-फेंकने के योजनाबद्ध प्रयत्न हो रहे थे, तब भी यहाँ की आत्मा मरी नहीं। सत्य तो यह है कि हिन्दी का श्रेष्ठतम साहित्य अनवरत प्रहारो और सघर्षों के युग मे ही रचा गया। वहाँ इसकी आत्मा जितनी सजीव एव उत्प्रेरक है, उतनी आज भी नही। शकराचार्य, रामानुज, मध्व, विष्णु स्वामी, निम्बार्क, रामानन्द, वल्लभाचार्य और चैतन्य जैसे महान् भक्ति के प्रवर्तक आचार्य और तुलसीदास जैसे सस्कृति के महान् आशावादी स्वरो के उद्घोषक और गायक इसी सक्रमण एव विनाश के मुहाने पर खड़े युग मे हुए हैं। फिर हिन्दी-साहित्य मे भक्ति-भाव

के उदय को निराशा, पराजित मनोवृत्तियो, ईसाईयत या इस्लाम की देन कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

हिन्दी के भक्ति-साहित्य मे केवल भक्ति के कोरे उपदेश ही सकलित नही हुए, बल्कि भारतीय सस्कृति का उदात्त स्वर भी मुखरित हुआ है। इनमे काव्यत्व की प्रौढता के सहज दर्शन होते है। यहाँ मानवी दर्द मे भक्ति की आत्मा और सरस मन को साँचे मे ढालने का सफल प्रयास किया गया है। फलत इस काल का साहित्य एक साथ हमारी समस्त चेतनाओ को सन्तुष्टि का आलोक प्रदान कर सकने की पूर्ण क्षमता रखता है। यहाँ एक ओर जहाँ ऐहिक लोक का सद्भाव है, वहाँ परलोक का सद्भाव भी सहज ही देखा और प्राप्त किया जा सकता है। अत हम भक्ति-काल के साहित्य को भारतीय चिन्तन-दर्शन की निरन्तर धारा का ही सतत विकासशील प्रवाह कहेंगे। सामयिक परिस्थितियो के फलस्वरूप इसमे आ गई कुछ सकीर्णताओ से इनकार तो नही किया जा सकता, फिर भी इसमे एक भीतरी स्वतत्र चेतना सतत प्रवाहित होती रही है।

आधुनिक काल के प्रमुख इतिहासकार हिन्दी-साहित्य के भक्ति-आन्दोलन को पूर्णत भारतीय मानते है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो यहाँ तक लिखा है कि ईसाई धर्म का भक्तिवाद वास्तव मे भारतीय भक्ति सम्प्रदायो की देन है। डॉ० रामरतन भटनागर के भक्ति-आन्दोलन को पौराणिक धर्म का पुनरुत्थान मानते हुए स्पष्ट लिखा है कि—"मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन को हम पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान का आन्दोलन भी कह सकते हैं। वस्तुत. गुप्तो के युग मे विष्णु और लक्ष्मी को लेकर जिन धार्मिक भावनाओ का विकास हुआ था, वे ही इस युग मे राधा-कृष्ण और सीता-राम के माध्यम से विकसित हुई।" कई विद्वानो के मतानुसार वैदिक साहित्य मे ही भक्ति-आन्दोलन के तत्त्व विद्यमान थे। डॉ० सत्येन्द्र ने भक्ति का उद्भव दाक्षिणात्य वैष्णवों से न मानकर द्राविडों से माना है। उनके विश्वास का आधार यह उक्ति है "भक्ति द्राविडी ऊपजी लाये रामानन्द।" पर यहाँ द्राविडो से अभिप्राय मूलत दक्षिण देश से ही है, न कि द्राविड जाति से, क्योकि भक्ति काल के प्रवर्त्तक प्राय सभी विद्वान् वास्तव मे दक्षिण निवासी ही थे। महाभारत और गीता मे वर्णित भक्ति-महात्म्य भी इसे

पूर्णत भारतीय परम्परा ही प्रमाणित करता है। अन्य अनेक प्राचीनतम ग्रन्थो मे भी भक्ति-भावना की सयमित व्याख्या उपलब्ध होती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से आठवी नौवी शतियो मे दक्षिण भारत मे भक्ति का प्रचार हो चुका था। इसी कारण श्रीमद्भागवत जैसे भक्ति-पुराण की रचना दक्षिण भारत मे ही मानी जाती है। दक्षिण के अलवार भक्त इस बात के लिए विशेष महत्त्व रखते है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इन दाक्षिणात्य अलवारो को ही भक्ति-आन्दोलन का प्रमुख प्रचारक मानते हैं। इसके बाद रामानुजाचार्य और उनके उत्तराधिकारी रामानन्द का इस दिशा मे विशेष महत्त्व है। इन दोनो मे अन्तर केवल सगुण-निर्गुण का है। रामानन्द ने ही उत्तर भारत मे राम-भक्ति के आन्दोलन को सशक्त रूप से चलाया। इसी प्रकार मध्वाचार्य, निम्बार्क स्वामी और वल्लभाचार्य आदि के प्रयत्नो मे उत्तर भारत मे कृष्ण-भक्ति की लहर चली। दूसरी ओर सिद्धो और नाथो ने कर्मकाण्ड को कोरा आडम्बर बताकर निर्गुण-निराकार रूप की उपासना का महत्त्व प्रतिष्ठापित किया। ऐकेश्वरवादी और निर्गुणवादी होते हुए भी इन लोगो मे भक्ति सम्बन्धिनी समस्त विशेषताएँ खोजी जा सकती है। इस सन्त धारा ने विभिन्न सम्प्रदायो मे समन्वय और एकता स्थापित करने का प्रयत्न भी किया। अत भक्ति-साहित्य के विकास मे इन सबका समान महत्त्व है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य का भक्ति-भाव और उसका आन्दोलन भारतीय भक्ति-भावना की एक परम्परागत कडी होते हुए भी परिस्थिति-परिवेश के कारण इससे कुछ भिन्न एव नया आन्दोलन है। क्योकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे—"यह एक नई दुनिया है···नया साहित्य (भक्ति-साहित्य) मनुष्य-जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद् भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्त्विक जीवन और साधन है भगवान् के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओ का गान। इस साहित्य को प्रेरणा देने वाला तत्त्व भक्ति है, इसलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सब प्रकार से भिन्न है।" भिन्न इसलिए कि इसने सामयिक मूल्यो एव स्थितियो को भी अपने अन्तराल मे समेटा-सहेजा और अपने भव्य कलेवर का सृजन किया।

परम्परागत एव युगीन परिस्थितियाँ साहित्य मे अवश्य प्रतिफलित होती है। अत किसी विशेष काल-खण्ड के साहित्य को समझने के लिए परिस्थितियों का अध्ययन प्राय अनिवार्य होता है। भक्तिकाल की परिस्थितियों का अध्ययन हम निम्नलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत सहज ही कर सकते हैं।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—वीरगाथा काल से भी पहले से, लगभग सातवीं शती से भारत पर विदेशी मुसलमानों के निरन्तर आक्रमणों का जो क्रम जारी हुआ था, वह अभी तक भी जारी था। अब मुसलमानों की सत्ता यहाँ जमती जा रही थी। फिर भी अभी तक ये पूर्णत जमने न पाये थे, क्योंकि अब साम्राज्य हेतु इनमे भी आपसी सघर्ष और षड्यन्त्र रचे जाने लगे थे। पहले तुर्कों मे राज्य के लिए सघर्ष चलता रहा। फिर इन्हे अपदस्थ करके पठानों ने अपनी जडे जमाने के प्रयत्न किये। तत्पश्चात् मुगलों का युग आया। मुगल ही यहाँ पर सुदृढ साम्राज्य स्थापित कर पाने मे सफल हो सके। हिन्दू लोग अपनी फूट तथा अनेकता के कारण प्राय सत्ताहीन हो चुके थे। इनकी रियासतें यदि थी भी नहीं, तो नाममात्र की और ये भी मुगलों की दया पर निर्भर। मेवाड जैसे कुछ स्वतन्त्र राज्य भी थे, पर इन्हें किंचित् मात्र भी चैन न था।

अनेक कट्टर मनोवृत्तियों वाले मुसलमान शासक अपनी राज्य-सत्ता को सुदृढ करने के लिए मनमाने अत्याचार करते रहे, परन्तु इनमे कुछ उदारमना शासक भी हुए। दूसरे ये शासक गृह-कलह के भी सदैव शिकार रहे, अत बुद्धिमान् मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं को अपने साथ मिलाकर रखने मे ही भला समझा। कुछ मुसलमान शासक भारतीय धर्मों, साहित्य-कला आदि के प्रति सहिष्णुता का परिचय देकर इनके विकास मे भी सहयोग प्रदान करते रहे। इन शासकों ने अपनी शासन-व्यवस्था मे हिन्दुओं को महत्त्वपूर्ण पद प्रदान किये। यहाँ तक कि हिन्दू और हिन्दी के कतिपय प्रसिद्ध कवि इन्ही दरबारों के आश्रय मे रहकर सुख एव समृद्धि का आनन्द लूटते रहे। ध्यान देने की बात यह है कि भक्तिकाल के प्राय सभी प्रमुख कवि देश के राजनीतिक वातावरण से प्रत्यक्षत असम्पृक्त रहे। कबीर,

जायसी, सूर और तुलसी जैसे प्रतिनिधि कवियो ने कही भी राजनीतिक वातावरण का प्रभाव नही ग्रहण किया। अप्रत्यक्षत राम-राज्य जैसे वर्णनो द्वारा तुलसीदास ने राज्य-व्यवस्था या राजनीति के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रगट अवश्य कर दिये, परन्तु इसे अपना उपजीव्य किसी भी रूप मे नही बनने दिया। ये लोग तो अपने ही ढग से मानवता को धर्म, आध्यात्मिक शाति और सर्वसमन्वय का सन्देश देते रहे।

सक्षेपत कहा जा सकता है कि समूचे भारत की राजनीति पर विदेशी आधिपत्य स्थापित हो जाने पर भी राजनीति मे सहिष्णुता का भाव उभरने लगा था। राजनीतिक निराशा को सर्जक साहित्यकारो ने अपने साहित्य पर हावी नहीं होने दिया।

सामाजिक परिस्थितियाँ—यह सत्य है कि धीरे-धीरे राजनीतिक जीवन मे स्थिरता और सहिष्णुता पर्याप्त सीमा तक आ गई थी, फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि मुस्लिम समाज का प्रत्यक्ष एव परोक्ष प्रभाव तथा दवाव यहाँ की सामाजिक स्थितियो पर पड रहा था। हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो मे सभी प्रकार का आदान-प्रदान चल रहा था। इनके साथ-साथ यह भी सत्य है कि जाति-पाँति के बन्धन और कडे होते जा रहे थे। यह भी तथ्य है कि हिन्दू-मुसलमानो मे कही-कही विवाह-सम्बन्ध स्थापित होने लगे थे। जाति-पाँति की कट्टरता और छुआछूत के प्रति विरोध और सर्व-समन्वय का स्वर भी मुखरित होने लगा था। समाज ऊँच-नीच के विभिन्न वर्गो मे विभाजित था। उच्च वर्ग और उच्च शासनाधिकारी काफी समृद्ध थे। सामान्य समाज आर्थिक दृष्टि से विपन्न ही था। फिर भी, ऐसे उदाहरण उपलब्ध है कि शासकवर्ग प्रजा-हित के लिए कार्य करता था।

इस काल मे बलात् या स्वेच्छया जाति-परिवर्तन के भी उदाहरण मिलते हैं। कही-कही विवश करके हिन्दू-कन्याओ से विवाह के उदाहरण भी उपलब्ध होते है। इन कारणो से समाज मे सन्त्रास विद्यमान था, जाति-पाँति की कट्टरता भी थी। विशेषत हिन्दू अपने मे ही सिकुडने लगे थे। सामान्य जनो की आर्थिक दशा भी अच्छी नही कही जा सकती थी। हिन्दू-समाज मे बाल-विवाह सती-प्रथा,

वलि-प्रथा जैसी कई कुरीतियां विद्यमान थी और इनका पालन कट्टरता के साथ हो रहा था। समाज मे नारी का स्थान अब भी भोग्या से अधिक नही था। इनका जीवन अधिक विपन्न माना जाता था। इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से सामाजिक जीवन मे सवत्र असुरक्षा की भावना विद्यमान थी। सक्षेप मे, कहा जा सकता है कि बाहर से शान्त प्रतीत होने पर भी भक्ति काल का सामाजिक ढांचा भीतर से स्वस्थ नही था। इसी कारण तो कबीर और तुलसी जैसे व्यक्तियो को इस दिशा मे सुधारात्मक स्वर अधिक प्रबलता से मुखरित करना पडा।

धार्मिक परिस्थितियां—राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो के अनुरूप भक्ति काल की धार्मिक परिस्थितियो को भी पूर्णतया सन्तुलित नही कहा जा सकता। आरम्भिक काल मे तो निश्चय ही धर्म के क्षेत्र मे प्रत्यक्ष सघर्ष चलता रहा। अपना राजनीतिक और सामाजिक महत्त्व खोकर भी हिन्दू लोग अपने धर्म और सस्कृति के क्षेत्र मे पराजय स्वीकार करना नही चाहते थे। शासको का व्यवहार शासितो के प्रति काफी समय तक हीनता का रहा। इस बीच बलात् धर्म-परिवर्तन के उदाहरण भी मिलते है। मुस्लिम शासक अपने साथ कुछ धर्म-प्रचारको को लेकर आये थे। इनमे से कुछ तो काफी कट्टर थे और कुछ उदार। उदारमना प्रचारको ने धार्मिक समन्वय का प्रवर्तन किया, जबकि कट्टरपन्थी धर्म-प्रचारक बलात् अपने धर्म को थोपने के लिए प्रयत्नशील रहे। इधर हिन्दू-धर्म अनेक प्रकार के सम्प्रदायो मे विभाजित था। वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त, सिद्ध, नाथ और वाममार्गी सभी एक-दूसरे के प्रति अपने विरोध और सघर्ष की तलवार ताने रहते थे। परन्तु निश्चय ही एक समन्वयवादी धर्म का भी उदय हो रहा था। यह उदय ही समूचे भक्ति-साहित्य मे मुखरित हुआ।

धर्म के क्षेत्र मे सन्त और भक्त—दो मत सहज ही प्रचारित हुए। निर्गुणवादी सन्त और सगुणोपासक भक्त कहलाये। दक्षिण से उत्तर भारत मे प्रवेश करके भक्ति की लहर ने प्राय सभी को प्रभावित किया। रामानन्द जैसे व्यक्तियो के प्रयत्नो से धार्मिकता और भक्ति-भावना सभी जातियो के लिए समान रूप से उपलब्ध हो सकी। धर्म-प्रचार का कार्य अब सस्कृत या अन्य पूर्ववर्तिनी भाषाओ

मे न होकर जन-भाषाओ मे होने लगा। अत धर्म और भक्ति के सहज तत्त्व जन-सामान्य को भी उपलब्ध हो सके। राम-कृष्ण की भक्ति ने तो सहज मानवीय धर्म के क्षेत्र को और भी विस्तृत परिवेश प्रदान किया। सूफी और सन्तो ने भी धार्मिक सहिष्णुता का मार्ग प्रशस्त करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इनके प्रयत्नो के फलस्वरूप ही अनेक भारतीय और इस्लामिक धार्मिक मान्यताओ का सुन्दर समन्वय हो सका। इन सारे प्रयत्नो और कारणो के फलस्वरूप निश्चय ही जहाँ अध्यात्मवादी दृष्टिकोण को प्रश्रय मिला, वहाँ विशुद्ध मानवीय धर्म को भी बल मिलता रहा था। इसी कारण भक्ति-काल के धार्मिक साहित्य को 'धार्मिक' कहकर उनका बहिष्कार नही किया जा सकता।

साहित्यिक परिस्थितियाँ—परिस्थितियाँ और परिवेश साहित्य-सृजन मे विशेष सहायक हुआ करते हैं। ऊपर जिन स्थितियो का विश्लेषण किया गया है, इनका सूक्ष्म प्रभाव इस काल के साहित्य मे स्पष्टत देखा जा सकता है। युग के प्राय सभी साहित्यकार जहाँ धर्म और भक्ति के विशुद्ध स्वरूप की स्थापना एव प्रचार मे सलग्न थे, वहाँ इनका ध्यान अपनी-अपनी (निर्गुण-सगुण) मान्यताओ के अनुसार सिद्धान्त-प्रतिपादन की ओर भी निश्चय ही था।

भक्ति-काल के साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन से दो बातें प्रत्यक्षत स्पष्ट हो जाती हैं। पहली तो यह कि इस साहित्य मे भारतीय सस्कृति और रीतियो-नीतियो की पूर्णत रक्षा हुई, दूसरे मानव-सस्कृति की रक्षा का भी सद्प्रयत्न हुआ। तात्त्विक दृष्टि से भक्ति-काल का साहित्य निश्चय ही सर्व गुण-सम्पन्न है। इसमे मानव-जीवन की समग्र चेतनाओ को रसान्वित करके उसे ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द प्रदान करने की क्षमता विद्यमान है। सामान्य जन से लेकर उच्च जन तक, लोक से लेकर परलोक तक सभीको यह रस प्रदान करता है और सभीका प्रतिनिधित्व भी करता है।

काव्यशास्त्र और काव्य-विधाओं की दृष्टि से भी भक्तिकाल का साहित्य सभी दृष्टियो से सम्पन्न है। परन्तु यह सामयिक प्रभावो से असम्पृक्त है। निश्चय ही यह मानव-जीवन के शाश्वत तत्त्वो का कुशल चितेरा है।

ममग्रत जिस साहित्य को भक्तिकाल का साहित्य कहा जाता है, साधना-पद्धतियो की विभिन्नता और विविधता के कारण प्राय समस्त इतिहासकारो ने उसके निम्नलिखित दो भाग किये है अथवा निम्नलिखित दो धाराओ मे उनका वर्गीकरण किया है —

१ निर्गुण भक्ति धारा।

२ सगुण भक्ति धारा।

१ निर्गुण भक्ति धारा—इस धारा के साधक कवि सन्त और प्रेममार्गी कहे जाते है। इनके विश्वास के अनुसार ईश्वर एक है और वह निर्गुण-निराकार है। उसे मन्दिर, मस्जिद या काबा-काशी जाकर नही खोजा जा सकता, क्योकि उसकी सत्ता तो सर्वत्र विद्यमान है। उसे अपने भीतर ही, आत्मा और मन मे अनुभूत किया जा सकता है। यह अनुभूति ज्ञान और प्रेम के द्वारा ही सम्भव है। अत इस धारा की निम्नलिखित दो शाखाएँ हो गई —

(क) ज्ञानमार्गी शाखा और (ख) प्रेममार्गी शाखा।

ज्ञानमार्गियो ने साधना-पक्ष मे ज्ञान को महत्त्व दिया। इनके विचार से आत्म-ज्ञान के बिना ब्रह्म-ज्ञान और उससे मिलन-अनुभूति सम्भव नही। इन्होंने प्रेम को भी महत्त्व दिया है। इसके विपरीत प्रेममार्गियो ने ज्ञान का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी प्रेम को प्रश्रय दिया। इनका विश्वास था कि परमात्म तत्त्व से केवल विशुद्ध प्रेम तत्त्व के द्वारा ही साक्षात्कार किया जा सकता है। अत इन्होने साधना पद्धति मे 'प्रेम' को प्रश्रय दिया और अपने सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए प्रेम-काव्य रचे। कबीर ज्ञानमार्गी शाखा और मलिक मुहम्मद जायसी प्रेममार्गी शाखा के प्रतिनिधि साधक एव कवि हैं।

२ सगुण भक्ति धारा—इस धारा के साधक कवि भक्त कहलाते है। इनका विश्वास था कि निर्गुण-निराकर होते हुए भी ब्रह्म-तत्त्व अन्याय, अत्याचार और अधर्म का नाश कर 'धर्म सस्थापनाय' रूप एव आकार ग्रहण करता है। वह लीला-विहारी है। इनकी यह मान्यता पौराणिक अवतारवाद पर

आधारित है। इसमे भी कुछ भक्तो ने 'माधुर्य भाव' को प्रश्रय दिया और कुछ ने 'मर्यादा भाव' को। फलस्वरूप इसकी भी दो अन्तर्शाखाएँ हो गई।

(क) कृष्णभक्ति शाखा और (ख) रामभक्ति शाखा।

कृष्णभक्ति शाखा के कवियो ने लीला-विहारी कृष्ण के माधुर्य भाव की उपासना पर बल दिया। उसकी लीलाओ का अग बनकर उसकी कृपा प्राप्त करने की प्रेरणा दी। दूसरी ओर रामभक्तो ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम, शक्ति, शील और सौन्दर्य से युक्त रूप की उपासना को प्रश्रय दिया। यह शायद एक बहुत बडी सामयिक आवश्यकता थी।

भक्ति की इन दोनो धाराओ और इनकी शाखाओ का सर्वांगीण विवेचन आगे यथास्थान किया जायेगा।

समानताएँ—ऊपर भक्ति-साहित्य की साधना-पद्धति की दृष्टि से विभिन्नता निर्देशित की गई है। इसकी शाखा-प्रशाखाओ का सामान्य निर्देश दिया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थूल विभिन्नताएँ भी हैं। इनका वर्णन आगे अलग से किया गया है। परन्तु इनके रहते हुए भी सन्तो के निर्गुणवाद और भक्तो के सगुणवाद मे कुछ सामान्य समानताएँ भी है। इनका व्योरा इस प्रकार है —

१. एकेश्वरवाद—भक्तिकाल के प्राय समस्त कवि एकेश्वरवादी है। यह अलग बात है कि इन्होने अपनी-अपनी साम्प्रदायिक मान्यता के अनुरूप उसे विभिन्न नामो से ही सम्बोधित किया है, पर वह है एक और अखण्ड्य।

२. ज्ञान की महत्ता—ईश्वर के सत्य स्वरूप को समझने के लिए, उस तक पहुँच पाने के मार्ग को जानने के लिए आवश्यक ज्ञान का महत्त्व निर्गुण-सगुण दोनों धाराओ के सन्तो और भक्तो ने समान रूप से स्वीकार किया है। ज्ञान के अभाव मे आत्मा के भटकने का सन्देह सदैव रहता है। माया के रूपो को समझकर उससे छुटकारा पाने के लिए भी ज्ञान अनिवार्य है। इसी कारण इसका महत्त्व सर्वत्र समान रूप से स्वीकृत है।

३. गुरु-महिमा—ज्ञान की प्राप्ति गुरु से ही होती है, अत सन्तो और भक्तो दोनो ने गुरु की महिमा का बखान किया है और उसके महत्त्व को समान रूप से स्वीकार किया है। 'गुरु बिनु गति नही', इसी काल की उक्ति है। गुरु ही

मार्गदर्शक है। उसके बताये मार्ग पर चलकर आत्मा सहज ही परमात्मा से साक्षात्कार कर लेती है।

४ नाम की महत्ता—नाम-कीर्तन का महत्त्व भी सन्तो और भक्तो ने समान रूप से स्वीकार किया है। भक्त कवि तो उसे विशेष महत्त्व प्रदान करते ही है, प्रेम-मार्गियो और सन्तो ने भी इसकी महिमा कम नही गाई। उनकी नायिकाएँ भी अपने प्रेमी (परमात्मा) का नाम-जाप करते हुए तन-मन की सुधि भूल जाती है। नायको की भी यही दशा होती है। कीर्तन नाम-स्मरण की महत्ता का ही प्रतिपादक है। नवधा भक्ति के अन्य रूपो मे भी नाम की महिमा सर्वत्र छिपी हुई है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी समान रूप से नाम-गायन का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं।

५ भक्ति भावना—नाम-गायन के समान भक्ति-भावना की प्रधानता भी भक्ति-साहित्य के सभी रूपो मे सर्वत्र स्वीकृत है। भक्ति का तात्पर्य श्रद्धा और प्रेम से समन्वित अपने प्रिय (आराध्य) के प्रति विश्वास का भाव भी हो सकता है। यह विश्वास का भाव सर्वत्र देखा जा सकता है। कृष्ण और राम-भक्ति-शाखाएँ तो भक्ति के मूल पर ही आधारित हैं।

६ आडम्बर-पाखण्ड का विरोध—भक्तिकाल के सभी कवियो ने व्यर्थ के आडम्बरो और पाखण्डो का विरोध किया है। आडम्बर-रहित भक्ति-भावना और ईश्वरीय अनुरक्ति को प्रश्रय प्रदान किया है। त्यागमय पवित्र जीवन को अपनाने की प्रेरणा दी है। इसी कारण इन्होंने मानसिक साधन को ही अधिक प्रश्रय दिया।

७ ऊँच-नीच का समर्थन नहीं—भक्ति के क्षेत्र मे ऊँच-नीच के लिए कोई स्थान नही। यहाँ तक कि वर्ण-व्यवस्था को मानने वाले तुलसीदास ने भी निषाद को राम के गले मिलाया है और भीलनी के जूठे बेर राम को खिलाये हैं। कृष्ण भी सामान्य जाति के ग्वाल-बालो मे छीना-झपटी करके खाते-पीते और उनके साथ खेलते हैं। निर्गुणवादियो ने तो सर्वथा चौराहे पर खडे होकर जाति-पाँति, ऊँच-नीच और छुआछूत का विरोध किया है।

८ सत्संगति की महिमा—सत्संगति मानव-मन की बुराइयो को दूर कर

उसके गुणों और सद्भावनाओ का विकास करता है। अत भक्तिकाल के समस्त कवि साधु-सगति और सत्सगति के केवल समर्थक ही नही, बल्कि प्रचारक भी थे।

९ अहभाव का नाश—अहभाव या अहकार का भाव मानव का घोर शत्रु है। वह अध्यात्म-साधना मे भी बडा बाधक है। अत ज्ञान, भक्ति और विश्व को सर्वात्ममय जानकर सबके प्रति प्रेम-भाव रखना और अहं का नाश आवश्यक है। इसका नाश ही अध्यात्म-साधना मे समतावाद कहलाता है। अहं-नाश से नम्रता आदि सद्गुणो का विकास होता है और इस विकास से ही परमात्म-दर्शन सम्भव है।

१०. माया का अस्तित्व—भक्तिकाल के समस्त कवियो ने माया के अस्तित्व को स्वीकार कर गुरु से प्राप्त ज्ञान द्वारा परमात्म-तत्त्व तक पहुँचने की प्रेरणा दी है। आत्मा-परमात्मा के मिलन मे सबसे बड़ा बाधक इसीको स्वीकार किया है।

इस प्रकार ये समान तत्त्व समूचे भक्तिकाल के साहित्य मे अन्त धारा के समान प्रवाहित हैं।

भक्तिकाल . सामान्य विशेषताएँ

प्रत्येक काल का साहित्य कुछ विशेष प्रकार की मान्यताओ को लेकर लिखा जाता है। दूसरे प्रत्येक काल की अपनी मान्य विशेषताएँ ही उस काल के साहित्य को एक दूसरे से पृथक् करती हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर भक्तिकाल का साहित्य निश्चय ही अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य से पृथक् एव विशिष्ट है। तथ्य तो यह है कि जितनी सबलता से भक्तिकाल के साहित्य ने जन-जीवन को प्रभावित एव आन्दोलित किया, अन्य किसी भी काल का साहित्य न कर सका। इसकी यह विशेषता सर्वाधिक महान् और ग्राह्य है। वास्तव मे भक्ति-साहित्य ने भारतीय जन-मानस को जीवन का एक नया आलोक प्रदान किया, इसे आशा-अकाक्षा से भरा जीवन जीने की कला सिखाई। मन, बुद्धि और आत्मा को समान रूप से रसान्वित कर एक विशेष सन्तुष्टि प्रदान की। इन समस्त तथ्यो की सुनहरी छाया मे ही भक्तिकाल के साहित्य की सामान्य विशेषताओं

का मूल्यांकन किया जा सकता है। इस साहित्य की समग्रता ही इसकी प्रमुख विशेषता है। यही देखकर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा—"समूचे भारतीय इतिहास मे अपने ढग का अकेला साहित्य है। इसीका नाम भक्ति-साहित्य है। यह एक नई दुनिया है।" डॉ० श्यामसुन्दर दास ने तो भक्ति-साहित्य रचे जाने के काल को 'स्वर्ण-युग' नाम से सम्बोधित करते हुए लिखा है —

"जिस युग मे कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे सुप्रसिद्ध कवियो और महात्माओ की दिव्य वाणी उनके अन्त करणो मे निकलकर देश के कोने-कोने मे फैली थी, निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग था।"

इस स्वर्ण युग के साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

समन्वय-भाव—समूचे भक्ति-साहित्य की यह सर्वाधिक और प्रमुख विशेषता है। 'सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा' और 'ज्ञानहि भक्तिहि नहि कछु भेदा' कहकर उस युग मे निर्गुण और सगुण के साथ-साथ ज्ञान और भक्ति के समन्वय का भी प्रशस्य तथा सफल प्रयास हुआ। भगवान् के असीम (निर्गुण) और ससीम (सगुण) दोनो रूपो के प्रति असीम आस्था अभिव्यक्त की गई। भक्ति, कर्म और ज्ञान का समन्वय तो प्रसिद्ध है ही सही, शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय भी राम और कृष्ण के जीवन मे स्पष्टत देखा जा सकता है। इसके साथ-साथ साधना-भक्ति-सम्बन्धी भारतीय और इस्लामी मान्यताओ का सफल समन्वय करने का प्रयत्न भी प्रेममार्गियो और सन्तो ने किया। इन्होने अपने 'प्रेम' शब्द की सीमा मे सभी कुछ समेट लिया। कबीर की जातीय समन्वय की चेष्टा किसे ग्राह्य नही है।

भाव-पक्ष के समन्वय के साथ-साथ कला पक्ष का समन्वय भी विशेष दर्शनीय है। कवियों ने परम्परागत काव्य-शैलियो को तो अपनाया ही, समस्त समकालिक शैलियो मे भी काव्य रचे। भाषायी समन्वय भी देखा जा सकता है। ज्ञानमार्गियो ने ही नही, दूसरो ने भी यही किया। तत्कालीन लोकभाषाओ के साथ-साथ ब्रज और अवधी जैसी साहित्यिक भाषाओ का भी समन्वय प्रस्तुत किया गया। प्रबध, मुक्तक दोनो प्रकार के प्रचुर एव सशक्त काव्य रचे गये। लोक-परलोक, देवत्व और मानवत्व का समन्वय किसे आकर्षित नही करता। हमारे विचार मे भक्ति-

साहित्य का सर्वाङ्गीय समन्वयवादी दृष्टिकोण ही इसे सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

काव्योद्देश्य—भक्ति-काव्य मानव-हित के उदात्त उद्देश्य को लेकर लिखा गया। 'स्वान्त सुखाय' होते हुए भी इस काल का साहित्य 'पर-जन-हिताय' का केवल विरोधी न था, वल्कि प्रवल समर्थक भी था। इस युग मे वीरगाथा काल या रीतिकाल के समान किसी या किन्ही विशेष व्यक्तियो को प्रसन्न करने के लिए साहित्य की सर्जना-प्रक्रिया नही चली। इसी कारण इनमे जीवन एव अध्यात्म तत्त्वो को उजागर करने वाले तत्त्व विद्यमान है। जीवन की आशा-आकाक्षाएँ, आनन्दोल्लास आदि पूर्णरूपेण रूपायित हुए हैं।

सास्कृतिक दृष्टि—हमे केवल भारतीय सस्कृति की आत्मा के सहज दर्शन भक्ति-साहित्य मे ही होते हैं। इसके भाव और कला सम्वन्धी दोनो पक्ष सस्कृति के उदात्त एव विराट सूक्ष्म ताने-वाने पर बुने गये हैं। मानवता के अजस्र सास्कृतिक प्रवाह का महत्त्व भी सर्वत्र विद्यमान है। भारतीय सस्कृति, सभ्यता, धर्म, दर्शन, चरित्र, आचार-विचार सभी कुछ यहाँ साकार हो उठा है। तुलसी का मानस तो केवल निगमागम-सार ही नही, सस्कृति के चिरन्तन तत्त्वो का सवल एव सजीव संचय है। अन्य कवियो ने भी समग्रत अध्यात्म-समन्वित मानवीय सास्कृतिक चेतनाओ को ही उभारने का सफल प्रयत्न किया है।

एकेश्वरवाद और मुक्ति की प्रेरणा—साधना-पद्धतियाँ और आराध्यो के नामो की विभिन्नता रहते हुए भी एकेश्वरवाद की प्रस्थापना भक्तिकाल की एक प्रमुख विशेषता है। इसके मूल मे समग्रत मानवता के उच्च समन्वय की भावना काम कर रही थी। यह केवल युग की ही नही सार्वकालिक माँग थी। इसकी पूर्ति का प्रयास सभीने किया। इसी कारण भक्तिकाल के किसी भी कवि ने थोथे एव आडम्वरपूर्ण जातिवाद, ऊँच-नीच आदि का समर्थन नही किया। भक्ति के क्षेत्र मे 'निषाद' और 'भीलनी' हिन्दू और मुसलमान, उच्च और निम्न जाति सभीको एक जैसा महत्त्व दिया। इस सवके लिए ज्ञान और ज्ञान-प्राप्ति के लिए 'गुरु' की कृपा को अनिवार्य वताया, ताकि साधना एव जीवन दोनो का मार्ग सहज प्रशस्त हो सके, 'माया' के वन्धनो से छुटकारा पाकर 'मुक्ति' का

मार्ग प्रशस्त हो सके। सभी का प्रयत्न इसी दिशा में था।

लोकरंजन एवं रक्षण—भक्तिकाल के सभी कवि इस पक्ष के थे कि साहित्य के द्वारा केवल लोकरंजन नहीं, बल्कि लोक का रक्षण भी सम्भव हो सके। इसी कारण इन्होंने धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता के लिए सतत प्रयत्न किया। निर्गुणवादियों का तो प्रमुख उद्देश्य ही यही था। दूसरी ओर सगुणवादियों में से तुलसी के राम और सूर के कृष्ण में भी लोकरंजन और रक्षण के दोनों गुण विद्यमान हैं। इसी कारण भक्ति-साहित्य मन और आत्मा दोनों की प्यास बुझा पाने में समर्थ हो सका। यह ऐहिक एवं पारलौकिक सोपान बन सका।

संगीतात्मकता—इस काल की एक अन्य विशेषता है संगीतात्मकता या गेयता। विद्यापति के बाद आत्मानुभूतियों से समन्वित गीति-काव्य इसी युग में रचा गया। भक्ति, भाव और संगीत की त्रिवेणी आज भी मानव-मन को रसस्नात कर देती है। आज के बड़े-बड़े नामी संगीतकार बड़े विभोर भाव में कबीर, सूर, तुलसी और मीरा के पदों को गाते सुने जा सकते हैं। गीति-काव्य के लिए जिन आत्मानुभूतियों की तीव्रता एवं अविरल प्रवाहमयता की अजस्रता एवं सम्वरता की आवश्यकता रहती है, वह इस काल के काव्य में सर्वत्र देखी जा सकती है।

शैली या अभिव्यक्ति पक्ष—इस काल के साहित्य का अभिव्यक्ति पक्ष सभी दृष्टियों से समुन्नत एवं सजीव है। इसमें प्रभावित करने की शक्ति विद्यमान है। काव्य में अभिव्यक्ति के समस्त माध्यमों को अपनाया गया है। इनमें जीवन के शाश्वत तत्त्व सहज मुखर हुए हैं। प्राणों को स्फूर्त करने की अजस्र शक्ति इसमें देखी जा सकती है।

भाषा की चर्चा शैली या अभिव्यक्ति पक्ष के अन्तर्गत ही की जाती है। लोकभाषाओं के साथ-साथ अवधी और ब्रज-भाषा का संवलित रूप यहाँ विद्यमान है। भाषा का लालित्य, माधुर्य, ओज आदि के रूप में समूचा वैभव यहाँ दर्शनीय है। समस्त काव्य-रूपों का विकास भी यथेष्ट हुआ है। छन्दों-अलङ्कारों का वैविध्यपूर्ण वैभव और उसमें ताल-लय से समन्वित संगीत, क्या कुछ नहीं है ! इस काल के साहित्य में शान्त, करुण और शृंगार रसों की प्रधानता है। आवश्यकता के अनुरूप अन्य रसों का परिपाक एवं सजीव वर्णन भी देखा जा सकता है।

इन प्रमुख तथ्यो के अतिरिक्त भक्ति-साहित्य की विशेषताओ के रूप मे कुछ अन्य बातें भी कही जा सकती है। यहाँ हमे जीवन के सत्य, सुन्दर और शिव का समन्वित रूप देखने को मिलता है। नैतिकता एव चरित्र-सुधार की भावना भी सर्वत्र विद्यमान है। अध्यात्म भावना भी स्पष्ट है, क्योकि आत्मा-परमात्मा के समन्वय के लिए ही समूचे साहित्य का कलेवर रचा गया। धर्म की उच्चतम व्याख्या के साथ-साथ उच्चतम कवित्व के दर्शन यहाँ होते है। भाव-पक्ष की प्रधानता होते हुए भी कला-पक्ष कही शिथिल नही है। 'वात्सल्य रस' का परिपाक भी (विशेषत कृष्ण-काव्य मे) विशेष रूप से हुआ।

परोपकार और सर्वजन-हिताय का स्वर समूचे काल मे प्रवल स्वरो मे मुखरित है। जातियो के समन्वित भाव को जगा पाने मे भी भक्ति-साहित्य पूर्णत सफल हुआ है। इन्ही विशेषताओ के कारण इसका स्वर राजमहलो से लेकर झोंपडियो तक समान रूप से मुखरित हुआ। समग्र जन-मानस ने भक्ति रस की इस पावन गगा मे स्नान कर अपने-आपको धन्य माना। इन्ही समग्रताओ के कारण भक्तिकाल को हिन्दी-साहित्य का 'स्वर्ण-युग' भी कहते है।

सन्त-काव्य : परिस्थितियाँ, दार्शनिक पक्ष, विशेपताएँ

भक्ति-काल की निर्गुण भक्ति धारा के कवि और साधक एक शब्द मे 'सन्त' कहे जाते हैं, क्योकि ज्ञानमार्गी शाखा के कवियो का दृष्टिकोण 'सन्त' शब्द से समग्रत व्यक्त हो जाता है, इसी कारण डॉ० रामकुमार वर्मा प्रभृति इतिहास-कारो ने इसे 'सन्त-काव्य-परम्परा' कहना अधिक समीचीन माना है। इस काव्य-धारा के प्रवर्तक नामदेव और कबीर जैसे सन्त माने जाते हैं। सन्त शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न विद्वानो ने अपने-अपने ढग से की है। श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'शान्त' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति मान उसका अर्थ वैरागी या निवृत्ति मार्ग माना है। परशुराम चतुर्वेदी 'सत् रूपी परम तत्त्व के ज्ञाता और तद्रूप होने वाले व्यक्ति को सन्त' मानते हैं। आचार्य विनयमोहन ने 'आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन-भाव को साध्य मानकर लोक-मगल की कामना करने वाले' को सन्त कहा है। सबका सार यही है कि सत्य का उपासक अपने साध-

साथ लोक-हित का साधक व्यक्ति ही सन्त होता है।

परिस्थितियाँ—हमारा यह निश्चित मत है कि सन्त-काव्य के उदय के मूल मे अनेक प्रकार की धार्मिक और सामाजिक रूढ़ परिस्थितियाँ ही थी। धर्म और समाज मे जो अनेक प्रकार के अनाचार पनपने लगे थे, इन्ही की सबल और सयत प्रतिक्रिया सन्त-काव्य के उदय के रूप मे हुई। प्राचीन भारतीय धार्मिक धारणाओ और मान्यताओ से सर्वथा असपृक्त न होते हुए भी इस मत के रूपाकार की सर्जना आवश्यकतानुरूप नव्य परिवेश मे हुई। सातवी-आठवी शतियो मे ही बौद्ध धर्म अनेक सम्प्रदायो, विभागो-उपविभागो मे विभाजित होकर सकीर्ण एव सकुचित होने लगा था। दूसरी ओर पौराणिक धर्म भी विभिन्न वर्गो मे विभाजित होकर अनेक प्रकार के आडम्बरो एव वाह्याचारो मे उलझकर रह गया था। धर्म की दृष्टि से सन्त मत और काव्य को बौद्ध धर्म और तत्पश्चात् पनपने वाले नाथ सम्प्रदाय के अन्तर्गत या इनसे प्रत्यक्ष प्रभावित माना जा सकता है।

वास्तव मे वह युग धार्मिक रूढियो एव अन्धविश्वासो का शिकार होकर अनवरत पतनोन्मुख हो रहा था। वैयक्तिक साधना पर वल देने वालो के अनेक सम्प्रदाय वन गये थे। ये लोग तत्कालीन जन-भाषाओ को अपनाकर अपनी रहस्यमयी और चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ प्रचारित कर रहे थे। पर इनके रहस्यमय सकेत जन-मानस की समझ से परे की वस्तु थे। फिर भी जनता इनसे प्रभावित अवश्य हो रही थी। अनेक प्रकार के प्रचलित वाम-मार्ग साधना मे सुरा-सुन्दरी, वलि और माँस-भक्षण को प्रश्रय देकर जन-मानस को पथभ्रष्ट कर रहे थे। उधर मुसलमानो के आक्रमणो का दौर भी चल रहा था। इस नये धर्म ने भी यहाँ की धार्मिक परिस्थितियो को प्रभावित करने का सतत और सफल प्रयत्न किया। इस सघर्ष तथा ऊहापोह से पूर्ण धार्मिक वातावरण मे से एक नई धार्मिक चेतना ने जन्म लिया। इसने समय और स्थिति को अपेक्षया पहचानकर नये स्वरों से जन-मानस को आन्दोलित करने का सफल प्रयास किया। इसके स्वरो मे भावना और प्रत्यक्ष जीवन की उपयोगिता के स्वर सवलित थे। इन्होने वैष्णव मतो से भी प्रभाव ग्रहण किया। इन्होने एक ओर जहाँ नाथ-सम्प्रदाय की अनुभूति

तथा योग-साधना की परम्परा को अपनाया, वहाँ विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेम-भक्ति तथा रहस्यमयता को भी अपनाया। स्वामी रामानन्द के प्रभावो से विकसित अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद के प्रभाव को ग्रहण किया। प्रेममार्गियो के प्रेम तत्त्व का भी प्रत्यक्ष प्रभाव इन पर पडा। अतः इसे 'सारग्राही' सम्प्रदाय भी कहा जा सकता है। इनकी सार-गहण की इसी प्रवृत्ति को निहारकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा :—

"वैष्णवो से उन्होने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिये। इसीसे उन (कबीर) के तथा निर्गुणवाद वाले और दूसरे सन्तो के वचनो मे कही भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कही योगियो के नाडी-चक्र की, कही सूफियो के प्रेम-तत्त्व की, कहीं पैगम्बरी कट्टर खुदावाद की और कही अहिंसावाद की। अत तत्त्व की दृष्टि से न तो हम उन्हे पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनो का मिला-जुला भाव इनकी बानी मे मिलता है।"

निश्चय ही सन्त मत का उदय समन्वित प्रभाव को लेकर ही हुआ। डॉ० रामकुमार वर्मा जैसे कुछ इतिहासकार सन्त काव्य को उत्तर भारत मे पड़ने वाले मुसलमानी प्रभाव का परिणाम मानते हैं, इनके मत का समर्थन नही किया जा सकता, क्योकि यहाँ विभिन्न मतो और सम्प्रदायो का सार-तत्त्व सकलित है। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ भी सन्त काव्य के उदय मे विद्यमान है। सन्तो ने प्रत्यक्षत न तो राजनीति मे हस्तक्षेप ही किया और न इसके प्रभाव को ही ग्रहण किया, फिर भी अप्रत्यक्षत राजनीति के कारण जो धर्म एव समाज पर आघात हुए थे, इनके अन्तर्मन को एक विभेद और वर्ग-रहित समाज की सरचना की प्रेरणा अवश्य प्रदान की थी। अत इन्होने हिन्दू-मुसलमानो मे एकता का प्रत्यक्ष प्रयत्न किया।

धार्मिक और राजनीतिक शोचनीय स्थितियो मे पडकर इस काल का समाज भी अनेकश. दूषित हो रहा था। सामाजिक आचार-विचार विलासिता के रग मे रगा जाकर पूर्णतया शिथिल हो रहा था। जाति-पाँति और छुआछूत की कट्टरता ने सन्तो को अत्यधिक सजग कर दिया था। क्योकि प्राय. सन्त मत के साधक और कवि निम्न जातियो से आये थे, अतः इन्हे अनेक प्रकार के

सामाजिक अनाचारो और विरोधो का सामना करना पडा था। इसीको समाप्त करने के लिए 'सन्तन जात न पूछो निरगुनिया' और 'जात-पांत पूछै नहि कोई, हरि को भजे सो हरि का होई' का उच्च स्वर मुखरित करना पडा था। तात्पर्य यह है कि इस युग की परिस्थितियो की अनिवार्यता ने ही वास्तव मे सन्त मत और उसके साहित्य को जन्म दिया था। इन्होंने समस्त वैषम्यो के साथ डटकर सघर्ष किया। महलो से झोपडी तक सर्वत्र प्रभावशाली रूप मे इनका स्वर गुजित हुआ।

दार्शनिक पक्ष—समस्त सन्त साधक और कवि प्राय निम्न जातियो से सम्बन्धित और अनपढ थे, अशिक्षित यद्यपि नही थे। इन्हे वहुश्रुत माना जाता है। इन्होने विभिन्न सम्प्रदायो के सज्जनो एव सन्तो के ससर्ग मे आकर जो कुछ सुना, उसीके आधार पर सार-तत्त्व ग्रहण कर अपने मतो का निर्धारण किया। अत वहां पुराण-पथ की कट्टरता के दर्शन नही होते। हम यहां इनके निम्नलिखित चार पक्षो का विवेचन करेंगे —

१ सन्त-दर्शन।
२ धार्मिक पक्ष।
३ साधना-पक्ष।
४ सामाजिक पक्ष।

१ सन्त-दर्शन—सन्त-दर्शन मे ब्रह्म, जीव, माया और जगत्—ये चार तत्त्व प्रधान हैं। इनके प्रति सन्तो की मान्यताएँ इस प्रकार हैं ·—

(क) ब्रह्म—यह निर्गुणवादी थे, अत इनका ब्रह्म निर्विकल्प तथा निराकार है। इसे ज्ञान-साधना के वल पर अपने भीतर भी अनुभूत किया जा सकता है। यह सर्वव्यापक एकमात्र तत्त्व है, जिसे किसी भी रूप मे वांधा नही जा सकता। यह एक है और सभी पथ इसीकी ओर जाते है। इसके सत्य स्वरूप को समझकर इसकी आन्तरिक अनुभूति पाने के लिए गुरु की कृपा और इससे प्राप्त ज्ञान तत्त्व की साधना अनिवार्य है।

(ख) जीव—जीव ब्रह्म का ही अश अविनाशी तत्त्व है। विभिन्न प्रतीत होते हुए भी यह भिन्न नही, अन्तर मात्र मायाजन्य है। मायाजन्य आवरण की

समाप्ति के बाद यह अन्तर स्वत. ही नही रहता। इस आवरण की समाप्ति के लिए ब्रह्म के प्रति जीव मे अनश्वर प्रेम का भाव होना चाहिए। इस प्रेम की पूर्णता केवल दाम्पत्य भाव द्वारा ही सम्भव है। इसी कारण सन्तो की साधना-पद्धति मे दाम्पत्य भाव की प्रमुखता है।

(ग) माया—माया जीव को भ्रम-भाव मे भटकाने वाला तत्त्व है। इसके अनेक रूप है। ससार के समस्त आकर्पक लुभावने स्वरूप माया ही हैं। मधुर प्रतीत होने पर भी इसका अन्तिम प्रभाव विषवत् है। इससे मुक्ति पाने के लिए गुरु-प्रदत्त ज्ञान, भक्ति, प्रेम और सत्सग आदि आवश्यक है। सन्त कवियो ने माया को 'महाठगिनी' आदि नामो से अनेकश. सम्बोधित कर इसके प्रभाव से मुक्त रहने की चेतावनी दी है।

(घ) जगत्—हमे अपने अस्तित्व एव आकार के आसपास जो कुछ भी स्थूल रूप से दिखाई देता है, वही जगत् है। पर यह समस्त दृश्य वस्तु-जगत् माया-विभ्रम एव मिथ्या है। जगत् के समस्त आकर्पक स्वरूप भ्रामक हैं। जीव इसमे यात्री के समान पडाव डालता है और अनेक बार माया के प्रभाव से भटक-कर इसीको सत्य मान बैठता है। पर यह तो 'छाया-सा' 'माया-सा' नश्वर और क्षणिक है। अत इसमे मन नही रमाना चाहिए।

२ धार्मिक पक्ष—सर्व-धर्म-समन्वय का सार-तत्त्व ही वास्तव मे सन्त-मत है। इतना होते हुए भी इसका अपना स्वतत्र स्वरूप और व्यक्तित्व है। यह मत सब प्रकार के बधनो और भेद-भावो से ऊपर उठकर विश्वबन्धुत्व और भ्रातृत्व की प्रेरणा देता है। अत· इसका धर्म सामान्यत विश्व-मानव-धर्म है। सदाचरण, व्यवहार और आचार-विचार की पवित्रता, विपय-वासना से मुक्ति और अन्त मे आवागमन के बन्धन से भी मुक्ति ही इनके धर्म का सार-तत्त्व है। इसके लिए इन्होंने निम्नलिखित तथ्यो या तत्त्वो को अनिवार्य माना है·—

(क) ज्ञान का महत्त्व—'ज्ञान' का तत्त्व साधना मे अनिवार्य धर्म है। क्योंकि ज्ञान के बिना सत्य सामने नही आता और सत्य के बिना मानव-धर्म का पालन सम्भव नही है।

(ख) गुरु का महत्त्व—ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है, अत इसका महत्त्व

स्पष्टत सगुण रूप और अवतारवाद का मन्त खण्डन करते हैं। इनका निर्गुण ब्रह्म तो 'ज्यो पुहुपन मे बास' और 'तिल माहि तेल' के समान सर्वव्यापक और हमारे भीतर ही समाया हुआ है।

निर्गुणवाद की स्थापना और समर्थन करने के लिए इन्होंने अवतारवाद और बहुदेवोपासना का प्रत्यक्ष रूप से खण्डन किया। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए यह उस समय की अनिवार्य आवश्यकता भी थी, क्योकि मन्दिर-मस्जिदो को लेकर ही उस समय धार्मिक दगे हुआ करते थे। अत इन्होंने इन सब बातो का विरोध कर अपने ही मन मे सहज समाधि और अजपा-जाप के द्वारा निराकार ईश्वर को खोजने की प्रेरणा दी।

३ गुरु-महिमा—समस्त सन्त कवियो ने गुरु का महत्त्व ईश्वर से भी बढकर स्वीकार किया है, क्योकि गुरु की कृपा से, उसके बताये मार्ग पर चलकर ही राम की अनुकम्पा पाई जा सकती है। इसी कारण कबीर जी ने कहा —

गुरु-गोविन्द दोऊ खडे, काकै लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपणें, गोविन्द दियो बताय।

४ नाम-स्मरण और भजन—गुरु द्वारा प्राप्त 'नाम' (ईश्वर) के स्मरण करने से, अनवरत रूप से उसका भजन करते रहने से ही मुक्ति सम्भव हो सकती है, सन्तो का यह दृढ विश्वास है। तथाकथित धार्मिक या आध्यात्मिक पोथियाँ पढने से माया-मोह से मुक्ति नहीं मिल सकती है। इसी कारण कबीर जी ने कहा —

पोथी पढि-पढि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम के, पढै सो पण्डित होय ॥

५ प्रेम तत्त्व—प्रेम के महत्त्व को भी सन्तो ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। यह प्रेम तत्त्व कहाँ से आया, यह विवाद व्यर्थ है। सत्य केवल यह है कि सन्त भक्ति के मार्ग को प्रेम का ही मार्ग मानते है और इस पर चलना खाण्डे की धार पर चलने के समान है, जिस पर सभी नही चल सकते —

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहि।
सीस उतारे भुई धरै, तब पहुँचे घर माहि ॥

६. रहस्यवाद—प्रेम तत्त्व के कारण ही सन्त-काव्य मे रहस्यमयता का प्रादुर्भाव हुआ। वैसे तो सन्त-काव्य मे खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति के पर्याप्त दर्शन होते है, किन्तु प्रेम के एकान्त साम्राज्य मे पहुँचकर ये और सब कुछ भूलकर 'जल मे कुम्भ, कुम्भ मे जल है, बाहिर-भीतर पानी' देखने लगते है और इनकी आत्मा प्रेमानुभूतियो से व्याकुल होकर पुकार उठती है :—

नयना भीतर आव तूं, नयन मून्द मैं लेहुँ।
न मैं देखौ और कूं, न तोहि देखन देहुँ ॥

और यही स्थिति अन्त मे तल्लीनता की उस सीमा तक पहुँच जाती है जहाँ 'लाल की लाली' के कारण 'जित देखूं तिल लाल' ही दिखाई देता है और साधक की आत्मा 'मैं भी हो गई लाल' कह उठती है। साधनात्मक और भावनात्मक दोनो प्रकार की रहस्यमयता यहां विद्यमान है।

७ शृंगार और विरह—प्रेम एव रहस्य अनुभूतियो के क्षणो मे सन्त कवियो ने अत्यधिक मार्मिक उक्तियां कही हैं। इनमे वियोग शृगार का सहज प्रस्फुटन विशेष दर्शनीय है। यहां सन्त-काव्य काफी कलात्मक भी हो गया है। विरहिणी आत्मा की व्याकुलता सर्वत्र झांकती दिखाई देती है :—

आई न सकौं तुज्झ पैं, सकौं न तुज्झ बुलाई।
जियरा यो ही लेहुँगे विरह तपाई-तपाई ॥

ऐसी उक्तियो मे कृत्रिमता किंचित् मात्र भी नही है। भावुकता का अजस्र निर्झर सहज ही प्रस्फुटित दिखाई देता है।

८. माया का विरोध—यह तत्त्व वैसे तो समूचे भक्ति काल मे मुखरित हुआ है, पर सन्तो ने माया महाठगिनी से सावधान रहने की विशेष प्रेरणा दी है; क्योंकि आत्मा-परमात्मा के मिलन मे यही सर्वाधिक बाधक है।

९. जाति-पाँति और आडम्बरो का विरोध—सभी सन्त कवि और साधक प्रायः निम्न जातियो से आये थे। अत. इन्हे अनेक प्रकार के वैषम्यो का सामना करना पड़ा था। इस कारण भी और दूसरे मानवीय दृष्टि से भी इन्होने जाति-पाँति का खुलकर, चौराहे पर खडे होकर विरोध किया। इनका मत था :—

जाति-पाँति पूछे नहि कोई।
हरि को भजे सो हरि का होई॥

अपने इसी मत का इन्होंने सजग रूप से प्रचार-प्रसार किया। इसी प्रकार सन्तों ने धार्मिक और सामाजिक आडम्बरों का भी खुलकर विरोध किया। क्योंकि उस समय के धर्म और समाज दोनों ही अनेक प्रकार के आडम्बरों का शिकार हो रहे थे। इनके परिहार की आवश्यकता मुख्य थी। इस दृष्टि से सन्तों का खण्डन-मण्डनात्मक साहित्य काफी प्रखर है।

१० लोक-सग्रह के भाव—सभी सन्त-साधक बहुश्रुत थे। इन्होंने समस्त सम्प्रदायों का सार-तत्त्व ग्रहण करके अपनी मान्यताओं की प्रतिष्ठा की थी। दूसरे प्राय सभी गृहस्थ धर्म और जीवन के पोषक थे। प्रत्यक्ष एव व्यावहारिक जीवन से इन्होंने कभी पलायन नही किया। इसी कारण इनके काव्यों मे सामाजिकता और लोक-सग्रह की भावना अत्यन्त प्रबल है। गुरु नानक का यह कथन 'किरत करो अते वण्ड के छको' अर्थात् कर्म करो और बाँट के खाओ, सन्तों की लोक-सग्रह की भावना का ही परिचायक है।

११ अभिव्यक्ति-पक्ष—काव्यशास्त्रीय कसौटी पर सन्त-काव्य चाहे खरा न उतरे, क्योंकि ये सभी कवि 'कागद-मसी' न छूने वाले थे, परन्तु भावनाओं एव सहज अनुभूतियों की तीव्रता की दृष्टि से समूचा सन्त-साहित्य निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने मुक्तक पदों की ही मुख्यत रचना की। इनमे गेयता तथा गीति-काव्य के समस्त गुण विद्यमान है। गेय पदों के अतिरिक्त दोहा, चौपाई और साखियाँ भी रची। इनमे भी सहजता और स्वाभाविकता है। हाँ, इनकी 'उलटबासियाँ' और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अवश्य दुरूह है, जो सामान्य पाठक तो क्या विद्वानों के भी छक्के छुडा देते हैं।

इनकी भाषा सामान्य प्रयोगों मे 'साधु-भाषा' और साहित्यिक शब्दावली मे 'सधुक्कडी' कहलाती है। क्योंकि सभी सन्त घुमक्कड थे, अत जहाँ भी गये, अपनी बात समझाने के लिए इन्होंने वहीं की शब्दावली को अपना लिया। अत इनकी भाषा मे ब्रज, अवधी, राजस्थानी, पजाबी, पूर्वी हिन्दी, फारसी, अरबी आदि सभी भाषाओं का सहज सम्मिश्रण हो गया है। कवियों ने अनेक पारिभाषिक

एवं प्रतीकात्मक शब्दावली का प्रयोग किया है।

अन्त मे यही कहा जायेगा कि सन्त-काव्य मानव-जीवन की सहज अनुभूतियो का सहज-सरल सकलन है। इसमे बरसाती नाले की नही, अपितु गगा की कल-छल चचल धारा की सी तीव्रता, गति और प्रवाह है। यहाँ सभी कुछ अकृत्रिम एव स्वाभाविक है। अच्छे साहित्य के सभी गुण इसमे विद्यमान हैं।

सन्त-काव्य : प्रमुख कवि

नामदेव—इनका जन्म महाराष्ट्र के सतारा जिले के नरसी बमनी गाँव मे स० १३२७ मे हुआ था। यह जाति के छीपी थे। इन्हे प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर का समकालीन माना जाता है। कबीर आदि समस्त परवर्ती सन्तो ने इन्हे सादर स्मरण किया है। कहा जाता है कि ये पहले डाकुओ के सग रहे, परन्तु एक विधवा के मुख से उसके पति की डाकुओ के हाथो मृत्यु की हृदयविदारक कहानी सुनकर, सभी कुछ त्यागकर यह पण्डरपुर मे जाकर विठोबा के भक्त बन गये। पहले सगुणोपासक और बाद मे निर्गुणवादी बनकर यह भक्ति का प्रचार-प्रसार करने लगे। अन्त मे यह घूमते हुए गुरुदासपुर (पजाब) के घूमन गाँव मे आ बसे। इन्होने जिन पदो की रचना की उनका सकलन आदि ग्रथ (गुरु ग्रन्थ साहिब) मे मिलता है। इनके अनुयायी आज भी नामदेव पथी या वशी कहे जाते हैं।

नामदेव द्वारा विरचित प्रचुर साहित्य मराठी मे प्राप्त होता है। बाद मे कुछ पद हिन्दी भाषा मे भी रचे। ये सभी प्रकार के आडम्बर और पाखण्ड के विरोधी थे। सादा जीवन और प्रभु के नाम-कीर्तन को ही यह महत्त्व दिया करते थे। कुछ लोग इन्हें सन्त-मत का प्रवर्तक भी कहने लगे हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिये :—

"हिन्दू अन्धा तुरको काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना।"

स्पष्ट है कि यह ज्ञान का महत्त्व स्वीकार करते थे। इसीकी महिमा गाते थे। उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी ही अधिक था।

सन्त कबीर—सन्त मत के प्रतिनिधि साधक और कवि कबीर के जन्म और

जीवन के सम्वन्ध मे अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित है। उनका जन्म सम्वत् १४५५ मे माना जाता है। एक किवदन्ती के अनुसार इनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। उसने लोक-लाजवश इन्हे लहरतारा नामक तालाब के किनारे फेंक दिया। वहाँ से गुजरते हुए नीमा और नीरू नामक जुलाहा दम्पति ने इन्हे उठाकर पाला पोसा और वडा किया। यही वालक वडा होकर कवीर नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस घटना से एक वात स्पष्ट हो जाती है कि कवीर का जन्म तो हिन्दू परिवार मे हुआ था किन्तु इनका लालन-पालन मुस्लिम जुलाहा परिवार मे हुआ। अत हिन्दू-मुस्लिम एकता के सस्कार जन्मजात रूप से इनके रक्त मे ही विद्यमान थे।

कवीरपन्थी लोग तो इनके जन्म का सम्वन्ध कई प्रकार के चमत्कारो से मानते है, पर इनमे कोई सार नही। डॉ० वडथ्वाल कवीर को जुलाहा परिवार का ही मानते हैं, जो पहले हिन्दू था और जोगियो का अनुयायी था, परन्तु वाद मे मुसलमान हो गया। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार कवीर जी अस्पृश्य समझी जाने वाली जुगी जाति के थे, जो पहले नाथो की अनुयायी और वाद मे मुसलमान हो गई थी। इतना स्पष्ट है कि कवीर का जन्म काशी मे हुआ था। इनका स्वर्गवास काशी के पास मगहर नामक ऊसर मे सम्वत् १५७५ मे हुआ था। कवीर जी एक सद्गृहस्थ थे। इनकी पत्नी का नाम लोई प्रसिद्ध है। इनके वेटे का नाम कमाल और वेटी का नाम कमाली था। इनका पारिवारिक जीवन सुखी नही था, यह इस उक्ति से भी पता चलता है —

"वूढा वश कवीर का उपजे पूत कमाल।"

कवीर जी की शिक्षा-दीक्षा नही हुई थी। इन्होने 'मसि-कागद' छुआ नही था और 'कलम धरी नही हाथ' थी। फिर भी इन्हे अशिक्षित नही कहा जा सकता। शैशव के सुकुमार क्षणो से ही इन्हे सभी जातियो के साधुओ, सन्तो और फकीरो की सगति मे वैठने का शौक था। इन्हीसे अर्जित ज्ञान इनकी शिक्षा है। इसी कारण इन्हे वहुश्रुत कहा जाता है। इन्होने वचपन से ही धर्म के नाम पर होने वाले अनाचारो को वडे ध्यान से देखा-सुना था, स्वय भी इन्हे सहा था। अत विषम वातावरण ने इन्हे जन्मजात रूप से ही विद्रोही वना दिया

था। कहा जाता है कि स्वामी रामानद ने कवीर को छोटी जाति का होने के कारण अपना शिष्य वनाने से इन्कार कर दिया था, पर कवीर ने इन्ही को अपना गुरु माना। इनके मुख से निकले 'राम' शब्द को ही अपनाया। इसी प्रकार यह प्रसिद्ध सूफी सन्त शेख तकी के सम्पर्क मे भी आये थे। इस सूफी सन्त का भी व्यापक प्रभाव कवीर के व्यक्तित्व पर पडा। फलत ये स्वत ही समन्वयवादी हो गये। इन्होने राम-रहीम के समन्वय का तो प्रयत्न किया ही, मन्दिर-मस्जिद और जाति-पाँति के भेद-भावो को मिटाने के लिए भी समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे कवीर का व्यक्तित्व निम्नलिखित रूप मे अकित किया जा सकता है —

"वे सिर से पैर तक मस्त मौला, स्वभाव से फक्कड, आदत से अक्खड, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचण्ड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, वाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय थे। युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर पैदा हुए थे और युगप्रवर्तक की दृढता उनमे वर्तमान थी, इसीलिए वे युग-प्रवर्त्तन कर सके।"

हमारे विचार मे कवीर के व्यक्तित्व का इससे अधिक सार्थक चित्रण और कुछ नही हो सकता।

कवीर जी की वाणी का प्रामाणिक सकलन 'वीजक' मे माना जाता है। ये स्वय तो अनपढ थे, अत इनके शिष्यो ने ही इनकी वाणी का सकलन किया था। सिक्खो के 'आदि ग्रन्थ' मे भी इनकी वाणी का पर्याप्त सकलन मिलता है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने भी नागरी प्रचरिणी सभा के तत्त्वावधान मे सन् १६२८ मे कवीर जी की वाणी का सम्पादन किया था। इस सकलन और वीजक के तीन भाग हैं—१. सखी, २. सवद और ३ रमैनी। यह भी मान्यता है कि कवीर के शिष्यो ने भी अपने गुरु की परम्परा मे कुछ साहित्य रचकर इसीके नाम से प्रचारित कर दिया। अत अधिकाश विद्वान् गुरु ग्रन्थ साहिव मे संकलित इनकी वाणी को तो प्रामाणिक मानते हैं, शेष के सम्वन्ध मे स्पष्टत. कुछ नही कहा जा सकता।

कवीर की मान्यताएँ—कवीर जो एकेश्वरवादी थे। इनका ईश्वर निर्विक

निराकार, अजन्मा और अनादि है। इसे मन मे ही पाया जा सकता है। ये 'राम' के उपासक थे—'राम की बहुरिया' थे, किन्तु इनका राम दशरथ के बेटा न होकर कुछ और ही था, जो घट-घटवासी है, अलख-अगोचर है, इसे अनन्य भक्ति-भाव और प्रेम से अपने ही भीतर अनुभव किया जा सकता है। इसके लिए किसी भी प्रकार के कर्मकाण्ड या मिथ्याचार की आवश्यकता नही है। भक्ति निष्काम होनी चाहिए। आत्मा-परमात्मा के मिलन मे ये माया को सर्वाधिक बाधक मान इससे गुरु-प्रदत्त ज्ञान द्वारा छुटकारा पाने की प्रेरणा देते हैं। भक्ति मे प्रेम को भी इन्होने अनिवार्य स्वीकार किया और प्रेम के भी दाम्पत्य भाव को प्रश्रय ही दिया। इन्द्रिय प्राण और मन की साधना पर भी कबीर जी ने समान रूप से बल दिया है। हिन्दू-मुसलमानो की कठोर जाप साधनाओ पर इन्हे विश्वास नही था। इसीलिए ये सहज-समाधि और अजपा के पक्षपाती थे। इन्होने समस्त प्रचलित मतो के सार-तत्त्वो को ग्रहण कर अपने मत का प्रतिपादन किया, अत इन्हे किसी वाद विशेष के साथ नही बांधा जा सकता।

साहित्य मे प्रतिपादित विचार-विश्लेषण—कबीर जी के साहित्य के गम्भीर अध्ययन से हमारे सामने इसके तीन रूप स्पष्ट लक्षित होते है। ये रूप हैं—१ खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति, २ धर्म-समाज-सुधार की भावना और ३ आत्मानुभूति। पहली भावना के अन्तर्गत इन्होने धर्म और समाज मे विद्यमान पाखण्डो तथा आडम्बरो का खुलकर विरोध किया है। पोथियो मे लिखे धर्म को न तो वे धर्म मानते थे और न मुक्ति का साधन ही मानते थे। अत इन्होने स्पष्ट कहा —

पोथी पढि-पढि जग मुआ, पण्डित हुआ न कोय।
ढाई आखर प्रेम के, पढे सो पण्डित होय॥

'प्रेम' के ढाई अक्षर पढकर ही इनके मत मे सच्चा पण्डित और मुक्ति का अधिकारी हुआ जा सकता है। हिन्दुओ मे व्याप्त मूर्तिपूजा तथा अन्य आडम्बरो का विरोध करते हुए इन्होने चौराहे पर खडे होकर कहा —

पाहन केरा पूतरा करि पूजे ससार।
इहि भरोसे जो रहे बूडे काली धार॥

इस प्रकार मुसलमानो के आडम्बरवाद की भी इन्होने मुक्त भाव से भर्त्सना करते हुए कहा :—

> कांकर-पाथर जोरि के मसजिद लई चुनाई।
> ता चढि मुल्ला बांग दे बहरा हुआ खुदाई ॥

तथ्य यह है कि इनकी इस खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति मे द्वेष या पक्षपात का भाव कही भी दृष्टिगत नही होता है। इन्होने जो कुछ भी कहा, निर्लिप्त भाव और सत्य हृदय से कहा।

धर्म तथा समाज-सुधार की भावना इनके काव्य की दूसरी प्रमुख भावना है। इनके खण्डन-मण्डन का मूल उद्देश्य ही यही था। ये थोथे और हास्यास्पद धार्मिक तथा सामाजिक बधनो से ऊपर उठकर एक दृढ आत्मविश्वास का भाव पैदा करना चाहते थे। इसी कारण वे चुनौती के स्वर मे कहते हैं —

> करु बहियाँ बल आपणी, छांड पराई आस।
> जाके आंगन है नदी, सो कत मरत पियास ॥

इस प्रकार की उक्तियो मे आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे कबीर जी का यथार्थ-वादी रूप स्पष्टत अधिक मुखर हुआ है। ये गतानुगति या अन्धानुकरणो के प्रबलतम विरोधी थे। इसी कारण इन्होने ससार को लक्ष्य करके कहा —

> ऐसी गति ससार की, ज्यो गाडर का ठाट।
> एक गिरा जेहि खाड मे, सबै जाहि तेहि बाट ॥

यहाँ इनका अन्योक्तिकार और सूक्तिकार का प्रबल व्यक्तित्व भी स्पष्ट हुआ है।

आत्मानुभूति का चित्रण कबीर की वाणी का तीसरा स्पष्ट पक्ष है। यह पक्ष प्रेम एव रहस्य का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करता है। कवि की सरस तल्लीनता भी यही दिखाई देती है। हमारे विचार मे इनकी कवित्व-प्रतिभा और अनुभूति की तरल गहनता भी यहीं प्रस्फुटित हुई है। इन उक्तियो को पढकर कोई नही कह सकता कि कबीर जी कवि नही, बल्कि कोरे उपदेशक ही थे। प्रभु-प्रेम की आतरिक झांकी पाकर वे पूर्णतया तल्लीन हो जाते हैं। इन्हे अकथनीय स्थितियो का अनुभव होने लगता है :—

"कहत कबीर पुकार के अद्भुत कहिये ताहि।"

इस अद्भुत अनुभूति के बाद इनकी आत्मा उनके दर्शन के लिए लालायित होकर तडप उठती है —

आँखडियाँ झाई पडी, पथ निहारि-निहारि।
जीभड्याँ छाले पडे, राम पुकारि-पुकारि॥

साधना का तार तनता जाता है। अन्त मे 'रामदेव' इनके पाहुन बनकर आ रहे है, ऐसा आभास होने लगता है। और 'राम की बहुरिया' कबीर की आत्मा कह उठती है —

दुलहिन गावहु मगलाचार।
रामदेव मोरे पाहुन आये, हौ जोवन मदमाती।

और अन्त मे साक्षात्कार हो जाता है। सभी अन्तर मिट जाते हैं। रहस्य राग की लालिमा सर्वव्यापक हो जाती है —

लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

इस प्रकार आत्मानुभूतियो के अन्तर्गत रहस्यवाद के साधनात्मक और भावनात्मक दोनो रूपो का क्रमश विकास कबीर की वाणी मे मिलता है। इनका कवित्व और भावत्व सजीव-साकार हो उठता है।

सैद्धान्तिक प्रतिपादनो के लिए कबीर ने कही-कही कुछ उलटबासियो का भी प्रयोग किया है, जिनका आशय समझ पाना विद्वानो के लिए भी सहज नही।

इनकी कविता मे व्यावहारिक पक्ष के भी अनेकश दर्शन होते है। एक पद्य देखिए —

साई इतना दीजिये, जामैं कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

इस प्रकार इनका काव्य व्यक्त अनुभूतियो का काव्य है। उसमे सर्वस्त कृत्रिमताओ का स्पष्ट विरोध कर महानता को प्रश्रय दिया गया—मुख्यत इसी तथ्य को सामने रखकर कबीर-काव्य को समझा जा सकता है।

कला-पक्ष—कबीर की वाणी का कला या अभिव्यक्ति पक्ष अवश्य भक्ति

काल के तुलसी-सूर जैसे कवियो के समक्ष नही ठहरता, पर इसने जो कुछ भी है वह सीधा हृदय से स्फुरित होकर हृदय पर चोट करता है। हमारे विचार मे यह उपलब्धि भी किसी दृष्टि से गौण नही कही जा सकती। काव्यशास्त्र के तत्त्वो की कसौटी पर इनके काव्य को कसना व्यर्थ है। इन्होंने तो मुक्त भाव मे ही सब कुछ कहा है। पद, दोहे और राग-रागनियाँ इन्होने प्रमुख रूप से रची हैं। गेयता तो वहाँ विद्यमान है ही, गीति-काव्य के सभी तत्त्व भी विद्यमान हैं। हमारे विचार मे इनकी सरस-सरल प्रभविष्णुता ही इनके कला-पक्ष की सफलता की वास्तविक कसौटी है।

इनकी भाषा को सधुक्कडी कहा जाता है। इसमे व्रज, अवधी, राजस्थानी, पूर्वी हिन्दी, अरवी, फारसी आदि सभी भाषाओ के शब्दो को आवश्कतानुसार प्रयोग किया गया है। इनकी भाषा मे यदि कही अलकारिता आई भी है तो वह प्रयत्नसाध्य न होकर पूर्णत स्वाभाविक है। सादृश्यमूलक अलंकारो की सहज छटा यहाँ देखी जा सकती है। इनके प्रतीक भी जीवन के आस-पास से ही लिये गये हैं। साधना-पद्धति मे 'दाम्पत्य भाव' प्रमुख है। इस समस्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट कहा जा सकता है कि कवीर जी एक पहुँचे हुए सन्त, सरल-तरल कवि और मानवता के अमर गायक थे।

सन्त रविदास या रैदास—रामानन्द जी की शिष्य-परम्परा मे सन्त रैदास कवीर जी के समकालीन सन्त-साधक और कवि थे। यह जाति के चमार थे और काशी निवासी थे। वहाँ ढोरो का व्यवसाय कर भगवद्भक्ति मे लीन रहा करते थे। इनका महत्त्व कवीर जी के समान ही स्वीकार किया जाता है। कवीर जी के समान पहुँचे हुए मस्त सन्त थे। मीरावाई तक ने इन्हे गुरु के रूप मे नमस्कार किया है। इनका सैद्धान्तिक पक्ष भी कवीर जी के सामन ही है।

सन्त रैदास ईश्वर को निराकार मानकर अहंकार, असत्य आदि से रहित होकर सहज भाव से उनकी भक्ति के उत्प्रेरक थे। भक्ति मे प्रेम भाव की प्रवलता है। प्रेम-प्लावित विशुद्ध भक्ति-भावना ही इनकी समस्त साधना का सार है। वाकी कोई विश्वसनीय इतिहास इनका आज उपलब्ध नही है।

'रैदास की वानी' नाम से इनकी एक रचना प्रयाग से प्रकाशित हो चुकी

है। इनकी प्रामाणिक वाणी का सकलन हमे 'आदि ग्रन्थ' मे भी मिलता है। इधर-उधर की अन्य रचनाओ मे भी इनके फुटकर पद्य सकलित हैं। कविता का एक उदाहरण देखिये —

तीरथ वरत न करौं अदेशा, तुम्हारे चरन-कमल भरोसा।
जहँ तहँ जाओ तुम्हारी पूजा, तुम-सा देव और नही दूजा ॥

तत्वज्ञान और विशुद्ध ज्ञानात्मक भक्ति का भाव ही इनकी वाणी मे स्पष्टतः परिलक्षित होता है। भाषा पर फारसीपन का प्रभाव भी दिखाई देता है।

गुरु नानक—निर्गुण भक्ति धारा के अन्तर्गत ज्ञान का आश्रय लेकर नाम-भक्ति का प्रचार करने वाले सन्तो मे कबीर के बाद गुरु नानकदेव को सबसे अधिक सफलता मिली। यह एक व्यापक सम्प्रदाय—सिक्ख (शिष्य) सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुए। इनका जन्म अविभाजित पजाब के जिला लाहौर मे बसे तलवडी नामक ग्राम मे सम्वत् १५२६ मे हुआ था। इनके पिता का नाम कल्याणराय या कालूराम कहा जाता है। ये पटवारी थे। माता का नाम तृप्तादेवी था। नानक-देव जी का विवाह गुरुदासपुर निवासी मूलचन्द खत्री की बेटी सुलक्खनी से हुआ था। श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द इनके बेटो के नाम थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि गुरु नानक देव घर-गृहस्थी मे रहकर भी उसमे डूबे नही। इनके स्वभाव मे जन्मजात रूप से जो परोपकार, त्याग और वैराग्य की भावना थी, वह निरन्तर विकसित होती रही। इनके शैशव से सम्बन्धित अनेक चमत्कारपूर्ण कहानियाँ प्रचलित हैं, जो इन्हे जन्मजात चिन्तक और परम वैरागी प्रमाणित करती हैं।

शैशव के सुकुमार क्षणो से ही यह प्रभु नाम की खुमारी मे मग्न रहते थे। ससारी पिता ने इन्हे अनेक काम-धन्धो मे लगाने का प्रयत्न किया, पर इनका मन किसी काम-धन्धे मे न लगा। अन्त में घर-बार त्यागकर यात्रा पर निकल पडे। इन्होने समूचे भारत और इसके पडोसी देशो, अनेक मुस्लिम तथा एशियायी देशो की भी यात्रा की। जहाँ जाते, वही लोग इनके व्यक्तित्व और वाणी से प्रभावित होकर इनके शिष्य हो जाते थे। स्वय भी गुरुद्वारो की आय पर आश्रित न रहकर खेती-बाडी करते थे। इस प्रकार इनके जीवन-काल मे ही इनका शिष्य (सिक्ख) मत काफी विस्तृत हो गया था। यह सर्व-धर्म-समन्वय,

प्रेम, भक्ति और कर्म का उपदेश दिया करते थे। इस प्रकार इनका जीवन पूर्ण-तया भक्ति-कर्ममय था। अपनी यात्राओ के दौरान इन्होने सन्त कबीर से भी भेंट कर उनकी वाणी का सकलन अपनी डायरी मे किया था, जिसे वाद मे गुरु ग्रन्थ साहिब मे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। इनकी वाणी का सकलन भी ग्रन्थ साहिब के मुहल्ला पहला के अन्तर्गत सकलित है।

कबीर के समान नानकदेव भी कुछ विशेष पढे-लिखे न होकर बहुश्रुत ही थे। इन्होने अपनी यात्राओ और विभिन्न सन्तो के ससर्ग मे काफी ज्ञान प्राप्त किया था। अपने समय के धार्मिक आडम्बरो और सामाजिक हीनताग्रो को निहारकर भक्ति, प्रेम और सुधार के आवेश में जो वाणी इनके मुख से निकली, वही इनकी कविता है। ये एकेश्वरवादी और निर्गुण के उपासक थे। इन्होंने अवतारवाद, मूर्तिपूजा, मन्दिर-मस्जिद, जाति-पाँति का विरोध करके वर्गहीन समाज की सरचना करने और अन्त में आवागमन के चक्कर से मुक्ति पाने का प्रयत्न करने का उपदेश दिया। सकीर्णता का इनमे नाम तक नही था। कबीर के समान नानक भी भावात्मक एकता और सर्व-धर्म-समन्वय के समर्थक थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इनकी वाणी के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए कहते है —

"जिन वाणियो से मनुष्य के अन्दर इतना बडा अपराजेय आत्मबल और कभी समाप्त न होने वाला साहस प्राप्त हो सकता है, उनकी महिमा निस्सदेह अतुलनीय है। सच्चे हृदय से निकले हुए भक्त के अत्यन्त सीधे उद्‌गार और सत्य के प्रति दृढ रहने के उपदेश कितने शक्तिशाली हो सकते है, यह नानक की वाणियो ने स्पष्ट कर दिया है।"

नानक की वाणी का एक उदाहरण देखिये —

> साधो, मन का मान त्यागो।
> काम-क्रोध सगति दुर्जन की ताते अहनिस भागो।।
> सुख-दुख दोनो सम कर जाने और मान अपमाना।
> हर्ष-शोक ते रहे अतीता तिन जग तत्त्व पिछाना।।
> अस्तुति-निन्दा दोऊ त्यागै खोजे पद निरवाना।
> जन नानक यह खेल कठिन है किनहूँ गुरमुख जाना।।

इनके मुक्तक पद ही मिलते हैं। भाषा मे ब्रजभाषा और पजाबी दोनो का ठेठ रूप देखने को मिलता है। इनका प्रभाव व्यापक और अमिट है। इनका स्वर्गवास स० १५६६ वि० में हुआ था।

दादूदयाल—निर्गुणवादी सन्त-परम्परा मे 'दादू-पन्थ' को चलाने वाले इन सन्त का जन्म गुजरात—अहमदाबाद मे सम्वत् १६०१ में हुआ था। कबीर के समान इनके जन्म के सम्बन्ध मे भी अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित है। इनके रज्जब नामक एक शिष्य ने इन्हे धुनिया जाति का बताया है। यह किसके शिष्य थे, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। इनकी योग्यता, प्रभाव और प्रसिद्धि का अनुमान इस बात से लगाया जाता है कि 'दीने-इलाही' के प्रवर्तक अकबर तक ने इनको फतहपुर सीकरी बुलाकर काफी दिनो तक धर्म-चर्चा की थी। बगाल का प्रसिद्ध बाऊल सम्प्रदाय भी इनसे काफी प्रभावित था। ईश्वर-भक्ति के सम्बन्ध मे इनका निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है —

इसक अल्लाह की जाति है, इसक अल्लाह का अग।
इसक अल्लाह मौजूद है, इसक अल्लाह का रग॥

अन्य सन्त कवियो और साधको के समान दादू भी अनपढ किन्तु बहुश्रुत थे। वे गृहस्थ-धर्म का भी पालन करते थे। इनके स्वभाव मे भ्रमण की प्रवृत्ति भी यथेष्ट थी। स्वभाव के सरल, त्यागी और क्षमाशील थे। सन्त मत की समस्त मान्यताऐं एव विशेषताएँ इनके काव्य में सहज ही देखी जा सकती हैं।

दादू के शिष्यो द्वारा इनकी वाणी का सकलन 'हरडे वाणी' तथा 'अग बधू' नाम से किया गया। पद्यो की सख्या बीस हजार तक मानी जाती है। भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। भाषा मे अरबी-फारसी के शब्द भी मिलते हैं। वाणी में काफी सरसता और गम्भीरता है। ये भी अन्य सन्तो के समान वर्ग और वर्ण-विहीन समाज-रचना के विचार के पोषक थे और इसीके लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। उनकी कविता का एक उदाहरण देखें —

प्रीत जो मेरे पीव की पैठी पिंजर माँहि।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, दादू दूसर नाँहि॥

सुन्दरदास—सन्त दादूदयाल की शिष्य-परम्परा में सुन्दरदास का नाम

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस महत्ता का प्रमुख कारण है सुन्दरदास का साक्षर एवं शास्त्रीय ज्ञान से सम्पन्न होना। इनका जन्म सम्वत् १६५३ में जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी द्यौसा में हुआ था। ये जाति के खण्डेलवाल वैश्य थे। ये छोटी आयु में ही सन्त दादू के शिष्य बनकर अध्ययन के लिए काशी चले गये। इन्होंने व्याकरण, दर्शन, साहित्य, वेदान्त और पुराणों का गम्भीर अध्ययन किया। इन्हें फारसी भाषा का भी पर्याप्त ज्ञान था। इनकी अन्य सन्तों के समान भ्रमण की रुचि भी थी। इनका निधन सम्वत् १७४६ में माना जाता है।

इनके द्वारा विरचित छोटे-बडे ४२ ग्रन्थ कहे जाते हैं। इनका प्रकाशन 'सुन्दर ग्रन्थावली' नाम से हो चुका है। रचनाओं में 'सुन्दर विलास' विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार रचनाओं के विषय संस्कृत ग्रन्थों से गृहीत हैं। इन्होंने शृंगार रस का खुलकर विरोध किया। हास्य, व्यंग्य-विनोद का भाव इनकी उक्तियों में यथेष्ट पाया जाता है। काव्यशास्त्र की कसौटी पर भी इनका काव्य पूर्णतया खरा उतरा है। पर भावों का वह विकास और स्वाभाविकता इनके काव्य में नहीं, जो अन्य निरक्षर सन्तों की वाणी में पाया जाता है। इनकी कविता में उपदेश का अत्यधिक भाव होने के कारण नीरसता आ गई है। एक उदाहरण देखें —

वालू मांहि तेल नांहि निकसत काहू विधि,
पाथर न भीजै बहु बरखत घन है।
पानी के मथे ते कहूँ घीउ नहि पाइयत,
कूकस के कूटे कहुँ निकसत कन है॥
सून्यही की मूठी भरि हाथ न परत कछु,
ऊसर में बोये कहा निपजत अन है।
उपदेस औषध सो कौन विधि लागै ताहि,
सुन्दर असाध्य रोग भयो जाके मन है॥

प्रेमाख्यान परम्परा

भक्ति-काल में निर्गुण भक्ति-धारा के अन्तर्गत ज्ञानमार्गी सन्तों के बाद

प्रेममार्गी साधकों का क्रम आता है। ज्ञान और प्रेम की प्रमुखता का अन्तर होते हुए भी इन दोनों की मूल भावना एवं उद्देश्य में कोई विशेष अन्तर नहीं। प्रेम-मार्गियों ने भी कबीर आदि के समान हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्तुत्य प्रयास किया और इन्हें व्यापक सफलता भी मिली। इनका प्रेम तत्त्व और प्रेममार्ग पर्याप्त सरस होने के कारण सहज ग्राह्य था। दूसरे, इनकी प्रवृत्ति ज्ञानमार्गी सन्तों के समान खण्डनात्मक भी न थी। इन्होंने हिन्दू-परम्पराओं में प्रचलित प्रेमाख्यानों को लेकर सरस काव्य रचे, इसका भी विशेष प्रभाव पड़ा। मूल स्रोत की दृष्टि से भी प्रेम-मार्गियों का मत सन्त मत से अलग है, यद्यपि दोनों मतों में अनेक साम्यताएँ भी हैं। मानवीय सहज सहानुभूति और विश्व-प्रेम इनका प्रमुख स्वर है। प्रेम द्वारा ही ईश्वर का मिलन सम्भव हो सकता है, यह इनकी प्रमुख मान्यता है।

भारतीय प्रेमाख्यानक-परम्परा —प्रेम जीवन का एक व्यापक तत्त्व और भाव है। मानव-मन की कोमल-कान्त अनुभूति को ही प्रेम कहा जाता है। यह अनुभूति व्यापक जीवन के समान काव्य का भी एक व्यापक तत्त्व है। परन्तु काव्य के क्षेत्र में जिसे 'प्रेमाख्यानक-परम्परा' कहा जाता है, उसके अन्तर्गत प्रेम का चित्रण करने वाली सभी रचनाएँ नहीं आ जातीं। इस परम्परा के अन्तर्गत तो वे प्रेममूलक रचनाएँ ही आती हैं कि जिनमें विशेष प्रकार के साहसिक और स्वच्छन्द प्रेम का वर्णन किया जाता है। इसके लिए अंग्रेजी में रोमान्स (Romance) शब्द का प्रयोग किया गया है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार—"वस्तुत इस काव्य-परम्परा का सम्बन्ध एक ओर तो विश्व में व्याप्त रोमांस-काव्य की परम्परा से है तथा दूसरी ओर भारत की प्राचीन कथा-काव्य-परम्परा से है।" भारतीय परम्परा में जहाँ काव्यशास्त्रों में इस काव्यात्मक-कथा-रूप के लक्षण और तत्त्वों का विवेचन हुआ है, वहाँ इनकी एक लम्बी परम्परा भी मिलती है। उसका अपना विशेष रूप और महत्त्व निश्चय ही है।

अनेक इतिहासकारों ने इस काव्य-कथात्मक परम्परा को विदेश से आया स्वीकार किया है, परन्तु अब अन्य अनेक विद्वानों ने यह भली भाँति प्रमाणित कर दिया है कि यह परम्परा किसी विदेश से भारत में नहीं आई, बल्कि यहीं

से विदेशो मे गई। विद्वानो का स्पष्ट मत है कि—"यह धारा सबसे पहले भारत के कथा-साहित्य के रूप मे प्रस्फुटित हुई, तदनन्तर विभिन्न स्थानो से यह अरब, फारस, यूनान, रोम एव स्पेन मे होती हुई पश्चिमी एशिया एव सारे योरुप मे फैल गई।" डॉ० गणपति चन्द्र जैसे विद्वान् इतिहासकारो ने उपरोक्त मान्यताओं को प्रमाणित करने के लिए सप्रमाण तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। उन सबके विस्तार मे न जाकर यहाँ भारतीय प्रेमाख्यानक कथाओ और उसके बाद हिन्दी प्रेमाख्यानक कथाओ की परम्परा का सामान्य परिचय देना ही पर्याप्त होगा।

इस प्रकार की परम्परा मे आने वाली कथाओ मे सौंदर्य और प्रेम को जीवन का चरम लक्ष्य मानकर इन्ही दो तत्त्वो का चित्रण किया गया है। वहाँ सामान्य मर्यादाओ का कोई ध्यान नही रखा गया, उससे स्वच्छन्दता की भावना स्पष्ट है। साहसिकता का चित्रण भी इन कथाओ का एक अनिवार्य गुण है। महाभारत मे इस प्रकार के गुणो से युक्त अनेक कथाएँ मिलती है कि जिन पर अलग से भी रोमाचक काव्य रचे गये। महाभारत मे अर्जुन-सुभद्रा, भीम-हिडिम्बा, नल-दमयन्ती, तप्ता-सवरण आदि अनेक रोमाचक कथाएँ हैं। इसके बाद 'हरिवश पुराण' मे भी इस प्रकार की अनेक कथाएँ मिलती हैं। उनमे से प्रमुख हैं—कृष्ण रुक्मिणी, प्रद्युम्न-प्रभावती और उषा-अनिरुद्ध आदि। इनमे उन समस्त काव्य-रूढियो का पालन किया गया है कि जिनका पालन परवर्ती सस्कृत, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओ के कवियो ने किया है। सस्कृत की यह परम्परा हमे प्राकृतो मे भी मिलती है। विकास-क्रम की दृष्टि से प्राकृतो मे उपलब्ध प्रेमाख्यानक कवियो का दृष्टिकोण सस्कृत की तुलना में अधिक यथार्थवादी है। प्राकृत मे विरचित 'वृहत्कथा' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। यद्यपि आज यह रचना अपने मूल रूप मे उपलब्ध नही, परन्तु सस्कृत में वृहत्कथा मजरी' और 'कथा सरित्सागर' का प्रणयन इसीके आधार पर हुआ, अत इसके वर्ण्य विषयो का इनके आधार पर स्पष्ट पता चल जाता है। इनमें अनेक साहसी नायको के प्रेम-सम्बन्धो का व्यापक रूप से चित्रण किया गया है। इनमें नायिकाओ के नाम भी हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो की नायिकाओ के समान ही हैं। जैसे—

मृगाकवती, शशाकवती, लावण्यवती, पद्मावती, हिरण्यवती आदि। इनमे वर्णित प्रवृत्तियाँ भी हिन्दी के उपलब्ध काव्यो के समान ही है। जैसे—स्वप्न-दर्शन या चित्र-दर्शन द्वारा प्रेम की उत्पत्ति, नायिका का किसी विशिष्ट द्वीप मे निवास, नायक की समुद्र-यात्रा, नायको का नायिका की प्राप्ति के लिए किसी अन्य देश मे गृहत्याग, नायक को किसी पक्षी या सन्यासी आदि की दैवी सहायता प्राप्त होना, किसी मन्दिर या फुलवारी मे नायक-नायिका का प्रथम मिलन, नायिका की प्राप्ति के लिए नायक का सघर्ष, अन्त मे दैवी सहायता से नायक की वार्ते आदि सभी रूढियाँ और परम्पराएँ इनमे मिल जाती हैं। इन परम्पराओ का पालन केवल भारतीय भाषाओ के प्रेमाख्यानक काव्यो मे ही नही मिलता, बल्कि विश्व-साहित्य के रोमाचक काव्य मे मिलता है।

एक अन्य बात भी विशेष ध्यातव्य है। वह यह कि सस्कृत एव प्राकृतो मे इस प्रकार की कथाएँ गद्य मे भी रची गई। सुबन्धु की 'वासवदत्ता', दण्डी का 'दशकुमार चरित' और बाणभट्ट की 'कादम्बरी' इसी प्रकार की रचनाएँ है। इनमे सौंदर्य, प्रेम और शौर्य के सभी तत्त्व पाये जाते हैं कि जो रोमाचक या प्रेमाख्यानक काव्यो के लिए आवश्यक हैं। इस प्रकार की अन्य अनेक गद्यात्मक या गद्य-पद्य-मिश्रित (चम्पू) रचनाओ का भी नामोल्लेख किया जा सकता है। यदि परम्परा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो को एक परम्परागत न्यास के रूप मे प्राप्त हुई और हिन्दी मे इस प्रकार के काव्य रचे गये।

हिन्दी परम्परा—हिन्दी-साहित्य मे प्रेमाख्यानक काव्यो की एक लम्बी परम्परा मिलती है। अभी तक ऐसे सैंतीस प्रेमाख्यानक कवियो के नाम और उनके द्वारा विरचित पचपन काव्य भी उपलब्ध हो चुके है। एक विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि इस परम्परा में प्राप्त चौवन कवियो में से सैंतीस काव्य हिन्दू है। इन्होने हिन्दू-मान्यताओ के अनुरूप ही काव्यारम्भ की मान्यताओ तथा अन्य रूढियो का पालन किया है। अत कुछ इतिहासकार जो इस परम्परा को फारसी मे प्राप्त और इसके सजक कवियो में प्रमुख रूप से मुस्लिम कवियो की ही गणना करते है, वह उचित नही है। हाँ, सुविधा के लिए 'हम प्रेमाख्यानक मुस्लिम कवि' और 'प्रेमाख्यानक हिन्दू कवि' ये दो विभाग अवश्य कर सकते है यहाँ हमने

आगे इस विभाजन के आधार पर ही प्रेमाख्यानक काव्यो के मुस्लिम और हिन्दू रचयिताओ का परिचय दिया है।

विकास-परम्परा की दृष्टि से उपलब्ध काव्यो में से महत्त्वपूर्ण और प्रमुख काव्यो तथा उनके रचयिताओ को इस क्रम से रखा जा सकता है —

१. असाइत कवि द्वारा रचित—हंसावली, जिसका रचना-काल १३७० ई० है। २. मुल्ला दाऊद रचित चन्दायन, जिसका रचना-काल सन् १३७९ ई० है। ३. दामोदर कवि द्वारा रचित लखमनसेन पद्मावती कथा, जिसका रचना-काल सन् १४५९ ई० है। ४ कवि ईश्वरदास विरचित सत्यवती कथा, जिसका रचना-काल सन् १५०१ ई० है। ५ गणपति रचित माधवानल-कामकन्दला, जो सन् १५२७ ई० मे लिखी गई। ६ मल्लिक मुहम्मद जायसी रचित पद्मावत जिसका रचना-काल सन् १५२० ई० है। ७ मझन विरचित मधुमालती, जो सन् १५४५ ई० में रचा गया। ८ उसमान-विरचित चित्रावली, जो सन् १६५१ ई० में लिखी गई। ९ कवि पुहकर रचित रसतन, जिसका रचना-काल सन् १६१८ ई० है। १०. दुखहरण दास की रचना पुहुपावती जो सन् १६६९ ई० में रची गई। ११. नूरमुहम्मद की कृति-इन्द्रावती, जिसका रचना-काल सन् १७०७ है। इसकी अनुराग बाँसुरी नामक एक अन्य रचना भी मिलती है। इसके बाद—१२ बोधा विरचित माधवानल-कामकन्दला, इसका रचना-काल सन् १७५२ ई० है। १३. कवि चतुर्भुजदास विरचित मधुमालती, जो सन् १७८० ई० मे रची गई। १४. सेवाराम रचित नलदमयन्ती चरित्र का रचना-काल सन १७९६ ई० है और १५. कवि मृगेन्द्र द्वारा रची गई प्रेमपयोनिधि का रचना-काल सन् १८५५ ई० है।

कई इतिहासकर्ताओ ने हिन्दी मे प्रेमाख्यानक-परम्परा का आरम्भ मुल्ला दाऊद-विरचित 'चम्पायन' से स्वीकार किया है, पर ऊपर दिये गये विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि असाइत द्वारा रचित 'हंसावली' ही इस प्रकार की प्रथम उपलब्ध रचना है। हो सकता है कि इससे पहले भी कोई अन्य रचना लिखी गई हो, पर अन्य कोई भी पूर्ववर्ती रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी। इसकी रचना गुजराती मिश्रित राजस्थानी (हिन्दी) मे हुई है। वीर रस का भी इसमे पर्याप्त चित्रण हुआ है। पर जिन काव्य-रूढियो और रोमाचक तत्त्वो को

इसमे विशेष महत्त्व दिया गया है उस दृष्टि से यह एक सफल प्रेमाख्यानक काव्य ही कहा जा सकता है। इस परम्परा के सभी प्रमुख काव्यकारो का वर्णन आगे यथास्थान किया गया है।

प्रेमाख्यानक काव्य प्रवृत्तियाँ-विशेषताएँ

प्रेमाख्यानक परम्परा मे प्रेम तत्त्व सर्वोपरि है। प्रेम के निष्काम और विशुद्ध तत्त्व को ही इन्होने प्रमुखता दी है। प्रेम दशा मे इस धारा के साधक परमात्मा को पत्नी और आत्मा को पति अर्थात् साधक के रूप मे परिकल्पित करते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी के काव्यो की समीक्षा करते हुए लिखा है— "हिन्दू-हृदय और मुसलमान-हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालो मे इन्हीका नाम लेना पडेगा कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था, प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। वह जायसी द्वारा पूरी हुई।"

वास्तव मे यह उक्ति जितनी जायसी के काव्य के सबध मे सत्य है, उतनी समूचे प्रेमाख्यानक काव्य के सम्बन्ध मे भी है। इसी कारण प्रेमाख्यानक काव्य को केवल धार्मिक एकता ही नही, बल्कि जातीय एव सास्कृतिक एकता स्थापित करने वाला काव्य भी स्वीकारा जाता है। एक कुशल डॉक्टर के समान समाज की क्षय की ओर अग्रसर नाडी को पहचानकर इस धारा के कवियो ने वही उपचार और निदान किया, जो भारतीय जन-मानस को नीरोग बनाकर उसमे नई शक्तियो का सचार कर सकता था। इन्होने हिन्दू घरो मे प्रचलित कथाओ को अपने काव्यो का आधार बनाया। इससे इनका मानवतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। सर्व-धर्म-समन्वय, मानव-प्रेम और श्रेयस, उदारता, सहिष्णुता आदि इनके काव्यो के आधारभूत तत्त्व हैं। इन्ही सबके सन्दर्भ मे प्रेमाख्यानक काव्यो की प्रवृत्तियो या विशेषताओ का सम्यक् विवेचन किया जा सकता है। सक्षेपत वे प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ निम्न है —

१ आधार प्रेम कहानियाँ—इस धारा के समस्त कवियो और साधको ने अपने सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए हिन्दू समाज मे प्रचलित प्रेम-कथाओ

को अपने काव्यो का आधार बनाया। कुछ विचारक यह मानते हैं कि हिन्दू-कथाओं को आधार बनाकर इस धारा के मुस्लिम कवियो ने प्रच्छन्नत इस्लाम का प्रचार करना चाहा, परन्तु यह आरोप भ्रममूलक है, क्योकि स्पष्टत ऐसा उल्लेख कही भी नही मिलता। प्रसगत अपने प्रेम-काव्यो मे प्रेम-तत्त्व का प्रतिपादन करते समय इन्होने हिन्दू-मुसलमान दोनो के विशेष पुरुषो, अवतारो एव तत्त्वो की चर्चा अवश्य की है। परन्तु उसमे साम्प्रदायिकता या इस्लाम-प्रचार की गन्ध नही है। स्पष्ट रूप से इनके काव्यो मे समन्वयवादी दृष्टि को ही प्रश्रय मिला है। हाँ, यह भी सत्य है कि इन प्रेममार्गियो और इनकी काव्य-साधना पर अनेक सस्कृतियो के प्रभाव पडे है, जैसे—आर्यो का अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद, इस्लाम की गुह्य-विधा, विचारो की स्वतत्रता और नव अफलातूनियो का प्रभाव। इनके अतिरिक्त वैष्णवी अहिंसा, उपनिषदो का प्रतिबिम्बवाद, हठयोग का प्रभाव, नख-शिख-वर्णन, शृगार रस आदि के प्रभाव भी स्पष्ट हैं। अत आधारस्वरूप भारतीय कहानियो को ग्रहण कर निश्चय ही इन्होने समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया, जो समूची भारतीय साधना का प्रमुख अग है।

२. काव्य-रूप—प्राय प्रेममार्गी काव्य प्रबन्ध-रूप मे रचे गये। इन्होने भारतीय प्रेम-कहानियो के कलेवर मे सूफीवाद के समस्त सिद्धान्तो को बडी कुशलता से सजाने-सँवारने का प्रयत्न किया। इन्होने प्रबध के अन्तर्गत महाकाव्य ही रचे हैं। इनमे प्रबन्ध एव महाकाव्य के समस्त तत्त्वो का पालन तथा निर्वाह उचित रूप से हुआ है। इन्होने प्रचलित निजधरी कथाओ मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन तथा परिवर्द्धन भी किया है। इनके काव्यो मे परम्परागत प्रबन्ध-रूढियाँ भी विद्यमान है। वर्णनो के मोह के कारण कथानक के निर्वाह मे कही-कही शिथिलता अवश्य आ गई है। भारतीय काव्य-रूपो (महाकाव्यो) से एक अन्य विषमता यह भी है कि इनमे सर्गो की योजना का ध्यान नही रखा गया। इसके स्थान पर विशेष वस्तु-सम्बन्धी शीर्षको की योजना की गई है। नायक-नायिका आदि की उच्चता भी नही मिलती। प्रबन्ध के सामान्य नियमो का निर्वाह अवश्य हुआ है।

प्रेममार्गियो द्वारा रचे कुछ मुक्तक काव्य भी प्राप्त हुए हैं। कही-कही

पद्यबद्ध निबन्ध शैली को भी अपनाया गया है।

३ भाव और रस—भाव की दृष्टि से इनके काव्यो मे प्रेम-भाव की ही प्रमुखता है। इनके काव्यो मे प्रेम-भाव की प्रमुखता के कारण शृगार रस की सृष्टि स्वत ही हो गई है। शृगार रस के सयोग पक्ष मे उतनी प्रबलता नही, जितनी कि वियोग-वर्णनो मे। सयोग-वणनो मे तो कही-कही अश्लीलता और जडता के भी दर्शन होने लगते हैं। फलत पाठक का मन उचाट भी हो जाता है। पर विप्रलम्भ शृगार के वर्णन मे प्रवाह, स्वाभाविकता और प्रभविष्णुता आदि सभी तत्त्व पूर्णतया विद्यमान है। प्राय भावो और रस-वर्णनो मे भारतीय परम्पराओ का पालन किया गया है, परन्तु वह फारसी प्रभाव से सर्वथा अछूना नही। भावाभिव्यक्ति के लिए अनेकश रहस्यवादिता और रहस्यमयता को अपनाने का प्रयत्न भी किया गया है, परन्तु काव्य रहस्यवादी बन नही पाये, प्रेम काव्य ही बन पाये हैं।

काव्यो मे मुख्य भाव प्रेम के साथ-साथ ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट आदि अन्य मानवीय भावो का भी प्रसगत वर्णन हुआ है। इनमे मानवीय सहृदयता की रोचक कथाएँ भी प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार मुख्य रस शृगार के साथ-साथ सामान्यत वीर आदि अन्य रसो के चित्रण भी मिल जाते हैं। रस की दृष्टि से एक दोप भी देखा जा सकता है। वह यह कि कही कही शृगार-वर्णन मे वीभत्सता का आभास होने लगता है। जैसे, जायसी का एक पद्य देखिये —

विरह-सरागन्हि भूंजै माँसू।
गिरि-गिरि परै रकत के आँसू॥

४ चरित्र-चित्रण—पात्रो के चरित्र एक विशेष ढाँचे मे ढले हुए परम्परागत हैं। इनके चित्रण मे महाकाव्योचित समग्रता नही। केवल प्रेम-सम्बन्धी प्रसगो को ही प्रमुखत चित्रित किया गया है। चरित्र चित्रण एक निश्चित एव पूर्व-निर्धारित योजना को लेकर चलता है। कही तो कथित पात्रो को ऐतिहासिक परिवेश दे दिया गया है और कही-कही ऐतिहासिक पात्र भी कल्पित-से प्रतीत होने लगते है। पात्रो मे मनुष्य तो हैं ही, पशु-पक्षी, पेड-पौधे, परियाँ, वनस्पतियाँ, देवता और जिन्नात आदि भी है। नायक-नायिका प्राय सामन्ती सस्कृति से

सम्बद्ध हैं, अत सामान्य मनुष्यो की स्थितियो का चित्रण इस धारा के काव्यो में नहीं मिलता। पात्रो के चरित्र-चित्रण मे विविधता न होकर बद्धमूल परम्परा का पालन ही हुआ है। केवल प्रेम-तत्त्व की दृष्टि से ही पात्रो के चरित्र-चित्रण को सफल कहा जा सकता है।

५. नारी के प्रति दृष्टिकोण—प्रेमाख्यानक काव्यो मे नारी पात्रो के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण स्पष्टत: दिखाई देता है। इसका कारण स्पष्ट है कि कथानक-योजना द्वारा सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से नारी की कल्पना परमात्मा के रूप मे की गई है। यह प्रेम-साधना का प्रमुख साध्य है। यह मात्र भोग्या नहीं है। यह तो समूची साधना की चरम परिणति है। अत अलौकिक गुणो एव सौन्दर्य से सम्पन्न है। प्रधानत नायिका नारियाँ स्वकीया ही होती है। नायक के साथ इनका विवाह के माध्यम से मिलन वास्तव मे साधक का साध्य के साथ अर्थात् आत्मा (नायक) का परमात्मा (नारी) के साथ ही मिलन है। इसी दृष्टि से इन काव्यो मे नारी-पात्रो का चित्रण हुआ है।

६. लोक-संस्कृति का चित्रण—इस धारा के कवियो का दृष्टिकोण समन्वयवादी था। अत: हिन्दू-कहानियाँ अपनाकर इन्होंने अपने काव्यो मे लोक-जीवन और सस्कृति की झाँकियाँ प्रस्तुत करने का भी अनवरत प्रयास किया है। जन-जीवन मे अनेक प्रकार की अन्ध रूढियो का प्रचलन था। इनके चित्रण के साथ-साथ लोक-व्यवहार, लोकोत्सव, तीर्थ, व्रत, मत्र-तत्र, जादू-टोने, उत्सव, विवाह, आचार-विचार, रहन-सहन आदि सभीकी एक स्पष्ट झाँकी प्रेम-काव्यो मे मिल जाती है। जीवन के सभी पक्ष यहाँ उजागर हैं। भारतीय व्यवहार-जगत् से सम्बन्धित विविध शास्त्रो और शास्त्रीय दृष्टियो का परिचय भी इनमे मिल जाता है। सक्षेप मे, कहा जा सकता है कि ज्ञानमार्गी सन्तो ने जहाँ लोक-मान्यताओ पर तीखे व्यग्य कर उनकी निरर्थकता प्रमाणित की, वहाँ प्रेममार्गी कवियो ने उसका यथातथ्य वर्णन मात्र करके छोड दिया। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनमे खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति नहीं थी। सभी चित्रणो द्वारा प्रेम-तत्त्व को सामने लाना, उनके लोक-सम्बद्ध सास्कृतिक रूप को प्रदर्शित करना ही इनका लक्ष्य था। यही देखकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा था—"प्रेम-

स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियो ने हिन्दू और मुसलमान दोनो को मनुष्य के सामान्य रूप मे दिखाया और भेद-भाव के दृश्यो को हटाकर पीछे कर दिया।" स्पष्टत इस दृष्टि से भी प्रेममार्गी कवि समन्वयवादी ही थे।

७ प्रतीक-योजना—यदि प्रेमाख्यानक काव्यो की समूची योजना को प्रतीकात्मक कह दिया जाय, तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी । प्रतीक-योजना मे ये सफल हुए या नही, यह अलग प्रश्न है, परन्तु इतना निश्चित है कि इन्होंने लौकिक प्रेम-कहानियो को अलौकिक प्रेम-सत्ता की अभिव्यक्ति के लिए ही अपनाया। इनका उद्देश्य नायक-नायिकाओ के प्रेम के माध्यम से आत्मा-परमात्मा के प्रेम को रूप-आकार प्रदान करना ही था। अत इनके लिए सकेतो या प्रतीको का प्रयोग अपरिहार्य था। इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनकी कविताओ मे भावात्मक रहस्यवाद के दर्शन करते है। केवल निजधरी कथाओ के नायक-नायिका ही नही, अन्य सभी प्रकार के पात्र भी प्राय प्रतीक ही है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त उपमान भी प्रतीक है और ये जीवन के आसपास से ही अधिक लिये गये हैं। वैसे इन काव्यो मे अलौकिक प्रतीको की भी कमी नही है और लौकिक प्रतीको को अलौकिक भी बना दिया गया है।

८ भाषा—सभी प्रेम-काव्य अपने क्षेत्र की लोकभाषा मे ही रचे गये हैं। मुख्यत वह भाषा अवधी है। इस पर अन्य क्षेत्रीय बोलियो का भी प्रभाव है। भाषा मुहावरेदार और भावाभिव्यक्ति मे सक्षम है। तद्भव शब्दो का अधिक प्रयोग प्राय सभीने किया है। अत भाषा की दृष्टि से समूचा प्रेमाख्यानक काव्य अत्यधिक स्वाभाविक है।

९ छन्द अलकार—प्रेम-काव्यो मे मुख्यत दोहा और चौपाई को ही अपनाया गया है। कही-कही दोहे के समान ही अन्य छोटे अरिल्ल आदि छन्दो के प्रयोग भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त सोरठा, बरवै, सवैया आदि छन्दो का प्रयोग भी मिलता है। फारसी की बैंद-प्रणाली भी मुक्तक काव्यो मे देखी जा सकती है।

अलकार-विधान की दृष्टि से समासोक्ति और अन्योक्ति का निर्वाह प्रेम-काव्यो मे सर्वाधिक स्पष्टता के साथ हुआ है। साम्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलकार भी खूब प्रयुक्त हुए हैं। सामान्यतया कहा जा सकता है कि छन्द

अलंकार की दृष्टि से प्रेम-काव्य परम्परा मे बँधे हुए ही अधिक हैं। उन पर फ़ारसी मसनवी-शैली का प्रभाव भी है।

१० प्रभाव—प्रेम-काव्यो मे प्रेम-तत्त्व सहज-ग्राह्य तत्त्व है। दूसरे लोक-पक्ष का चित्रण भी इनमे पर्याप्त हुआ है। फलस्वरूप इसका प्रभाव भी व्यापक हुआ। इनमे लोकभावनाओ के अनुरूप अलौकिक तत्त्व भी पाये जाते हैं। फलत इन काव्यो से लोक-रंजन और लोक-मगल दोनो का एक साथ विधान हो सका। इनकी प्रभविष्णुता का यह भी एक मुख्य कारण है। १६वी शताब्दी तक प्रेम-काव्यो का प्रभाव अबाध रूप से भारतीय जन-मानस पर छाया रहा। परन्तु आगे चलकर यह प्रभाव क्रमश क्षीण होता गया। फिर भी यत्किंचित् प्रभाव, विशेषत प्रेम-तत्त्व का प्रभाव बाद के काव्यो मे और आज तक भी देखा जा सकता है।

प्रमुख मुस्लिम प्रेमाख्यानक कवि : जीवन और साहित्य

मलिक मुहम्मद जायसी

प्रेम की पीर के जिस मूल तत्त्व को लेकर प्रेमाश्रयी शाखा या प्रेममार्गी काव्यधारा का आरम्भ हुआ था, मलिक मुहम्मद जायसी इस धारा के प्रमुख और प्रतिनिधि कवि हैं। क्योकि इस धारा का सैद्धान्तिक और साहित्यिक स्वरूप सर्वाधिक जायसी की काव्य-रचनाओ मे ही प्रस्फुटित हुआ है, अत सभी इतिहास-कार इनके महत्त्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। दूसरे, जायसी ने ही इस धारा को सर्वाधिक व्यापक भी बनाया था और मानवीय तत्त्वो का सहज समावेश भी हमे सर्वाधिक इन्हीके काव्यो मे देखने को मिलता है। भाव और कला सभी दृष्टियो से जायसी भक्तिकाल की समन्वय-साधना करने वाले कवियो की पंक्ति मे प्रमुख स्थान रखते हैं।

जीवन—'प्रेम के पीर' के इस अमर साधक और गायक का जीवन भी अनेक प्रकार के विवादो से पूर्ण है। इनके जन्म-सम्वत् को लेकर तो अनेक प्रकार के प्रबल मतभेद पाये जाते हैं। जायसी की एक रचना 'आखिरी कलाम' के अनुसार—

भा अवतार मोर नौ सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी ।।

इनका जन्म हिजरी सन् की नवी शती मे हुआ था और तीस वर्ष की आयु मे इन्होने 'आखिरी कलाम' नामक काव्य लिखा था। इस दृष्टि से ६०६ हिजरी को इनका जन्म माना जा सकता है। इसी मत को अधिकाश विद्वान् मान्यता प्रदान करते है। इस दृष्टि से सन् १४६८ मे जायसी का जन्म हुआ। इनकी निधन-तिथि सन् १५४२ मे स्वीकार की जाती है।

इनका जन्म तत्कालीन अवध प्रान्त और आज के जिला रायबरेली मे स्थित जायस नमक स्थान पर हुआ था। इसी स्थान के नाम पर इनका नाम 'जायसी' प्रसिद्ध हो गया। आचार्य शुक्ल जैसे विद्वानो ने इसी मत का प्रतिपादन किया है। इनके पिता का नाम मलिक राजे या मलिक शेख ममरेज माना जाता है। शैशव के सुकुमार क्षणो मे ही माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। परिणामत यह छोटी अवस्था मे ही विभिन्न जातियो के साधु-सन्तो के सम्पर्क मे आकर आध्यात्मिक प्रभाव ग्रहण करने लगे। कहा जाता है कि चेचक का शिकार हो जाने के कारण इनका कृष्णवर्ण चेहरा और भी कुरूप हो गया था। एक नेत्र और कान भी जाता रहा था। इनकी कुरूपता का एक बार शेरशाह ने उपहास उडाना चाहा, तो इन्होने बडी नम्रता से कहा—'मोहि हँसेसि कै कोहरहि" अर्थात् मेरा उपहास करते हो कि मुझे बनाने वाले कुम्हार (विधाता या ईश्वर) का? इससे शेरशाह अत्यधिक प्रभावित हुआ और गुरु के समान इनका आदर करने लगा।

अमेठी के शासक रामसिंह के दरबार मे जायसी का सम्मान गुरु के समान ही था। इनके गुरु के सम्बन्ध मे मतभेद पाया जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें शेख बुरहान का शिष्य माना है जबकि अन्य विद्वान् इन्हे शेख मोहिदी का शिष्य स्वीकार करते हैं। जायसी ने स्वय सैय्यद अशरफ को अपना पीर मानते हुए लिखा है

सैय्यद अशरफ पीर हमारा।
जेहि मोहि पथ दीन्ह उजियारा।।

जायसी के सम्बन्ध मे अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ और बातें प्रचलित हैं।

कहा जाता है कि इनका विवाह हुआ था और अनेक सन्ताने भी थी। पर एक बार तूफान आने के कारण घर की छत गिर पडी और पूरा परिवार नष्ट हो गया, जिस कारण इनकी वैराग्य भावना और भी पुष्ट हो गई। ऐसा कहा जाता है कि जायसी अपनी योग-विद्या से अपना रूप तक परिवर्तन कर लिया करते थे। एक बार शेर का रूप धारण करके अमेठी के पास वन मे घूम रहे थे कि किसी शिकारी ने धोखे मे बाण चलाकर इनका वध कर डाला। कैसे भी मरे हो, पर इतना निश्चित है कि इनकी मृत्यु अमेठी मे ही हुई थी, क्योंकि वहाँ अमेठी-नरेश द्वारा बनवाई गई इनकी समाधि आज भी विद्यमान है।

कुरूप होते हुए भी जायसी का मन अत्यधिक सुन्दर और सौंदर्य-प्रेमी था। हृदय के अत्यधिक उदार थे, अनेक शास्त्रो और विद्याओ के ज्ञाता थे। इन्होने प्राय. सभी प्रचलित मतो के अच्छे सिद्धान्तो को अपनाकर अपनी सब प्रकार की साधनाओ को महत्त्व दिया है। इनके जीवन मे किसी प्रकार की जातीय, धार्मिक या साम्प्रदायिक सकीर्णता नही थी। इनके काव्यो मे सब प्रकार के प्रभावो के दर्शन हमे स्पष्ट रूप से होते हैं।

साहित्य-सर्जना—अनेक विद्वान् जायसी प्रणीत रचनाओ की सख्या इक्कीस तक मानते हैं। किन्तु इनकी उपलब्ध रचनाएँ मुख्यत तीन ही हैं। एक चौथी रचना भी ऐसी उपलब्ध हुई है, जिसे जायसी द्वारा विरचित माना जाता है। इस प्रकार उपलब्ध चार रचनाओ के नाम हैं—पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम और चित्ररेखा या चित्रावत। इनमें से साहित्यिक दृष्टि से 'पद्मावत' का महत्त्व ही मान्य है, चित्ररेखा या चित्रावत अभी तक सन्दिग्ध रचना होने के कारण अपना उचित साहित्यिक मूल्याकन प्राप्त नही कर सकी। शेष दो रचनाओ का साम्प्रदायिक और सैद्धान्तिक महत्त्व ही विशेष है।

'आखिरी कलाम' नामक रचना में जायसी ने सृष्टि के अन्त के बाद आत्मा की स्थिति और इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद साहब के महत्त्व का प्रकाशन साम्प्रदायिक सिद्धान्तो की दृष्टि से किया है। यह इनकी सर्वप्रथम रचना मानी जाती है। इनका सैद्धान्तिक महत्त्व भी है। 'अखरावट' में ईश्वर, जीव, ब्रह्म, सृष्टि की सरचना, गुरु, धर्म पर आचरण आदि विषयो का सागोपाग सैद्धान्तिक

वाना चाहिए। इन्होने प्रेम-विरह की तीव्र अनुभूतियो का सहज वर्णन किया है। प्रेम की इस तीव्रता के वाद ही इनके काव्य मे शाश्वत आनन्द की सृष्टि होती है।

जायसी ने भावात्मक रहस्यवाद के साथ-साथ साधनात्मक रहस्यवाद का भी स्पष्ट वर्णन किया है। नौ पौरियो और दसवे द्वार का वर्णन इसी प्रकार का है —

नौ पौरी अरु दसवें द्वारा।
तहाँ बाज राज घरियारा॥

इतना सब होते हुए भी 'पद्मावत' रहस्यवादी काव्य न होकर विशुद्ध प्रेम-काव्य ही है।

पद्मावत का लोक-पक्ष भी अत्यन्त प्रभावशाली है। जायसी ने निश्चय ही हिन्दू-हृदय और मुसलमान-हृदय को सामने रखकर उसमे समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। इनकी प्रेम-कहानी मे लोक-जीवन और लौकिक प्रेम के सभी पक्षो को पूर्णत रूप और आकार प्राप्त हुआ है। जन या लोक-जीवन से सम्बन्धित सभी प्रकार की झाँकियाँ इनके काव्य मे मिल जाती है। उनमे एक ओर लोक-जीवन को रूढ़ियो मे बँधा भी देखा जा सकता है और दूसरी ओर उत्सव-रीति-नीतियो मे हँसता-मुस्कराता भी। हिन्दू-कथा मे हिन्दू परम्पराओ का सजीव चित्रण करके इन्होने लोक मगल के भाव को ही प्रश्रय दिया है। कबीर के समान जायसी की वाणी भर्त्सनामयी तो नही, पर भावात्मक एकता स्थापित करने मे निश्चय ही अत्यधिक प्रभावशाली प्रमाणित हुई।

भाषा-शैली—जायसी ने अपने काव्यो मे लोकप्रचलित अवधी भाषा का प्रयोग किया है। भाषायी प्रयोगो की दृष्टि से अनेक विद्वान् जायसी को तुलसी-दास से भी अधिक सफल मानते है। फारसी का विद्वान् और मुसलमान होने के कारण भाषा और उसकी अभिव्यक्ति पर फारसीयत का कुछ प्रभाव भी देखा जा सकता है। तद्भव शब्दो और मुहावरो का प्रयोग अधिक हुआ है।

जायसी प्रबन्ध और मुक्तक दोनो काव्य-शैलियो की रचना मे सिद्धहस्त थे। 'पद्मावत' एक सफल प्रबध काव्य है, जबकि 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' मुक्तक रचनाएँ है। 'पद्मावत' की रचना पूर्ववर्ती चरित-काव्यो के समान यद्यपि

दोहा-चौपाई मे ही हुई है, फिर भी इस पर फारसी की 'ममनवी' का भी पर्याप्त प्रभाव है। जायसी का प्रकृति-चित्रण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब प्रतिक्षण देखा जा सकता है। ऋतु-वर्णन, नख-शिख सौन्दर्य-चित्रण बारहमासा आदि भी काफी प्रभावी हैं। इतिवृत्त-वर्णन की प्रधानता होते हुए भी शैली मे सरसता है। हाँ, जहाँ वे वस्तु-वर्णन की गणना-पद्धति को अपनाते हैं, वहाँ अवश्य ऊब-सी होने लगती है।

शृगार रस की प्रधानता होते हुए भी जायसी के पद्मावत मे करुण, वीर, वीभत्स, रौद्र आदि रसो का समुचित परिपाक हुआ है। वर्णन-प्रधान काव्य होने के कारण वर्णनात्मकता की सर्वत्र प्रधानता है। प्रकृति-चित्रण बाह्य ही अधिक है। मानव की अन्त प्रवृत्तियो और प्रकृति के निरीक्षण मे भी जायसी को विशेष सफल नही कहा जा सकता। चरित्र-चित्रण मे एकागीपन है, अनेकरूपता नहीं, इस दृष्टि से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत विशेष दर्शनीय है। ये कहते हैं—"मनोभावो का चित्रण तो ये बडी कुशलता से कर लेते हैं, किन्तु विभिन्न परिस्थितियो मे पात्रो का व्यक्तित्व और विलक्षणता प्रगट करने मे वे सफल नही हो सके हैं। इनका आदर्श-चित्रण एकागी है।"

छन्द-अलकारो के प्रयोग की दृष्टि से जायसी परम्पराओ का पालन करने वाले ही हैं। इन्होने दोहा-चौपाई छन्द को ही प्रमुखत. अपनाया है। अलकारो मे साम्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा स्वभावोक्ति, अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति आदि अलकारो का अधिक प्रयोग किया है। ये उपमानो का नव्य प्रयोग करने मे विशेष सिद्धहस्त थे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अनेक दोषो के रहते हुए भी जायसी विशेष सिद्धहस्त कवि थे। सास्कृतिक दृष्टि से भी इनके ज्ञान की अपूर्णता खोजी जा सकती है, पर जहाँ तक कवित्व और समन्वय का प्रश्न है, जायसी निश्चय ही अजोड कवि हैं। हिन्दी-साहित्य उनका चिर ऋणी है।

शेख कुतुबन

प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा मे शेख कुतुबन का स्थान जायसी के बाद

अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इनका रचना-काल १६वी शताब्दी है। इनके आश्रयदाता का नाम हुसैनशाह है। इन्होने इसकी चर्चा अपने काव्य मे इस प्रकार की है :—

साह हुसेन आह बड राजा।
छत्र-सिहासन उनको छाजा॥
पण्डित औ बुधवन्त सयाना।
पढे पुरान अरथ सब जाना॥

सम्प्रदाय की दृष्टि से कुतुबन चिश्ती-सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। चिश्ती-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध सन्त शेख बुरहान इनके गुरु थे। इनकी एक ही रचना उपलब्ध है और उसका नाम है—मृगावती। कथानक लोक-कथाओ पर आधारित कल्पित है। कवि ने प्रेम-तत्त्व के प्रतिपादन के लिए ही इसकी सर्जना की थी। कथानक का नायक चन्द्रगिरि का एक राजकुमार है, जबकि नायिका मृगावती कचन नगरी की राजकुमारी है। वास्तव मे ये समस्त नाम प्रतीक ही है। नायिका उडने की विद्या मे कुशल है। यह अपने प्रेमी तक को धोखा दे सकती है। राज्य-सचालन मे भी वह कुशल चित्रित की गई है। कौतूहल का ध्यान सर्वत्र रखा गया है। अपने पूर्ववर्तियो की तुलना मे कवि काव्य-शैली को सजीव बनाये रखने मे अपर्याप्त सावधान रहा है।

'मृगावती' काव्य की भाषा ठेठ अवधी है। इसकी भाषा पर आचलिकता का प्रभाव भी है। वर्णनो मे सरसता और सजीवता के तत्त्व पूर्णतया रक्षित हैं। चरित-काव्यो के समान इसमे भी मसनवी प्रभावित दोहा-चौपाई की शैली को अपनाया गया है। शैली मे सजीवता है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति बनारस के हरिश्चन्द्र पुस्तकालय मे सुरक्षित थी, किन्तु आज वह उपलब्ध नही है। प्रेम साधना और प्रेम-मार्ग के सिद्धान्तो के अनुरूप कुतुबन की यह रचना काफी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

मझन

मझन मलिक मुहम्मद जायसी के पूर्ववर्ती सूफी साधक और कवि थे। जायसी ने अपने 'पद्मावत' मे मझन और इनकी एकमात्र रचना 'मधुमालती' का नामो-

ल्लेख किया है। इससे कवि और उसकी कृति का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। मंझन् कुतुबन के समकालीन ही थे और इनकी रचना तथा अस्तित्व काल भी १६वी शताब्दी ही था। कुछ विद्वानो मे इनके रचना-काल के सम्बन्ध मे मतभेद रहते हुए भी इनकी प्रसिद्धि और लोकप्रियता असन्दिग्ध है, क्योकि जायसी के अतिरिक्त अन्य अनेक कवियो ने भी इनकी चर्चा अपने काव्यो मे की है। 'बगला साहित्येतर इतिहास' मे तो इनका उल्लेख हुआ ही है, जैन-कवि बनारसीदास ने भी अपनी सर्जना 'अर्द्ध कथानक' मे इनका उल्लेख किया है। बाद के एक नुसरती नामक कवि ने अपनी रचना 'गुलशने-इश्क' का आधार मझन की कृति को ही बनाया था। अत मझन की लोकप्रियता स्पष्ट है।

'मधुमालती' मझन की एकमात्र प्राप्त रचना है। इसके नायक-नायिका राज-परिवार से सम्बन्धित है। दोनो के प्रेम-सम्बन्धो की स्थापना मे परियो के सहयोग की लोक-प्रचलित कल्पना की गई है। नायक राजकुमार का नाम है—मनोहर। परियाँ रातो-रात उसे राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी मे पहुँचा कर लौटा भी जाती है। जब राजकुमारी की माँ को इस बात का पता चलता है तो वह उसे शाप देकर चिडिया बना देती है। राजकुमार मनोहर वियोग मे जोगी बन जाता है। विचित्र सयोगो के बाद शाप का प्रभाव नष्ट होकर नायक-नायिका का मिलन हो जाता है, जो कि प्रेम-काव्य का पूर्व-निर्धारित लक्ष्य है। बीच-बीच मे कवि ने बडी कुशलता से आध्यात्मिक सकेतो की योजना की है। कवि जायसी की अपेक्षा कुतुबन से अधिक प्रभावित प्रतीत होता है।

कथावस्तु और उसका विकास सभी-कुछ लोक-कथाओ के ढग पर हुआ है। भाषा-शैली मे सजीवता और सरसता है। पाँच चौपाइयो के बाद एक दोहा रखा गया है। कवि ने भावाभिव्यक्ति के लिए प्रकृति-चित्रण का सहारा लिया है। प्रकृति-चित्रण मे पर्याप्त सजीवता है। प्रेम की महत्ता की रक्षा के साथ-साथ वियोग शृगार के वर्णन मे कवि को काफी सफलता मिली है। इन्ही सब कारणो से प्रेम-काव्य-धारा मे मझन और उसकी रचना 'मधुमालती' का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। भाषा लोक-प्रचलित अवधी ही है।

उसमान

उसमान जाति के शेख थे। इनका रचना-काल मुगल शहशाह जहाँगीर का युग माना जाता है। इनके गुरु का नाम हाजी बाबा प्रसिद्ध है । उसमान की एक-मात्र उपलब्ध रचना का नाम 'चित्रावली' है

'चित्रावली' मे कवि उसमान ने घटनाओ के विस्तार और व्यापकता की ओर विशेष ध्यान दिया है। नायक चित्रकार है और नायिका का चित्र निहारकर अपना चित्र भी उसके साथ बना देता है। प्रथम मिलन दूत के माध्यम से एक मन्दिर मे होता है। बाद मे नायक को अनेक प्रकार के कष्ट सहने पडते हैं। इतना ही नही, नायिका को प्राप्त करने के लिए अन्य नायिका से विवाह तक करना पडता है। यहाँ फारसी प्रभाव अधिक स्पष्ट है। अन्त मे नायक-नायिका का मिलन हो जाता है। इस पर 'पद्मावत' का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

प्रमुखत प्रेम-काव्य होते हुए भी 'चित्रावली' मे सूफी-सिद्धान्तो के विवेचन का सफल प्रयास हुआ है। कथावस्तु लोक-कथाओ पर आधारित है। 'चित्रावली' का काव्यकार उसमान अनेक विषयो का विद्वान् था। भूगोल के प्रति भी इसकी सुरुचि-सम्पन्नता का पता चलता है। रचना मे आध्यात्मिक सकेत भी यथेष्ट हैं। चित्रावली मे वर्णित जोगी अग्रेजो के सम्पर्क मे भी आते हैं। इससे स्पष्ट है कि इसके रचना-काल मे अग्रेज भारत मे आने लगे थे। 'पद्मावत' के प्रभावो से रचित 'चित्रावली' सूफी-काव्य-धारा की एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

अन्य प्रेममार्गी कवि

उपरिवर्णित कवियो के अतिरिक्त कुछ अन्य नाम भी मिलते हैं। उनमे से प्रमुख का सक्षेप मे विवरण इस प्रकार है —

मुल्ला दाऊद ने चौदहवी शती के उत्तरार्द्ध से लेकर पद्रहवीं शताब्दी के अन्त तक किसी काल मे 'चन्दायन' या 'नूरक चन्दा' नामक एक प्रेम-काव्य रचा था। इसमे घटनाओ और प्रेम-सिद्धान्तो के प्रतिपादन की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

मुल्ला दाऊद के बाद 'रजन' नामक सूफी कवि का उल्लेख मिलता है। इसकी रचना 'प्रेमवन-जीवन' मानी जाती है। सम्भवतः जायसी ने अपने पद्मावत में 'प्रेमावती' नाम से इसी रचना का उल्लेख किया है।

आगे चलकर जलालुद्दीन नामक किसी कवि द्वारा रचित 'जमाल पचीसी' नामक एक हस्तलिखित रचना मिलती है। कवित्व की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं।

कवि जान द्वारा रचित 'रत्नावती' नामक रचना का उल्लेख भी मिलता है। इसी कवि की कुछ भारतीय और अभारतीय अन्य रचनाएँ भी मिलती हैं।

पूर्णतया भारतीय प्रेम-परम्परा का पालन करते हुए 'शेख नबी' नामक कवि ने 'ज्ञानदीप' नामक काव्य रचा। इसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवयानी की प्रेमकथा का वर्णन है। कहीं-कहीं सामी प्रभाव भी देखा जा सकता है।

कासिमशाह 'हंसजवाहिर', नूरमुहम्मद की 'अनुराग बाँसुरी' आदि भी इसी परम्परा की रचनाएँ हैं। इस धारा की अन्तिम रचनाएँ हैं—सन् १९०५ में ख्वाजा अहमद द्वारा विरचित 'नूरजहाँ', सन् १९१५ में शेख रहीम द्वारा रचित 'भाषा या प्रेम रस' और सन् १९१७ ई० में कवि नसीर द्वारा विरचित 'प्रेम दर्पण'।

प्रमुख हिन्दू प्रेमाख्यानक कवि : जीवन और साहित्य

दामो या दामोदर—इनका रचना-काल सम्वत् १५१६ वि० (सन् १४५९ ई०) अन्तःसाक्ष्य से ही प्रमाणित हो जाता है। इनके जन्म और जीवन के सम्बन्ध में अन्य कोई भी महत्त्वपूर्ण तथ्य आज तक उपलब्ध नहीं है। इनकी रचना का नाम है—लखमनसेन पद्मावती कथा। कवि ने निजी तौर पर अपनी इस रचना को 'वीर कथा' कहकर सम्बोधित किया है, किन्तु इसके अध्ययन से यह प्रेमाख्यानक काव्य ही प्रमाणित होता है। कवि ने इसमें राजा लक्ष्मणसेन और राजकुमारी पद्मावती के रोमांचक प्रेम का ही वर्णन किया है। कवि ने इस परम्परा के काव्यों की समस्त रूढ़ियों का पालन किया है। जैसे प्रथम दर्शन में ही नायक-नायिका का प्रेम, उसके बाद नायक का नायिका को प्राप्त करने के लिए

घर से निकल पडना, योगी-वेश धारण करना, नायिका के पिता के साथ सघर्ष, अन्त मे नायक की सफलता। कवि ने आरम्भ मे आत्म-परिचय के साथ-साथ मगलाचरण, रचना-काल और उसके उद्देश्य पर भी प्रकाश डाला है।

काव्य-शैली की दृष्टि से कवि ने चौपाइयो के बीच मे दोहा, सोरठा तथा अन्य कई छन्दो का प्रयोग भी किया है। नीति-वाक्य और सस्कृत के श्लोको के उदाहरण भी मिलते हैं। सौन्दर्य और प्रेम का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है। काव्य की भाषा राजस्थानी है।

ईश्वरदास—कवि ईश्वरदास का रचना-काल सम्वत् १५५८ वि० (सन् १५०१ ई०) है। इनकी उपलब्ध रचना का नाम है—सत्यवती कथा। यद्यपि इसका वर्ण्य विषय नारी या नायिका के सतीत्व की विशेषताओ को प्रकाशित करना ही प्रमुख रूप से प्रतीत होता है, फिर भी उसमे प्रेमाख्यानात्मक कथा-काव्यो की सभी प्रवृत्तियाँ और गुण देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार के काव्यो की परम्परा का पालन करते हुए कवि ने इसमे अपना परिचय देने के साथ-साथ रचना-काल का भी उल्लेख किया है। उस समय के राजा की चर्चा भी की है। उसमे राजकुमारी सत्यवती और राजकुमार रितुपर्ण के प्रेम-प्रसग का वर्णन किया गया है। प्रेम प्रथम दृष्टियो मे ही हो जाता है, फिर भी पहले नायक को नायिका के शाप से कोढी हो जाना पडता है। अन्त मे शाप से मुक्ति और नायिका से विवाह का चित्रण किया गया है। कवि ने दोहा-चौपाई शैली को ही अपनाया है और इसकी भाषा भी अन्य प्रसिद्ध काव्यो के समान अवधी ही है।

गणपति—इनके पिता का नाम नरसा था। इनका रचना-काल सम्वत् १५८४ वि० (सन् १५२७ ई०) माना जाता है। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना का नाम 'माधवानल-कामकन्दला' है। इसका कथा-नायक माधव कामकदला नामक नर्तकी की नृत्य-कला पर विमोहित होकर उससे प्रेम करने लगता है। अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ सहने के बाद अन्त मे नायक-नायिका का मिलन हो जाता है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि अनेक परवर्ती कवियो ने भी इसी विषय को लेकर अपने काव्य रचे।

कवि ने नायक-नायिका के प्रेम-सौन्दर्य के वर्णन में पर्याप्त अतिशयोक्ति का आश्रय लिया है। काव्य के आरम्भ में कवि ने पहले कामदेव की स्तुति की है और तत्पश्चात् अपना परिचय दिया है। सारी रचना केवल दोहों में ही रची गई है—यह बात इसे इस परम्परा के अन्य काव्यों में स्पष्टत. अलग कर देती है। इस परम्परा की अन्य प्रवृत्तियों और रूढियों का उसमें सम्यग्-रूपेण पालन हुआ है। विद्वान् काव्यत्व की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व स्वीकार करते हैं। कवि ने इसमें सौन्दर्य, प्रेम, साहस आदि के वर्णनों के साथ-साथ धार्मिक तत्त्वों एव नैतिकताओं के उपदेश भी दिये हैं। डॉ० हरिकान्त ने इसकी भाषा को अपभ्रंश माना है, जबकि डॉ० गणपतिचन्द्र ने सोदाहरण इसकी भाषा को राजस्थानी प्रमाणित किया है। सक्षेपत. वस्तु-योजना और विकास आदि की दृष्टि से इसे समस्त हिन्दू-कवियों की रचनाओं में श्रेष्ठ माना जाता है।

पुहुकर—इनका रचना-काल सम्वत् १६७५ वि० (सन् १६१८ ई०) माना गया है। इनके पिता का नाम मोहनदास था, जो कायस्थ समाज के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। इनके पितामह श्री दुर्गादास अकबर के दरबार में रहते थे। इस प्रकार अपनी एकमात्र उपलब्ध रचना 'रस-रतन' में ही कवि ने अपने वंश आदि का परिचय दे दिया है। कवि पुहुकर भारतीय छन्द-शास्त्र से तो भली भाँति परिचित था ही, इसने फारसी काव्य का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। अत: कवि ने अपनी रचना में सभी प्रकार के नियमों, प्रवृत्तियों और परम्पराओं का पूर्ण निर्वाह किया है।

इनकी रचना 'रस-रतन' का वर्ण्य विषय राजकुमार सोम और राजकुमारी रभा का प्रेम-वर्णन करना है। यहाँ प्रेम के लिए स्वप्न-दर्शन की रूढि को अपनाया गया है। तोते द्वारा प्रेम-सन्देश पहुँचाना, मन्दिर में मिलन आदि परम्पराओं का भी कवि ने पालन किया है। कवि ने नारी-सौन्दर्य, सभोग-चेष्टाओं, विरह-वर्णन आदि में अपनी पूर्ण कुशलता का परिचय दिया है। कवि ने काव्य-रीतियों के निर्वाह में भी ढिलाई नहीं दिखाई। इनके वर्णन का एक उदाहरण देखें .—

"नैन लाग उर श्वास घटि, मदन दुर्गे तन माँहि।
दुर्गति नारि नाहीं करै, सकल छुड़ावति बाँहि॥

स्पष्ट है कि काव्य की भाषा अवधी है। भाषा मे सरलता और अभिव्यक्ति की कुशलता भी देखी जा सकती है। कवि ने दोहा-चौपाई शैली को ही अपनाया है। शास्त्रीय दृष्टियो के पालन की दृष्टि से यह काव्य विशेष महत्त्वपूर्ण है।

इन प्रमुख हिन्दू-प्रेमाख्यानक कवियो के अतिरिक्त कवि दुखहरणदास की 'पुहुपावती', दामोदर द्वारा विरचित 'माधवानल', बोधा-रचित 'माधवानल-कामकन्दला' और चतुर्भुजदास रचित 'मधु मालती' के साथ-साथ कवि सेवाराम रचित 'नल दमयन्ती चरित्र' आदि रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु भक्ति-काल की सीमा का अतिक्रमण हो जाने के कारण उनका यहाँ केवल नामोल्लेख ही किया गया है। अष्टछाप के कवि नन्ददास की 'रूपमजरी' नामक रचना को भी इसी परम्परा मे रखा जा सकता है। कवि नारायणदास की 'छिताइ वार्ता' (स० १६४७ वि०), नरपति व्यास की रचना 'नलदम्यन्ति' (स० १६८२ वि०), सूरदास लखनवी विरचित 'नल दमन' (स० १७१४ वि०) आदि भी इसी परम्परा के काव्य हैं।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि यह प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा १४वीं शताब्दी से लेकर बीसवी शताब्दी तक अनवरत प्रचलित रही है। परन्तु धीरे-धीरे इसका महत्त्व घटता ही गया है। हिन्दू-मुस्लिम दोनो प्रकार के कवियो ने इस परम्परा के विकास मे सराहनीय योगदान किया है।

सगुण भक्ति-काव्य शाखाएँ, मान्यताएँ, विशेषताएँ

इस देश मे भक्ति के लिए निर्गुण और सगुण दो रूप अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित हैं। सस्कृत भाषा मे इन दोनो धाराओ पर पर्याप्त साहित्य रचा गया। सम्वत् १३७५ से हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे जो भक्ति-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, इसके विकास मे निर्गुण भक्ति धारा से भी बढकर सगुण भक्ति धारा का महत्त्व माना जाता है। निर्गुणवादी साधक सन्त कहलाये, जबकि सगुणोपासक साधक भक्त कहलाये।

[मू]ल आधार—सगुण भक्ति धारा के विकास का मूल आधार यह मान्यता

है कि निराकार ब्रह्म जो सर्वव्यापक तत्त्व और समूची ससृति का मूल कारण है, वह ससार मे व्याप्त अनाचारो और अत्याचारियो का नाश करने तथा महान् आदर्शों की स्थापना के लिए अपनी माया-शक्ति से ससार मे रूप एव आकार ग्रहण करता है। वह अवतार लेता है। वह अमूर्त से मूर्त होकर विभिन्न रूपो मे अवतरित होकर समय और स्थिति के अनुकूल ही महान् आदर्शो की रक्षा और स्थापना करता है। ब्रह्म का मूर्त रूप ही अवतार है, क्योकि तब वह भी सासारिक गुणो (तत्त्वो) मे बँधकर कार्य करता है, अत वह निर्गुण होने के साथ-साथ सगुण भी है। निर्गुणवाद का खण्डन करना सगुणवादियो का लक्ष्य नही था। इनकी मान्यता बस यही है कि जिस प्रकार अमूर्त ब्रह्म अपनी माया-शक्ति से अमूर्त ससृति को मूर्त रूप प्रदान करता है, उसी प्रकार वह अपनी सत्-चित् सत्ता का भी आनन्द के लिए विस्तार करके मूर्त रूप या आकार ग्रहण करता है। मूर्त होकर वह लीला-लीला मे ही अनाचारो और अनाचारियो का नाश कर अपूर्व आनन्द, सुख-शान्ति की सृष्टि करता है। सक्षेप मे, सगुण भक्तिधारा और कवियो का मूल आधार यही है।

शाखाएँ—निर्गुण ब्रह्म का मूर्त रूप अवतार है और अवतारवाद की भावना सगुण भक्तिधारा का मूल आधार है। अवतारवाद के मूल मे एक ओर जहाँ लोक-रजन की भावना काम कर रही थी, दूसरी ओर वहाँ लोक-मगल की भावना भी थी। दोनो भावनाएँ जीवन के सत्य, शिव और सुन्दर की रक्षा करने मे सक्षम हैं। अत. इस धारा के कुछ साधको और कवियो ने अपनी साधना-पद्धतियो मे माधुर्य भाव को प्रमुखता दी, जब कि कुछ ने मर्यादा-भाव को। इसीके आधार पर इस धारा की दो शाखाएँ हो गई। माधुर्य-भाव को प्रधानता देने वालो ने कृष्ण के लीला-बिहारी स्वरूप को अपना आधार बनाया, जबकि मर्यादावादियो ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम और लोक-रक्षक रूप को अपनी साधना-आराधना का आधार बनाया। अत राम-कृष्ण—इन दो नामो के आधार पर सगुण भक्तिधारा की निम्नलिखित दो शाखाएँ हो गई :—

१. रामभक्ति शाखा।
२. कृष्णभक्ति शाखा।

रामभक्तो ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप को अपनाकर उनके चरित्र और व्यक्तित्व मे शील, सौन्दर्य और शक्ति की प्रतिष्ठा कर इन्ही रूपो मे उनकी उपासना की। दूसरी ओर कृष्णभक्तो ने भगवान् कृष्ण के लीला-विहारी बाल-रूप को अपनी साधना का आधार बनाया। इन दोनो शाखाओ का यथास्थान विस्तृत वर्णन किया गया है।

सगुण भक्ति मान्यताएँ—सगुण भक्तिधारा का मूल स्रोत वैष्णव सम्प्रदाय और धर्म है। सगुणवादियो ने ईश्वर को साकार मानकर ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रयी मे से ईश्वर की भक्ति को ही प्रमुखता और महत्त्व दिया। इन्होंने ज्ञान की उपेक्षा न करते हुए भी भक्ति को ही श्रेष्ठ माना। ज्ञान से भी उद्धार तो सम्भव है, पर जन-सामान्य के लिए इसकी साधना सहज नही। कबीर के शब्दो मे ज्ञान 'खाण्डे की धार' है और निश्चय ही खाण्डे की धार पर प्रत्येक व्यक्ति नही चल सकता। सर्व-सामान्य के लिए तो भक्ति का सहज मार्ग ही ग्राह्य हो सकता है। सगुण-साकार रूप की उपासना करके ही सामान्य व्यक्ति भवसागर से पार उतर सकता है। यही सहज भावना सगुण भक्ति के मूल मे काम कर रही थी। दूसरे, लोग ज्ञान और योग के मार्गो की कठिनाइयाँ देख चुके थे। निर्गुण साधना-पद्धति का प्रचार कुछ दिनो तक यहाँ ज़ोरो पर रहा। इसमे रहस्यवादी यौगिक पद्धतियो की प्रबलता होने के कारण जन-सामान्य इसकी ओर आकर्षित होकर भी लाभान्वित न हो सका। उस पर इस्लाम का भी प्रभाव था। निर्गुण-वादियो के ज्ञान और प्रेम किसी धर्म या आध्यात्मिक पक्ष अथवा भक्ति का स्वरूप स्पष्ट न कर पाये। ये दोनो मार्ग आध्यात्मिकता की चेतना को तो प्रबल रूप से स्थापित कर सके, किन्तु लोक-पक्ष को स्पष्टत न उभार सके। अत जन-सामान्य इस ओर अधिक आकर्षित न हो सका। वह तो कोई ऐसा प्रत्यक्ष और व्यावहारिक आधार चाहता था, जो सहज ही उसकी अध्यात्म-भावना को आकर्षित करके सन्तोष प्रदान कर पाता। जन-सामान्य इगला-पिंगला की कठिन घाटियो मे भटकने मे न तो समर्थ था और न ऐसा चाहता ही था। अत राम और कृष्ण के लीला-विहारी रूपो ने उसे सहज ही आकर्षित कर लिया। फल-स्वरूप सगुण भक्ति का प्रचार और प्रसार ज़ोरो से होने लगा।

सगुण भक्तिधारा को अपनी पृष्ठभूमि के रूप में समृद्ध साहित्यिक परम्पराएँ प्राप्त थीं। ईसा से कई वर्ष पूर्व ही इस परम्परा का आरम्भ हो चुका था। श्रीमद्भागवत पुराण और रामायण जैसे समृद्ध साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त भगवद्गीता, विष्णुपुराण, पंचरात्र संहिताएँ, नारद भक्तिसूत्र और शाण्डिल्य भक्तिसूत्र जैसे सगुणवाद का समर्थन करने वाले ग्रन्थ इस परम्परा को आधार के रूप में प्राप्त हुए। दाक्षिणात्य आलवार भक्तों की रचनाओं ने भी सगुण-भावना को प्रोत्साहित किया। स्मृति-ग्रन्थों ने भी इस धारा को पर्याप्त प्रभाव और आश्रय प्रदान किया। फिर इस धारा को नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्क स्वामी, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य जैसे समर्थ विद्वान् और आचार्य भी प्राप्त हुए। इन सबने सबल तर्कों और प्रमाणों द्वारा सगुण भक्ति की स्रोतस्विनी को अविरल रूप से चारों ओर प्रवाहित किया। निजी अनुभूतियों और दार्शनिक तत्त्वों से इस धारा की सर्वाङ्गीणता को भी इन लोगों ने समर्थ ढंग से प्रतिपादित किया।

सगुण भक्ति का विकसित रूप सर्वप्रथम रामानुज के श्री सम्प्रदाय में देखने को मिलता है। तत्पश्चात् निम्बार्क ने विष्णु के स्थान पर भगवान् श्रीकृष्ण के महत्त्व को प्रतिष्ठापित किया। उधर रामानुज के शिष्य स्वामी रामानन्द ने दक्षिण से उत्तर भारत में आकर राम-नाम की अविरल स्रोतस्विनी प्रवाहित की और भक्ति के द्वार छोटे-बड़े सभी के लिए खोल दिए। रामानन्द ने लोक-पक्ष को सामने रखा, जबकि वल्लभाचार्य ने मधुरा भक्ति को। इन दोनों ने ही तत्कालीन जन-मानस को यथेष्ट आन्दोलित किया। फलस्वरूप निर्गुणवादियों के यौगिक कुहासे से समस्त मानव-मन राम और कृष्ण की सुखद भक्ति छाया में विश्राम लेकर वास्तविक शान्ति और आनन्द प्राप्त कर सका। सगुण भक्तों की रचनाओं की कलात्मक अभिव्यक्तियाँ उनकी अन्तरात्मा को आन्दोलित कर सन्तुष्ट कर सकीं। इन्हीं समस्त बातों को ध्यान में रखकर ही सगुण भक्तिधारा की मान्यताओं और विशेषताओं का वर्णन किया जा सकता है।

मान्यताएँ—सगुण भक्तिधारा की प्रमुख मान्यताएँ आगे लिखी हैं। प्रायः सभी इतिहासकार इन्हें इसी रूप में स्वीकार करते हैं :—

१ ईश्वर सगुण-साकार—ईश्वर को सगुण मानकर उसके साकार रूप की उपासना इस धारा की सर्वप्रमुख मान्यता है। इस मान्यता के आधार पर सगुण भगवान ही सारी सृष्टि का सर्जक, पालक और अन्त मे सहर्त्ता है। विष्णु इस भावना का आदि रूप है। अन्त मे सभी कुछ उसीमे अन्तर्हित हो जाता है। उसका पालक और उद्धर्त्ता का रूप ही इनकी साधना का मध्य विन्दु है। अमूर्त और अचल भगवान ही लीलाओ के विस्तार के लिए मूर्त और चल रूप मे प्रगट होता है। गुणातीत और अनिर्वचनीय होते हुए भी वह रूप धारण करता है। वह मानव के समान ही सुख-दु ख का अनुभव करते हुए अन्त मे अन्याय का नाश कर इन सवसे छुटकारे का आदर्श स्थापित करता है। इसी कारण यह मत जन-सामान्य मे सर्वाधिक ग्राह्य हो सका।

२ अवतारवाद की भावना—निर्गुण भगवान ही सगुण होकर अपनी मूर्त लीलाएँ करता है, अत अवतारवाद की भावना सगुण भक्तो की दूसरी प्रमुख मान्यता है। मध्यकालीन भक्त यह मानते हैं कि स्वेच्छा से वह अनन्त, असीम ब्रह्म सासारिक सीमाओ मे अवतरित होता है। गीता के विभूति एव ऐश्वर्य योगों के आधार पर ही सगुण भक्त अवतार-भावना को प्रश्रय देते है। भक्तजनो के कष्ट हरने के लिए भगवान के अवतरण की भावना भी इसके मूल मे काम करती है। जव अन्याय एव अधर्म वढ जाता है तो सासारिक जीवन को मर्यादाओ के तटवन्ध प्रदान करने के लिए सत्-चित्-आनन्द स्वरूप भगवान धरती पर प्रकट होते हैं। राम-कृष्ण उसीके रूप हैं। इनकी दृष्टि मे असीम, ससीम, सगुण और गुणातीत मे कोई सूक्ष्म अन्तर नही। सारा विश्व ही राममय या भगवानमय है।

३ लीला-रहस्य-वर्णन—प्राय सभी सगुण-भक्तो ने भगवान के लीला-विहारी स्वरूप का ही सर्वाधिक वर्णन किया है। यह अलग वात है कि कही लीलाओ मे माधुर्य का भाव प्रमुख है और कही मर्यादा का भाव। लीलाओं के द्वारा प्रदर्शित और वर्णित भावना जन-मानस को तल्लीन कर सकने की अपूर्व क्षमता रखती है। अत भक्त लोग लीला के माध्यम से, भगवान का एक अग वनकर उसका सान्निध्य प्राप्त करने पर विश्वास रखते हैं। इनकी दृष्टियो मे

अवतार लेने का मुख्य प्रयोजन ही लीला है। लीला का अर्थ केवल लीला ही है, अन्य कुछ नहीं। राम-कृष्ण दोनों जो कुछ भी करते हैं वह मात्र लीला है। वैसे वे दोनों सुख-दुःख से अतीत हैं। लीला का आयोजन सचेतन आनन्द की सृष्टि के लिए ही होता है। लीला और आनन्द दोनों ही सूक्ष्मतः अन्तः संयोजित हैं। लीलावाद में सगुण भक्ति का दर्शन और जीवन दोनों सूक्ष्मतः अन्तर्हित हैं।

४ रूप-उपासना—पुरातन ग्रन्थों में ब्रह्म को अरूप और अनाम कहा गया है। शंकराचार्य ने भी रूप और नाम को मायाजन्य ही स्वीकार किया है, किन्तु अवतारवाद और लीला-भावना को रूपोपासना के बिना प्रश्रय मिल ही नहीं सकता। अतः सगुण भक्त भगवान के नाम-रूप को ही आनन्द का मूल कारण मानते हैं। इसी कारण सगुण कवियों ने भी राम-कृष्ण के स्वरूपों और नामों का बार-बार अत्यधिक वर्णन किया है। सूर और तुलसी दोनों ने राम-कृष्ण के रूपों के अत्यन्त सजीव और मनोमुग्धकारी चित्र प्रस्तुत किए हैं। मूर्तिपूजा भी रूपोपासना का ही एक अंग है। रूप से शृंगार भावना जाग्रत होती है। मूर्तियों का शृंगार इसी भावना का द्योतक है। राम का रूप भी 'कोटि मनोज लजावनहारा' है जबकि कृष्ण तो हैं ही सौन्दर्य के सजीव अवतार। अतः नाम-रूप-वर्णन और उपासना का सगुण भक्ति में अत्यधिक महत्त्व है।

५ भक्ति के विविध स्वरूप—सगुण भक्त अनेक प्रकार से अपने आराध्य को रिझाने पर विश्वास करते हैं। इसी कारण इनकी भक्ति के अनेक रूप प्रचारित हैं। इनमें से 'नवधा-भक्ति' के नाम से प्रचलित नौ रूप अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। सभी सगुण भक्तों ने इनमें से किसी एक को प्रमुखता देते हुए भी अन्यों की आवश्यकता मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है। सूर में यदि सख्य भाव की प्रधानता है तो तुलसी में दास्य भाव की, किन्तु साथ ही अन्य भक्ति-विधाएँ भी इनके ग्रन्थों में सहज ही खोजी जा सकती हैं। प्रेम-भक्ति के महत्त्व का किसीने भी विरोध प्रकट नहीं किया। वास्तव में प्रेम ही श्रद्धा में परिणत होकर अन्त में सुदृढ भक्ति भाव के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

६ भक्ति का महत्त्व—सगुण भक्तों के लिए भक्ति का सर्वाधिक महत्त्व है।

इनका विश्वास है कि भगवान को केवल भक्ति के द्वारा ही पाया जा सकता है। ईश्वर अनन्य एव अनश्वर है, पर उसका वह रूप ज्ञान-साध्य है और ज्ञान-मार्ग पर चल पाना सहज कार्य नही है। फिर इनका विश्वास है कि ज्ञान भगवान् की दासी माया से भी पराजित हो सकता है, पर भक्ति तो भगवान की प्रेमिका है, अत अपराजेय है। वैसे तो भक्ति और ज्ञान दोनो ही सासारिक दुखो को मिटाने वाले है, पर भक्ति श्रेष्ठ है, क्योकि भगवान की साकार निकटता उसीमे पाई जा सकती है।

७ गुरु का महत्त्व—सगुण भक्तो का भी निर्गुणवादियो के समान यह अकाट्य विश्वास है कि गुरु से प्राप्त ज्ञान के बल पर ही भक्त अपनी मान्यता के अनुरूप भगवान को पहचानकर उसकी भक्ति के मार्ग पर चल सकता है। वास्तव मे ये लोग गुरु को ब्रह्म का अश और प्रतिनिधि स्वीकार करते है। ज्ञान मे इनका तात्पर्य स्वरूप-ज्ञान और साधना-पथ का ज्ञान ही है, न कि अन्तिम साध्य। इनके अनुसार ज्ञान से भक्ति प्राप्त होती है और भक्ति के बल पर भक्त भगवान का सान्निध्य पा लेता है। अत गुरु का महत्त्व स्पष्ट है।

८ प्रेम—प्रेम-तत्त्व को भी सगुणवादियो ने यथेष्ट महत्त्व दिया है। प्रेम मानव-मन की कोमलतम भावना और अनुभूति है। भगवान के स्वरूप-ज्ञान के बाद उसके प्रति क्रमश प्रेम और श्रद्धा के भाव पनपते है। अन्त मे यही भाव भक्ति का रूप धारण कर लेते है। यही कारण है कि सभी सगुण कवियो ने 'प्रेम की पीर' का सचेष्ट वर्णन किया है।

९ जातिवाद का विरोध—इन्हे भक्ति के क्षेत्र मे किसी भी प्रकार के ऊँच-नीच के भेदभाव या जातिवाद स्वीकार्य नही हैं। कर्म के क्षेत्र मे तुलसी आदि सगुणवादियो ने वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार किया है, पर जहाँ तक विशुद्ध भक्ति का प्रश्न है, सभी कुछ राममय या ब्रह्ममय है। यहाँ कोई भी किसी प्रकार की सीमा नही। सभी एक और भागवत्-स्वरूप हैं। इसी कारण तो तुलसीदास जैसे मर्यादावादी ने भी राम और निषाद को, निषाद के साथ भरत और वशिष्ठ मुनि तक को गले मिलाया है। राम भीलनी के जूठे बेर प्रेम से खाते है और कृष्ण ग्वाल-बालो के साथ छीना-झपटी करके 'छाक' का आनन्द लेते हैं। वास्तव मे भक्ति

का क्षेत्र अपने-आप मे इतना विशुद्ध है कि वह सभीको अपने-सा ही कर लेता है।

१० मोक्ष-प्राप्ति—सगुण-भक्ति की साधना का अन्तिम लक्ष्य भगवान की लीलाओं का एक नित्य अंग बनना, उनका सानिध्य प्राप्त करना है। इनकी दृष्टि मे यही मोक्ष या मुक्ति है। इससे अधिक वे अन्य किसी भी मोक्ष की कामना नही करते। ये पुनर्जन्म पर भी इसी कारण विश्वास करते है कि बार-बार भगवान की लीलाओ का अंग बना जा सके। वे इसी मोक्ष के कामी हैं।

विशेषताएँ—उपरिवर्णित मान्यताओ के सन्दर्भ मे ही हम सगुण भक्ति धारा की विशेषताओ की चर्चा कर सकते है। हमारे विचार मे वे विशेषताएँ निम्नलिखित है :—

१. समन्वय-भावना—समन्वय-भावना समस्त भारतीय साधना का प्राण-तत्त्व है। यह भाव हमे यहाँ के समग्र व्यवहार-जगत् और भाव-जगत् दोनो मे देखने को मिलता है। भक्ति और साहित्य के क्षेत्र मे समन्वयवाद का निखरा रूप केवल सगुण भक्तिधारा के साहित्य मे ही देखा जा सकता है। भक्ति, कर्म और ज्ञान का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, शील-सौन्दर्य और शक्ति का समन्वय, ज्ञान-प्रेम-भक्ति का समन्वय तो इस धारा की विशेषता है ही सही, साहित्य का कला-पक्ष और भाषायी समन्वय भी इस धारा मे देखा जा सकता है। अध्यात्म और कर्मवीर का समन्वय भी यहाँ हुआ है। राम और कृष्ण को व्यवहार-जगत् के कार्मो मे विमुख कभी नही दिखाया गया। जाति-पाँति का समन्वय भी यहाँ हुआ है। अत. सर्वाङ्गीण समन्वय-भावना सगुण धारा की प्रमुख विशेषता है।

२ लोक-रक्षण—लोक-रक्षण की भावना समूचे भक्ति साहित्य की अन्त-र्वर्तिनी धारा के रूप मे प्रवाहित है। राम और कृष्ण दोनो ही अपने-अपने ढग और स्थितियो के अनुरूप लोक-रक्षा के कार्यों मे सलग्न दिखाये गये है। एक (कृष्ण) यदि लीला-लीला मे ही पूतना जैसी राक्षसियो और बकासुर तथा कालिय नाग आदि का दमन करता है, तो दूसरा (राम) धनुष-बाण धारण करके पूर्णत. सन्नद्ध होकर लोक-रक्षण के कार्य मे तत्पर होता है। प्राय सगुण-भक्तियों ने अपने-अपने आराध्यो के इसी रूप का प्रत्यक्ष या परोक्ष वर्णन किया

है। इसी कारण सगुण साहित्य जातीय प्रतिष्ठा पा सका।

३ लोक-रजन—लोक-रक्षण के साथ-साथ लोक-रजन का तत्त्व भी सगुण साहित्य का प्राणभूत तत्त्व है। कृष्ण का तो किशोरावस्था तक का समूचा प्रत्यक्ष व्यक्तित्व है ही लोक-रजक, जबकि राम भी जन-जीवन को कष्टो और अनाचारो से मुक्ति दिलाकर प्रत्यक्षत लोक-रजन का कार्य करते हैं। सभी कवियो ने अपने आराध्यो के इन रूपो को प्राण-पण से उभारा है। लीलाओ के वर्णन का उद्देश्य ही लोक-रजन है और मर्यादाओ की रक्षा-स्थापना का उद्देश्य भी परोक्ष रूप मे यही है।

४ रससृष्टि—विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से रस-सृष्टि भी सगुण-काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। वात्सल्य, शृगार, शान्त और करुण रसो के साथ-साथ वीर रस की अद्भुत सृष्टि भी पाठको के मन को पूर्णतया रसान्वित कर देती है। भक्ति रस की अद्भुत गगा यहाँ सर्वत्र प्रवाहित है।

५ वैदिक धर्म की स्थापना—भारतीय धर्म और सस्कृति की दृष्टि से मध्यकाल भयावह रूप से सक्रमण काल था। इस्लाम का प्रभाव यहाँ के धर्म, सभ्यता और सस्कृति को प्राय निगल जाने को आतुर था। ऐसी स्थिति मे सगुण भक्तो के साहित्य ने इस सास्कृतिक सक्रमण और ह्रास को रोकने का सचेष्ट प्रयत्न किया। वैदिक आर्य-धर्म ध्वस्त होने से बच गया। यद्यपि राम-कृष्ण को वैदिक पुरुष नही माना जाता, वेदो मे इनका वर्णन भी नही आता, तो भी सगुण भक्तो ने इनकी प्रतिष्ठा वैदिक पुरुष के अश-अवतार के रूप मे ही की है। फलस्वरूप ये आर्य जाति के आदर्श बन सके। इनके जीवन नई प्रेरणाएँ जाग्रत कर आत्मविश्वास और जातीय भावनाओ को जगा सके। आर्य जाति पुनर्जीवित हो सकी।

६ खण्डनात्मक प्रवृत्तियाँ—प्रत्यक्ष रूप से सगुण भक्तो और कवियो मे खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति देखने को नही मिलती। इस धारा के प्राय सभी भक्त और कवि सुशिक्षित थे, अत इन्होने पर्याप्त सयम से काम लिया। फिर भी परोक्ष रूप मे अपने सिद्धान्तो की स्थापना करते समय इन्होने निर्गुणवादी झुटपुटो का खण्डन अवश्य किया है। इन्होने निर्गुणवादियो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो

का खण्डन कर वैदिक-पौराणिक मार्ग पर चलने के लिए समूचे देश के जन-मानस को अनुप्राणित किया। सूरदास का 'भ्रमर-गीत' स्पष्टत निर्गुणवाद के योग-ज्ञान का खण्डन करता है। कुछ हेर-फेर के साथ तुलसीदास ने भी भक्ति सिद्धान्त की स्थापना करते समय निर्गुण मान्यताओ का खण्डन किया है। परन्तु यह सब अत्यधिक सयत और प्रभावी ढग से हुआ है। परिणामस्वरूप हम कबीर आदि निर्गुणवादियो के समान इन पर खण्डनात्मक प्रवृत्तियाँ अपनाने का आरोप नही लगा सकते।

७ कला-पक्ष—सगुण-साधको के काव्यो का कला-पक्ष सभी दृष्टियो से पुष्ट और काव्यशास्त्र-सम्मत है। प्राय सभी कवि शास्त्रीय नियमो से परिचित थे। अत: कला की दृष्टि से शिथिलता इनके काव्यो मे कतई नही है। काव्य के भाव और शैली आदि सभी पक्ष पूर्णरूपेण सयमित और सक्षम है। प्रबन्ध और मुक्तक काव्यो के अन्तर्गत आने वाली सभी काव्य-विधाएँ इनके काव्यो मे अपने पूर्ण यौवन पर हैं। गीति-शैली का विकसित रूप देखा जा सकता है तो दोहो की गीति-शैली भी अपरिपक्व नही। पूर्ववर्ती तथा सभी समकालीन काव्य-शैलियो को इन्होने प्रत्यक्षत: प्रश्रय दिया, बल्कि विकास के चरम शिखरो तक पहुँचाया।

ब्रज और अवधी काव्य की दोनो भाषाओ के सौन्दर्य और माधुर्य की इन कवियो ने पूर्ण रक्षा की और इनके सौष्ठव को निखारा। सभी दृष्टियो से भाषाओ को सक्षम एव सजीव बनाया।

छन्द-अलकारो के प्रयोग की दृष्टि से भी सगुण साहित्य अत्यधिक सम्पन्न है। विविध छन्दो के प्रयोग करने मे भक्त-कवि सिद्धहस्त थे। अलकारो की स्वाभाविक योजना विशेष ग्राह्य कही जायेगी। रसो की सृष्टि मे यह कवि अतुलनीय थे। काव्य की सभी रीतियो का इन्होने उचित ढग से पालन किया। सभी दृष्टियो से सगुण भक्तिधारा-काव्य निर्मल एव निर्दोष है।।

* ८. स्वर्णयुग—भक्ति-काल हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कहलाता है। इसे यह महत्त्व प्रदान कराने मे वास्तव मे सगुण-साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन्ही कवियो की बहुमुखी प्रतिभा और प्रवृत्तियो के कारण भक्तिकाल स्वर्णयुग का महत्त्व प्राप्त कर सका। साहित्य के भाव-पक्ष के साथ-साथ कला-पक्ष को भी

सगुण काव्यो ने स्वर्णयुग की पदवी प्राप्त कर पाने के लिए सक्षम बनाया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्य-काल मे रचे गये समूचे साहित्य मे से सगुण-साधको के साहित्य ने विकास के चरम शिखरो का स्पर्श कर लिया। यह सामान्य जन से लेकर महलो तक समान और अबाध रूप से पहुँचा। आज भी यह उसी वेग से जन-मानस को आन्दोलित कर सकने की क्षमता रखता है, जिस वेग से इसने अपने युग को किया था। इसी कारण यह केवल हिन्दी भाषा ही नही, बल्कि समग्र भारतीय साहित्य की अमर निधि है। यह साहित्य अपनी सजीव प्राणवत्ता के कारण अपनी विशेषता स्वय है।

रामभक्ति-शाखा उद्भव, विकास, प्रवृत्तियाँ

उद्भव-विकास—भारत मे वैष्णव धर्म का उदय ईसा से लगभग पाँच-छ सौ वर्ष पूर्व हुआ था। यह उदय उसी प्रकार वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ था, जिस प्रकार बौद्ध-मत का उदय हुआ। बौद्ध-मत और वैष्णव धर्म दोनों का दृष्टिकोण मानवीय उदारता के तत्त्व पर आधारित था। अहिसा, सदाचार, आचरण और व्यवहार की शुद्धता पर दोनो धर्मो ने समान रूप से ध्यान दिया और इन भावनाओ को व्यापक बनाने का सतत प्रयत्न किया। वैष्णव भावना ही आगे चलकर अवतारवाद के रूप मे प्रचारित हुई। वैदिक साहित्य मे यद्यपि विष्णु को प्रथम श्रेणी का देवता नही माना गया, पर आगे चलकर पुराणो मे विष्णु का ब्रह्ममय महत्त्व प्रतिष्ठापित हो गया। राम और कृष्ण इसीके अवतार माने जाते हैं। अवतारवाद की यह भावना भी भारत मे ईसा से सौ सवा-सौ वर्ष पूर्व प्रचारित हो चुकी थी। पूर्व मध्यकाल मे या भक्तिकाल से वैष्णव उपासना की यह भावना दक्षिण भारत मे प्रचारित होने के बाद ही उत्तर भारत मे आई और धीरे-धीरे सारे भारत मे फैल गई। इसीमे से रामभक्ति-शाखा राम के मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप की उपासना को लेकर अलग से विकसित हुई है।

वैदिक सहिताओ मे भी राम, सीता, जनक, दशरथ आदि के नाम आते हैं, अत कुछ विद्वान् रामभक्ति-धारा का सम्बन्ध वैदिक साहित्य से जोडने का

प्रयत्न करते हैं। पर ध्यातव्य तथ्य यह है कि वैदिक नामो और रामायण मे आये पात्रो के क्रिया-कलापो तथा गतिविधियो मे किसी भी प्रकार का साम्य नही है। इतना होते हुए भी रामकथा का सम्बन्ध जिस युग से है, उस युग मे वैदिक मान्यताएँ अवश्य प्रचारित रही होगी। वास्तव मे रामभक्ति-शाखा का मूल स्रोत वाल्मीकि रामायण तथा राम से सम्बन्धित प्रचलित वे सारी मान्यताएँ ही , जिनका प्रारूप पुराणो मे प्राप्त होता है। महाभारत मे भी 'रामोपाख्यान' नामक अध्याय आता है, पर इनका आधार भी अधिकतर वाल्मीकि रामायण ही । पुराणो, बौद्ध-जातको और जैन-साहित्य मे भी राम की कथा का निजी दृष्टि-कोण से वर्णन मिलता है। अत विद्वान् यह मानते हैं कि राम मे अवतारत्व की प्रतिष्ठा बाद की वस्तु है, क्योंकि 'अमरकोष' जैसे ग्रन्थो मे विष्णु के जो नाम र गये हैं, ये कृष्ण के लिए तो प्रचारित हो गये किन्तु राम के लिए नहीं हो । इस कारण राम के अवतारत्व को कोई तो पाँचवी शती का मानता है और कोई दसवीं तथा ग्यारहवीं का। परन्तु पौराणिक मान्यताओ के आधार पर राम-कृष्ण का वर्तमान स्वरूप ईस्वी सन् से ५०० वर्ष पूर्व प्रतिष्ठित हो चुका था।

उपरोक्त तथ्यो के सत्य होते हुए भी रामभक्ति का वास्तविक प्रवर्त्तन स्वामी रामानन्द के प्रयत्नो से ग्यारहवीं शती के बाद ही हो सका। रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा मे अनेक भक्त हुए, जिन्होने सारे देश मे भक्ति-प्रचार का कार्य किया। १४वी शती (विक्रमी) मे रामानुज द्वारा प्रवर्तित श्री सम्प्रदाय राघवानन्द नामक प्रमुख आचार्य हुए। रामानन्द उन्हीके शिष्य थे। रामानुज । शिष्य-परम्परा मे रहते हुए भी रामानन्द ने भक्ति का एक निजी विशिष्ट रूप निर्धारित किया। रामानन्द ने वैकुठ-विहारी विष्णु की उपासना के स्थान पर लोकविहारी विष्णु के अवतार राम की लौकिक लीलाओ को अधिक महत्त्व दिया। उन्होंने राम को अपना आराध्य मानकर अपने शिष्यो को भी राम नाम ही दिया। उन्होंने देश, काल और जातिवाद के समस्त भेद-भावो को भुलाकर सभीको समान रूप से राम नाम की दीक्षा देनी आरम्भ की। फलस्वरूप सभी के लिए सुलभ होकर रामभक्ति का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत एव व्यापक होना

गया। कर्म के क्षेत्र मे मर्यादाओ का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र मे समानता की नीति अपनाई। वैसे तो रामानन्द से पूर्व भी नामदेव, ज्ञानदेव जैसे सन्त रामभक्ति का प्रचार कर चुके थे, पर इसे व्यापकता यही से प्राप्त हुई। इस भक्ति-क्षेत्र की उदारता के कारण ही कबीर, दादू आदि निर्गुणवादी भी इन्हीकी शिष्य-परम्परा मे दीक्षित होकर राम-नाम का प्रचार करने लगे—यद्यपि उनका राम 'दशरथ-सुत' न होकर निराकार और निर्विकल्प है। शेपसनातन और बावा नरहरिदास जैसे सगुण भक्त भी इसी परम्परा मे आते हैं।

रामानन्द के शिष्यो की सख्या काफी लम्बी है, किन्तु उन सभीने राम के अवतारी महत्त्व का प्रतिपादन अपनी रचनाओ मे नही किया है। तुलसीदास के पूर्व राम के अवतारी रूप चित्रित करने वालो मे विष्णुदास और ईश्वरदास के नाम विशेप उल्लेखनीय है। इसी प्रकार जैन-कवियो ने भी रामकथा को आधार बनाकर कुछ रचनाएँ रचीं। सूरदास के काव्य मे राम-सम्बन्धी कुछ पद्य मिल जाते हैं। बाद मे अग्रदास ने रामभक्ति-धारा को विशेप आश्रय दिया। इनकी भक्ति-भावना मे साख्य-भाव है। अग्रदास की 'रामाष्टयाम' और 'रामध्यान मजरी' दो प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इन्होने सीता की सखी के रूप मे राम की उपासना की है। नाभादास द्वारा रचित 'अष्टयाम' भी इसी प्रभाव-परम्परा मे आता है। आगे चलकर नाभादास और अग्रदास की रसिकता की भावना से ही रामभक्ति शाखा मे भी रसिकता का समावेश हो गया। पर तुलसीदास के मर्यादावादी प्रभाव से वह इतना अधिक दबा रहा कि सामान्य पाठक इसके सम्बन्ध मे आज भी कुछ विशेष नही जानता।

रामभक्ति के विकास मे सर्वाधिक योगदान गोस्वामी तुलसीदास का माना जाता है। इनकी प्रतिभा के सामने शेप सभी नाम और प्रभाव दब जाते हैं। यही कारण है कि आज इनसे पूर्ववर्ती रामभक्ति सम्प्रदायो से तो क्या, परवर्ती सम्प्रदायो से भी सामान्य जन परिचित नही है। तुलसीदास से पूर्व कृष्ण-भक्ति की रसिकता से प्रभावित होकर 'तत्सुखी' और 'रसिक' जैसे सम्प्रदाय प्रचलित हुए। १८वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से कृपानिवास नामक व्यक्ति ने 'रामायत शखी

म्प्रदाय' और उधर अयोध्या-निवासी श्री रामचरणदास ने 'स्व-सखी सम्प्रदाय' आरम्भ किया। रामभक्ति से सम्बन्धित रसिक सम्प्रदायो मे भी अनेक कवि ए, किन्तु उनका कुछ विशेष महत्त्व नही है। गोस्वामी तुलसीदास के वाद राम-क्ति कवियो मे उल्लेखनीय नाम हैं—प्राणचन्द चौहान, हृदयराम, केशवदास, नापति, प्रियदास, कालीनिधि, महाराजा विश्वनाथसिह और महाराजा रघुनाथ सह। परन्तु इन सभीके व्यक्तित्व तुलसीदास के समक्ष पूर्णतया दवे हुए हैं।

आधुनिक काल मे भी रामभक्ति और तत्सम्वन्धी काव्यो का क्रम जारी है। ामुदायिक कारणो से आज के कवियो के दृष्टिकोण मे कुछ अन्तर अवश्य आ ाया है, पर मूल भावना तुलसी वाली ही है। इन कवियो मे प्रमुख हैं—सर्वश्री ामचरित उपाध्याय, अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, ूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और श्यामनारायण पाण्डेय आदि। परन्तु इन सवका व्यक्तित्व भी तुलसीदास के समकक्ष विशेप नही उभर पाया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस विषय मे उचित ही लिखा है कि—"हिन्दी की रामभक्ति-धारा मे अनेक कवि हुए किन्तु रामभक्ति-धारा का साहित्यिक महत्त्व अकेले तुलसीदास के कारण है। धारा के अन्य कवियो और तुलसीदास मे अन्तर तारागण और चन्द्रमा का नही है, तारागण और सूर्य का है। तुलसी की अपूर्व आभा के सामने वे साहित्याकाश मे रहते हुए भी चमक न सके।"

प्रवृत्तियाँ और विशेपताएँ—रामभक्ति-शाखा की प्रवृत्तियो और विशेप-ताओ का अध्ययन वास्तव मे महाकवि तुलसीदास का साहित्यिक अध्ययन ही है। इन्हीके साहित्यिक अध्ययन के आधार पर इस धारा के साहित्य की निम्न-लिखित प्रवृत्तियाँ और विशेपताएँ मानी जा सकती हैं —

१. राम का व्यक्तित्व और स्वरूप—निर्गुणवादियो के राम के समान रामभक्तो का राम निराकार नही है। वे कहते हैं 'दशरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना, राम-नाम का मरम है आना', परन्तु रामभक्तो के राम दशरथ-सुत अवतारी पुरुप ही हैं। वे ब्रह्म के प्रतीक नही, वल्कि विष्णु के अवतार हैं। वे अनाचारों और अनाचारियो का नाश करने के लिए प्रत्येक युग मे मानव रूप मे अवतरित होकर मानव जीवन की भग मर्यादाओं की पुनर्स्थापना करते हैं, अतः वे मर्यादा-

पुरुषोत्तम हैं। भक्त कवि मानव रूप मे ही इनकी उपासना करके सुख-शान्ति और मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। रामभक्तो के राम शील, सौन्दर्य और शक्ति के आकार हैं। ये इन्ही गुणो के कारण लोक-रजक, लोक-रक्षक और लोक-मगल के विधायक हैं।

२ रामभक्ति स्वरूप—रामभक्तो के भक्ति-सम्बन्धी विचार वास्तव मे समन्वयवादी है। इनमे सेव्य-सेवक का भाव वैयक्तिक साधना की दृष्टि मे प्रमुख है। राम का व्यक्तित्व तीनो लोको मे अद्भुत और आकर्षक है। इनका शील, सौन्दर्य और शक्ति भक्तो का सर्वस्व है। रामभक्तो मे सकीर्णता नहीं है। ये रामभक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए भी अन्य देवी-देवताओ की उपेक्षा नही करते। इन्होने ज्ञान, कर्म का अस्तित्व स्वतत्र स्वीकार किया है और भक्ति को इनसे भी श्रेष्ठ माना है, क्योकि इनका विश्वास है कि भक्ति के बिना भवसागर से पार हो पाना सम्भव नही। दास्य-भक्ति को प्रधानता देते हुए भी रामभक्त भक्ति के अन्य सभी अगो (नवधा-भक्ति) को पूर्ण महत्त्व देते है। ये ब्रह्म का अश होने के कारण जीव को भी सत्य और नित्य मानते हैं। भक्ति के सभी अगो को स्वीकार करने और महत्त्व देने के कारण इनका दृष्टिकोण सर्वाधिक उदार माना गया है।

३ समन्वय-भावना—यह भावना रामभक्ति-शाखा के काव्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भावना है। इनके उपास्य राम का व्यक्तित्व ही शील, सौन्दर्य और शक्ति का समन्वित रूप है, फिर इसके उपासक इस भावना से अछूते कैसे रहते ? वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त आदि सभी मतो का समन्वित रूप इस धारा के काव्यो मे देखा जा सकता है। राम शिव के उपासक है और दुर्गा की पूजा भी करते है, उधर शिव और शक्ति राम के गुणो पर मुग्ध हैं। इनका भक्ति, कर्म और ज्ञान का समन्वय तो प्रसिद्ध है ही सही, इन्होने सगुण-निर्गुण में भी एकता प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। इतना ही नही, इनके कलापक्ष मे भी समन्वय का भाव देखा जा सकता है। समस्त काव्य-शैलियो और काव्य की व्रज और अवधी दोनो भाषाओ को इन्होने समान रूप से प्रश्रय दिया। इनका यह समन्वयवादी दृष्टि-कोण ही वास्तव मे भक्तिकाल को 'स्वर्णयुग' बना सका है।

४. लोक-मंगल का विधान—इनकी समूची साधना का चरम लक्ष्य लोक-मङ्गल का विधान करना ही था, क्योंकि इनके उपास्य राम का समग्र जीवन, नके समूचे क्रिया-कलाप लोक-मगल का विधान करने वाले ही हैं। अध्यात्म का चश्मा उतारकर यदि हम तुलसी के रामचरितमानस का अध्ययन करें तो वहाँ मे धर्म के साथ-साथ राजनीति, समाज-नीति, अर्थ-नीति आदि के भी समुचित विधान मिलते हैं। इन सबकी योजना लोक-कल्याण और मगल-विधान की दृष्टि से ही की गई है। 'रामचरितमानस' के 'उत्तर-काण्ड' मे वर्णित 'राम-राज्य' का सुखद वैभव वास्तव मे कवि के इच्छित लोक-रूप का परम चित्र है। सामाजिक आदर्शों का जैसा चित्रण इस काव्य मे हुआ है, अन्यत्र सुलभ नही। सक्षेपत लोक-मगल का विधान ही राम-काव्य का प्राथमिक उपजीव्य कहा जा सकता है।

५ लोक-रंजन—लोक-मगल के विधान के साथ-साथ राम-काव्य मे लोक-रञ्जन का भी यथेष्ट ध्यान रखा गया है। राम का स्वरूप, शील, सौन्दर्य और प्रत्येक कार्य छोटे-बडे सभीके मन का रजक है। इनके द्वारा मर्यादावाद की प्रतिष्ठा और समर्थन भी लोक-रजन की दृष्टि से ही किया गया है। वास्तव मे रजकता के बिना मगल का विधान सम्भव हो ही नही सकता। अत राम-काव्य मे यह तत्त्व भी पर्याप्त है।

६ रस-विधान—विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से भी राम-काव्य सहृदयो मे रस का सचार कर अलौकिक आनन्द की सृष्टि करने वाला है। राम के जीवन का चित्रण जिस व्यापक परिवेश और आयाम मे किया गया है इसमे वैविध्य है। वैविध्य के कारण यहाँ रसो की विविधता भी श्लाघनीय रूप मे दिखाई देती है। फिर भी राम-काव्य मे निर्वेदजन्य शान्त रस को ही प्रधान कहा जायेगा। करुण, वीर और शृगार रसो का परिपाक भी यहाँ देखा जा सकता है। परन्तु शृगार अपने सयोग-वियोग दोनो पक्षो मे कृष्ण-काव्य के समान उत्तेजक नही। अन्य सहयोगी रसो का भी यथार्थ वर्णन मिलता है। बाद मे रामभक्ति से सम्बन्धित रसिक सम्प्रदायो के काव्य मे शृगार की सर्वाङ्गीण उत्तेजना भी आ गई है। कुल मिलाकर राम-काव्य मे भक्ति या उज्ज्वल रस की ही प्रमुखता है।

शान्त से समन्वित भक्ति रस वास्तव मे लोक-मगल का सफलता से विधान कर सका।

७. उद्देश्य—आरम्भ से तुलसीदास तक राम-काव्य का उद्देश्य मर्यादा पुरुषोत्तम अवतारी राम के चरित्र के चित्रण द्वारा लोक-मगल का विधान और परलोक-सुधार ही प्रतीत होता है। वाद मे इसमे रसिकता का समावेश भी हो गया, परन्तु उसका कोई विशेष प्रचार और महत्त्व नही है। अपने युग मे आ गई निष्क्रियता और असास्कृतिक चेतावनी को मिटाकर भारतीय जीवन को अपना आयाम और परिवेश प्रदान करना भी इसका उद्देश्य कहा जा सकता है। इसमे इन्हे पूर्ण सफलता मिली।

८ **सोद्देश्य पात्र और चरित्र**—राम-काव्य प्रवन्धात्मक अधिक हैं। उनमे भगवान, देवी, देवता, मानव, राक्षस, पशु-पक्षी, छोटे-वडे सभी प्रकार के पात्र हैं। सभीका चित्रण एक विशिष्ट आदर्श और उद्देश्य को लेकर किया गया है। सद्वृत्तियो को उजागर करने का ध्यान सर्वत्र रखा गया है। राम तो अवतारी पुरुष है और वे शील, शक्ति, सौन्दर्य से समन्वित होकर लीला करने के लिए ही अवतरित हुए हैं। अत सभी पात्र इनकी मूल भावनाओ से ही सचालित होते है। असद् को सद् की ओर उन्मुख करना ही इनका उद्देश्य है। इसी दृष्टि से राम-काव्य के समस्त पात्र और इनके चरित्र पूर्णतया सफल है।

९ **कला-पक्ष**—कला-पक्ष के अन्तर्गत राम-काव्यो के काव्य-रूप, भाषा-शैली, छन्द, अलकार आदि के सम्वन्ध मे विचार किया जा सकता है। राम-काव्य के सभी कवि काव्यशास्त्र के विद्वान् और काव्य के समस्त रूपो से भली भाँति परिचित थे। इसी कारण इस धारा मे समस्त काव्य-शैलियो के सफल प्रयोग मिलते हैं। विशेषत गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो कोई भी शैली अछूती नही रहने दी।

विविध छन्दो-अलकारो का सौष्ठव भी यहाँ देखा जा सकता है। वीरगाथाओ की छप्पय-पद्धति, सन्त-काव्य की नीति-दोहा, प्रेम-काव्यो के दोहे-चौपाई, अन्य समकालिक कवियो द्वारा प्रयुक्त विविध छन्द सभी कुछ यहाँ देखा जा सकता है। छन्दो के वैविध्य के समान यहाँ अलकारो का वैविध्य भी विशेष

दर्शनीय है। साम्यमूलक उपमा और रूपकों का प्रयोग सर्वाधिक मिलता है।

(७) राम-काव्य की मुख्य भाषा अवधी है। परन्तु इसके साथ-साथ ब्रजभाषा का प्रयोग भी मुक्त भाव से किया गया है। स्वयं तुलसीदास ने दोनों भाषाओं का सफल प्रयोग किया। आवश्यकतानुसार आंचलिक शब्दों के प्रयोग भी हुए और समय के प्रभाव के कारण अरबी-फारसी के अनेक शब्द भी यहाँ मिल जाते हैं। इसे हम भाषायी समन्वय भी कह सकते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राम-काव्य वास्तव में समग्रता का काव्य है। इसमें सभी दृष्टियों से वैविध्य है। जीवन के प्रति एक स्वस्थ और व्यापक दृष्टिकोण है। इसी कारण इसका प्रभाव भी व्यापक है।

राम-नाम के अमर गायक गोस्वामी तुलसीदास

तुलसीदास अमर हैं, इनका काव्य अमर है। ये हिन्दी-साहित्याकाश के जगमगाते हुए ध्रुव नक्षत्र हैं। ये समूचे हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। किन्तु कितने दुर्भाग्य की बात है कि अभी तक इनका जीवन-वृत्त अनेक दृष्टियों से विवाद का विषय बना हुआ है। इनकी जन्म-तिथि और जन्म-स्थान सर्वाधिक विवाद के विषय हैं। इसी प्रकार इनके माता-पिता और वैवाहिक जीवन भी विवाद के विषय हैं।

जन्म-तिथि और जन्म-स्थान—तुलसीदास जी के परम शिष्य बाबा वेणीमाधवदास-रचित 'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार इनका जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन सं० १५५४ में हुआ था। पर अनेक कारणों से विद्वान् इस तिथि से साथ सहमत नहीं; क्योंकि ये 'गोसाईं चरित' को ही प्रमाणिक रचना नहीं स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर जनश्रुतियों के आधार पर पं० रामगुलाम द्विवेदी जॉर्ज ग्रियर्सन और डॉ० माताप्रसाद गुप्त जैसे विद्वान् जन्म-सम्वत् १५८९ मानते हैं। प्रायः अधिकांश विद्वान् इसी सम्वत् से सहमत हैं।

इनकी जन्म-तिथि के समान जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वान् इनका जन्म-स्थान राजापुर गांव तथा अन्य विद्वान् सोरों नामक स्थान को मानते हैं। बांदा जिले के गजटेरियों में बताया गया है कि तुलसीदास

सोरो से आये थे और इन्होने राजापुर वसाया था। इमी प्रकार तुलमीदाम जी ने अपने काव्य मे जिस सूकर क्षेत्र की चर्चा की है, वह भी मोरो ही प्रतीत होता है। इम सम्बन्ध मे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत दर्शनीय है—" जहाँ तक पुस्तको को पढकर समझने का प्रश्न है, मेरा विचार है कि मोरो के पक्ष मे दिये जाने वाले प्रमाण वहुत महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी काफी वजनदार हैं। उनको यो ही टाला नही जा सकता।" मोरो के पक्ष मे वहुमत होते हुए भी अभी तक अन्तिम रूप से कुछ नही कहा जा सकता।

माता-पिता और वैवाहिक जीवन—इमका आधार मात्र जनश्रुतियाँ ही हैं। ऐमा कहा जाता है कि इनके पिता का नाम आत्माराम दुवे और माता का नाम हुलसी था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य अनेक विद्वान् इन्हे सरयूपारीण ब्राह्मण मानते हैं। इसके विपरीत मिश्र वन्धुओ ने इन्हे पत्योंजा कान्यकुब्ज माना है। माता के नाम के सम्वन्ध मे भी कुछ मतभेद है। श्री चन्द्रवली पाण्डे हुलसी माता का नहीं, वल्कि पत्नी का नाम मानते हैं, परन्तु यह मान्यता साधार न होने के कारण व्यर्थ प्रतीत होती है। तुलसीदाम के समकालीन कवि रहीम का यह दोहा प्रसिद्ध है—"गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सो मुत होय।" अधिकाश लोगो की यही मान्यता है। पर हमारे विचार में 'हुलमी' शव्द का अर्थ 'प्रसन्न' भी तो हो सकता है। खैर, जो भी हो, इम सम्वन्ध में भी अभी तक अन्तिम रूप से कुछ नही कहा जा सकता।

यह एक प्रचलित मान्यता है कि तुलमीदास का विवाह दीनवन्धु पाठक की की पुत्री रत्नावली के साथ हुआ था। वचपन से ही स्नेह-शून्य वातावरण में पलने के कारण यह अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक अनुरक्त थे। एक वार जव वह इनकी अनुपस्थिति में ही अपने भाई के माथ मायके चली गई तो तुलसीदास भी उमके पीछे-पीछे वही जा पहुँचे। लोक-लाज मे खिन्न होकर रत्नावली ने इन्हें फटकारा —

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहौं हौं नाथ॥

अस्थि चर्ममय देह मम तामें जैसी प्रीति ।
वैसी जो श्रीराम में होती न तो भवभीति ।।

इस फटकार से तुलसी के हृदय में वैराग्य जागा और ये जीवन भर वहते रहने का व्रत लेकर घर से निकल पड़े, फिर कभी वापिस नहीं लौटे। तीर्थ-यात्रा करते हुए अयोध्या पहुँचे और यही रहकर काव्य-रचना करने लगे। इनका अधिकाश समय काशी में गंगा-तट पर व्यतीत हुआ। कुछ दिन चित्रकूट मे भी रहे। इनके जीवन के सम्बन्ध मे ऐसी-ऐसी अनेक बातें प्रचलित है।

जन्म और शैशव—कहा जाता है कि तुलसीदास जी का जन्म अभुक्त मूल नक्षत्र मे हुआ था, जिसे माँ-बाप के लिए घातक और वश नाशक माना जाता है। अत माँ-बाप ने इनका सुकुमारता के क्षणो मे ही परित्याग कर दिया। कुछ वर्षों तक मुलिया या मुनिया नामक दासी ने पाला। जब वह भी चेचक का शिकार हो गई और पाँच वर्ष का बालक गलियो मे मारा-मारा फिरने लगा, तो दया-वश गाँव के बाहर आश्रय बनाकर रहने वाले बाबा नरहरिदास इन्हे अपने आश्रय मे ले गये। इन्होने पाला-पोसा और पढ़ाया-लिखाया। सबसे पहले रामकथा भी तुलसीदास ने इन्हीं के मुख से सुनी। अत इनका दीक्षा-गुरु बाबा नरहरिदास को ही माना जाता है। तुलसीदास ने अपने काव्यो में अनेक स्थलो पर अपने गुरु का स्मरण भी किया है। इन्होंने तुलसीदास को उच्च शिक्षा के लिए काशी के श्रेष्ठ विद्वान् शेषसनातन के पास भेजा था, जहाँ रहकर तुलसी ने समस्त निगमागमो की शिक्षा ग्रहण की। गृह-त्याग के बाद यह काशी मे ही रहने लगे थे, जहाँ इनका सम्मान दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। छोटे-बड़े अनेक लोग इनके प्रशसक और मित्र बन गये।

तुलसीदास जी के निधन के सम्बन्ध मे यह दोहा बहुत प्रचलित है :—

सवत् सोरह सौ असी असी गग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर ।।

वास्तव मे तुलसीदास का व्यक्तित्व उस आलोक-स्तम्भ के समान है, जो सदा-सर्वदा भूली-भटकी नौकाओ का पथ-प्रदर्शन करता रहता है। अनेक विद्वानो ने अपने-अपने ढग से इनके बहुँमुखी व्यक्तित्व की अनेक प्रकार से प्रशसा की

है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन्हे असाधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा कहा है।

साहित्य-रचना—वैसे तो तुलसीदास जी के नाम से अनेक ग्रन्थ प्रचलित हुए हैं, किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने इनकी बारह प्रामाणिक रचनाएँ प्रकाशित की हैं। इनके क्रमश नाम है—दोहावली, कवितावली, गीतावली, कृष्ण-गीतावली, विनय-पत्रिका, रामचरितमानस, रामलला नहछू, वैराग्य सन्दीपनी, बरवै रामायण, पार्वती मगल, जानकी मगल और रामाज्ञा प्रश्न। इनमें मे 'रामचरित मानस' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। यह समस्त वेदो-शास्त्रो का सार और भारतीय सभ्यता-सस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। कवि ने सात काण्डो में विभाजित कर इसमें राम-कथा का सम्पूर्ण वर्णन किया है। इसका रचना-काल सवत् १६३१ माना जाता है। यह केवल भक्तिकाल की ही नहीं, बल्कि आज तक के हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है।

अन्य रचनाओ में से 'दोहावली' में भक्ति, नीति, नाम-महिमा और राम की महिमा से सम्बन्धित ५७३ दोहो का सकलन है। इसे सतसई-परम्परा का काव्य माना जा सकता है। 'कवितावली' वास्तव में राम-कथा से सम्बन्धित एक मुक्तक रचना है। इसमें प्रदत्त पद्यो का सकलन रामायण के समान ही सात काण्डो में किया गया है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य यहाँ कथा कहना नहीं है। इसी प्रकार 'गीतावली' भी सात काण्डो में विभाजित गीति-काव्य है। यहाँ भी रामकथा कहना उद्देश्य न होकर राम-जीवन से सम्बन्धित मार्मिक स्थलो का उद्घाटन ही कवि का मूल उद्देश्य है। 'कृष्ण गीतावली' के ६१ पदो में भगवान कृष्ण की महिमा का गायन किया गया है। इसमें राग-रागिनी पद्धति अपनायी गई है। राम के साथ कृष्ण का भी गायन तुलसीदास के समन्वयवादी दृष्टिकोण का ही परिचायक है। 'विनय-पत्रिका' में कवि ने राम के प्रति तो विनय प्रगट की ही है, अन्य देवी-देवताओ के स्तुतिपरक पद भी दिये है। यहाँ तुलसी के उदार और समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय स्पष्टत मिलता है। केवल बीस छन्दो का सकलन 'रामलला नहछू' लोक-परम्परा पर आधारित काव्य है, जिसमें राम के यज्ञोपवीत आदि किसी सस्कार का साकेतिक वर्णन है। 'वैराग्य सदीपनी' में

संत-स्वभाव और महिमा का गायन ही प्रमुखत हुआ है। 'बरवै रामायण' में राम की ही कथा का बरवै छन्द में गायन किया गया है। 'पार्वती मगल' और 'जानकी मगल' मे पार्वती और सीता के विवाह-प्रसगो का वर्णन है। लोक परम्पराओ की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है। 'रामाज्ञा प्रश्न' की सर्जना शगुन-विचार की दृष्टि से की गई।

इस प्रकार स्पष्ट है कि तुलसीदास ने अपने काव्यो मे राम को माध्यम बनाकर समस्त युगीन मान्यताओ का पालन किया। इनकी साहित्य-सर्जनाओ मे साहित्यिक मान्यताओ और रूपो का तो पालन हुआ ही है, लोकगीतो और मान्यताओ को भी निखारा गया है। रामलला नहछू, पार्वती मगल और जानकी मगल आदि रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। 'हनुमानाष्टक' नामक इनकी एक अन्य प्रसिद्ध रचना भी मानी जाती है, जिसमे इन्होने कष्टो से मुक्ति पाने के लिए हनुमान की स्तुति गाई है। तुलसी की समग्र रचनाओ में आत्मविश्वास, श्रद्धा, दृढ आस्था और विश्वास का भाव झलकता है। वह भाव ही वास्तव में इनकी सजीवता और लोकप्रियता का मुख्य कारण है।

समन्वय-साधना और लोकनायकत्व—महाकवि तुलसीदास भारतीय संस्कृति के अग्रदूत माने जाते हैं। इन्हे लोकनायक कहा जाता है। इसका मूल कारण उनका सभी दृष्टियो से समन्वयवादी दृष्टिकोण ही है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार "लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय जनता मे परस्पर विरोधी नाना सस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-निष्ठाएँ और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता मे समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास जी भी समन्वयकारी थे।" वास्तव में यह उक्ति तुलसीदास जी के समूचे साहित्यिक व्यक्तित्व पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। इनके युग का समाज धर्म, राजनीति, सस्कृति, नैतिकता और अर्थ व्यवस्था आदि सभी दृष्टियों से ह्रासोन्मुख था। इन सभी क्षेत्रो मे प्रबुद्धता लाने का महत् कार्य क्रान्तद्रष्टा कवि के सम्मुख था। इन्होंने एक कुशल कलाकार के समान सभी क्षेत्रो मे समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाकर अपना लोकनायकत्व पूर्णतया चरितार्थ किया। इसी ओर इंगित करते हुए आचार्य द्विवेदी लिखते हैं-

"उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय—रामचरित मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।"

हमारे विचार मे इस सम्बन्ध मे कुछ और कहना व्यर्थ है। तुलसीदास जी ने अत्यधिक सार-ग्राहिणी प्रतिभा से काम लेकर केवल काव्य के भाव-पक्ष ही नहीं, कला-पक्ष मे भी सूक्ष्म समन्वयात्मिका बुद्धि का सर्वत्र परिचय दिया है। राम के गुणगान करने के साथ-साथ 'कृष्ण-गीतावली' भी रची। भाषा के क्षेत्र मे अवधी के साथ-साथ व्रजभाषा को भी महत्त्व दिया। काव्य की समस्त पूर्व और युगीन-प्रचलित शैलियो तथा विधाओ को अपनाया। वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त आदि के निगमागम-प्रचलित मतो का समन्वित स्वरूप प्रस्तुत कर सभीकी आत्मा को परितुष्ट करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया। निर्लक्ष्य, हीन, आपसी संघर्षो मे व्यस्त मतवादो एव समाज को एक निश्चित आदर्श पर चलने की प्रेरणा देकर वे स्वत: ही लोकनायक के रूप मे प्रतिष्ठित हो गये। तुलसी का वैशिष्ट्य सर्वाधिक इस समन्वय-साधना की दृष्टि से ही है।

धार्मिक, सामाजिक दृष्टि—तुलसी की धार्मिक दृष्टि बहुत ही व्यापक थी। इन्होने परस्पर विरोधी धार्मिक मान्यताओ के मूल कारणो को खोजकर, उनमे समन्वय स्थापित कर स्पष्टत एक ही घोषणा की —

"सियाराममय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।"

सभी देवताओ की वन्दना करके इन्होने इसी आदर्श को निभाया। साथ ही निर्गुण-सगुण वादो को भी एक ही तत्त्व के भेद मानते हुए कहा —

"अगुनहि सगुनहि नहि कछु भेदा। गावहि श्रुति पुरान बुध वेदा।"

वास्तव मे तुलसी की आस्था लोक-कल्याण पर थी, अत धार्मिक संकीर्णता इनमे कही भी नही आ पाई। इसी दृष्टि से इन्होने अपनी रचनाओ मे सभी दार्शनिक विचारो, उपासना के रूपो तथा देवी-देवताओ का न्यूनाधिक वर्णन अवश्य किया है।

जहाँ तक सामाजिक दृष्टि का प्रश्न है, इन्होने सजग रूप से उस ओर भी

ध्यान दिया है। 'कलि-महिमा-वर्णन' मे जहाँ इन्होने घोर सामाजिक पतन के चित्र उरेहे हैं, वहाँ 'रामराज्य-वर्णन' करके आदर्श समाज की परिकल्पना भी प्रस्तुत की है। इनका सामाजिक आदर्श इन पक्तियो मे स्पष्टत ध्वनित होता हुआ सुना जा सकता है —

> वरनाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद-पथ लोग।
> चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय, शोक न रोग ॥

निश्चय ही तुलसी एक पूर्णतः मर्यादित धर्म और समाज के पक्षपाती थे।

साहित्यिक दृष्टि—तुलसीदास की साहित्यिक दृष्टि भी अत्यधिक व्यापक थी। इस सम्बन्ध मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एक स्थान पर लिखते हैं— "उन्होने नाना पुराणो और निगमागम का अध्ययन किया था और साथ ही लोक प्रिय साहित्य और साधना-मार्ग की नाडी पहचानने का उन्हे अवसर मिला था। उस युग की प्रचलित सब प्रकार की काव्य-पद्धतियो को उन्होने अपनी शक्तिमयी भाषा की सवारी पर चढाया था। उनकी काव्य-पद्धति का अध्ययन करने से उनकी अद्भुत समन्वयात्मिका बुद्धि का परिचय मिलता है।" इसी कारण उनके साहित्य मे प्रबन्ध एव काव्यो के सभी प्रचलित पूर्व और समयुगीन रूप मिलते हैं। वे रूप शिक्षित-अशिक्षित सभी प्रकार के जनमानस को सन्तुष्टि प्रदान कर सकने मे पूर्णतया समर्थ हुए। साहित्य-साधना मे प्रचलित लोक-पद्धतियाँ भी उन्होने अछूती न रहने दी। रामलला नहछू, पार्वती मगल और जानकी-मगल जैसे काव्यो मे, वास्तव मे लोक-दृष्टियो का ही सफल निर्वाह हुआ है। इस दृष्टि से ये पूर्णतया लोकनायक और समन्वयवादी प्रमाणित होते हैं। इन्हे जनता का प्रतिनिधि कवि उचित ही कहा जाता है। इन्होने ब्रह्म राम और लोक मे प्रचलित 'दाशरथी राम' का काव्यमय समन्वित स्वरूप प्रस्तुत कर एक अद्भुत कार्य किया। इन्हीं के कारण ही वास्तव मे दशरथ का बेटा राम ब्रह्ममय हो गया है। यह इनकी सबसे बडी साहित्यिक उपलब्धि एव सफलता है। इसीके माध्यम से इन्होने रामत्व की रावणत्व पर विजय दिखाकर साहित्य के उपयोगी एव सामाजिक पक्ष का समन्वित सफल निर्वाह किया है। यही सब देखकर आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल ने कहा—"गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिन्दी-काव्य क्षेत्र मे एक चमत्कार समझना चाहिए। हिन्दी-काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार उनकी रचनाओ मे पहले-पहल दिखाई पडा।

इन प्रमुख बातो के अतिरिक्त कहा जा सकता है कि विषय-चयन की दृष्टि से भी तुलसीदास जी का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इन्होने जीवन और विशुद्ध साहित्य (रस) की दृष्टि से उन सभी विषयो को अपने काव्यो मे स्थान दिया जो किसी भी दृष्टि से उपादेय हो सकते थे। जीवन का कोई भी अग, कोई भी रस इनकी सुघड लेखनी से अछूता न रह सका और यह सब अत्यधिक सतुलित और सयमित रूप से हुआ। कलात्मकता सर्वत्र विद्यमान है। इन्होने 'स्वान्त-सुखाय' काव्य-रचना करके भी 'पर-जन-हिताय' की भावना का सर्वत्र परिचय दिया।

इनकी भाषा-शैली व्यापक एव परम परिमार्जित है। आचार्य शुक्ल इन जैसी भाषा की सफाई अन्य किसी भी कवि मे नही मानते हैं। विविध शैलियो की सरणी वहाँ प्रत्यक्ष प्रवाहित है, जो सभी रुचियो को आप्लावित करती हुई सतत प्रवाहित रहती है। ये रससिद्ध कवि थे। अलकारो का सहज प्रयोग इनकी प्रमुख विशेषता है। तुलसीदास अन्त -बाह्य प्रकृतियो के चित्र मे भी पूर्णतया सिद्धहस्त थे। वाग्वैदग्ध्य, उक्ति वैचित्र्य, सूक्ति-कथन सभी मे तुलसीदास का व्यक्तित्व झाँकता हुआ देखा जा सकता है। वास्तव मे हिन्दी-साहित्य आज तक इनका प्रतिद्वन्द्वी पैदा नही कर सका है। इनके सम्बन्ध मे श्री अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' की यह उक्ति शत-प्रतिशत सत्य एव चरितार्थ है कि—

कविता करके तुलसी न लसे,
कविता लसी पा तुलसी की कला।

तुलसी ने 'शिव' की प्राप्ति के लिए ही 'सत्य' और 'सुन्दर' की उपासना की है। सामाजिक 'शिव' की उपलब्धि के लिए ही अपने उपास्य राम मे शील, सौन्दर्य और शक्ति का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। 'शिव-साधना' ही इनकी समूची साधना का सार-तत्त्व है और इस तत्त्व की उपलब्धि ही इनकी सच्ची आलोचना है।

तुलसी के परवर्ती रामभक्ति-काव्य

तुलसीदास ने राम के जीवन से सम्बन्धित कोई भी पक्ष प्रायः अछूता नहीं रहने दिया था। फिर इनकी अभिव्यक्ति भी इतनी सशक्त, रसात्मक एवं अप्रतिम थी कि बाद मे कोई अन्य कवि चाहकर भी इनकी समता न कर सका। इसी कारण यह स्वीकार कर लिया जाता है कि तुलसीदास के बाद रामभक्ति-काव्य-परम्परा प्राय समाप्त हो गई। यदि समाप्त नही भी हुई तो इसमे गत्य-विरोध तो निश्चित ही आ गया। इसी कारण राम को लेकर परवर्तीकाल में जो साहित्य रचा भी गया, वह नितान्त श्रीहीन-सा प्रतीत होता है। विद्वान् इस श्रीहीनता का कारण 'तुलसीदास के साहित्य की उत्कृष्टता और कवियो की प्रतिभा की शिथिलता' भी मानते हैं। डॉ० सरनदास भनोत के अनुसार—"तुलसी का कला-वैभव इतना सम्पन्न और महान् है कि सभी परवर्ती कवि उसके समक्ष दरिद्र दिखाई देते हैं।"

किसी सीमा तक उपरोक्त मत सगत है। वास्तव मे तुलसी के परवर्ती काल मे इनके द्वारा विनिर्मित पद्धति पर रामकाव्य का विकास न हो सका। इसमे धीरे-धीरे, कृष्ण-भक्ति काव्य की देखादेखी 'रसिक-भावना' का समावेश होता गया। वैसे तो यह भावना सामान्य रूप से तुलसी से पूर्व भी विद्यमान थी, परन्तु इनके बाद तो यह सतत प्रवाहित होने लगी। तुलसीदास के मर्यादावाद ने अपने युग मे रसिकता की भावना को बल नही पकडने दिया। इन्होने अत्यधिक सयमित एवं सन्तुलित रूप से रागात्मक तत्त्वो का समावेश भी अपने काव्य मे कर ही लिया था। राम का 'सौन्दर्य' तत्त्व इसीका परिणाम है। किन्तु बाद के कवि राम के व्यक्तित्व मे तुलसीदास के समान राग और मर्यादा का समन्वित और सतुलित निभाव न कर सके। अत स्वामी अग्रदास (अग्रअली) की पद्धति पर माधुर्य भाव की उपासना होने लगी। फिर तुलसीदास जिस व्यापक धरातल पर राम का गुणगान कर चुके थे, उस रूप मे कुछ और लिख पाने की गुंजाइश भी तो न रह गई थी। रसिकता के भाव को लेकर पर्याप्त साहित्य रचा गया, किन्तु वह तुलसी के साहित्य के समान जन-मानस को आकृष्ट न कर सका। इसी कारण इसका

कोई विशेष महत्त्व नही माना जाता और लोग कह देते हैं कि तुलसी के ब
राम-साहित्य रचा ही नही गया।

तुलसी के परवर्ती राम-काव्य-रचयिताओ मे अग्रदास, नाभादास, केशवद
उदयराम, प्राणचन्द चौहान, हृदयराम आदि के नाम सामान्यतया उल्लेख
हैं। इनमे से भी केशवदास का कुछ अधिक महत्त्व इस दृष्टि से माना जात
कि इन्होने अपनी रचना 'रामचन्द्रिका' का प्रणयन तुलसीदास से टक्कर लेने
दृष्टि से किया था।

केशवदास—तुलसीदास के वाद रामभक्ति-काव्य मे रसिकता की भाव
का समावेश हो गया था। तुलसीदास जी की परम्परा प्राय समाप्त हो गई थ
कवि केशवदास ने अपने ढग से राम के रूप को नये परिवेश मे अकित करने
प्रयास किया। अपने दरवारी वातावरण के प्रभाव के कारण केशव ने राम को
एक मर्यादावादी राजा के रूप मे, दरवारी वातावरण मे प्रतिष्ठित करने
सतत प्रयत्न किया। इस दृष्टि से राम-काव्य-परम्परा मे केशवदास का वि
महत्त्व है।

केशव का जन्म विद्या-वुद्धि की दृष्टि से एक अत्यन्त सम्पन्न परिवार
हुआ था। केशव स्वय भी सस्कृत साहित्य और शास्त्र-विद्या के वडे विद्वान्
यह ओरछा-नरेश रामशाह के छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के दरवार मे निवास क
थे। उनके दरबार मे इनका सम्मान गुरु और आचार्य के समान था। इसी का
उन्होने कवि और आचार्य केशव को इक्कीस गाँव भी उपहार-स्वरूप दे रखे थ
अन्य अनेक राजघरानो मे भी इनका मान गुरु के समान था। अनेक राजघरा
तथा सम्भ्रान्त परिवारो की महिलाओ को यह काव्यशास्त्र की शिक्षा दि
करते थे। अत इनका जीवन अत्यन्त सम्मान और सम्पन्नता से व्यतीत
रहा था।

केशव का स्वभाव दरवारी वातावरण मे पलने के कारण अत्यधिक रसि
ा। ये मनमौजी और आनन्दमयी प्रकृति के व्यक्ति थे। किन्तु कितनी विचि
ात है कि स्वभाव और वातावरण की दृष्टि से रसिक होने पर भी केशव के का
े रसिकता और सरसता का सचार नही हो सका है।

रचनाएँ—केशवदास द्वारा विरचित सात रचनाएँ मानी गई हैं। इनके नाम हैं—रामचन्द्रिका, रसिकप्रिया, कविप्रिया, विज्ञान गीता, वीरसिंहदेव चरित, रतनबावनी, जहाँगीर जसचन्द्रिका। इन प्रामाणिक रचनाओं के अतिरिक्त, केशवदास की 'बालचरित' और 'हनुमान जन्म लीला' नामक दो अन्य रचनाएँ भी मानी जाती हैं। परन्तु अभी तक यह निर्णय नहीं हो पाया कि ये दो रचनाएँ केशव-प्रणीत हैं भी कि नहीं। उपरोक्त रचनाओं में से केशव का कवि रूप में महत्त्व 'रामचन्द्रिका' के कारण माना जाता है, जबकि इनका आचार्यत्व 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' के कारण मान्य हुआ है। रामभक्ति शाखा के कवियों में इनकी गणना 'रामचन्द्रिका' के कारण ही की जाती है।

'कविप्रिया' की रचना कवि केशव ने अपनी शिष्याओं को काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए की थी। इसी कारण इस रचना में अलंकारों का विस्तृत विवेचन हुआ है और इन्हें पढ़ने से पता चलता है कि केशव अलंकारवादी थे। परन्तु आश्चर्य तो तब होता है कि जब अलंकारों की दृष्टि से भी न तो इनकी रचना में कोई कसाव है और न मौलिकता ही। इससे भी अधिक आश्चर्य तब होता है जब ये अलंकारों के लक्षण और स्वरचित उदाहरण में किसी प्रकार का ताल-मेल नहीं बैठा पाते। इनका महत्त्व काव्यशास्त्र के प्राथमिक हिन्दी आचार्यों में से एक होने के कारण ही है। अपनी दूसरी रचना 'रसिकप्रिया' में केशव ने रसों का विस्तृत विवेचन किया है। परन्तु यहाँ भी वही बात है कि इनका काव्य उचित रस के साथ भी समन्वित नहीं हो पाता है।

'रामचन्द्रिका' राम के जीवन पर आधारित प्रबन्ध काव्य है। इसी रचना के कारण 'सूर-सूर तुलसी शशि' के बाद 'उडुगन केशवदास' की उक्ति प्रचलित हुई है। कवि ने 'रामचन्द्रिका' की रचना करते समय उतना तुलसीदास की राम के सम्बन्ध में मान्यताओं का ध्यान नहीं रखा, जितना कि वाल्मीकि का। प्रबन्ध-रचना के लिए जिस सूक्ष्म दृष्टि और चातुर्य की आवश्यकता होती है, उसका केशव में अभाव है। कवित्व की तुलना में पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर इनका ध्यान अधिक रहा है। कथानक उखड़ा-उखड़ा-सा प्रतीत होता है। असम्बद्धता बहुत पाई जाती है। मार्मिक प्रसंगों की कवि को पहचान ही नहीं। हाँ, दरबारी वातावरण

के चित्रण मे इनका मन खूब रमा है। नीरस स्थलो का चित्रण अधिक विस्तार से किया गया है जबकि अश्रु-बोझिल अर्थात् मार्मिक स्थलो की प्राय उपेक्षा कर दी गई है। कही-कही मानव-मन का चित्रण अच्छा हुआ है। कवि ने जहाँ वाग्वैदग्ध्य एव उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ अलकारिता का मोह त्यागकर लिखा है, वहाँ कुछ स्वाभाविकता अवश्य परिलक्षित होती है। तात्पर्य यह है कि 'रामचन्द्रिका' मे केशव सहज कवि कर्म और दरबारी ही अधिक रहे है। अत इनके राम भी दरबारी राजा ही बन पाये हैं, तुलसी के राम के समान शील, सौन्दय और शक्ति के अविरल पुज नही।

केशवदास के अन्य ग्रन्थो मे से वीरसिंहदेव चरित, रतन बावनी और जहाँगीर जसचन्द्रिका मे नाम के अनुरूप ही व्यक्तियो के चरित्रो का चित्रण हुआ हैं। ऐसा करके कवि ने अपने युग की परम्परा का ही पालन किया है। यहाँ भी किसी विशेष काव्य-प्रतिभा के दर्शन नही होते। 'विज्ञान-गीता' मे कवि की आध्यात्मिक भावनाओ का सचयन है। इस पर सस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' का प्रभाव स्पष्ट है। इसमे नाटक की रूपक शैली का निर्वाह हुआ है। इन रचनाओ के अतिरिक्त केशव की दो और छोटी रचनाएँ भी मिली हैं। इनके नाम हैं—'नखशिख' और 'छन्दमाला'। इनके वर्ण्य विषय नाम के अनुरूप ही हैं।

भाषा-शैली—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान् भाषा की दृष्टि से केशव को 'कठिन काव्य का प्रेत' मानते हैं। वास्तव मे यह उक्ति उचित और सार्थक है। केशव मे भाषा का सौष्ठव और लालित्य देखने को नही मिलता। भाषा का लचकीलापन भी यहाँ नही है। कवि ने चमत्कार और अलकारिता के मोह मे पडकर भाषा को तोडा-मरोडा भी है।

काव्य-शैली की दृष्टि से केशव ने अपने युग की प्रचलित सभी विधाओ को प्राय अपनाया है। विविध शैलियो मे काव्य-रचना करने की उनमे क्षमता का अभाव नही था। अभाव है तो केवल सरसता और रागात्मक तत्त्वो का। केशवदास के महत्त्व के सम्बन्ध मे डॉ० भागीरथ मिश्र के शब्द सर्वथा उचित हैं कि 'केशवदास का महत्त्व सचमुच इस बात मे है कि उन्होने पहले काव्यशास्त्र के लगभग सभी अगो पर प्रकाश डाला। केशवदास ने, चाहे उनकी रचना कितनी

अपूर्व हो, संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य शास्त्र के लगभग सभी अंगो पर विचार किया है।' जहां तक केशव की कवित्व-शक्ति का प्रश्न है, वहाँ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे कहा जा सकता है—"कवि को जिस प्रकार का संवेदनशील और प्रेषण धर्म वाला हृदय मिलना चाहिए, वैसा केशवदास को नही मिला था।"

निष्कर्ष-स्वरूप कहा जा सकता है कि जिस प्रकार केशव को व्यक्तित्व और पाण्डित्य सुलभ हुआ था, वह बात इनकी सर्जनाओ मे नही आ पाई। फिर भी हिन्दी-भाषियो को काव्यशास्त्र से सर्वप्रथम परिचित कराने की दृष्टि से इनका महत्त्व और आचार्यत्व असन्दिग्ध है। दूसरी ओर कवित्व की दृष्टि से केशव उतना भी नही दे पाये, जितना कि उनके समकालीन और परवर्ती रीतिकालीन कवि दे पाये। इनकी रसिकता का प्रमाण केवल इस दोहे मे ही मिलता है —

> केशव केसन अस करी, जस अरिहुँ न कराहि।
> चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जाहि॥

कृष्ण भक्ति शाखा : परम्परा और विकास

परम्परा—वेदो या वैदिक साहित्य मे कृष्ण और उसकी पूजा का उल्लेख कही नही मिलता। हां, महाभारत-काल मे ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण की पूजा होने लगी थी, क्योंकि महाभारतकालीन वेदव्यास जैसे पात्र कृष्ण के प्रति पूज्य बुद्धि रखकर इनकी श्रेष्ठता और महानता स्वीकार करते है। ईस्वी पूर्व चतुर्थ शती मे मथुरा के आसपास भगवान रूप मे कृष्ण के पूजे जाने का प्रचलन था, ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है। इसके बाद बौद्ध और जैन धर्मो की प्रतिस्पर्धा मे भगवान विष्णु के अवतार के रूप मे भागवत मतावलम्बियो द्वारा कृष्ण की पूजा-भक्ति का प्रचार होने लगा। चौथी-पाचवी शती मे गुप्त सम्राटो द्वारा भागवत धर्म को राजधर्म के रूप मे स्वीकार कर लेने पर उन मान्यताओ और परम्पराओ को और भी अधिक बल मिला। आलवार-भक्तो ने सातवी-आठवी शती मे कृष्ण-भक्ति का प्रबलता से प्रचार-प्रसार किया। यह प्रचार दक्षिण तक ही सीमित न रहकर देश के अन्य भागो मे भी प्रचारित होने लगा। संस्कृत साहित्य

मे तो अत्यत प्राचीन काल से कृष्णभक्ति का स्वरूप विकसित होने लगा था। प्रथम शती से लेकर वारहवी शती तक के साहित्य मे इस वात के प्रचुर प्रमाण मिलते है।

कृष्णभक्ति को सर्वाधिक आकर्पण और महत्त्व प्रदान करने का श्रेय श्रीमद्-भागवत पुराण को है। विद्वानो के मतानुसार इसकी रचना दक्षिण भारत मे हुई थी। इसीके आधार पर सस्कृत के कवि शतियो तक कृष्णभक्ति सम्वन्धी पद्य रचते रहे। इस प्रसग मे जयदेव के 'गीतगोविन्द' का नाम विशेप उल्लेखनीय है। वर्णनो मे शृगारिकता होते हुए भी इसे धार्मिक काव्य ही माना जाता है। 'गीत-गोविन्द' के आदर्श पर सस्कृत मे अन्य अनेक कृष्णभक्ति-काव्य रचे गये। मैथिली के विद्यापति ने भी इसीके आदर्श को अपनाया। वारहवी शताव्दी के अनन्तर तो कृष्ण के जीवन को आधार वनाकर महाकाव्यो तक की रचना होने लगी। सस्कृत के समान प्राकृतो मे भी कृष्णभक्ति-काव्य की परम्परा मिलती है। वहाँ मुक्तक और गीतो के रूप मे ही अधिकतर कृष्णकाव्य मुखरित हुआ है। काव्य-रचना का रूप कोई भी रहा हो, उसकी मूल प्रकृति अध्यात्म भावनाओ से सम्पन्न धार्मिक ही है। आठवी-नौवी शतियो मे कुमारिल भट्ट और शकराचार्य के मायावादी सिद्धान्तो के प्रभाव के कारण भक्ति-आन्दोलन मे तीव्रता न आ सकी। किन्तु वाद मे स्वामी रामानन्द (११वी शताव्दी), मध्वा-चार्य (१२वी शताव्दी), निम्वार्क स्वामी (१२वी-१३वी शताब्दी), वल्लभाचार्य (१४वीं-१५वी शताव्दी), चैतन्य महाप्रभु (१६वी शताव्दी) और हितहरिवश (१७वी शताव्दी) जैसे महान् व्यक्तित्वो के प्रभाव के कारण भक्ति-आन्दोलन को विशेप वल, प्रचार तथा प्रसार प्राप्त हुआ। इन सभीने विभिन्न सम्प्रदायो का प्रवर्त्तन किया। इनमे से निम्वार्क, चैतन्य, वल्लभ और राधावल्लभ सम्प्रदाय विशेप महत्त्वपूर्ण हैं, क्योकि इन्होने कृष्णभक्ति को अधिक वल दिया। हिन्दी का कृष्णभक्ति साहित्य वैसे तो इन सभीसे प्रभावित है, फिर भी वल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव अत्यन्त तीव्र एव प्रवल है।

विकास—ऊपर जिस परम्परा का उल्लेख किया गया है, मूलत उसीसे हिंदी साहित्य में कृष्ण-काव्य का विकास हुआ है। कुछ विद्वान् इतिहासकार हिन्दी मे कृष्णकाव्य का प्रवर्तक कवि विद्यापति को स्वीकार करते हैं, किन्तु यह

मान्यता ठीक नही। विद्यापति की 'पदावली' मे वार-वार, अनुक्षण 'राधा-माधव' का नाम आने से ही वे कृष्णभक्त नही हो जाते। वास्तव मे विद्यापति के राधा-कृष्ण तो इनके घोर शृगारी वर्णनो के माध्यम मात्र है। यो सम्प्रदाय की दृष्टि से विद्यापति शैव मतानुयायी थे। फिर भी इतना स्वीकार किया ही जाना चाहिए कि राधा-कृष्ण को आधार वनाकर सरस काव्यो की सर्जना हो सकती है, हिन्दीवालो का इस ओर ध्यान सर्वप्रथम विद्यापति ने ही आकर्षित किया, अतः विद्यापति को इसी परम्परा मे रखना उचित है। वाद मे कृष्णभक्तो पर इनका प्रभाव भी निस्सदेह है। रीतिकाल के राधा-कृष्ण तो वास्तव मे विद्यापति के 'राधा-माधव' ही हैं; वहाँ भक्तिभाव न सही पर काव्यमय चित्रण तो है! भक्ति-काव्यो मे आध्यात्मिक तत्त्वो का सरस समावेश हो जाने से इमका अपना अलग व्यक्तित्व वन गया है। इस व्यक्तित्व निर्माण का प्रमुख श्रेय सूरदास को है। उनके वाद 'अष्टछाप' के अन्य कवियो को है, जिन्होंने कृष्णभक्ति-काव्यो को विकसित करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

रामभक्तो मे तुलसीदास विरचित 'कृष्ण-गीतावली' भी कृष्ण-भक्ति-काव्य के विकास मे अपना महत्त्व रखती है। अष्टछाप (सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्द दास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास) के कवियो मे सूरदास के वाद कवित्व की दृष्टि से नन्ददास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृष्णदास को भी साहित्यिक आलोक मे महत्त्वपूर्ण माना जाता है। ये लोग वल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। वल्लभ सम्प्रदाय के इन कवियो के अतिरिक्त राधावल्लभी सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय और गौडीय सम्प्रदाय के कवियो ने भी कृष्णकाव्य के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। यहाँ तक कि कृष्ण-काव्यो मे 'राधा' का आगमन ही राधावल्लभी-सम्प्रदाय के माध्यम से हुआ। कृष्णभक्ति के मूल आधार श्रीमद्भागवत पुराण मे उनका उल्लेख नहीं मिलता है। उसे इसी सम्प्रदाय ने आया स्वीकार किया जाता है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हितहरिवश स्वय उत्कृष्ट कवि थे। इसी प्रकार स्वामी हरिदास जैसे गायन-विद्या मे निपुण व्यक्ति भी कृष्णभक्ति और काव्य रचनाओ से सम्बन्धित हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय मे दीक्षित श्री भट्ट विरचित सरस पदावली भी

उपलब्ध होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी मे कृष्ण-काव्यों की नीव अत्यन्त सुदृढ धरातल पर प्रतिष्ठापित हुई। आगे चलकर अन्य अनेक व्यक्तियो ने भी इसके विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। राजस्थान की प्रसिद्ध कृष्ण-दीवानी मीरा का नाम तो सर्वविदित है। मीरा की सरस और भावुक पदावली ने कृष्णभक्ति और काव्य को जनमानस मे प्रतिष्ठापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अकबर के युग मे 'सूरदास' नामक एक अन्य कवि भी हुए। उनके द्वारा विरचित कृष्णभक्ति के सरस पद तो सूर-साहित्य मे कुछ इस प्रकार से घुलमिल गये हैं कि अलग से उनका प्राय अस्तित्व ही नही रह गया है। इसके बाद राधावल्लभी सम्प्रदाय के हरिराम, ध्रुवदास, सुदामाचरित के रचियता नरोत्तमदास, गग, रहीम, रसखान आदि के नाम भी इस परम्परा के विकास मे विशेष उल्लेखनीय हैं। मीरा के अतिरिक्त भी कुछ अन्य स्त्रियो ने कृष्णभक्ति सम्बन्धी सरस पद रचे थे। उनमे प्रवीण राय, कुंवरबाई, रत्नकुंवरि, सुन्दरकुंवरि, साई, रसिक विहारी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

रीतिकाल मे भी यह परम्परा चलती रही। नागरीदास, अलबेली, हित वृन्दावनदास, भगवत रसिक, ललितकिशोरी, आनन्दघन, आदि रीतिकालीन कवियो के नाम इस दिशा मे विशेष रूप से लिये जाते हैं। इन रीतिकालीन कवियो की वाणी भक्तिकालीन कवियो से कुछ भिन्न होते हुए भी, भक्ति के स्थान पर प्रेम तत्त्व की अधिकता होते हुए भी विकास क्रम की दृष्टि से इनका महत्त्व अस्वीकार नही किया जा सकता। कृष्णभक्ति की यह परम्परा आधुनिक काल में भी देखी जा सकती है। भारतेन्दु युग के प्राय. सभी कवि कृष्णभक्त थे। भारतेन्दु जी ने कृष्ण को लोक-उद्धारक के रूप मे भी प्रतिष्ठित किया। इनकी यही मान्यता आगे भी चली। कृष्ण का रूप आधुनिक काव्यो मे मानवीयता से अधिक सम्पन्न है। भारतेन्दु जी के बाद उल्लेखनीय नाम हैं—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विशुद्ध भक्ति-भाव से आरम्भ होकर अपने

वह ब्रह्म सतत आनन्दमय और आनन्दस्वरूप है। वह ब्रह्म ही काल कर्म एव स्वभाव के अनुरूप अनेक देवी-देवताओ, प्रकृति और जीव आदि के रूप मे प्रकट होता है। इसी कारण ये सभी उसीके साथ लीला करने और उसकी लीलाओ के दर्शन के लिए आतुर रहते हैं। वल्लभाचार्य का यह सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाता है।

वह ब्रह्म सगुण तथा समग्रत रस-रूप है। साक्षात् कृष्ण ही वह चिरन्तन ब्रह्म हैं। उनके मानवीय गुण तो मात्र आरोपित हैं। श्रीकृष्ण नित्य एव आनन्द स्वरूप गोलोक के निवासी हैं। गोपी-गोप, वृन्दावन, यमुना, लता-कुज आदि सभी कुछ भगवान कृष्ण से अभिन्न हैं। इसी कारण कृष्णभक्ति से सम्बन्ध रखने वाले सभी सम्प्रदाय राधा-कृष्ण को अपना इष्ट मानते हैं। ब्रह्म (कृष्ण) और ब्रज का समस्त वातावरण अश-अशी भाव रखते हैं, अत मूलत एक ही हैं।

जगत् और जीव—वल्लभ और चैतन्य के अनुसार जगत् और जीव एक ब्रह्म के सत् और चित् के अश हैं। लीलावश ही ब्रह्म के इन अशो से जगत् और जीव की रचना होती है। इस प्रकार ये दोनो तत्त्व काल, कर्म और स्वभाव के अनुसार प्रगट होने वाले उसी एक तत्त्व के अश हैं। चैतन्य ने इसीको अचिंत्य भेदाभेद-वाद कहा है। ये तत्त्व उस अनन्त शक्तियो के आगार एक ही परमतत्त्व के अग हैं। सभी उसी एक परमतत्त्व के साथ एकत्व एव पृथकत्व का अगागी भाव रखते हैं। सगुण-सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म की सत्ता की अभिव्यक्ति के लिए ही जगत् और जीव साकार होते हैं।

आधार-तत्त्व प्रेम—विशुद्ध प्रेम का भाव समूचे भक्तिकाल के साहित्य का मूल आधार है। सभी शाखाओं और सम्प्रदायो के समान कृष्णभक्तो ने श्रद्धा-प्रेम समन्वित भक्ति का ही प्रतिपादन किया है। कृष्णभक्त तो प्रेम की तल्लीनता मे समस्त प्रकार के कर्मकाण्डो एव मर्यादाओ का भी उल्लघन अवैध नही मानते। इनके अनुसार प्रेम तत्त्व की अदम्यता सासारिकता से स्वत ही विरक्त कर देती है। आयु एव स्वभाव के अनुसार कृष्णभक्ति मे प्रेम के कई रूप देखे जा सकते हैं। यशोदा मे यदि प्रेम का वत्सल रूप प्रबल है तो राधा, गोपियो और ग्वालो मे मधुर तथा सख्य-भावना से सम्पन्न है। कुल मिलाकर माधुर्य-प्रेम मे ही ये

लोग वह शक्ति एव प्रवलता मानते हैं, जो भक्त तथा भगवान मे किसी भी प्रकार का भेदभाव नही रहने देती। इसी कारण समूचे कृष्ण-काव्य मे माधुर्य भाव की ही प्रबलता है। दैन्य या दास्य आदि भावो के यहाँ दर्शन बहुत कम होते है।

माधुर्य-भाव: स्वरूप—कृष्णभक्ति मे माधुर्य भाव समग्रत मान्य होते हुए भी साम्प्रदायिक दृष्टियो से इसके स्वरूप मे सामान्य अन्तर दिखाई देता है। निम्बार्क मतानुयायियो ने स्वकीया-भाव और सयोग-पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी परकीया-प्रेम-भाव मे प्रेम-माधुर्य का चरम विकास मानते है। इसका प्रभाव वल्लभ सम्प्रदाय पर भी पडा है। इसके विपरीत राधावल्लभी सम्प्रदाय के भक्त परकीया भाव को स्वीकार नही करते। वे लोग कृष्ण-राधा की लीला को नित्य-विहार मानते है। इसी कारण इन्होने प्रेम-शृगार के वियोग-पक्ष को स्वीकार नही किया है। शेष सभी कृष्णभक्ति-सम्प्रदाय विरह की तीव्रता को भी माधुर्योपासना का आवश्यक अग मानकर चले है। ध्यातव्य यह है कि कृष्णभक्ति के कुछ सम्प्रदायो का परकीया-भाव भी वास्तव मे अतीन्द्रिय है और उसमे मासलता या अश्लीलता का भाव कतई नही है। प्रेम के विशुद्ध माधुर्य-भाव का ही सन्निवेश है।

ज्ञान और गुरु—यद्यपि कृष्ण-भक्ति मे ज्ञान अनिवार्य तत्त्व नही है, तो भी सामान्यत. ज्ञान को इस अर्थ मे अवश्य स्वीकार किया गया है कि कृष्ण के लीला-विहारी चिरन्तन स्वरूप की पहचान और इसकी लीला का अग बनने के साधन के रूप मे ज्ञान अनिवार्य है। ज्ञान और नाम गुरु से प्राप्त होता है, अत गुरु के महत्त्व को स्वीकार करते हुए समस्त कृष्णभक्तो ने उनका गुणगान मुक्तभाव से किया है। यहाँ तक कि अष्टछाप के कवि नन्ददास ने तो अपने सम्प्रदाय-गुरु वल्लभ को भागवत्स्वरूप मानकर उनकी स्तुति के पद भी गाये हैं। अन्य सम्प्रदायो मे भी यह बात मिलती है।

सत्सग—सत्सग और कृष्ण-नाम के कीर्तन का इस शाखा मे बहुत अधिक महत्त्व है। कृष्ण-नाम और प्रेम से विमुख लोगो का परित्याग कर भक्तो से सत्सग करने की प्रेरणा बार-बार दी गई है। सूरदास जी का यह पद्य इस सम्बन्ध मे विशेष प्रसिद्ध है:—

छाँडि मन हरि-विमुखन को सग।
जिनके सग कुमति उपजत है, परत भजन मे भग।।

पुष्टि मार्गीय तत्त्व—प्रभु कृष्ण के अनुग्रह से ज्ञान-ध्यान आदि सभी कुछ सुलभ करने के लिए प्रयत्नशील रहना ही सामान्यतया पुष्टिमार्ग है। विशुद्ध प्रेम से वह सब कुछ, प्रभु का अनुग्रह सुलभ हो सकता है। इसके लिए ज्ञान-वैराग्य आदि कतई आवश्यक नही, क्योकि इनके विश्वासानुसार समस्त चेतना से कृष्ण के राग मे रग जाना ही सच्चा ज्ञान है और वैराग्य भी यही है। यह सब कुछ प्रेममयी कृष्णभक्ति द्वारा स्वत सुलभ हो जाता है। अत यहाँ मर्यादाचारो का कोई महत्त्व नही है।

निवृत्ति-प्रवृत्ति समन्वय—अपने आपको सर्वात्म भाव से कृष्णार्पण कर देना ही कृष्णभक्तो का चरम लक्ष्य है। इसी कारण साधना-पद्धति मे सख्य-भाव की प्रमुखता होते हुए भी इन्होने नवधा भक्ति के स्मरण, कीर्तन, भजन, दर्शन आदि को भी महत्त्व दिया है। कृष्ण-लीला, कृष्ण-राधा की मूर्तियो का सुरुचि-शृगार, भोग-भजन आदि इस बात के प्रतीक है। इस प्रकार इनकी साधना-पद्धति मे निवृत्ति-प्रवृत्ति का स्वत ही समन्वय हो जाता है। इससे ससार जैसा भाव रहते हुए भी सासारिकता का स्वत ही परिहार हो जाता है। कृष्णभक्ति के अधिक प्रचार का मूल कारण यह समन्वय-साधना ही है।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

कृष्णभक्त कवि ब्रह्म को परम सत्य मानते हैं। इससे उत्पन्न नाम तथा रूपात्मक ससार को भी ये लोग एक चिरन्तन सत्य मानते हैं। विश्व मे उत्पन्न जीव परम सत्य ब्रह्म का अश होने के कारण नित्य एव सत्य है। ब्रह्म का अश होते हुए भी जीव की अपनी अलग नित्य सत्ता तथा चेतना है। कृष्णभक्ति-शाखा काव्य का मूलभूत आधार यही है। इसीको आधार मानकर वल्लभाचार्य ने कृष्ण के माधुर्यमय बाल-स्वरूप की उपासना की आधारशिला रखी थी। राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रभावो को ग्रहण करके चैतन्य ने भी इसी भावना को महत्त्व दिया। आगे चलकर वल्लभ के सुपुत्र एव शिष्य गोस्वामी विट्ठलदास ने राधा के साथ-

साथ गोपी-प्रेम को भी कृष्णभक्ति मे समाविष्ट कर लिया। सखी सम्प्रदाय की मान्यताओ से भी भक्ति की यह शाखा प्रभावित हुई। गोस्वामी विट्ठलदास ने इन समस्त सम्प्रदायो की मान्यताओं का समाहार करके 'पुष्टिमार्ग' स्थापित किया। इसके अनुसार सभी प्रकार से भगवान कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करना ही 'पुष्टि' है, क्योकि भगवान के अनुग्रह से ही ससारी जीव मे भक्ति का उदय होता है और फिर वह कर्मो के बन्धनो से मुक्ति पा लेता है।

इन्ही मूल भावनाओ पर कृष्णभक्ति-काव्य आधारित है। इसके अन्तर्गत आने वाले सभी सम्प्रदायो ने कृष्ण को अपना आराध्य मानकर इसकी अनवरत एव शाश्वत लीलाओ का गायन किया है। इनकी मान्यताएँ तथा विशेषताएँ इन्ही तत्त्वो पर आधारित है। मधुरा-भावना की प्रमुखता के कारण ही भक्ति-काल की अन्य समस्त धाराओ से बढकर इस धारा का प्रचार हुआ। इस धारा की प्रमुख मान्यताएँ निम्नाकित है :—

१ अवतारवाद की भावना—सगुण भक्ति धारा के समग्र साहित्य के मूल मे अवतारवाद की भावना विद्यमान है। कृष्ण परब्रह्म का सोलह कला-सम्पन्न अवतार है। इसी परम तत्त्व का विस्तार इनका मधुर विग्रह है। अत इनकी समग्र साधना का चरम लक्ष्य कृष्ण के अवतारी स्वरूप की लीलाओ मे प्रवेश पाकर उन्हीका एक अग बन जाना है।

२ लीला-वर्णन—कृष्ण का स्वरूप और लीलाएँ अपने माधुर्य के कारण सम्पूर्ण रूप से लोकरजक है। अत सभीने लीला-वर्णन और गायन मुक्त भाव से किया है। लीला का उद्देश्य लीला ही है, जिससे अखण्ड आनन्द मे समग्र जीवन की आध्यात्मिक परिपूर्णता का परिमाण प्राप्त होता है। लीलाओ के प्राय तीन रूप इन काव्यो मे वर्णित है—१ वात्सल्यमयी बाल-रूप की लीलाएँ। २ सखा रूप मे बाल-गोपालो के साथ किशोरावस्था तक की लीलाएँ और ३ तरुणाई की माधुर्यमयी रास-लीलाएँ। इनमे कही-कही कृष्ण के लोक-रक्षक रूप के भी दर्शन हो जाते है। वे ब्रजवासियो को भयमुक्त करने के लिए पूतना-वध, कालिय-दमन, गोवर्धन-धारण जैसे कार्य भी लीला-लीला मे ही करते हुए दिखाई देते है। इनमे माधुर्य-भाव की सब जगह प्रमुखता है। इसी कारण प्रेम

लीलाओ को अधिक विस्तार मिला है। लीला-वर्णन मे वात्सल्य और सख्य-भावो के साथ-साथ कही-कही कान्तभाव और दास्य-भाव के भी दर्शन हो जाते हैं। लीला वर्णन इस धारा के साहित्य का सर्वस्व है।

३ भक्ति-भावना—कृष्णभक्ति का मूल आधार भगवद्रति ही है। इसीका विस्तार आयु, पात्र और समय के अनुसार वात्सल्य, सख्य और कान्त आदि भावो मे दिखाई देता है। एक शब्द में इस भक्ति-भावना को मूलत 'प्रेम-लक्षणा' कहा जा सकता है। जीवन मे प्रेम के सामान्य नियम के अनुसार इस भक्ति-भावना मे भी विधि-निषेधो का कोई महत्त्व नही है। इसी कारण कृष्ण-काव्यो मे कही-कही मर्यादाओ का सर्वथा उल्लघन भी दिखाई देता है। यहाँ सौन्दर्योपासना ही प्रमुख है। स्वकीया-परकीया आदि सभी भावो को इस भक्ति-भावना ने अपने व्यापक अन्तराल मे समाहित कर रखा है, किन्तु उसमे वासनात्मक अश्लीलता का कहीं लेश नही। कृष्णभक्ति-भावना मे रागानुग-भक्ति की प्रमुखता होते हुए भी नवधा भक्ति के सभी अग देखे जा सकते हैं।

४. अलौकिक प्रेम-भाव—कृष्णभक्ति-काव्य मे मूलत प्रेम का अलौकिक तत्त्व ही विद्यमान था। किन्तु बाद मे मन्दिरो, मन्दिरो के अधिष्ठाताओ के आचार-विचार एव दृष्टिकोण क्रमश विलास-भावनाओ से आक्रान्त होते गये। फलस्वरूप प्रेम के अनेक लौकिक भावो को भी प्रश्रय मिलने लगा। जैसे राधा-कृष्ण का शृगार, अनेक प्रकार के भोज्य व्यजनो की व्यवस्था, मन्दिरो में स्वरूपवती नर्तकियो के नृत्य, मन्दिरो के गोस्वामियो के प्रति भगवद्रूप की कल्पना और नर्तकियो का सर्वात्मभाव से समर्पित हो जाना आदि। उज्ज्वल रस धीरे-धीरे मलिन होता गया। बाद मे, रीतिकालीन कृष्ण-काव्य इन्ही कारणो से लौकिक प्रेम का ही प्रमुख आधार बन गया। यद्यपि अनेक विद्वान् कृष्ण-काव्य के रति-भाव को ब्रह्मोन्मुख मानते हैं, पर निश्चय ही इसमे लौकिक तत्त्वो का भी समावेश हो गया था।

रस—कृष्ण-काव्य का मूल रस भक्ति ही है। शास्त्रीय दृष्टि से वात्सल्य, शृगार और शान्त रस इस भक्ति-रस मे ही सूक्ष्मत समाहित हो जाते है। रस का यहाँ पूर्ण परिपाक मिलता है। कही-कही निर्वेद के भाव भी देखे जा सकते हैं,

ससार के प्रति अनासक्ति एवं निन्दा का भाव तो सर्वत्र देखा जा सकता है। ऐसे स्थलो को शान्त रस के अन्तर्गत माना जा सकता है। दैन्य भावो का यहाँ प्राय अभाव है। अक्सर कृष्णभक्तो ने इस भाव को माधुर्योपासना के अनुकूल स्वीकार किया है। प्रमुखत कृष्ण-काव्य मे वात्सल्य एव शृगार रसो का ही जमकर वर्णन हुआ है। इसी कारण सूर को तो वात्सल्य-रस का सजीव रूप या प्रतिरूप तक कहा जाता है। वात्सल्य के अन्तर्गत आने वाले समस्त भावो और अनुभावो का यहाँ सजीव चित्रण मिलता है। इसी प्रकार माधुर्य-रति या शृगार रस के चित्रण मे भी कृष्ण-काव्यकार अद्वितीय थे। सयोग और वियोग दोनों पक्षो के सजीव रूप एव आकार यहाँ देखे जा सकते है। सूर इस दिशा मे भी बेजोड़ है। विप्रलम्भ शृगार का वर्णन 'भ्रमर-गीत' के रूप मे ही प्रमुखत. हुआ है। रस-परिपाक की दृष्टि से वास्तव मे कृष्ण-काव्य अद्वितीय है। उपरोक्त रसो के अतिरिक्त कृष्ण-काव्य मे प्रासगिक रूप मे अद्भुत, हास्य एव वीर रसो की सामान्य छटा भी देखी जा सकती है।

६ वर्ण्य विषय की मौलिकता—मूलत. श्रीमद्भागवत पुराण ही कृष्ण-भक्ति और काव्य-सर्जना का एकमात्र आधार है, किन्तु इसका यह अर्थ नही कि कवियो और भक्तो ने सर्वांशत इसीको अपना आधार बनाया हो। भक्तो और कवियो ने निश्चय ही अनेक प्रकार की मौलिक उद्भावनाएँ भी की। जैसे भागवत मे कृष्ण की अलौकिकता की रक्षा का सर्वत्र प्रयत्न किया गया है, किन्तु हिन्दी कृष्ण-काव्य मे इस प्रकार की अलौकिकता नही रह जाती। राधा की परिकल्पना भी यहाँ सर्वथा मौलिक है। भागवत मे गोपियाँ कृष्ण को रास-लीला मे सम्मिलित होने का अनुरोध करती है, किन्तु यहाँ इस प्रकार की लीलाओ के सयोजक कृष्ण स्वय ही है। यहाँ भ्रमर की परिकल्पना भी निर्गुणवाद की स्थापना के लिए की गई है, जबकि यहाँ इसके माध्यम से निर्गुण, निर्लिप्त ब्रह्म का खण्डन करके सगुण रूप और सगुण भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार मध्य-कालीन हिन्दी-कृष्ण-काव्य के वर्ण्य विषय मे भक्त कवियो ने अनेक प्रकार की मौलिक उद्भावनाएँ की है।

७. आराध्य एव अन्य पात्र—कृष्ण-भक्ति मे माधुर्य तत्त्व प्रमुख है। अतः

भक्त कवियो ने अपने आराध्य कृष्ण के चरित्र के कोमल एव मधुर पक्ष का उद्‌घाटन ही मुख्यत किया है। इसी कारण कृष्ण-भक्ति-काव्य का कृष्ण मधुर लीला-विहारी ही बन पाया है, चक्र-सुदर्शनधारी और महाभारत का आयोजक कुशल राजनीतिज्ञ नही। वह गीता का उपदेष्टा भी यहाँ नही है, वह तो है—माखनचोर, वशी बजैया, रास-विहारी तथा अन्य इसी प्रकार की माधुर्यमयी लीलाओ का सयोजक।

कृष्ण-काव्य मे कृष्ण के अतिरिक्त राधा, उद्धव, गोप-गोपियाँ, नन्द-यशोदा आदि अन्य पात्र भी माधुर्य पक्ष तक ही सीमित हैं। ये कृष्ण की नित्य लीलाओ के अग मात्र हैं और अनेक दृष्टियो से प्रतीक पात्र है। इन सबके चरित्र-चित्रण मे राम-काव्य जैसी व्यापकता एव औदात्य नही है। यहाँ कृष्ण परमात्मा के प्रतीक है और गोपियाँ जीवात्मा की। राधा मधुरा-भक्ति का श्रेष्ठतम प्रतीक है। आनन्दस्वरूप कृष्ण से अभिन्न राधा इनकी आनन्द-प्रदायिनी शक्ति का ही रूप है। इस प्रकार इन प्रतीक अर्थों एव मान्यताओ को समझकर ही कृष्ण-काव्य की गहराई तक पहुँचा जा सकता है।

८ प्रकृति-चित्रण—अन्त एव बाह्य प्रकृति के ये दो रूप होते है। कृष्ण-काव्यो मे प्रकृति के बाह्यरूपो का चित्रण मूलत उद्दीपन की दृष्टि से हुआ है, फिर भी वहाँ प्रकृति के कोमल और भयकर दोनो रूप देखे जा सकते हैं। इस शाखा के कवियो ने दृश्य जगत् के प्रत्येक रूप का बडा ही हृदयग्राही चित्रण किया है। वृन्दावन, यमुना-तट, कुज, भवन आदि के वर्णनो मे इनकी प्रकृति खूब रमी है। उपमानो के विधान मे भी प्रकृति का साहचर्य निश्चय ही प्रशसनीय है। भावो के स्पष्टीकरण के लिए प्रकृति का अनेकश आश्रय लिया गया है, जो वास्तव मे स्तुत्य है। जैसे—

मधुवन तुम कत रहत हरे !
विरह-वियोग श्याम सुन्दर के ठाढे क्यो न जरे ! !

इसी प्रकार 'देखियत कालिन्दी अति कारी' जैसी उद्‌भावनाओ मे भी प्रकृति स्पष्टत भावोद्दीपक रूप मे चित्रित हुई है। सक्षेपत प्रकृति का जो भी रूप कृष्ण-काव्य मे मिलता है, अत्यन्त सजीव एव ग्राह्य है।

९. कृष्ण-काव्य की ऐतिहासिकता—प्रत्यक्ष ऐतिहासिक दृष्टि से कृष्ण-काव्य का तत्कालीन देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उस समय देश में जो उथल-पुथल हो रही थी, जो राजनीतिक, सांस्कृतिक क्रान्तियाँ सम्पन्न हो रही थीं, उनकी राम-काव्य के समान प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार की झलक इस काव्य में नहीं मिलती है। हाँ, कुछ कृष्ण-भक्तों ने कुछ भक्त व्यक्तियों का इतिहास देने की सामान्य चेष्टा अवश्य की है, किन्तु इतिहास के व्यापक परिवेश में उस सबका कोई महत्त्व नहीं है। यह उस काव्य धारा की एक महान् कमी ही कही जायगी।

१० सामाजिकता—लीला-प्रधान काव्य होने के कारण कृष्णकाव्य में सामाजिक परिवेश को भी प्राय महत्त्व नहीं दिया गया है। यह काव्य तुलसी के काव्य के समान प्रत्यक्ष एव व्यवहार-जगत् को आन्दोलित नहीं कर सका है। उसने केवल समाज के माधुर्यभाव को ही अवलम्ब दिया। दूसरे, कहीं-कहीं आडम्बरों और पाखण्डों का विरोध भी मिलता है। सभी जातियों के लिए, विशेषत. मुसलमानों के लिए भी कृष्णभक्ति के द्वार खोलकर इन्होंने अवश्य ही सामाजिक दृष्टि से एक महान् क्रान्तिकारी कदम उठाया, परन्तु यह सब एक सहज और परोक्ष प्रक्रिया के रूप में ही हुआ। वैसे सामान्यतया हम प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन की झाँकियाँ कृष्णकाव्य में नहीं खोज सकते, फिर भी, माधुर्य-भाव की रक्षा करना, सामाजिकों के हृदयों को रस भावना से सवलयित करना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

११ काव्य-शैली—यद्यपि कृष्ण-जीवन की कथा कहना कृष्णभक्त कवियों का लक्ष्य नहीं था, फिर भी मथुरा-गमन तक के कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित समस्त कार्यों का उल्लेख हमें इन काव्यों में मिल जाता है। अतः हम समग्र कृष्ण-काव्य को काव्यरूप और शैली की दृष्टि से 'प्रबन्धात्मक प्रगीत-मुक्तक-काव्य' कहना अधिक समीचीन मानते हैं। क्योंकि यहाँ समस्त कृष्ण-लीलाएँ और उनमें जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ भी मिल जाती हैं, और उनका क्रम सुगम है, साथ ही उनके गेयता और वैयक्तिकता आदि के तत्त्व भी सर्वत्र विद्यमान हैं। अतः काव्य-शैली का मिश्रित स्वरूप ही यहाँ प्रतिफलित हुआ है। यह मिश्रण निश्चय ही अत्यधिक

कलात्मक एव आकर्षक है। इसका अपना वैशिष्ट्य है। तभी तो यह परवर्ती कवियो को अपनी ओर सर्वाधिक आकर्षित कर सका।

१२ भाषा—समूचे कृष्णकाव्य की भाषा कृष्ण-लीलाओ से सम्बन्धित व्रज प्रदेश की लोक-भाषा ही है। साहित्यिक शब्दो मे इसे व्रजभाषा ही कहा जाता है। व्रजभाषा का समूचा लालित्य एव वैभव कृष्णकाव्य मे देखा जा सकता है। व्याकरण आदि की दृष्टि से भाषा मे कुछ गडवड हो सकती है, परन्तु भावाभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता इसमे विद्यमान है। भाषा का वैभव ही कृष्णकाव्य की लोकप्रियता का प्रमुख कारण है।

१३ छन्द-अलकार—प्रधानतया कृष्णकाव्य मे गीति-तत्त्व की प्रमुखता है। कवियो ने गेय पदो की रचना ही अधिक की। राग-रागिनियाँ भी नियमवद्ध होकर रची है। इनके अतिरिक्त चौपाई, सार, चौवोला और सरसी आदि छन्दो के प्रयोग भी कही-कही मिलते है। दोहा और रोला छन्दो के प्रयोग भी नन्ददास जैसे कवियो मे मिलते है। वाद के कवियो ने सवैया, कवित्त (रसखान मे विशेषत), छप्पय, कुण्डलिया, हरिगीतिका, गीतिका, अरिल्ल आदि छन्दो मे भी पर्याप्त कृष्णकाव्य लिखा।

कवियो में साम्यमूलक अलकारो का अधिक प्रयोग किया है। अन्य अलकारो के रूप भी देखे जा सकते हैं। सभी प्रकार के अलकारो का प्रयोग अत्यधिक स्वाभाविक रूप से हुआ है। उपमाओ, रूपको, उत्प्रेक्षाओ और दृष्टान्तो की तो भरमार है। छन्द-अलकारो का वैविध्य कृष्णकाव्य की प्रमुख विशेषता है।

इस प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे कहा जा सकता है कि कृष्णकाव्य "मनुष्य की रसिकता को उद्‌बुद्ध करता है। उसकी अन्तर्निहित अनुराग-लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है और उसे निरन्तर रससिक्त बनाता रहता है।" रससिक्तता तो अवश्य है, पर रामकाव्य जैसी व्यापकता एव सर्वाङ्गीणता निश्चय ही इस काव्य में नही है। लोक-सग्रह की भावना भी यहाँ नही है। है तो केवल रससिक्त करने वाला अविरल-अजस्र स्रोत, जो पूर्णतया सम्पन्न और प्रभावशाली है।

कृष्ण-काव्य . अष्टछाप और उसका महत्त्व

'अष्टछाप—अष्टछाप के संस्थापक वल्लभाचार्य के प्रमुख शिष्य और सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलदास थे। इन्होंने सं० १६०२ में अपने पिता के चौरासी शिष्यों में से प्रमुख चार और अपने दो सौ बावन शिष्यों में से प्रमुख चार को लेकर 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की थी। इन आठों को भगवान कृष्ण की लीला में उनके प्रमुख सखा होने का महत्त्व प्राप्त हुआ। इनके नाम हैं—१. सूरदास, २ कुम्भनदास, ३. परमानन्ददास, ४. कृष्णदास, ५. गोविन्दस्वामी, ६. छीत-स्वामी, ७ चतुर्भुजदास और ८. नन्ददास। ये आठों कवि एवं संगीतज्ञ थे। कवित्व की दृष्टि से इनमें सूरदास प्रमुख हैं, जबकि उनके बाद नन्ददास का स्थान आता है। आयु की दृष्टि से इनमें से सबसे बड़े कुम्भनदास थे, जबकि सबसे छोटे नन्ददास। इनमें से पद-रचना की दृष्टि से परमानन्ददास का सर्वाधिक महत्त्व माना जाता है। साहित्यिक दृष्टि से कृष्णदास कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। संगीत साधना की दृष्टि से गोविन्दस्वामी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये सभी समकालीन थे और इन्हें पुष्टिमार्गीय कहा जाता है। ये लोग श्रीनाथ के प्रमुख मन्दिर में बारी-बारी से सेवा-कीर्तन, भजन पूजन किया करते थे और कृष्ण-लीला के पद रचकर गाया करते थे। कृष्ण-काव्य के विकास में इन्हीं का योगदान और नाम महत्त्वपूर्ण है।

इन कवियों के महत्त्व के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार विशेष दर्शनीय हैं। वे लिखते हैं—"इन भक्ति-भाव की रचनाओं के प्रचार के बाद लौकिक रस की परम्परा फीकी पड़कर निर्जीव हो गई। इन कवियों ने उसमें नया प्राण सञ्चारित किया और नया तेज भर दिया। परवर्ती काल की ब्रज-भाषा को लीलानिकेतन भगवान कृष्ण के गुणगान के साथ एकान्त भाव से बांध देने का श्रेय इन्हीं कवियों को है।" वास्तव में इन्होंने कृष्णभक्ति के स्वरों को अत्यधिक व्यापकता प्रदान की। साहित्यिक, साम्प्रदायिक, सांस्कृतिक, कलात्मक आदि सभी दृष्टियों से अष्टछाप का हिन्दी-साहित्य में विशेष महत्त्व है। क्योंकि अष्टछाप के सभी कवि संगीतज्ञ थे, अत. काव्य और संगीत-कला[illegible] सुन्दर

समन्वय इनकी प्रमुख विशेपता है। इनके काव्य कल्पना की ऊँची उडान, तन्मयता आदि सभी गुणो से सम्पन्न हैं। काव्य-कला को निखारने मे भी इनका योगदान असन्दिग्ध है। धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी अष्टछाप की देन अमूल्य है।

प्रमुख कृष्णभक्त कवियो का परिचय

विद्यापति—'अभिनव जयदेव' और 'मैथिल-कोकिल' के नाम से प्रसिद्ध कवि विद्यापति से ही अब प्राय विद्वान कृष्ण-भक्ति-काव्य का आरम्भ मानने लगे हैं। सामान्य रूप से इस मान्यता को इस दृष्टि से स्वीकार किया जा सकता है कि हिन्दी या उसकी उपभाषाओ और बोलियो मे राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन हमे सर्वप्रथम कवि विद्यापति की 'पदावली' मे ही मिलता है।

विद्यापति का जन्म सवत् १४२५ वि० मे बिसपी गाँव, जिला दरभगा, बिहार प्रान्त मे हुआ था। इनका परिवार अपनी विद्वत्ता के कारण अपने समय मे काफी प्रसिद्ध रहा। विद्यापति तिरहुत के राजा शिवसिंह के आश्रित कवि थे। राजा शिवसिंह की रानी भी कवि विद्यापति पर विशेप भक्ति और श्रद्धा रखती थी। अत कवि ने अपनी रचनाओ मे इनका स्मरण बार-बार किया है। इनसे इन्हे पर्याप्त सम्पत्ति और सुख-सुविधाएँ प्राप्त हुई थी। इनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध मे कुछ चमत्कारपूर्ण बातें प्रसिद्ध है। जैसे इन्होने भगवान शिव को अपनी भक्ति से प्रसन्न कर रखा था। भगवान शिव 'उगना' नाम से इनके नौकर बनकर कई दिनो तक रहे। ऐसी कुछ अन्य कथाएँ भी प्रचलित है। विद्यापति को सस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयदेव से पर्याप्त प्रभावित माना जाता है। विद्यापति की कविता मे कविवर जयदेव के समान सरसता, माधुर्य और गीति-काव्य के समस्त गुण विद्यमान हैं। इसी कारण इन्हे 'अभिवन जयदेव' कहा जाता है। इनका स्वर्गवास सवत् १४७५ वि० मे माना जाता है।

विद्यापति ने सस्कृत, अवहट्ट (अपभ्रश) और मैथिली इन तीन भापाओं मे अपने काव्य रचे। इनकी सस्कृत रचनाओ के नाम है—शैव-सर्वस्वसार, प्रमाण भूत पुराण सग्रह, भूप परिक्रमा, पुरुप-परीक्षा, लिखनावली, गगा वाक्यावली, दान वाक्यावली, विभाग सार, गया पत्तलक, वर्ण कृत्य और दुर्गा भक्ति तरगिणी।

अवहट्ट या अपभ्रंश में रचित रचनाओं के नाम हैं—'कीर्तिलता' और 'कीर्ति पताका'। इन दोनों रचनाओं में विद्यापति ने अपने आश्रयदाता शिवसिंह और कीर्तिसिंह की वीरता का बड़ा ही ओजस्वी और सजीव वर्णन किया है। इस दृष्टि से विद्यापति स्पष्टतः वीरगाथा का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिन्दी-काव्य में 'पदावली' नामक रचना के कारण ही इनका विशेष महत्त्व है। इसी रचना के कारण ये हिन्दी काव्यधारा में भक्ति एवं विशुद्ध शृंगार-परम्परा के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इसी प्रकार इनकी 'शैव सर्वस्व सार' नामक संस्कृत रचना में भी भक्ति-भाव का चरम विकास दिखाई देता है।

विशुद्ध हिन्दी-साहित्य की परम्परा की दृष्टि से विद्यापति के तीन ग्रन्थों का ही सर्वाधिक महत्त्व माना जाता है। ये ग्रन्थ हैं—कीर्तिपताका, कीर्तिलता और पदावली। पदावली का महत्त्व इन तीनों में सर्वाधिक है। इस रचना में वे जयदेव के अत्यधिक समीप दिखाई देते हैं। 'पदावली' को कुछ लोग भक्तिकाव्य मानते हैं, यह ठीक है कि इसमें राधा-कृष्ण का नाम अनेकशः आया है, पर वास्तव में इन दो नामों की आड़ में नायक-नायिकाओं का प्रेम-शृंगार वर्णन किया गया है। फिर भी इसमें प्राप्त भक्ति-भाव के विविध संकेतों और संस्कारों को नकारा नहीं जा सकता। यह मुख्यतः भक्ति के शृंगार-पक्ष (उज्ज्वल रस) को उजागर करने वाली रचना ही है। इसमें संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगार तथा इसकी सभी अवस्थाओं का अत्यन्त सजीव तथा सरस चित्रण हुआ है। वियोग-चित्रण में अधिक तल्लीनता है। जैसे :—

अनुखन माधव-माधव सुमरइत सुन्दरी भेल मधाई।

इन्हें भक्त या आध्यात्मवादी कहने वालों को लक्ष्य करके आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा था—"आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने 'गीत-गोविन्द' के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी।" वास्तव में विद्यापति यौवन एवं शृंगार के ही कवि हैं। अतः डा० रामकुमार वर्मा ने इनके सम्बन्ध में ठीक ही कहा है :—

"विद्यापति का संसार ही दूसरा है। वहाँ सदैव कोकिलाएँ ही कूजन करती

है। फूल खिला करते है, पर उनमे काँटे नही होते हैं। राधा रात भर जागा करती हे। उनके नेत्रो मे हीरात समा जाती है । शरीर मे सौन्दर्य के सिवाय कुछ भी नही है। पथ है, उसमे भी गुलाव है, शैय्या है, उसमे भी गुलाव है, शरीर है, उसमे भी गुलाव। सारा ससार ही गुलावमय है। उनके ससार मे फूल फूलते है काँटो का अस्तित्व नही है। यौवन-शरीर के आनन्द ही उसके आनन्द है।"

हमारे अपने विचार मे कम से कम 'पदावली' मे भक्ति-रस खोजना व्यर्थ है। वहाँ तो प्रेम-यौवन की अविरल धारा ही सतत प्रवाहित है। राधा-कृष्ण उसी समान नायक नायिका है जैसे रीतिकाल के। इस दृष्टि से रीतिकाल विद्यापति का विशेष ऋणी है। परन्तु, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, कृष्णभक्ति काव्य का आरम्भ यही से मिलता है। फिर भक्ति के शृगार-पक्ष को भी इनकी 'पदावली' ने उजागर किया हे, इन्हे कारण इन कृष्णभक्त कवियो की श्रेणी मे प्रथम स्थान मिलना ही चाहिए।

सूरदास – कृष्णभक्ति और कृष्ण-काव्य के अन्यतम साधक सूरदास गोस्वामी वल्लभाचार्य के वेटे विट्ठलदास द्वारा सस्थापित 'अष्टछाप' के सर्वप्रमुख कवि और साधक थे। परन्तु इनका जीवन-परिचय अभी तक विद्वानो मे मतभेद का प्रश्न वना हुआ है। इनके जीवन को लेकर अनेक प्रवाद प्रचलित है। अनुसन्धान अभी तक इनके विषय मे किसी अन्तिम निर्णय तक नही पहुँच पाये है। इनके जन्म-स्थान आदि तो अभी तक पूर्णत विवादास्पद वने हुए है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' नामक रचना मे इन्हे रुणकता क्षेत्र का निवासी वताया गया है, जवकि परवर्ती अनुसन्धाता इनका जन्मस्थान वल्लभगढ गुडगाँवा के समीपवर्ती 'सीही' नामक गाँव मानते ह। ऐसी मान्यता हे कि इनका जन्म वैशाख-शुक्ल ५ को सम्वत् १५३५ मे हुआ था। इनके माता-पिता का क्या नाम था—यह अभी तक अज्ञात हे। कुछ विद्वानो के अनुसार अकवर के दरवार के गायक वावा रामदास इनके पिता थे, किन्तु इसे प्रामाणिक नही माना जा सकता। इसी प्रकार कुछ लोग विल्वमगल नामक एक ब्राह्मण के साथ भी इनका सम्वन्ध जोडते रहे है, जो चिन्तामणि नामक किसी वेश्या के प्रेम मे निराश होकर वाद मे अपनी आँखे फोड वैठा था। इसी प्रकार कुछ लोग इन्हे वीरगाथा काल के प्रसिद्ध कवि चन्दवरदाई

का वंशज ब्रह्मभट्ट भी मानते हैं। इस मत का आधार सूरदास के नाम से प्रचारित 'साहित्य-लहरी' नामक रचना है। परन्तु अब विद्वान् पहले तो इस रचना को ही सूरदास की मानने को तैयार नहीं, फिर जिस पद्य में सूर का वंश-परिचय दिया गया है, उसे प्रक्षिप्त मानते हैं। एक मत के अनुसार ये एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के कनिष्ठ पुत्र थे। इस प्रकार कौन-सा मत सही है, अभी तक निर्भ्रान्त रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

सूरदास वल्लभ-सम्प्रदाय में किस प्रकार दीक्षित हुए, इस सम्बन्ध में भी एक कहानी प्रचलित है। ऐसी मान्यता है कि सूरदास अपने अनेक सेवकों और भक्तों के साथ मथुरा-आगरा राजपथ पर स्थित गऊघाट नामक स्थान पर रहकर कृष्णभक्ति के पद रचकर गाया करते थे। एक बार भ्रमण करते हुए गोस्वामी वल्लभाचार्य गऊघाट पर पधारे तो सूरदास ने इन्हें अपना एक प्रसिद्ध पद 'प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ' गाकर सुनाया। इनकी भाव एवं स्वर-माधुरी से अत्यधिक प्रभावित होकर वल्लभाचार्य ने कहा—"जो सूरे ह्वै के ऐसो काहे को घिघियात है। कछु भागवत-लीला वर्णन करि।" उन्होंने सूरदास को अपने सम्प्रदाय की दीक्षा देकर प्रमुख शिष्य बनाया और कृष्ण-लीला के पद गाने का उपदेश दिया। इनकी आज्ञा से सूरदास श्रीनाथ के मन्दिर में स्वरचित कृष्ण-लीला के पदों का नित्य-प्रति कीर्तन करने लगे। ये मन्दिर के समीप ही पारसौली नामक स्थान पर निवास करते थे और प्रतिदिन कीर्तन करने के लिए आकर वापस वहीं लौट जाया करते थे। ३३ वर्ष की आयु से श्रीनाथ के मन्दिर में कीर्तन करना आरम्भ करके अपने स्वर्गवास-काल—सम्वत् १६६० वि० तक इनका यह क्रम नियमित चलता रहा। कहा जाता है कि अपने स्वर्गवास के समय यह स्वरचित 'खंजन नयन रूप रस माते" पद गा रहे थे।

नयनान्धता—सूरदास जी की नेत्रहीनता के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। एक मत के अनुसार ये जन्मान्ध थे। बाद में इनकी भक्ति-भावना से प्रसन्न होकर भगवान कृष्ण ने इन्हें सनेत्र होने का वरदान दिया। परन्तु सूरदास ने यह कहकर उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया कि जिन नेत्रों से एक बार आपके दर्शन कर लिये हैं, उनसे अब और कुछ भी नहीं देखना चाहता। अतः

इनकी दृष्टि फिर जाती रही। लेकिन अधिकांश विद्वान् इस कहानी को रूपक मात्र मानते हैं। इनका कथन है कि कृष्ण की कृपा से सूरदास के अन्धे नयनों को वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो सकी, जिससे इन्होंने इतना सुललित और सजीव साहित्य रचा।

सूरदास को चन्दवरदाई का वंशज मानने वालो का मत है कि यौवन-काल मे किसी युद्ध मे घायल होकर ये अपनी नयन-ज्योति खो बैठे थे। बिल्वमगल के साथ सम्बन्ध जोडने वालो का मत है कि प्रेम मे निराश होकर इन्होंने स्वय ही अपनी आँखें फोड ली थी। कुछ लोग वृद्धावस्था की दुर्बलताओ को भी नयन हीनता का कारण मानते हैं। सूरदास ने अपने पदो मे अनेक वार अपने-आपको जन्मान्ध और अभागा कहा है। जैसे—'सूरदास को कौन निहोरो, नयनहुँ की हानि' आदि। पर यहाँ जन्मान्धता का लाक्षणिक अर्थ 'जन्म से अज्ञानता' ही लिया जाना अधिक पसन्द किया जाता है। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि दृश्य जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अगो, विविध रगो, प्राकृतिक दृश्यो और सहज वाल स्वभाव तथा प्रेम-प्रसगो का वर्णन करने वाला व्यक्ति जन्मान्ध तो कतई नहीं हो सकता। निश्चय ही 'जन्मान्ध' शब्द का प्रतीकात्मक अर्थ है—ज्ञान नेत्रो से विरहित व्यक्ति।

रचनाएँ—कहा जाता है कि सूरदास ने सवा लाख के लगभग कृष्ण-लीला सम्वन्धी पद रचे थे। निश्चय ही यह सख्या सागर के समान असीम है, अत इनकी सर्जना 'सूरसागर' कही जाने लगी। परन्तु आजकल 'सूरसागर' की जो प्रमाणित प्रतियाँ उपलब्ध है, उनमे पदो की सख्या चार-पाँच हाजर के बीच ही है। 'सूरसागर' के अतिरिक्त इनके तेईस-चौवीस और ग्रन्थ भी कहे जाते हैं किन्तु इनमे उल्लेखनीय नाम केवल दो ही हैं—१ साहित्य-लहरी और २ सूर सारावली। इनमे से साहित्य-लहरी मे अलकार, रस-निरूपण, नायिका-भेद आदि से सम्वन्धित पद सकलित हैं और इसे सूरसागर का ही एक भाग माना जाता है। इसमे कई दृष्टकूट के पद भी सकलित है। ऐसा कहा जाता है कि नन्ददास को रस-रीति से परिचित कराने के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की गई थी इसमे सूर की वशावली से सम्वन्धित कुछ पद्य भी है। कुछ पदो मे अन्य घटनाओं

का वर्णन है, किन्तु विद्वान् उन पदो को प्रक्षिप्त मानते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे कुछ विद्वान् तो पूरी साहित्य-लहरी को ही सूरदास की रचना नहीं मानते। इनका कथन है कि इसे किसी अन्य सूरदास ने रचा था और इसमे कुछ पद उन महाकवि सूरदास के भी सम्मिलित हो गये हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा का मत भी इसी प्रकार का है।

'सूर-सारावली' मे सूरसागर का सार सकलित है। इसमे ११०३ पद हैं, जिन्हे सूरसागर के पदो की अनुक्रमणिका कहा गया है। किन्तु यह सर्वांगत. अनुक्रमणिका मात्र नहीं है। कुछ ऐसे प्रसगो की योजना भी इसमे की गई है, जो सूरसागर मे नही है। अत इसे भी सूर-विरचित नही माना जाता। इस प्रकार सूरदास की एकमात्र रचना 'सूरसागर' ही रह जाती है। इसकी रचना मूलत श्रीमद्भागवत के आधार पर हुई है। कृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा-गमन और बाद मे उद्धव-सन्देश (भ्रमर-गीत) तक की घटनाओ को अनेक प्रकार के गेय-मुक्तक पदो मे रचा गया है। यद्यपि कथा कहना सूर का प्रयोजन नहीं, तो भी कृष्ण के जन्म से लेकर तरुणाई तक की सभी घटनाएँ इसमे आ गई है।

'सूरसागर' मे बारह स्कन्ध है। भागवत पुराण इसका मूल आधार तो है, परन्तु कवि ने मौलिक सूझबूझ का अनेकश परिचय दिया है। इसके दशम स्कन्ध का विशेष महत्त्व माना जाता है। इसके पदो की सख्या ३६३२ के लगभग है। ये पद न केवल कृष्णभक्ति का गौरव है, बल्कि सूर की सृजना-प्रतिभा का भी अनुपम उदाहरण है। अनेक प्रकार की मौलिक कल्पनाएँ भी यहाँ देखी जा सकती है। अनेक लोक-प्रचलित कथाओ को भी सूर ने अपने काव्यक्षेत्र मे सहेजने का सफल प्रयास किया है। 'भ्रमर-गीत' तो केवल सूर-काव्य ही नही, बल्कि समूचे हिन्दी काव्य की अमर निधि है। विरह-काव्यो मे यह प्रमुख है और सगुण प्रेम भक्ति के महत्त्व को प्रतिपादित करने की दृष्टि से भी इसका बहुत अधिक महत्त्व है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके है, 'सूरसागर' मे कवि का उद्देश्य यद्यपि कृष्ण-जीवन की कथा कहना नही—उसके मार्मिक प्रसगो का उद्घाटन करना ही है, फिर भी वह अपनी मुक्तक-शैली-विधा मे इतनी प्रबन्धात्मकता को सहेजे हुए

है। इस सम्बन्ध मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत विशेष रूप से द्रष्टव्य है —

"शिल्प मे गीति काव्यात्मक मनोरागो को आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्प का निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसा ही महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग गीति काव्यात्मक या 'लिरिकल' है। सूर सागर भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग 'लिरिकल' या गीति-काव्यात्मक है।"

सूरदास पुष्टिमार्गी थे। इस मार्ग के सिद्धान्त ही इनकी समूची साधना का मूल आधार हैं। उसीके आधार पर इन्होंने उज्ज्वल-रस का सहज परिपाक अपने काव्य मे किया है। वात्सल्य, सख्य और अनेकधा वर्णित माधुर्य-भाव इसी भक्ति या उज्ज्वल-रस के अन्तर्गत आते है। कही-कही सूरदास ने अपने काव्य मे दीनता-भाव का भी सम्यक निर्वाह किया है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने से पूर्व सूर-काव्य मे विनय और दास्य-भावना भी विद्यमान थी, लेकिन बाद मे पूर्ण-तया सख्य भाव के गायक हो गये। नवधा भक्ति के सभी अगो की गायन-चर्चा सूर-काव्य मे देखी जा सकती है, क्योकि वे सभी भक्ति-भाव को प्रकाशित करने वाले हैं। नारद-भक्ति-सूत्र की ग्यारह प्रकार की आसक्तियो का वर्णन करके भी सूरदास का मन वात्सल्य, सख्य, रूप, कान्ता भाव और तन्मयता आदि के चित्रण मे अधिक तल्लीन रहा है। 'भ्रमर-गीत' विरह भक्ति के वर्णन का उत्कृष्ट उदा-हरण है। सूर की दार्शनिकता वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद पर आधारित है। वैयक्तिक सम्बन्धो की दृष्टि से कान्ता-भावपूर्ण भक्ति अधिक ग्राह्य होती है। कृष्ण और गोपियो के प्रेम के माध्यम से कान्ता-भाव का यही माधुर्य सूर-काव्य मे अभिव्यक्त हुआ है।

सूर-काव्य मे रस—शास्त्रीय दृष्टि से सूर के काव्य मे वात्सल्य और शृगार रसों का पूर्ण परिपाक हुआ है। समग्रत कृष्ण-लीलाओ का गायन ही सूरदास के काव्य का एकमात्र लक्ष्य है। इनके लिए कृष्ण ही एकमात्र अनादि पुरुष है, शेष सभी उसीका अश जीवात्माएँ हैं। इसी भाव को समक्ष रखकर सूरदास जी ने वात्सल्य और शृगार के मधुर चित्रण द्वारा कृष्ण का अनकेश गायन किया है।

इनमें कृष्ण नन्द-यशोदा की सुखद गृहस्थी के सुन्दर प्रांगण मे अपनी अनेक प्रकार की बाल-लीलाएँ दिखाते हैं। इन्हीका कमनीय गायन वात्सल्य रस के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार इनके समूचे काव्य मे वात्सल्य, शृंगार और विनय की अन्त:सलिला सर्वत्र प्रवाहित रहती है।

वात्सल्य-चित्रण मे तो सूर अजोड हैं। उन्हे जीवन्त और साकार वात्सल्य ही कहा जाता है। इस रस का कोई भी रूप, भाव इनकी लेखनी से अछूता नहीं रह पाया। इसी कारण आचार्य शुक्ल कहते है कि वात्सल्य रस का ये कोना-कोना झाँक आये हैं। इसी कारण तो सूरदास की यशोदा 'अमर-मुनि-दुर्लभ' सुख को अपने घर के आँगन मे ही प्राप्त करती देखी जा सकती है —

खेलत नन्द आँगन गोविन्दु।
निरखि-निरखि जसुमति सुख पावे, वदन मनोहर इन्दु।

वात्सल्य-वर्णन से लगता है कि कवि का अपना ही हृदय सर्वत्र उमड आया। नन्द-यशोदा की स्नेहमयी उक्तियाँ, ग्वाल-बालो के मध्य कृष्ण का विहार, माखन चोरी, परस्पर छेड-छाड, गोचारण, कृष्ण का घुटनो के बल रेंगना, मुख-दधि-लेपन, कबहुँ बढ़ैगी चोटी और 'मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो' 'खेल मे काको को गोसाई' आदि वात्सल्य भाव की अविरल स्रोतस्विनी को प्रवाहित करने वाले वे पद और भाव हैं, जहाँ सूर का अपना ही बालसुलभ हृदय बार-बार द्रवित होकर अनवरत प्रवाहित हुआ है। कही वे 'यशोदा हरि पालने झुलावे' गाकर और कभी 'घुटुरुनि चलत श्याम मनि आँगन' गाकर वात्सल्य-सरिता मे सराबोर होते दिखाई देते हैं। इस प्रकार यशोदा का आँगन समस्त बाल-लीलाओ का एक ऐसा कोना बन जाता है कि उस पर स्वर्ग, अमर मुनि आदि सभी न्यो-छावर हो उठते हैं। यही देखकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सूर के वात्सल्य-भाव के सम्बन्ध मे कहते है —

"हमारे जाने हुए साहित्य मे इतनी मनोहारिता और सरलता के साथ लिखी हुई बाल-लीलाएँ अलभ्य हैं। बाल-कृष्ण की एक-एक चेष्टाओ के चित्रण मे कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दो की कमी होती है न अलंकार की, न भावो की, न भाषा की।"

वात्सल्य के बाद शृगार-रस के चित्रण मे भी सूर अजोड है। शृगार-भावना को भक्ति-भावना मे अनुरजित कर वास्तव मे उसे भक्ति या उज्ज्वल रस ही बना दिया है। इनका प्रेम-वर्णन कोई आकस्मिक घटना नही, बल्कि वह 'लरिकाई को प्रेम' है जो किसी भी प्रकार छूट नही सकता। शृगार के सयोग और वियोग दोनो पक्षो के चित्रण मे सूर का मन खूब रमा है। फिर भी जो प्रखरता इनके वियोग-वर्णन म है, वह सयोग-चित्रण मे नही आ पाई है। राधा और कृष्ण की युगल जोडी के प्रेम के सागोपाग वर्णन म सूर ने बडी सूक्ष्म कुशलता का परिचय दिया है। सयोग मे आनन्दोल्लास के निर्झर यदि प्रस्फुरित होते दिखाई देते हैं तो वियोग वर्णन मे करुणा-सरिता का करुण निनाद भी कम हृदयद्रावक नही। यह वियोग एकागी नही, बल्कि उभय पक्षीय है। वियोगिनी गोपियो के लिए 'सापिन कालिरात' और 'देखियत कालिन्दी अति कारी' हो जाती है। जो लताएँ उन्हे पहले अच्छी लगती थी, वे 'बिरहानल की पुजै' बन जाती हैं। वियोगिनी राधा के सम्बन्ध मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते है—"वियोग समय की राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है वह भी इस प्रेम के योग्य है। मिलन समय की मुखरा, लीलावती, चचला और हसोड राधिका, वियोग के समय मौन, शान्त और गम्भीर हो जाती है। उद्धव के साथ (भ्रमर-गीत-प्रसग मे) अन्य गोपियां काफी बक-झक करती हैं पर राधिका वहाँ जाती भी नही। उद्धव ने श्रीकृष्ण मे उनकी जिस मूर्ति का वर्णन किया है, उससे पत्थर भी पिघल जाता है।"

सूर ने 'भ्रमर-गीत' की रचना वास्तव मे वियोग-वर्णन के लिए ही की थी, यद्यपि परोक्ष रूप से योग-ज्ञान मार्ग और निर्गुणवाद का खण्डन भी उसका एक लक्ष्य था। इसके माध्यम से ही सूर काव्य मे वियोग की अजस्र प्रवाहिनी सरिता प्रवाहित हो पाई है। इनकी गोपियाँ 'भ्रमर-गीत' मे कभी तो 'ऊधो मन नाहिं दस बीस' का उद्घोष कर अपनी व्यथा प्रकट करती हैं और कभी 'ऊधो मन नाही हाथ हमारे' कहकर अपनी विवशता प्रगट करती हैं। इस प्रकार वियोग-शृगार के सभी पक्षो का 'भ्रमर-गीत' मे सरस उद्घाटन हुआ है।

इन मुख्य रसो के अतिरिक्त सूर-काव्य मे प्रासगिक रूप से अद्भुत, वीर

आदि रसों की योजना भी हुई है। कहीं-कहीं निर्वेदमूलक शान्त रस के भी दर्शन होते हैं। जहाँ जिस रस को इन्होंने लिया, अपने व्यक्तित्व के सम्पर्श से उसका पूर्ण परिपाक कर दिखाया। फिर भी मूलतः सूरदास वात्सल्य एवं शृंगार के ही अमर गायक हैं। आचार्य शुक्ल जैसे व्यक्तियों को यद्यपि सूर की गोपियों का विरह 'बैठे-ठाले' का सा कार्य दिखाई देता है, पर बाद में उन्हें भी अपना विचार परिवर्तित करना पड़ा।

सूर-काव्य में प्रकृति-चित्रण—सूर-काव्य में वैसे तो प्रकृति के विविध रूप देखने को मिलते हैं, किन्तु उनका प्रकृति-चित्रण आलम्बन रूप में ही अधिक हुआ है। प्रकृति-चित्रण भी उनके काव्य में कृष्णलीला का एक अंग ही है। प्रकृति के कोमल-कान्त रूप ही वहाँ अधिक दिखाई देते हैं, यद्यपि 'छहरात, घहरात कारे बादर आये' जैसे भयावह रूप भी कहीं-कहीं देखने को मिल जाते हैं। शृंगार के वियोग पक्ष में इनका प्रकृति-चित्रण उद्दीपन-विभाव के रूप में प्रगट हुआ है। तभी तो उनकी गोपियाँ कह उठती हैं —

> मधुबन, तुम कत रहत हरे।
> विरह-वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।

विरह की स्थिति में यमुना की लहरें, चाँदनी रातें, वृन्दावन के कुंज—सभी विगत स्मृतियों के परिवेश में जलाने वाले प्रमाणित होते हैं। सामान्यतया कहा जा सकता है कि प्रकृति-चित्रण सूर का उद्देश्य न होते हुए भी पृष्ठभूमि के रूप में पर्याप्त सुन्दर बन पड़ा है।

सूर-काव्य का कला पक्ष—सूर-काव्य के कला-पक्ष के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं, तो मानो अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है, उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने-आपको भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलने वाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जान-बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइये, केवल उपमाओं

और रूपकों की छटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षणा और व्यजना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज़ दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ।"

हमारे विचार मे सूर-काव्य के कला-पक्ष के सम्बन्ध मे इसके बाद कुछ और कहना व्यर्थ है। औपचारिक रूप मे कहा जा सकता है कि सूर-काव्य की भाषा विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा का समूचा सौन्दर्य, वैभव, माधुर्य और ऐश्वर्य यहाँ देखा जा सकता है। भावानुकूल शब्द-चयन मे पूर्णतया सिद्धहस्त हैं। सूर ने ब्रजभाषा, सस्कृत के तत्सम शब्दो, राजस्थानी, बुन्देलखण्डी, खड़ीबोली तथा अरबी-फारसी के साथ-साथ अन्य अनेक आचलिक शब्दो का भी आवश्यकतानुसार स्वच्छन्द प्रयोग किया है। भाषा मे माधुर्य एव प्रसाद गुणो की पूर्णतया रक्षा हुई है। सगीतात्मकता और गेयता भी सर्वत्र विद्यमान है। सगीत, कवित्व एव भक्ति यहाँ एकमेक हो गये है। इस बात को लक्ष्य करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने उचित ही कहा है —

"सूर की कविता मे सगीत की धारा इतनी सुकुमार चाल से चलती है कि हमे यह ज्ञात होने लगता है कि हम स्वर्ग के किसी भाग मे मन्दाकिनी की हिलती हुई लहरो का स्पर्शानुभव कर रहे है। सूरदास तो स्वभावत ही उत्कृष्ट गायनाचार्य थे। इस कारण उन्होने जितने पद लिखे हैं, उनमे सगीत की ध्वनि इतनी सुमधुर रीति से समाई है कि वे पद सगीत के जीते-जागते अवतार से हो गये हैं।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि क्या भाव और क्या कला-पक्ष, सभी दृष्टियों सूर माधुर्य के अवतार थे। इनकी स्वरलहरी का प्रभाव शाश्वत है। इनकी न्त सलिला-सी प्रस्फुटित कविता मे श्रेष्ठतम काव्य की समग्र सभावनाएँ, क्षमताएँ एव प्रभाव विद्यमान हैं। इनकी काव्य-शैली अपने अन्तराल मे जहाँ गीति-,नक के समूचे तत्त्वो को सहेजे हुए है, वहाँ महाकाव्योचित औदात्य भी इसमे ोजा और देखा जा सकता है। इसी कारण हम इनकी काव्य-शैली को प्रबन्धात्मक प्रगीत-मुक्तक' मानते हैं। इसका प्रवाह और प्रभाव अक्षुण्ण है। अतः कमीने उचित ही कहा है कि —

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, वेध्यो सकल सरीर॥

इतना होते हुए भी यह स्वीकार करना ही होगा कि सूर के काव्य मे तुलसी-काव्य के समान व्यापकता एव सर्वाङ्गीणता नही है। इनकी साधना मूलत अन्तर्मुखी है, इसी कारण वहिरग जीवन के तत्त्व वहाँ नहीं आ पाये है। लोक-पक्ष की वहाँ उपेक्षा भी इसी अन्तर्मुखता के कारण ही हुई है। वहाँ केवल माधुर्य की अन्त.सलिला ही प्रवाहित है। वह रसिकता के भाव को तो प्रवल आश्रय प्रदान कर सकती है, पर ससारी मन को वह तुलसी के समान प्रभावित करने मे सक्षम नही है। जहाँ तक विशुद्ध काव्यात्मकता का प्रश्न है, वहाँ सूर निश्चय ही अपहुँच है।

नन्ददास—गोस्वामी वल्लभाचार्य के सुपुत्र विट्ठलदास द्वारा प्रतिष्ठापित 'अष्टछाप' के कवियो मे शुद्ध कवित्व की दृष्टि से सूरदास के वाद नन्ददास का ही नाम आता है। वैसे आयु आदि के क्रम से इनकी गणना सवके अन्त मे ही की जाती है। साम्प्रदायिक दृष्टि से अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का प्रखर एव स्पष्ट विवेचन करने के कारण कुछ लोग कवि और साधक नन्ददास का व्यक्तित्व सूरदास से भी अधिक प्रखर स्वीकार करते है। भाषा-सौष्ठव और अविरल कवित्व-प्रवाह की दृष्टि से तो यहाँ तक कह दिया गया कि —

और कवि गढिया, नन्ददास जडिया।

कुछ भी हो, यद्यपि सूर के व्यक्तित्व जैसी प्रखरता यहाँ नही, फिर भी कुछ वातो मे, सिद्धान्तो की सरल स्पष्टता आदि की दृष्टि से इन्हे सूर से आगे माना जा सकता है।

नन्ददास के आरम्भिक जीवन के सम्वन्ध मे कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नही होती; हाँ, नाभादास की 'भक्तमाल' मे इनके सम्वन्ध मे निम्नलिखित छप्पय अवश्य उपलब्ध होता है —

लीला पद रस रीति ग्रन्थ रचना मे नागर।
सरस उक्ति युत युक्ति, भक्ति रस गान उजागर।

प्रचुर पद्य लौं मुजसु रामपुर ग्राम निवासी।
सकल-सुकुल सवलित, भक्त-पद-रेनु उपासी।
चन्द्रहास अनुज सुहृद, परम प्रेम पथ मे पगे।
श्री नन्ददास आनन्द निधि रसिक मुप्रभुहित रग मगे ॥

इनमे केवल इनना ही पता चलता है कि यह रामपुर नामक ग्राम के निवासी थे और इनके भाई का नाम चन्द्रहास था। बावा वेनीमाधव-विरचित मूल गोसाईं चरित मे इन्हे तुलसीदास का गुरुभाई कहा गया है और तुलसीदास के साथ इनकी भेंट होने की वात भी कही गई है। कुछ लोग तो इन्हे तुलसीदास का छोटा भाई तक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इनके सम्वन्ध मे भी निश्चित रूप मे कुछ नही कहा जा सकता।

बहुमत के अनुसार इनका जन्म सम्वत् १५७० वि० मे सूकर-क्षेत्र, जिला एटा के समीपवर्ती ग्राम रामपुर मे हुआ था। शैशव के मुकुमार क्षणो मे ही इनके माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण इनका पालन-पोपण इनकी दादी ने किया था। कहा जाता है किसी सुन्दरी पर मोहित होकर यह उसका पीछा करते हुए गोकुल तक जा पहुँचे। वहाँ विट्ठलदास के उपदेशो से इनका मोह उतरा और यह उनके पुष्टिमार्ग मे दीक्षित होकर 'अष्टछाप' के प्रधान अग वन गये। दीक्षा के उपरान्त इनका अधिकाश समय गोवर्धन और गोकुल मे ही बीता। ऐसा भी कहा जाता है कि दीक्षा के वाद भी इनके मन मे वासनात्मक अकुरो को निहार-कर इनके परिमार्जन के लिए इन्हे पारसौली गांव मे सूरदास जी के पास भेज दिया गया। वहाँ सूरदास के प्रभाव से ही यह वासना से मुक्त हो पाये। यह भी कहा जाता है कि सूरदास के परामर्श से नन्ददास ने कमला नामक एक रमणी से विवाह कर लिया, इससे इन्हे कृष्णदास नामक एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति भी हुई। इसके वाद ही सहसा इनके मन मे वैराग्य का सच्चा भाव प्रस्फुटित हुआ और यह गोवर्धन पर आकर निवास करने लगे।

कुछ लोग इन्हे तुलसीदास का चचेरा भाई मानते हैं। 'वर्षफल' नामक रचना के अनुसार नन्ददास सुकुल वश के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम जीवाराम था। वे गगा-तट पर वसे वराह-भूमि-तीर्थ के निकट रामपुर के निवासी थे। मन्य

अनेक प्रमाणो से भी इस मत की पुष्टि होती है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि नन्ददास रामपुर के निवासी अवश्य थे। बाकी इनका प्रारम्भिक जीवन क्या और कैसा रहा, इस विषय मे निश्चित कुछ नही कहा जा सकता। इनका स्वर्गवास सम्वत् १६४० वि० मे माना जाता है।

रचनाएँ—नन्ददास की कुछ रचनाओ की सख्या सोलह तक मानी जाती है। इनके अतिरिक्त उनके द्वारा रचे गये कुछ फुटकर पद भी उपलब्ध होते हैं। इनकी प्रसिद्ध और प्रमाणित रचनाओ के नाम है—भँवरगीत, रास पचाध्यायी, सिद्धान्त पचाध्यायी, दशम स्कन्ध भागवत, विरहमजरी, रसमजरी, रूपमजरी, मान मजरी, नाम चिन्तामणि माल, श्याम सगाई, रुक्मिणी मगल, गोवर्धन लीला और सुदामा चरित इत्यादि। नन्ददास की इन रचनाओ के अध्ययन से पहली बात तो यह स्पष्ट होती है कि यह अत्यन्त सहृदय भक्त और कवि थे। दूसरे इन्हे काव्यशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। आगे चलकर रीतिकाल मे जो काव्यशास्त्रीय परम्परा चली, उसका पूर्वाभास इनकी रचनाओ मे स्पष्टत मिल जाता है।

नन्ददास का विशेष महत्त्व 'भँवरगीत' और 'रास-पचाध्यायी' के कारण ही माना जाता है। इनके भँवरगीत मे बौद्धिक तत्त्वो के साथ-साथ तर्क का समावेश कुछ अधिक हुआ है। सवाद-योजना भी यहाँ स्पष्ट है। दूसरे पुष्टिमार्गी और वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का प्रतिपादन भी नन्ददास ने अत्यन्त सजीव ढग से किया है। इन सबमे नन्ददास की प्रौढ कलात्मकता और कवित्व-शक्ति के सहज दर्शन होते है। सूर की अपेक्षा नन्ददास की गोपियो मे भावुकता कम और तार्किकता अधिक है। यही देखकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते है—"सूरदास का एकमात्र अस्त्र प्रेमातिरेक है, जबकि नन्ददास का अस्त्र है युक्ति और तर्क।" इतना सब होते हुए भी नन्ददास के भँवरगीत की सम्मोहन-शक्ति कम नही। एक उदाहरण देखें :—

सुनत स्याम को नाम ग्राम-गृह की सुधि भूली।
भरी आनन्द रस हृदय, प्रेम बेली द्रुम फूली।
पुलकि रोम सब अग भये, भरि आये जल नैन।

कण्ठ घुटे, गद्गद गिरा, बोले जात न बैन।
व्यवस्था प्रेम की।"

गेयता, व्यग्य-विनोद, शब्द-नाद-सौन्दर्य आदि की दृष्टि मे भी नन्ददास का 'भँवरगीत' अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

नन्ददास की दूसरी प्रमुख रचना 'रास पचाध्यायी' के बारे मे कहा जाता है कि इसकी सर्जना इन्होने अपने एक मित्र की प्रेरणा से की थी। इसके पाँच अध्यायो मे कृष्ण की रासलीला, नख-शिख-सौन्दर्य-चित्रण, गोपी-विलाप, उपालम्भ और प्रकृति के मादक दृश्यो का वर्णन अत्यन्त सजीवता एव सुरुचि-सम्पन्नता के साथ किया गया है। इस रचना के पढने से यह भी पता चलता है कि नन्ददास को कला की विविध भगिमाओ का भी सम्यक् ज्ञान था। इसी कारण यहाँ नृत्य के विविध तोडो का भावपूर्ण वर्णन हुआ है। प्रत्येक शब्द नृत्य-सगीत की मधुर लयात्मकता एव नाद-सौन्दर्य से समन्वित है।

इनके अतिरिक्त अन्य रचनाओ मे से 'रसमजरी' मे नायक-नायिका के भेदो का वर्णन मिलता है। 'रूप मजरी' और 'विरह-मजरी' आदि काव्यो को रीति-विषयक कहा जाता है। 'अनेकार्थ-मजरी' और 'मान मजरी' आदि कोषग्रन्थ हैं। 'दशम स्कन्ध भागवत' श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का दोहा-चौपाई छन्द मे रूपान्तरण है। इसमे कवि ने मूल के अतिरिक्त अनेक मौलिक उद्भावनाएँ भी की है। अन्य रचनाओ के विषय प्राय उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाते है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नन्ददास की कला मे विविधता है। उनके विषय भी व्यापक है। वे कोरे भक्त और कवि ही नही, वलिक आचार्यत्व के तत्त्व भी अपने अन्तराल मे सँजोये हुए थे। नन्ददास का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इन्होने पद-रचना के साथ-साथ खण्ड-काव्य भी लिखा था। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित कथा कहने मे भी इनकी रुचि थी।

नन्ददास का कला-पक्ष भाव-पक्ष की तुलना मे अधिक पुष्ट एव समृद्ध माना जाता है। शब्द-योजना मे वे समूचे कृष्ण-काव्य मे अपना सानी नही रखते। इन्हें विशिष्ट शैलीकार भी माना जाता है। भक्ति एव श्रृगारी प्रवृत्तियो का सुन्दर समन्वय इनके काव्य मे स्पष्ट देखा जा सकता है। सूरदास का इन पर काफी

प्रभाव परिलक्षित होता है।

नन्ददास की भाषा भी सूर की तुलना मे मुहावरेदार होने के कारण अत्यधिक सशक्त प्रतीत होती है। भाषा मे ध्वन्यात्मकता, चित्रमयता, लाक्षणिकता, सानुप्रासिकता एव नाद-सौन्दर्य आदि गुण विशेष दर्शनीय है। नाद-सौन्दर्य तथा भाषा के जडाव का यह उदाहरण देखें —

नूपुर ककन किकन करतल मजुल मुरली,
ताल मृदग उमग चग एकै सुर जुरली।
मृदुल मधुर टकार ताल झकार मिली धुनि,
मधुर जत्रकी तार भँवर गुजार रली पुनि।"···इत्यादि।

स्वाभाविक अलकारो की छटा, रसात्मकता आदि भी नन्ददास के काव्य के विशिष्ट गुण हैं। भाषा का माधुर्य और वैभव भी यहाँ सर्वत्र देखा जा सकता है। प्रबन्ध और मुक्तक दोनो काव्य-शैलियो पर उनका समान अधिकार था। निष्कर्ष-स्वरूप कहा जा सकता है कि नन्ददास उच्च कोटि के भक्त, कवि, सगीतज्ञ एवं रीति-तत्त्वो के ज्ञाता थे। सूरदास के बाद कृष्ण-काव्यकारो मे अपना उदाहरण वे आप ही है।

मीराबाई—प्रेम की पीर और विरह-वेदना की अमर गायिका मीरा का कृष्ण-भक्ति शाखा के साधको और कवियो मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके प्रेम की कसक आज भी उनके विरह-गीतो के बोलो मे कसक-कसककर सहृदयो, संगीतज्ञो की हृद्-धड़कनें बढा देती है। काव्यशास्त्रीय नियमो से ऊपर उठकर उनकी सगीत-लहरी सरिता के अनवरत उच्छलन के समान रसिको को सराबोर कर देती है। वास्तव मे 'प्रेम की पीर' और विरह की अनवरत धडकन का नाम ही मीरा है।

मीरा का जन्मस्थान जोधपुर राज्य के अन्तर्गत मेड़ता नामक स्थान माना जाता है। राव दूदाजी के चतुर्थ पुत्र राव रत्नसिंह के यहाँ कुड़की गाँव मे इनका जन्म सम्वत् १५७३ वि० (सन् १५१६) मे हुआ था। वह अपने पिता की इकलौती सन्तान थी। कुछ लोग इनका जन्म सम्वत् १५५५ वि० मे मानते है, किन्तु पहला मत ही अधिक मान्य किया जाता है। मीरा की माता का देहान्त

शैशव के सुकुमार क्षणो मे ही हो गया था। अत इनका लालन-पालन इनके परम वैष्णव भक्त पितामह राव दूदाजी ने ही किया था। अपने पालक पितामह के सस्कारो को मीरा ने पूर्णतया ग्रहण किया। यही प्रभाव आगे चलकर मीरा के काव्य मे मधुरा भक्ति के रूप मे पूर्ण विकसित दिखाई देता है। शैशव के सुकुमार क्षणो से ही मीरा का ध्यान भगवद्-भक्ति की ओर रहने लगा। वह शैशवी सुकुमार क्षणो से ही वाल-गोपाल को अपना पति मानने लगी थी। इस शैशवी वैराग्य-भावना से घवराकर इसका ध्यान सासारिकता की ओर मोडने के लिए केवल वारह वर्ष की आयु मे ही इसका विवाह चित्तौड के महाराणा सांगा के वडे वेटे भोजराज के साथ कर दिया। परन्तु जल्दी ही मीरा को वैधव्य का अभिशाप ढोना पडा। फलस्वरूप कृष्ण के प्रति मीरा का प्रेम-भाव और भी अधिक वढ गया। अव वह पूर्णतया कृष्ण और उनकी प्रेम-लीला को अर्पित हो गई।

कर्नल टॉड ने 'राजस्थान' मे मीरा को चित्तौड के महाराणा कुम्भा की पुत्री वताया है, जो कि नितान्त भ्रान्त धारणाओ का परिणाम है। मीरा के सम्वन्ध मे उपरोक्त तथ्य ही प्रामाणिक हैं। विधवा होने के वाद मीरा का अधिकाश समय साधु-सग, कृष्ण नाम की चर्चा, भजन और कीर्तन मे व्यतीत होने लगा। वह मन्दिर मे जाकर कृष्ण की मूर्ति के सामने उन्मुक्त भाव से गाती-नाचती। एक प्रकार से उसने घोपणा ही कर दी कि —

मेरा तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई॥

इतना ही नहीं, वह लोक-लाज त्यागकर गाने लगी थी कि "पग घुंघरू वाँध मीरा नाची रे।" मीरा का यह व्यवहार उसके देवर तथा राज-परिवार के अन्य सदस्यो के लिए असह्य हो उठा। अत मीरा को न केवल अनेक प्रकार के कष्ट ही दिये गये, वल्कि इसकी हत्या की भी अनेक चेप्टाएँ की गई। परन्तु प्रेम-दीवानी मीरा के लिए अपने अटल विश्वास, भक्ति और प्रेम के कारण कष्टो के काँटे फूल वन गये, विप अमृत मे परिणत हो गया। कहा जाता है कि घर-परिवार के व्यवहार से तग आकर मीरा ने गोस्वामी तुलसीदास जी को पत्र लिखकर

उनसे छुटकारे का उपाय पूछा था। उत्तर में तुलसीदास जी ने अपना प्रसिद्ध पद 'जाके प्रिय न राम-वैदेही, तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम स्नेही' लिख भेजा था। इसे पढ़कर मीरा घर से निकल पड़ी थी। साधु मण्डली के साथ अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए अन्त में वह मथुरा-वृन्दावन में आकर निवास करने लगी थी। उपरोक्त किंवदन्ती कहाँ तक सत्य है, कहा नही जा सकता, किन्तु यह सर्वमान्य सत्य है कि मीरा ने घर-परिवार का सर्वदा के लिए परित्याग कर दिया था और मथुरा-वृन्दावन में आकर निवास करने लगी थीं। यही पर उनका स्वर्गवास सं० १६०३ वि० के आसपास हुआ था।

मीरा के गुरु कौन थे—यह प्रश्न भी विवादास्पद है। क्योंकि इनकी सर्जनाओं में सगुणोपासना के प्रति उच्च आस्था तो है ही सही, उनका बाल-कृष्ण साकार है और उनकी लीलाएँ भी सत्य-सजीव हैं, पर इनके साथ-साथ मीरा की काव्य-साधना में निर्गुणवाद के प्रति आस्था, योगमार्ग की अनेक स्थितियों का चित्रण भी मिलता है। इन्हें 'पचरंग चोला' पहनकर 'झिरमिट' में खेलने भी जाते देखा जा सकता है और 'ओहि झिरमिट महँ मिल्लो साँवरो खोल मिली तन गाती' जैसी भावनाएँ भी मिलती हैं। अतः स्पष्ट है कि मीरा सन्त मत से भी काफी प्रभावित थी। कुछ लोग जीवस्वामी को इनका गुरु मानते हैं। परन्तु निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। अन्त में यही कहकर सन्तोष करना पड़ता है कि मीरा पर एक ओर सन्त-मतों का प्रभाव था, जबकि दूसरी ओर चैतन्य के मत का भी स्पष्ट प्रभाव था। इन दोनों का समन्वित रूप ही मीरा का व्यक्तित्व और काव्य है।

रचनाएँ—नरसी जी का मायरा या माहेरो, गीत-गोविन्द की टीका, मीराँनी गरबो, राग गोविन्द, रागसोरठ के पद और मीरा के पद आदि मीरा की प्रमुख रचनाएँ मानी जाती हैं। इनमें से 'गीत गोविन्द की टीका' नामक रचना अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। 'नरसी जी का मायरा' में नरसी मेहता नामक भक्त के भात भरने की कथा कही गई है। 'राग सोरठ के पद' में मीरा के पदों के साथ-साथ कबीर तथा नामदेव के चुने हुए पद भी संकलित हैं। 'राग गोविन्द' की रचना मीरा ने की, यह अभी तक अनुमान मात्र ही है। 'मीराँनी गरबो' में

रास-मण्डली मे गाये जाने योग्य पद सकलित है। दो सौ के लगभग मीरा-विरचित फुटकल पद भी प्राप्त होते है। कुछ विद्वान् इन पदो की सख्या ५०० तक मानते हैं। हमारा अनुमान है कि मीरा के सरस पदो से प्रभावित होकर इन्हीके अनुकरण पर कुछ पद बाद मे रचे गये और उनमे 'दास मीरा लाल गिरधर' या 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर' जैसे चरण जोडकर उन्हे मीरा के पदो मे शामिल कर दिया गया। आधुनिक सिने-ससार मे भी अनेक ऐसे गीत रचे गये है, जिनके अन्त मे उपरोक्त चरण जुडे है और कालान्तर मे उनके सम्बन्ध मे भी मीरा-विरचित होने की भ्रान्ति जुड सकती है। मीरा की स्व-लिखित रचनाएँ उपलब्ध नही होती, अत. जो कुछ भी उसके नाम से प्रचारित है या हो रहा हैं, उसीको मानकर चलना पडता है। हिन्दी के अतिरिक्त गुजराती, मारवाडी आदि भाषाओ मे भी मीरा के पद उपलब्ध है।

मीरा की कविता का प्रमुख स्वर भगवान कृष्ण का प्रेम ही है। अत प्रेम की पीर, विरह-वेदना, आत्मनिवेदन और आत्मसमर्पण सभी कुछ इसीके अन्तर्गत आ जाता है। प्रेम दीवानी मीरा का स्वर अनेकश विरोधाभासो का अजस्र-स्रोत-सा भी प्रतीत होने लगता है। वहाँ एक ही पद मे मिलन-सुख और विरह का उत्कर्ष देखा जा सकता है। यद्यपि सामान्यतया ऐसा होना दोष हैं, परन्तु मीरा को जिन स्थितियो मे से गुजरना पडा, उनकी मन स्थिति जैसी रही और वहाँ आशा-निराशा का अन्तर्द्वन्द्व जिस रूप मे चलता रहा, उस दृष्टि से यह दोष भी गुणवत् ग्राह्य एव प्रशस्य हैं। फिर विरह भाव मे तो मानसिक असन्तुलन रहता ही है। मुख्य बात तो यह है कि इस सब व्यापार मे पूर्ण निश्छलता और आत्मनिवेदन के साथ आत्मसमर्पण का सहज भाव है, अत वह सब कुछ पूर्णत ग्राह्य है। वास्तव मे मीरा जैसी निश्छलता, तल्लीनता, एकनिष्ठता की सहज सरल अभिव्यक्ति अन्यत्र सुलभ नही है।

मीरा के कवित्व में निर्गुण सन्तो के विचारो का समन्वय रहने पर भी प्रखरता सगुण-साधना मे ही आ पाई है। सगुण प्रेम के विरह-मिलन के प्रभाव एव संस्पर्श ही वहाँ अधिक प्रभावी है। उनकी माधुर्य-भावना अनेक स्थानो पर सूर और तुलसी से भी आगे बढती हुई दिखाई देने लगती है। मीरा तो स्वय ही गोपी

और राधा के रूप मे कृष्ण के साथ मान-मनुहार और प्रेम-विरहभरी लीलाएँ बिखरी हुई दिखाई देती हैं। कही-कही मीरा के पदो मे रहस्यात्मकता भी स्पष्ट है, पर वह दुरूह नही है। कारण कि उनके इष्ट का स्वरूप हम सबके समक्ष पूर्णतया उजागर है। फिर मधुरा भक्ति मे कुछ-कुछ रहस्यात्मकता रहती ही है। इस पर मीरा तो सन्तो से भी प्रभावित थी। मीरा ने ससार के प्रति विरक्ति की भावनाएँ भी प्रगट की हैं। जैसे—

भज मन चरण कमल अविनाशी।
जेताई दीसे धरण गगन बिच तेताई सब उठ जासी।

और फिर वे कहती हैं—

याहि विध भक्ति कैसे होय।
मन की मैल हिय ते न छूटे, दियो तिलक सिर धोय।

स्पष्ट है कि मीरा को आडम्बर-पाखण्ड और भक्तिमार्ग की औपचारिकताएँ पसन्द नही थी। वह तो विशुद्ध प्रेमा भक्ति के लिए ससार मे आई है, इस कारण जगत् की स्थिति को देखकर उसे रोना भी आता है। सक्षेपत मीरा के स्वर निर्झर का अनवरत कल-निनाद हैं, पल्लवो का स्वर-शिजन हैं और हैं सरिताओ की स्वाभाविक सर-सर गति और इन्ही सब बातो मे उनके काव्य का समूचा सौष्ठव एव वैभव अन्तर्हित है।

मीरा की भाषा मुख्यत राजस्थानी है। इसमे ब्रज, गुजराती, खड़ीबोली, अवधी आदि अनेक भाषाओ का सरस सम्मिश्रण मिलता है। गीति-शैली का उत्कृष्ट रूप यहीं देखा जा सकता है। साहित्यिकता का आधिक्य न रहते हुए भी अनुभूतियो की तीव्रता एव निजीपन के कारण मीरा का गीति-मुक्तक काव्य चिर-काल के लिए सहृदयो की अमर धरोहर बन गया है। इसकी लोकप्रियता इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

४ रसखान—प्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि रसखान का वास्तविक नाम क्या था, यह अद्यतन अविज्ञात है। इस सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वानो ने अटकल से काम लिया है। डा० सरनदास भानोत के अनुसार—"इनका वास्तविक नाम शायद सुजान है"; जब कि अन्य विद्वानो के अनुसार "इनका मूल नाम सैयद इब्राहीम

था।" इस सम्बन्ध मे अन्तिम निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। इनके कवित्त-सवैये अत्यधिक सरस और वास्तव मे 'रस की खान' है, इसी करण लोग इन्हे 'रसखान' कहने लगे। इस सम्बन्ध म आचार्य शुक्ल लिखते हैं —

"प्रेम के ऐसे सुन्दर उद्गार इनके सवैये मे निकले है कि जन-साधारण प्रेम या शृंगार-सम्बन्धी कवित्त-सवैयो को ही रसखान कहने लगे—जैसे कोई रसखान सुनाओ।"

इससे स्पष्ट है कि कवित्व की सरसता के कारण ही इनका नाम रसखान पडा, वास्तविक नाम ठीक से किसीको ज्ञात नही। रसखान की रचना 'प्रेम-वाटिका' के अनुसार यह तत्कालीन दिल्ली के राजवश से सम्बन्धित थे और जाति के पठान थे। इनका जन्म सम्वत् १६१७ वि० और स्वर्गवास सम्वत् १६६० वि० मे माना जाता है। शेष इनके जीवन के सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नही होता। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार रसखान ने वल्लभ के बेटे गोस्वामी विट्ठलदास से दीक्षा लेकर वैष्णव धर्म को अपना लिया था। यह गोस्वामी जी के प्रिय शिष्यो मे प्रमुख थे। इनके सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार यह किसी बनिये के लडके के प्रति आसक्त थे। आगे चलकर यही लौकिक प्रेम का भाव अलौकिक कृष्णप्रेम मे परिवर्तित हो गया। लेकिन आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय जैसे विद्वानो ने ऐसी बातो को मात्र कपोल-कल्पित कहा है। एक अन्य किंवदन्ती के अनुसार रसखान दिल्ली से मक्के-मदीने की यात्रा के लिए चले। यहाँ से चल-कर पहला पडाव मथुरा के पास डाला। घूमते-घूमते प्रसिद्ध श्रीनाथ के मन्दिर मे पहुँचे। वहाँ कृष्ण की मूर्ति को देखकर ऐसे मुग्ध हुए कि बस देखते ही रह गये। बस, मक्का-मदीना की यात्रा का विचार स्थगित करके कृष्ण-नाम की दीक्षा ले ली। पर इस प्रकार की किंवदन्तियो मे सत्यता कितनी है, यह अभी खोज का विषय है। आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय तो रसखान को गोस्वामी विट्ठलदास का शिष्य तक नही स्वीकार करते। उनके विचार मे रसखान का काव्य भी पुष्टि-मार्गी न होकर सूफियो के प्रेम की पीर से समन्वित है। कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि रसखान वास्तव मे रस की खान थे और वे अपने काव्य मे अपने-आप को

किसी संकीर्ण मतवाद में बँधकर नहीं चले। उनकी सफलता और प्रेम की सहज-सफल अभिव्यक्ति का मूल कारण यह उन्मुक्त भाव ही है।

रचनाएँ—रसखान की केवल दो ही छोटी-छोटी रचनाएँ उपलब्ध हैं—१. प्रेम वाटिका और २. सुजान रसखान।

इनमें से पहली रचना 'प्रेम वाटिका' में कुल ५२ दोहे हैं। इन दोहों में प्रेम और भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। कवि ने प्रेम को साक्षात् ईश्वर का स्वरूप स्वीकार किया है। आध्यात्मिक प्रेम का वर्णन दोहे जैसे छन्द में, वास्तव में अजोड़ है। दूसरी रचना 'सुजान रसखान' में कुल १२६ छन्द हैं। इनमें १० छन्द दोहे या सोरठे हैं, शेष कवित्त और सवैये। इसका विषय भी कृष्ण प्रेम और भक्ति ही है। रसखान ने अपने उपास्य कृष्ण की रूप-माधुरी, लीला-माधुरी, वेणु-माधुरी आदि विषयों का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। वेणु-माधुरी में मानवीकृत भावना तो बहुत ही सजीव एवं लुभावनी है। कृष्ण के प्रति सम्पूर्ण समर्पण का भाव अत्यन्त प्राणवान और प्रभावी है। समर्पण-भाव का यह उदाहरण कितना तन्मयतापूर्ण है —

> जो रसना रस ना बिलसै तेहि देहु सदा निज नाम उचारन।
> मो कर नीकी करैं करनी जु पै कुंज-कुटीरन देहु बुहारन।
> सिद्धि समृद्धि सबै रसखान लहौं ब्रज-रेनुका-अंक सँवारन।
> खास-निवास मिलै जु पै तो वही कालिन्दी-कूल-कदम्ब की डारन॥

तभी तो वे कृष्ण की 'लकुटी अरु कामरिया' पर 'तिहुँपुर को' राज तक न्योछावर कर देने के लिए अनवरत तैयार दिखाई देते हैं। वे जन्म-जन्मान्तरों तक पशु-पक्षी किसी भी रूप में अपने आप को कृष्ण के साथ, उनकी लीला का एक अंग बनाये रखने की हार्दिक कामना करते हैं।

रसखान के काव्य में लीला-वर्णन का उतना महत्त्व नहीं, जितना कि कृष्ण की 'चितवनी' और 'मुस्कान-माधुरी' का है। वे स्पष्ट कहते हैं—"माई री वा मुख की मुसकानि सम्हारि न जैहै न जैहै न जैहै।" प्रेम में इनकी विशेषता है कि सुर-मुनि आदि भी जिन भगवान के दर्शन की लालसा लेकर अनवरत तपने के बाद भी दर्शन नहीं पा सकते, उन्हीं भगवान को 'अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ

पे' नाच नचाती है। वशी का मानवीकृत रूप भी अत्यधिक ग्राह्य है —

कान्ह भए वस बाँसुरी के, अब कौन सखी, हमको चहिहै।
निसद्योस रहै सग साथ लगी यह सौतिन तापन क्यों सहिहैं।।

कही-कही कृष्ण का स्वरूप-चित्रण भी अत्यधिक मोहक हुआ है। रस की दृष्टि से सयोग और वियोग शृगार के दोनो रूपो का सम्यग् परिपाक रसखान की कविता मे देखा जा सकता है। रस के समान कला की दृष्टि से भी रसखान अद्वितीय है। भाषा भावो के समान ही सरस एव चलती हुई है। भाषा का समूचा वैभव यहाँ देखा जा सकता है। सानुप्रासिकता के प्रति कवि को कुछ मोह अवश्य है, नही तो अलकारो के चक्कर मे वह नही पडा। कुल मिलाकर रसखान का काव्य प्रेम-भक्ति की वह अविरल स्रोतस्विनी है जो सहृदयो को अनवरत रस-विभोर रखेगी।

रहीम—सम्राट अकबर के प्रसिद्ध सेनापति, नवरत्नो मे से एक प्रमुख रत्न रहीम जी का पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था। इनके पिता का नाम बैरमखाँ था, जिसे इतिहासकर सम्राट् अकबर का अभिभावक और सरक्षक मानते हैं। रहीम जी ने भी अकबर के साम्राज्य की अभिवृद्धि मे विशेष योगदान दिया था। उसके लिए अनेक नये प्रदेशो को जीतकर मुगल-साम्राज्य की सीमा का विस्तार किया था। अकबर के युग मे होने वाले आन्तरिक विद्रोहो को दवाने में भी रहीम जी का विशेष हाथ रहा। कहा जाता है कि इसी कारण अकबर का बेटा शाहजादा सलीम (जहाँगीर) इनसे चिढने लगा था और इनका अपना प्रमुख शत्रु मानने लगा था। जहाँगीर के नाम से सम्राट् बनते ही उसने रहीम जी की समस्त चल-अचल सम्पत्ति छीनकर इन्हे देश-वदर कर दिया था, जिस कारण रहीम जैसे उदार और दानी व्यक्ति को अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे दर-दर की ठोकरें खानी पडती थी। रहीम जी का एक दोहा इस सम्बन्ध मे दर्शनीय है —

जो रहीम दर-दर फिरे, माँगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छोड दो, अब रहीम वह नाहिं।।

रहीम जी का जन्म सवत् १६१० वि० (सन् १५५३) मे हुआ था। इनके स्वर्गवास का समय सम्वत १६८२ वि० (सन् १६२५) माना जाता है। रहीम

जी अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओं के विद्वान् तो थे ही, संस्कृत एवं हिन्दी भाषाओं के भी सम्पन्न ज्ञाता थे। हृदय के उदार, दयालु, कला-प्रेमी और अत्यधिक दानी थे। कहा जाता है कि अकबर के दरबारी कवि गंग के दो छन्दों पर रीझकर इन्होंने उसे ३६ लाख रुपया दे डाला था। इनके दान के सम्बन्ध में अन्य अनेक कहानियाँ भी प्रचलित हैं। ये नम्रता और निरभिमान के सजीव स्वरूप थे। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास पर इन्हें विशेष श्रद्धा थी और अपने अन्तिम निर्वासन के दिनों में यह कुछ दिनों चित्रकूट में उनके साथ रहे भी थे। मुसलमान होकर भी इनके हृदय में कृष्ण के प्रति अगाध प्रेम-भाव था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वित रूप का नाम ही कविवर रहीम है। उनका व्यक्तित्व सर्वागत उदार मानवता का प्रतीक है।

रचनाएँ—रहीम दोहावली, बरवै नायिका भेद, मदनाष्टक, रास पचाध्यायी और शृंगार सोरठा आदि रहीम जी की प्रमुख रचनाएँ हैं। 'नगर शोभा' नाम से इनकी एक और रचना भी मानी जाती है। रहीम जी ने बाबर के आत्मचरित का तुर्की भाषा से फारसी भाषा में अनुवाद भी प्रस्तुत किया था। रहीम के काव्यों में व्यावहारिक नीति, भक्ति, शृंगार और प्रेम-भाव के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। इनकी सहानुभूतियाँ सर्वत्र मुखर हैं। कृष्णभक्ति से सम्बन्धित इनके अनेक दोहे, कवित्त और सवैये प्रसिद्ध हैं, जिनमें इनके सरस भक्त-हृदय के समर्पण-भाव के स्पष्ट दर्शन होते हैं। कृष्ण पर इनका अनन्य विश्वास इस दोहे से प्रगट होता है —

रहिमन कोऊ का करै, ज्वारी चोर लबार।
जो पति राखनहार है, माखन चाखनहार॥

इनके प्रेम-भाव की अनन्यता और प्रिय के प्रति दृढ आस्था का भाव प्रस्तुत पद्य से स्पष्ट है :—

प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिर जाय॥

रहीम जी ने ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं का प्रयोग समान गति से किया है। 'मदनाष्टक' में इन्होंने खड़ीबोली का प्रयोग किया है। इस रचना में कृष्ण-

प्रेम का स्वरूप विशेष रूप मे अभिव्यक्त हुआ है। 'रास पचाध्यायी' भी इसी प्रकार की कृष्णप्रेम सम्बन्धी रचना है। 'बरवै नायिका भेद' जैसी रचना रहीम ने इन्होने रीतिकालीन कवियो के लिए पृष्ठभूमि बनाने मे भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इनकी काव्य-शैली सम्पूर्णत मुक्तक ही है। अनेक प्रकार के छन्दो के प्रयोग मे ये सिद्धहस्त थे। अलकारो का सन्तुलित प्रयोग रहीम जी के काव्य की एक अन्य विशेषता है। 'दृष्टान्त' की तो इनके दोहो मे भरमार है। सक्षेप मे रहीम जी का व्यक्तित्व और कृतित्व बहुमुखी प्रतिभा का द्योतक है। कवि ने ज्ञान, भक्ति, नीति और शृगार का समन्वित स्वरूप अपने काव्यो मे प्रस्तुत कर अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है।

अन्य कवि—ऊपर कृष्णभक्ति शाखा के अन्तर्गत प्रमुख कवियो और साधको का विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक कवियो ने विशेष सम्प्रदायो की परिधियो म बँधकर या स्वतन्त्र रहकर कृष्णकाव्य को समृद्ध करने म महत्त्वपूर्ण योगदान किया। यहाँ सक्षेपत उनका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

राधावल्लभी सम्प्रदाय के सस्थापक गोस्वामी हितहरिवश का नाम कृष्ण-काव्यकारो मे काफी महत्त्वपूर्ण है। इनकी ब्रजभाषा की रचनाओ मे 'वृन्दावन शतक', 'हित चौरासी' और 'हित सुधार सागर' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सस्कृत मे इनकी 'राधा सुधानिधि' नामक रचना भी उपलब्ध है। इनकी कविता मे रस-प्रवणता का विशेष महत्त्व है। इनकी पद-योजना भी अत्यधिक मधुर एव आकर्षक मानी जाती है। इस परम्परा मे अगले कवि के रूप मे हरिराम व्यास का नाम उल्लेखनीय है। इनकी रचना का नाम 'रास पचाध्यायी' है।

इसी परम्परा के अन्य कवियो मे ध्रुवदास तथा हठी जी के नाम आते है। ध्रुवदास की छोटी-छोटी चालीस रचनाएँ मानी जाती हैं। इनमे सिद्धान्तविचार, रस-रत्नावली, ब्रज-लीला, दान-लीला, वन-विहार, रस-विहार, और भक्त नामा-वली आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनम से भी 'भक्त नामावली' अधिक प्रसिद्ध एव प्रचलित है। दूसरे भक्तकवि हठी जी की प्रसिद्ध रचना का नाम है—'राधा-सुधा-शतक'। इसमे राधा के प्रति भक्ति-भावना की सरस एव मधुर अभिव्यक्ति

हुई है।

राधावल्लभी सम्प्रदाय के समान चैतन्य के शिष्यो द्वारा प्रवर्तित गौडीय दाय के कुछ कवियो के नाम भी उल्लेखनीय है। ये नाम है—गदाधर भट्ट सूरदास मदनमोहन। यह सूरदास अकबर-काल मे सडीले के आमीन थे। वश इनके अनेक सरस पद वल्लभ सम्प्रदाय के सूरदास के पदो मे घुल-मिल एक हो गये है। आज उन्हे अलग करके देख पाना अत्यधिक कठिन कार्य है।

इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय के स्वामी हरिदास भी परम भक्त, सगीतज्ञ कवि थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध सगीतज्ञ वैजू बावरा इन्हीका शिष्य था तानसेन भी इनका विशेष सम्मान करता था। सम्राट् अकबर तक इनके विशेष सम्मान भाव रखते थे। इनके पदो का सग्रह 'हरिदास जी के पद' र 'हरिदास जी की बानी' नामो से सकलित मिलते है। इनके शिष्य श्री भट्ट ी 'युगल शतक' और 'आदि बानी' नाम से दो रचनाएँ रची। इस सम्प्रदाय गे चलकर महचरिशरण नामक भक्त की 'ललित प्रकाश' तथा 'सरस मजा-ी' नामक रचनाएँ उपलब्ध होती है। 'ललित प्रकाश' मे तो कवि ने सिद्धान्तो विवेचन किया है, जबकि दूसरी रचना मे राधा-कृष्ण के सौन्दर्य का सरस ावली मे गायन किया गया है।

इनके बाद नरोत्तमदास द्वारा विरचित 'सुदामा चरित' नामक खण्ड काव्य उपलब्ध होता है, जो अपने ढग की अनोखी रचना है। उसमे युगदैन्य का ार स्वरूप देखा जा सकता है। कवि नरोत्तमदास का रचना-काल १६वी ी का मध्यान्तर है और यह सीतापुर जिले के बाटी गांव के निवासी थे।

अन्य कृष्णभक्त कवियो मे 'ताज' और 'आलम' के नाम भी विशेष उल्लेख-य है। 'बीबी ताज' सांवले-सलोने कृष्ण के स्वरूप पर 'कुरबान' थी और इसी रण मुसलमान होकर भी वह 'हिन्दुवानी' होकर रहती थी। उसके पदो मे ो के पदो के समान ही सरसता, तन्मयता, आत्मसमर्पण और आत्मनिवेदन भाव पाया जाता है।

आलम सम्राट् अकबर का समकालीन था। यह स्वभाव से ही प्रेमी और त प्रकृति का था। इसके बारे मे प्रसिद्ध है कि किसी रगरेजिन के प्रेम मे

इनने ब्राह्मण वंश मे भी जन्म लेकर भी इस्लाम स्वीकार कर लिया था। उन रगरेजिन का नाम 'शेख' था। किन्तु यह किंवदन्ती कहाँ तक सत्य है, कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। माधवानल-काम-कदला, आलमकेलि, 'श्याम-सनेही' आदि आलम की प्रमुख रचनाएँ हैं। इनमे से कृष्णभक्ति की दृष्टि मे 'आलमकेलि' और 'स्याम-सनेही' के नाम विशेष उल्लेखनीय है। आलम की भक्ति-भावना मे प्रभावित होकर कुलपति मिश्र नामक परवर्ती कवि ने कहा था —

नव रसमय मूर्ति सदा जिन वरनै नन्दलाल।
आलम आलम वस कियौ दै निज कविता जाल ॥

अवधी और ब्रजभाषा दोनो पर आलम का समान अधिकार था। इसी प्रकार प्रबन्ध और मुक्तक दोनो काव्य-शैलियो मे इन्होंने कुशलता से लेखनी चलाई। इनकी 'स्याम सनेही' रचना मे रुक्मिणी-परिणय की कथा दोहा-चौपाई की प्रबधात्मक शैली मे कही गई है, जबकि अन्य मुक्तक रचनाएँ हैं। शृंगार-रस की सहज सरसता और परिपाक इनकी प्रमुख विशेषता है। निश्चय ही आलम अपने युग के प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। 'माधवानल कामकन्दला' के कारण आलम की गणना सूफी या प्रेममार्गी कवियो मे भी की जाती है। यह एक आख्यान रचना है। इसमे अकबर के मंत्री टोडरमल की प्रेरणा से माधव और कामकन्दला की प्रेम-कथा का सरस वर्णन किया गया है। यहाँ भी आलम ने अपनी प्रबन्ध प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है।

इस प्रकार समूचा भक्तिकाल अपने अन्तराल मे काव्य-सम्बन्धी अत्यन्त उदार तथा उदात्त भावनाओ को संजोये हुए है। प्राय इस काल के सभी कवियो और साधको का लक्ष्य मानव-मन और जीवन को रसान्वित करके जीवन का उदात्त पथ प्रशस्त करना था। इनका साहित्य समूचे रूप मे 'परजन-हिताय' और लोक-कल्याण की मंजुल भावना से अनुप्राणित था। भारतीय संस्कृति, वैविध्यपूर्ण भावधारा की अन्त सलिला को यहाँ साकार रूप मिला है। धर्म-कर्म, व्यवहार, नीति, रीति, प्रेम, भक्ति, दर्शन आदि किसी भी पक्ष को यहाँ अछूता नही रहने दिया गया। मानव-जीवन को सहज-समन्वित रूप से परिचालित करने

के लिए बहुमुखी प्रयास किये गये। साहित्य के आनन्द और उपयोग—दोनो पक्षो को समानान्तर भूमि पर प्रचारित कर कवियो ने निश्चय ही महान् कार्य किये। यहा किसी भी प्रकार की सकीर्णता एव पूर्वाग्रह का भाव नही है। सभी जगह सुरुचिसम्पन्नता के दर्शन होते हैं। अदम्य जीवनदायिनी शक्तियो के अवि-रल विविध स्रोत यहा उपलब्ध है। इनमे से किसी भी एक को अपनाकर मानव अपने लिए कल्याण-मार्ग खोज सकता है। यही सब देखकर डॉ० श्यामसुन्दरदास ने उचित ही कहा था :—

"जिस युग मे कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियो और महात्माओ की दिव्य वाणी उनके अन्त करणो से निकलकर देश के कोने-कोने मे फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास मे सामान्यत. भक्तियुग कहते है। निश्चय ही वह हिन्दी-साहित्य का स्वर्णयुग था। · हिन्दी काव्य मे से यदि वैष्णव कवियो के काव्य को निकाल दिया जाये तो जो बचेगा वह इतना हल्का होगा कि हम उस पर किसी प्रकार का गर्व न कर सकेगे। ··वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कण्ठमाल है।"

६ रीतिकाल
(सवत् १७०० से १६०० तक)

रीतिकाल का आरभ और नामकरण

आरम्भ—भक्तिकाल के समाप्त होते न होते हिन्दी-साहित्य मे एक नवीन विधा का आरम्भ हो गया। इस नवीन विधा का आरम्भ सामान्यतया सवत् १७०० से माना जाता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे जहाँ साहित्यिक गतिविधियो का वैविध्य दिखाई देता है, वहाँ परवर्ती भक्तिकाल मे पारलौकिकता एव अध्यात्म-समन्वित जातीय भावनाओ का प्राधान्य रहा। इधर रीतिकाल मे इस प्रकार का कोई भाव दिखाई नही देता। यहाँ लौकिक एव भौतिक भावनाओ का ही प्राधान्य रहा, फिर भी उसमे वैयक्तिकता या लोक-तत्त्वो को प्रश्रय नही मिल सका। इसका मुख्य कारण था राजनीतिक दासता के साथ-साथ पराश्रिता की भावना। इन्ही भावनाओ ने दरबारी वातावरण मे पलने और पनपने वाले साहित्य एव साहित्यकारो को अपने आवरण से बाहर नही निकलने दिया। अत रीतियुगीन कवि सैद्धान्तिक विवेचनो के फेर मे ही अधिक पडे रहे। ऐसा करके स्यात् अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना ही इनका लक्ष्य रहा होगा। फलत काव्य मे कला एव भावुकता, कवित्व एव आचार्यत्व का प्रखर समन्वय दृष्टिगत होता है। इस दृष्टि से रीतियुगीन काव्य को शुद्ध काव्य कहना अधिक सगतियुक्त है। अनेक विद्वानो ने रीतिकाल के साहित्य को 'जनपथ'

का साहित्य न मानकर 'राजपथ' का साहित्य स्वीकार किया है। हमारे विचार में यह अवधारणा उचित ही है, क्योंकि जन-जीवन से तो निश्चय ही रीतियुगीन साहित्य असम्पृक्त था। जन-जीवन एवं मानस के साथ इसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं था, बल्कि अनेकशः सामान्य जनों के प्रति यहाँ वितृष्णा का ही भाव मिलता है। बिहारी जैसे रससिद्ध कवियों ने तो अनेकशः खुलकर सामान्य-जनों का परिहास तक किया है। इस युग के साहित्य का आरम्भ आभिजात्य संस्कृति की छाया में हुआ था और इसीका यह प्रतिनिधित्व भी करता है।

आरम्भ और पूर्वापर-सीमा—ऊपर बताया गया है कि रीतिकाल का प्रारम्भ सामान्यतया सम्वत् १७०० से माना जाता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि इससे पहले यह परम्परा नाममात्र को भी नहीं थी। सामान्यतया काव्य की किसी प्रवृत्ति का आरम्भ कब हो जाता है, इसका कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है। कई बार कुछ प्रवृत्तियाँ अन्य प्रमुख प्रवृत्तियों के साथ-साथ सामान्यतया चलती रहती हैं और फिर अवसर पाकर एकाएक उभरकर सामने आ जाया करती हैं। निश्चय ही किसी नव्य परम्परा के एकाएक उभरकर आ जाने के मूल में भी इसकी सुदीर्घ कालावधि रहा करती है। रीतिकाल के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। पूर्वापर सीमा निर्धारण से तात्पर्य होता है कि कोई प्रवृत्ति प्रमुख कब से बनी और इसका अविरल प्रवाह कब तक प्रवाहित होता रहा। वैसे तो शृंगार का वर्णन आदिकाल या वीरगाथा-काल में भी मिलता है और इसके बाद भक्तिकाल में भी। परन्तु वहाँ इसका स्वरूप एवं प्रयोजन भिन्न है। इसके विपरीत रीतियुगीन शृंगार की प्रधानता का प्रयोजन कुछ और ही है। हमारे विचार का आधार यही तथ्य है।

रीतिकाव्यों जैसा सामान्य रूप हमें सर्वप्रथम कृष्णभक्त कवियों के काव्यों में दिखाई देता है। कृष्णभक्ति की आड़ लेकर कई कवियों ने नायिका-भेद एवं [illegible] रीतियुगीन प्रवृत्तियों का चित्रण किया। हालांकि सूरदास की 'साहित्य लहरी' की प्रामाणिकता में विद्वानों ने सन्देह व्यक्त किया है, किन्तु है वह इसी प्रकार की रचना। नन्ददास द्वारा विरचित 'रस-मंजरी' तो असन्दिग्ध रूप से रीतिग्रन्थ जैसी रचना ही है। इसका आधार-ग्रन्थ है— भानुदत्त प्रणीत

रस मजरी। कवि ने नायिका-भेदो का ही प्रत्यक्षत वर्णन किया है। इसी प्रकार कृपाराम ने अपनी 'रस-तरङ्गिणी' का निरूपण कवि-शिक्षा के लिए ही किया था। इसमे इन्होने रस, अलकार आदि काव्यागो विशुद्ध रीति से वर्णन किया है। इनके बाद सत्रहवी शती मे क्रमश करनेस, रहीम, बलभद्र मिश्र एव अकबर के दरबारी कवि गग के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभीने सस्कृत मे उपलब्ध काव्यशास्त्र सम्बन्धी रचनाओ के आधार पर नायिका भेद, अलकार एव रसादि काव्यागो का विवेचन किया है। किन्तु फिर भी इनकी गणना रीति-काल की सीमा मे नही की जा सकती, क्योकि इनका काल मुख्यत भक्ति-प्रवृत्तियो का ही है। अत इनकी रीति-रचनाओ को वहाँ कोई महत्त्व नही मिल सका है। इसी कारण प्राय सभी विद्वान इतिहासकार रीतिकाल का प्रारम्भ सवत् १७०० से ही मानते है।

रीतिकाल की कालावधि मे भक्ति आदि समस्त मान्य प्रवृत्तियाँ पीछे पड गई थी। यदि भक्तिभाव कही दिखाई देता है तो वह भी विशुद्ध शृगारिकता से सम्पृक्त है। वैसे तो वीर रस की कविता भी यहाँ मिलती है, पर यह भी रीतिग्रन्थो की सजना-प्रक्रिया के अन्तर्गत ही आती है। इसी कारण विद्वान् रीतिकाल की पूर्व सीमा जहाँ सम्वत् १७०० मानते हैं, वहाँ पर सीमा सम्वत् १९०० तक अकित की जाती हैं। इन दो सौ वर्षो तक रीति-भावना सर्वत्र अविकल छाई रही। वैसे तो इसकी परम्परा भारतेन्दुकाल और इसके बाद भी, बल्कि न्यूनाधिक रूप मे आज तक विद्यमान है, पर प्रवृत्ति की दृष्टि से इसका प्रवाह सवत् १९०० से ही ह्रासोन्मुख होने लगा था। नई प्रवृत्तियाँ बडे वेग से क्रमश विकसित होने लगी थी। अत रीतिकाल की पूर्वापर सीमा सवत् १७०० से १९०० तक मानना ही उचित है।

रीतिकाल नामकरण—ऐतिहासिक दृष्टि से प्राय सभी विद्वानो ने नाम-करण का आधार युगीन प्रवृत्तियो को ही माना है। परन्तु ध्यातव्य यह है कि यहाँ रीति शब्द से अभिप्राय सस्कृत के वामन आदि आचार्यो द्वारा प्रतिपादित 'विशिष्ट पद रचना' नही है। इसका प्रयोग तो यहाँ काव्य-रचना की एक पद्धति के रूप मे ही किया गया है। इसके अन्तर्गत काव्य-शिक्षा और काव्य-रीति आदि

अन्य बातें भी आ जाती हैं। यहाँ इसका अर्थ वामन के अनुसार काव्य की आत्मा का विवेचन करना नहीं है, बल्कि यह शब्द एक व्यापक परिवेश का परिचायक है। इस सम्बन्ध मे डॉ० सरनदास भनोत की शब्दावली उद्धृत की जा सकती है—"रीतिकाव्य से अभिप्राय उस काव्य-साहित्य से है जिसकी सर्जना मे कवि का ध्यान प्रमुख रूप से काव्य के विभिन्न अंगो के निरूपण की ओर रहा है और रीतिकाल हिन्दी-साहित्य का वह युग है जिसमें इस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थो की रचना ही अधिक हुई। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे १८वी एव १९वी—इन दो शताब्दियो मे रचा गया अधिकाश साहित्य इसी प्रकार का है।"

यह तथ्य सर्वमान्य है कि सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही हिन्दी साहित्य के विगत लगभग एक हजार वर्ष के इतिहास का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया था। परन्तु इनसे भी पूर्व मिश्रबन्धुओ ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' मे काल-विभाजन करते समय आदि, मध्य और अन्त या आधुनिक शब्दो का प्रयोग किया था। शुक्ल जी ने मध्यकाल के दो भाग कर दिये—एक पूर्व मध्यकाल (भक्ति-काल) और दूसरा उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल)। वैसे रीति शब्द का प्रयोग मिश्रबन्धु भी कर चुके थे, किन्तु इसे काल-विशेष के साथ संयोजित सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल ने ही किया। मिश्रबन्धुओ ने और कुछ परवर्तियो ने भी इस काल के लिए 'अलंकृत काल' नाम का प्रयोग किया है। इसी प्रकार कुछ लोगो ने इसे 'कला काल' भी कहा है, किन्तु ये दोनो नाम उपयुक्त नही कहे जा सकते, क्योंकि इन दोनो नामो से इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति 'रीति' का बोध नहीं हो पाया है। इनसे केवल इतना ही बोध होता है कि इस काल की कविता मे केवल अलकारो की ही रचना हुई और भावादि के अलकरण पर ही अधिक बल दिया गया। यह ठीक है कि अलकारवाद को इस युग मे पर्याप्त प्रश्रय मिला, पर उसके साथ इतनी ही प्रमुखता से अन्य प्रवृत्तियाँ भी पनपती रही। अत. 'अलकृत काल' या 'कला काल' नाम सार्थक नही कहे जा सकते।

उपरोक्त नामो के अतिरिक्त भी 'रीतिकाल' के नामकरण के सम्बन्ध मे कुछ मतभेद पाये जाते है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस कालावधि को 'शृगारकाल' कहना अधिक उपयुक्त माना है। इनका मुख्य तर्क यह है कि इस

समूची कालावधि मे शृगार रस की ही प्रमुखता एव प्रचुरता रही है। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल ने भी कहा कि "शृगार रस की प्रधानता होने के कारण यदि कोई व्यक्ति इस काल को 'शृगारकाल' कहना चाहे, तो किसीको कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।" किन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि क्या समस्त कवि केवल शृगार-वर्णनो तक ही सीमित रहे ? सत्य यह है कि इस काल के कवियो ने शृगार रस के समस्त अगो—विभाव (आलम्बन और उद्दीपन), अनुभाव एव सचारीभावादि का वर्णन कही नही किया है। कवियो का लक्ष्य भी मात्र शृगार-वर्णन नही था, बल्कि शृगारिकता तो एक परिस्थितिजन्य वाह्य प्रवृत्ति मात्र ही थी। यह प्रवृत्ति भी मुख्य रूप से स्वतन्त्र नही है, वल्कि रीति के ही आश्रित है। रीति की उपेक्षा इस काल के वीर-कवि भी नही कर सके। जिन कवियो को रीतिमुक्त कहा जाता है, उनमे भी कवित्व-रचना की एक विशिष्ट पद्धति स्पष्ट देखी जाती है। रीति ही यहाँ व्यापक तत्त्व है—शृगार मे भी और अन्यान्य प्रवृत्तियो मे भी। अत आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया नामकरण 'रीतिकाल' ही सार्थक एव सगत है। इस सम्बन्ध मे डॉ॰ भागीरथ मिश्र का निष्कर्प अवलोकनीय है :—

"कलाकाल कहने से कवियो की रसिकता की उपेक्षा होती है, शृगार-काल कहने से वीर रस और राज-प्रशसा की। रीतिकाल कहने से प्राय कोई भी महत्त्वपूर्ण वस्तुगत विशेपता उपेक्षित नही होती और प्रमुख प्रवृत्ति सामने आ जाती है। यह युग रीति-पद्धति का युग था, यह धारणा वास्तविक रूप से सही है।"

अन्तर्विभाजन—आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास तथा अन्य विवेचनो मे इस कालावधि के समस्त कवियो को प्राय दो अन्तर्विभागो मे रखने की वात कही थी। एक तो ऐसे कवि, जिन्होने समग्रत या अशत. रीति-परम्पराओ का पालन किया, जवकि दूसरे वे कवि जिन्होने परम्परा से मुक्त रहकर अपने काव्य रचे। पहले कवियो को तो शुक्लजी ने रीतिवद्ध कवि-परम्परा के अन्तर्गत देखा, जवकि अन्यो के लिए इन्होने एक 'फुटकर खाता' खोलने की वात कही ही नही, वल्कि अपनी रचनाओ मे ऐसा खाता खोल भी दिया। इन्होने बिहारी जैसे

रीति या रससिद्ध कवि को भी प्राय सकोच के साथ ही रीतिबद्ध परम्परा मे रखा है किन्तु परवर्ती विद्वानो ने रीति-परम्परा को स्पष्टत अपनाने, काव्यो मे इसके प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पालन करने और इससे सर्वथा मुक्त रहने के आधार पर रीतिकाल का तीन अन्तर-युगो मे विभाजन किया है। यह विभाजन इस प्रकार से हुआ है :—

१. रीतिबद्ध कवि—जिन्होने रीति-परम्परा मे बँधकर लक्षण-ग्रन्थ प्रमुख रूप से लिखे।

२. रीतिसिद्ध या रससिद्ध कवि—जिन्होने लक्षण बताने वाले ग्रन्थ तो नही लिखे, फिर भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे इस परम्परा की मान्यताओ का अपने काव्यो मे उपयोग किया।

३. रीतिमुक्त कवि—जिन्होने न तो लक्षण-ग्रन्थो की रचना ही की और न रीतिकालीन परम्पराओ को ही निभाया। इन्होने समस्त दबावो से स्वतन्त्र रहकर विशुद्ध शृगार, विरक्तिभावना और प्रकृति-चित्रण आदि से सम्बन्धित मुक्त काव्य रचे है।

इनमे से पहली परम्परा मे चिन्तामणि त्रिपाठी, मतिराम, देव, जसवन्तसिंह, भिखारीदास आदि को रखा जाता है। बिहारी जैसे कुछ गिनती के कवि दूसरी परम्परा मे आते है। घनानन्द, बोधा, आलम जैसे अनेक कवि इस तीसरी परम्परा मे ही आते है। आगे यथास्थान इन अन्तर्विभाजन के आधार पर ही कवियो का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

रीतिकाल का प्रवर्त्तन

हिन्दी-साहित्य मे रीतिकाव्य की परम्परा का मूल उत्स या प्रेरणा-स्रोत निश्चित रूप से संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ ही है। वहाँ आचार्य भरत से भी पहले से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक इस परम्परा का सुनियोजित विकास हुआ है। कुछ लोग प्राकृतो मे इस परम्परा का विकास मानते है, किन्तु यह मान्यता निराधार है। क्योकि वहाँ कुछ बिखरे तत्त्व ही मिलते है, संस्कृत जैसी सुगठित परम्परा नही मिलती है। अत हिन्दी रीतिकाव्य-परम्परा ने आरम्भ

एव विकास मे प्राकृतो का निश्चय ही कोई योगदान नही है। हिन्दी मे इसके प्रवर्त्तन का मूल आधार सस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ ही हैं।

हिन्दी मे रीति-परम्परा का प्रवर्तक किसे माना जाए, यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। वैसे सामान्यत हिन्दी रीति-परम्परा का आरम्भ १६वी शती के अन्त से हुआ है। इस दिशा मे कृपाराम के रस-निरूपण-सम्बन्धी ग्रन्थ 'हित-तरगिणी' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कवि के अनुसार यह परम्परा इससे पहले भी विद्यमान थी, किन्तु पहले की कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई है। इसके बाद अकबर के दरबारी कवियो के नाम आते हैं। इनमे से अकबर के दरबारी कवि करनेस के क्रमश कर्णभूषण, श्रुति-भूषण और भूपभूषण आदि तीन ग्रन्थो के नाम लिये जाते हैं, किन्तु ये ग्रथ आज उपलब्ध नही हैं। सन् १५५८ के आसपास 'गोपा' नामक कवि द्वारा विरचित 'राम भूषण' और 'अलकार चन्द्रिका' नामक ग्रन्थो का भी मात्र उल्लेख मिलता है। गग और रहीम आदि के नाम भी इस दिशा मे लिये जाते हैं। सूरदास की 'साहित्य लहरी' और नन्ददास की 'रस मजरी' का भी उल्लेख किया जाता है। इतना सब होते हुए भी केशवदास से पूर्व तक कोई ऐसी पूर्ण रचना प्राप्त नही होती, जिसमे इस दिशा मे स्तुत्य प्रयास किया गया हो। केशव ने ही सर्वप्रथम रीति-निरूपक काव्यागो का विस्तारपूर्वक विवेचन करने का प्रयत्न किया। इस दिशा मे कवि केशव के दो ग्रन्थो के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। इनके नाम हैं 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया'। कवि ने पहले ग्रन्थ मे काव्य-भेद, काव्य-दोष, काव्य-रीतियो आदि के विवेचनो के आधार पर अपनी प्रतिभा का इस दिशा मे सर्वप्रथम परिचय दिया। इनके अतिरिक्त इस रचना मे अलकारो का वर्णन भी पर्याप्त विस्तार के साथ किया गया है। अपने व्यावहारिक कवि-रूप मे अलकारो का सगत प्रयोग न कर पाने पर भी इनका यह प्रथम प्रयास तो है ही सही। इसी प्रकार इन्होंने अपनी दूसरी रचना 'रसिक प्रिया' मे रस एव तत्सम्बन्धी अन्यागो का सुविस्तृत वर्णन किया है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि कवि ने शृगार को प्रधानता देकर अन्य रसो को इसीमें अन्तर्हित करने का हिन्दी मे पहली बार प्रयास किया है।

उपरोक्त विवेचन के निष्कर्ष इस प्रकार निकाले जा सकते हैं और अनेक

विद्वान् इतिहासकारो ने निकाले भी हैं। केशव के पूर्ववर्तियो मे से किसीने भी काव्यांगो का समग्र विवेचन नही किया है। फिर इनमे कोई विशेष प्रभविष्णुता भी नही पाई जाती। इनके प्रणयन के पीछे कोई योजनाबद्ध शृखला या विकास की परम्परा भी नही है। प्राय: कवियो ने या तो किसी एक ही अग का विवेचन किया या फिर किसी अथवा किन्ही अगो का लक्ष्य मात्र ही प्रस्तुत कर दिया, क्योंकि इनके सामने इस प्रकार की काव्य-रचना का कोई योजनाबद्ध लक्ष्य नही था। इसका कारण यह है कि यह युग वास्तव मे भक्ति के रग मे ही रगा हुआ था। अत किसीका ध्यान इस ओर गया ही नही।

जहाँ तक केशवदास का प्रश्न है, उन्होने निश्चित रूप से अपनी सम्भ्रान्त परिवारो की शिष्याओ के लिए एक निश्चित योजना के अनुसार काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो की रचना की। अपनी उपरोक्त दोनो रचनाओ मे इन्होने काव्यशास्त्र के प्राय. समग्र अगो का यथासाध्य वर्णन किया है। अलकार एव रसो का वर्णन प्रमुख करते हुए भी इन्होने अन्यागो की उपेक्षा नही की। कुछ लोग इनकी निम्नलिखित उक्ति के आधार पर उन्हे अलकारवादी कवि मानने लगे थे :—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता वनिता मित्त॥

किन्तु अब यह प्रमाणित हो चुका है कि वास्तव मे केशव के सामने किसी वाद का प्रश्न नही था। इनके सामने प्रश्न था केवल काव्यागो के विवेचन का। अलकारवादी से अधिक ध्वनिवादी ही प्रमाणित होते हैं। तात्पर्य यह है कि केशव ने ही सर्वप्रथम रीति-परम्परा की ओर एक निश्चित कदम उठाया। फिर भी अनेक विद्वान् केशव को रीतिकाल का प्रवर्तक मानने के लिए तैयार नही हैं; क्योंकि केशव के बाद लगभग पचास वर्षों तक इस परम्परा की कोई अन्य रचना नही मिलती। इतना ही नही, लगता है कि केशव की परम्परा छिन्न-विच्छिन्न होकर प्रायः विलुप्त हो गई। इसका पुन संयोजन एव समुचित विकास केशव के ५० वर्ष बाद ही हो सका। परवर्ती कवियो ने भी केशव की परम्परा को न अपनाकर बाद की परम्परा को ही प्रश्रय दिया। इस परम्परा का विधिवत् प्रवर्तन करने का श्रेय इसी कारण यदि चिन्तामणि त्रिपाठी को दिया जाता है, क्योंकि चिन्तामणि

त्रिपाठी का रचनाकाल भी रीतिकाल के आरम्भ सवत् १७०० के आसपास ही है। इनकी १७०० मे की गई रचना 'कवि कल्पतरु' से ही रीतिकाल का वास्तविक प्रवर्त्तन कुछ लोग मानते हैं। इस सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है —

'हिन्दी मे रीति-ग्रन्थो की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के ५० वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को नही। हिन्दी रीति-ग्रन्थो की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अत रीतिकाल का आरम्भ उन्हीसे मानना चाहिए।"

आचार्य शुक्ल ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि केशव ने सस्कृत के भामह, उद्भट आदि आचार्यो का मार्ग ग्रहण किया था जबकि बाद मे परिष्कृत मार्ग अपनाया गया। यहाँ अलकार-ग्रन्थो का प्रणयन कुवलयानन्द, साहित्य दर्पण और काव्य-प्रकाश जैसे सस्कृत के ग्रन्थो के आधार पर हुआ। फिर केशव तुलसीदास के समकालीन थे, अत ये भक्तियुग मे ही आते है। केशव की कोई निजी परम्परा या मान्यता भी नही है। केशव के अलकार सम्बन्धी दृष्टि-कोण को परवर्तियो ने स्वीकार किया भी नही। परवर्तियो ने चिन्तामणि की परम्परा को ही प्रश्रय दिया। यही परम्परा आगामी दो सौ वर्षो तक अविरत प्रवाहित होती रही। अत रीतिकाल के प्रवर्त्तक कवि केशवदास नही, बल्कि चिन्तामणि त्रिपाठी ही थे।

हमारे अपने विचार मे भी चिन्तामणि त्रिपाठी को ही रीतिकाल का प्रवर्तक माना जाना चाहिए, क्योकि काल-विभाजन का मूल आधार प्रमुख एव सर्व-स्वीकृति को माना गया है। अत जिस प्रवृत्ति या जिसकी प्रवृत्ति को मान्य नही किया गया, उसे प्रवर्त्तन का आधार कैसे माना जा सकता है? यह सत्य है कि केशव या चिन्तामणि मूलत दोनो के आधार सस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ ही हैं, किन्तु इनमे परम्परा और विकसित दृष्टिकोण का अन्तर तो है ही। केशव के बाद और चिन्तामणि के आगमन तक कुछ अन्य रीति-ग्रन्थ भी अब उपलब्ध हो चुके है और यह भी अब प्रमाणित हो चुका है कि केशव ने अनेक मौलिक उद्-भावनाएँ की थी, जबकि चिन्तामणि मात्र अनुवादक ही थे, फिर दोनो मे एक

प्रत्यक्ष दृष्टिकोण का अन्तर है। यह दृष्टिकोण का अन्तर और इसमें से परवर्ती चिन्तामणि के दृष्टिकोण को प्रश्रय मिलना इस बात का द्योतक है कि युग का स्पष्ट विभाजन यहीं से हुआ है। फिर भी हम यहाँ एक समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाना ही अधिक युक्तिसंगत मानते हैं। वह यह कि हिन्दीवालों का ध्यान अवश्य ही सर्वप्रथम केशव ने रीतिग्रन्थों के निर्माण की ओर आकर्षित किया था। बाद में चिन्तामणि आदि ने भी अवश्य ही केशव से प्रेरणा ली होगी। हो सकता है कि उन्हें केशव की मान्यताएँ स्वीकार न हों। अतः इन्होंने संस्कृत-ग्रन्थों का पुनः अध्ययन करके स्वतन्त्र परम्परा का श्रीगणेश किया। यही परम्परा आगे चली है। अतः केशव का महत्त्व रीतिकाल का मुहूर्त निकालने में है, जबकि विधिवत् प्रवर्तन का श्रेय चिन्तामणि त्रिपाठी को ही दिया जा सकता है।

रीतिकाल : परिस्थितियाँ

किसी भी युग की साहित्यिक गतिविधियों के उचित मूल्यांकन के लिए उस युग की अनेकविध परिस्थितियों का अध्ययन एवं निरीक्षण प्रायः आवश्यक हुआ करता है। इसी दृष्टि से यहाँ रीतिकाल की परिस्थितियों का पर्यवेक्षण किया जा रहा है। परिस्थितियों के अन्तर्गत मुख्यतया राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थितियों का ही अध्ययन किया जाता है। युगीन परिवेश में यही तीन परिस्थितियाँ या इनमें से कोई एक प्रबल होकर साहित्य के विनिर्माण को प्रभावित किया करती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से सामान्यतया ये परिस्थितियाँ निम्न प्रकार थीं।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—अकबर के शासन-काल की सर्वांगपूर्णता के बाद शाहजहाँ के जीवन के पूर्वार्द्ध तक भारत की राजनीति में सामान्यतया शान्ति रही। किन्तु राजनीतिक विघटन के आसार उसके बाद बड़ी तीव्रता से प्रकट होने लग गये थे। राजनीतिक षड्यन्त्रों, सवारह युद्धों एवं गृह-कलह के कारण घटित होने वाली रक्तरंजित घटनाओं ने यहाँ के राजनीतिक वातावरण में उद्विग्नता उत्पन्न कर दी थी। औरंगजेब द्वारा राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर अपने पिता शाहजहाँ को बन्दी बनाना, अपने भाइयों को कत्ल करवाना और सतीतो अधिकार की दृष्टि से देखना आदि बातों ने भी इस अस्थिरता

एव अराजकता की वृद्धि मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। औरगज़ेब के पूर्ववर्तियो ने तो धार्मिक सहिष्णुता बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया था, किन्तु औरगज़ेब की धर्मान्धता एव कट्टरता के साथ-साथ राज्य-विस्तार की लिप्सा ने पहले तो राजनीतिक दीवार मे दरारें डाली और फिर क्रमश. ये दरारें चौडी होती गई। प्राय सभी देशी नरेश औरगज़ेब की नीतियो से बौखलाकर सजग हो गये। इसी के फलस्वरूप दक्षिण मे मराठा-शक्ति और पजाब मे सिक्ख-शक्ति का उदय हुआ। जीते-जी औरगज़ेब इनसे सघर्ष करता रहा। किन्तु इसकी मृत्यु के बाद तो रही-सही राजनीतिक स्थिति भी अत्यधिक विश्रृखल एव शोचनीय हो गई। बगावतें होने लगी। प्रादेशिक शासक क्रमश स्वतत्र होते गये। अत इस युग को इतिहासकार राजनीति की दृष्टि से 'अन्धकार का युग' कहते और समझते हैं।

केवल मुगल-राजनीति ही नही, बल्कि मराठो और सिक्खो की राजनीति के उत्थान-पतन भी इस युग मे हुए। भारतीयो की अनेकता एव आपा-धापी से लाभ उठाकर रीतिकाल के उत्तरार्द्ध मे क्रमश अग्रेज़ो की सत्ता का निरन्तर विकास होता गया। मराठा तथा सिक्खो जैसी शक्तियां भी इनके सामने ठहर न सकी। उथल-पुथल के वातावरण ने युग-चेतना मे मुख्यतया दो ही भावनाओं को प्रश्रय दिया। एक तो लोगो को जीवन के प्रति अनास्थावादी बना दिया और दूसरी तरफ विलास-भावनाएँ प्रवर्द्धित हुई। छोटे-छोटे राजाओ और नवाबो के राज-दरबार वास्तव मे विलासिता के अखाडे बनकर रह गये। अस्थिरता की स्थितियो ने जहाँ बाह्य प्रवृत्तियो के प्रति उदासीनता और विरक्ति को बढावा दिया, वहाँ अन्त प्रवृत्तियाँ क्षणिक जीवन को अधिक से अधिक सुखी बनाने की ओर बढती गई। यही कारण है कि दरबारी वातावरण मे रचा जाने वाला रीतिकाल का साहित्य, वीरगाथा काल के समान वीरगाथात्मक न बनकर प्रमुखतः शृगार की भावनाओ से रजित होता गया। सक्षेपत कहा जा सकता है कि रीतिकाल की राजनीतिक स्थिति पूर्णतया अराजक एव अस्थिर थी।

सामाजिक परिस्थितियां—स्वाभाविक नियम के अनुसार समाज की वास्तविक उन्नति एव विकास आन्तरिक एव बाह्य दृष्टियो से शान्त वातावरण मे ही सम्भव हो सकता है। फिर जब समाज का नेतृवर्ग स्वय ही अराजकताओ एव

अनेक प्रकार की कुंठाग्रस्त अनास्थाओं का शिकार हो रहा हो, तो समाज की दशा अच्छी रह ही नही सकती। समाज पर वास्तव मे सम्भ्रान्त या सामन्त वर्गो का ही प्रभुत्व था। ये लोग विलासी वृत्तियो, दुराग्रहो एव हीनताओ का शिकार थे। सबसे बडी बात तो यह है कि इस काल के शासको को विरासत मे ही विलासिता प्राप्त हुई थी। इन पर प्रदर्शन प्रियता की भावना भी उग्ररूप से विद्यमान थी। वैसे रीतिकाल का साहित्य जन-सामान्य से दूर रहा, अत इसके आधार पर जन-सामान्यो के समाज का अनुमान नही लगाया जा सकता, किन्तु सामान्यतया कहा जा सकता है कि सामान्य समाज भी विलासोन्मुख ही था। इनके सामने भी जीवन का कोई प्रत्यक्ष लक्ष्य नहीं रह गया था। समाज मे ऊँच-नीच का भेद-भाव स्पष्ट था। नारी को केवल विलासिता का साधन ही समझा जाता था। सम्भ्रान्तो एव सामन्तो की सस्कृति खिलवाड के लिए अनेक रखैले रखने मे गौरव का अनुभव करती थी। प्रयत्क्ष जीवन मे किसी प्रकार के आदर्श सघर्ष के अभाव के कारण सभी प्रकार की कुठाएँ क्रमशः पनप रही थी। अनेक प्रकार की विकृतियाँ उभरकर सामने आ रही थी। सामाजिक रुढिबद्धताएँ एव कुरीतियाँ इन्ही कृतियो का फल थी। बाल-विवाह, बहु-विवाह, सुन्दरी दासियाँ रखना आदि ...सत कुरीतियाँ इसी युग की देन है। शिक्षा के अभाव के कारण भी सामाजिक ...धविश्वास निरन्तर पनप रहे थे। कृषि-कार्यो तथा अन्य काम-धन्धो की दशा ...रती जा रही थी। सामान्य जीवन आर्थिक दुरवस्थाओ से अधिक पीडित ... इन पर भी सम्भ्रान्त वर्गो की समस्त विलासिताओ का बोझ इसे ही वहन ...ा पड रहा था। कला, सस्कृति, व्यापार, आर्थिक-क्षेत्र सभी अनेक प्रकार के ...ो से गुजर रहे थे। संक्षेप मे सामान्य सामाजिक जीवन तो प्रयत्क्ष रूप से ...ोन्मुख था ही, जबकि तथाकथित सम्भ्रान्त समाज भी भीतर ही भीतर से ...ला होकर अपनी कब्र आप ही खोद रहा था। अत सामाजिक परिवेश ...फलतापूर्ण ही कहा जाएगा।

...र्मिक परिस्थितियाँ—ऊपर राजनीति और समाज की ह्रासोन्मुख परि-...ो का उल्लेख किया जा चुका है। वहाँ यह भी स्पष्ट हो चुका है कि ...जगत् मे नैतिकता का कोई स्पष्ट मानदण्ड नही रह गया था। अतः

धार्मिक दृष्टि से भी इस काल का कोई आदर्श नही था। शाहजहाँ के समय तक जो धार्मिक सहिष्णुता दिखाई देती थी और औरंगजेब ने जिसे खण्डित किया था, वह खण्डित स्थिति क्रमश वृद्धि पर थी। धर्म मे कोई उदात्त तत्त्व नही रह गया था। भक्तिकालीन धार्मिक आस्थाएँ एव मान्यताएँ प्राय पूर्णतया खण्डित हो गई थी। उनके स्थान पर वाह्याडम्बरो, अन्ध रूढियो एव लूटपूर्ण धार्मिक अनाचारो को क्रमश बढावा मिलने लगा था। अधकचरे और कठमुल्ला अन्ध प्रवृत्तियो वाले मौलवी और तथाकथित पण्डित स्वय अनेक प्रकार की धार्मिक असगतियो एव दुराग्रहो से ग्रसित होकर जन-समाज को भी उसी ओर ढकेल रहे थे। इसी कारण भक्ति-भावनाओ मे भी मासलता, स्थूल-ऐन्द्रिकता आती जा रही थी। राधा और कृष्ण की भक्ति एव लीलाओ की आड मे सामाजिक कुत्सित भावनाओ का ही प्रदर्शन होने लगा था। हमारे विचार मे राधा और कृष्ण के नाम को जितना कलकित एव अपावन इस युग मे धार्मिकता एव भक्ति भावना की आड मे किया गया है, उतना आज के इस अनास्था एव भौतिकता के आत्यन्तिक रूपो वाले युग मे भी नही हो रहा है।

धर्म और सस्कृति के सरक्षक मन्दिर-मठ आदि भी प्राय कुत्सित वासनाओ का शिकार हो रहे थे। पूर्वप्रचलित सभी प्रकार के आध्यात्मिक, धार्मिक, यहाँ तक कि सन्त और प्रेम-मार्गी सम्प्रदाय भी कुत्सित वासनाओ के प्रभाव से अपने आपको मुक्त न रख सके थे। वहाँ भी भक्ति-रस या उज्जवल रस अब स्थूल शृगारिकता में डूबने लगा था। ऐसी स्थिति मे भला धर्म का सत् स्वरूप कैसे उजागर रह सकता था। सक्षेपत धार्मिक परिवेश भी निरन्तर ह्रासोन्मुख होकर भौतिक मासलता के रोहावरोहो मे उलझकर रह गया था।

ऐसी परिस्थितियो मे कला एव साहित्य अपनी विशुद्ध परम्पराओ को कैसे बनाये रख सकते थे! ये दोनो भी राज-दरबारो की नर्तकियाँ मात्र बनकर रह गये थे और इन्हे अपने आश्रयदाताओ के सकेत पर जैसा-कैसा विलासिता एव शृगार की भावनाओ को प्रश्रय देने वाला नृत्य करना पडता था। इसमे न तो लास्य की कोमलता थी और न ताण्डव की भयावहता था, केवल वासनाओ को जगाने वाली सृजनात्मक प्रवृत्ति थी। वास्तव मे कलाएँ और साहित्य प्रदर्शन के

साधन मात्र बनकर रह गये थे। प्रत्यक्ष जीवन या जन-जीवन के साथ इनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं रह गया था। इसी कारण यहाँ कला एवं साहित्य के क्षेत्र में वासनात्मक घुटन अधिक है, सृजनात्मक मौलिकता एवं प्राणवत्ता प्रायः नाम को ही है। आश्रयदाताओं की प्रसन्नता के लिए कवि और कलाकार बद्धमूल परम्पराओं का ही ज्यों-त्यों करके निर्वाह किये जा रहे थे, कोई मौलिक प्रतिभा कहीं भी प्रदर्शित नहीं हो रही थी। चित्रकला, संगीतकला और साहित्य में केवल चमत्कारपूर्ण प्रवृत्तियों के ही दर्शन होते हैं। साहित्य में तो चमत्कार एवं अलंकरण की प्रवृत्ति सर्वाधिक और निम्नता की सीमा तक दिखाई देती है। दरबारी भाषा फारसी होने के कारण साहित्यकारों के सामने फारसी के साहित्यकारों से टक्कर लेने का भी प्रश्न था, अपनी रोटी-रोजी एवं स्थिति को जमाये रखने की भी अनेक विधि सामयिक चुनौतियाँ थीं। अतः यहाँ के साहित्यकार का फारसी के रोमानी प्रभाव से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। निम्नलिखित पंक्ति इसी प्रभाव का परिचय प्रतीत होती है —

एकहि संग दुहूँ रपटे सखि,
ये भये ऊपर हौं भई नीचे।

यह तो एक उदाहरण मात्र है, इनसे भी नग्नचित्र यहाँ उपलब्ध होते हैं। एक ओर तो साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार की दुर्गन्धित मांसलता का उद्गिरण हो रहा था, दूसरी ओर प्रायः कवि अपनी हीनता को आचार्यत्व की आड़ में छुपाने का प्रयत्न कर रहे थे। आचार्य बनने की आकांक्षा हमारे विचार में कवियों के मन में व्याप्त असन्तोष की प्रतिक्रिया ही का फल थी। विशुद्ध काव्य के क्षेत्र में तो इन्हें अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर मिल नहीं पा रहा था, अतः आचार्यत्व की प्रवृत्ति ने जन्म लिया। इस दृष्टि से कवियों ने अपनी प्रतिभा का परिचय देने का प्रयत्न तो किया; किन्तु प्रतिभा का नहीं, बल्कि कोरे पाण्डित्य का ही ये लोग अधिक प्रदर्शन करते रहे। फलतः न तो ये प्रतिभाशाली कवि ही बन पाये और न आचार्य ही। फिर भी लक्षण ग्रन्थों की पर्याप्त रचना के बाद रीतिकालीन कवियों ने [illegible] रचना की ओर [illegible] बढ़ाया, इसे हम गुण [illegible] ही मानेंगे। कुछ इतिहासकार आचार्यत्व एवं लक्षण ग्रन्थों की रचना को

रीतिकालीन साहित्य के क्षेत्र मे साहित्य के विकास की एक सहज प्रक्रिया और प्रवृत्ति मानते हैं किन्तु यह वात तथ्यपूर्ण नही है। हमारे विचार मे तो यह घुटन की प्रतिक्रिया थी, जो आश्रयदाताओ को प्रसन्न करने के लिए ही लकीर पर चलने वाली प्रवृत्ति के कारण तत्कालीन साहित्यकारो के मन मे उद्भूत हो गई थी। कुछ भी हो, रीतिकालीन कवियो का, साहित्य का यदि विशेप महत्त्व माना जाना चाहिए, तो इस नव्य-दिशा-वोध के कारण ही। जहाँ तक 'साहित्य के सामाजिक दर्पण' या 'प्रतिविम्व' वनने का प्रश्न है, उपरोक्त परिस्थितियो से स्पष्ट है कि इस काल का साहित्य समग्र समाज का दर्पण या प्रतिविम्व नही है। यह तो केवल लडखडाती सामन्ती परम्पराओ को वलात् ढोने वाले समाज का ही दर्पण और प्रतिविम्व है। इस दृष्टि से इस युग के साहित्य का रुख नकारात्मक है। यह सामान्य जीवन से कटा-छँटा है। इसमे सामान्य जीवन को अनुप्राणित कर सकने वाले सशक्त एव जीवन्त जीवन-तत्त्वो का अभाव है। यह तो मन के कुहासो से निसृत ऐसी रागिनी है, जो कोहरे से ढकी चाँदनी के समान जीवन की उपादेयता की दृष्टि से साहित्यिकता का मात्र आभास ही देती है। इसमे जीवन की तडपती सस्वरता एव भास्वरता का अभाव सचमुच वहुत ही खटकने वाला है।

रीतिकाल प्रवृत्तियाँ एव विशेषताएँ

रीतिकाल की परिस्थितियो के अन्तर्गत हम यह देख चुके है कि इस काल ; साहित्य की स्थिति एक दरवारी नर्तकी से अधिक नही थी। जिस प्रकार ाज्याश्रय या वेतन से पलने वाली नर्तकी को वेतनदाता की इच्छा एव मन - स्थिति के अनुरूप किसी भी समय नृत्य करने के लिए उद्यत रहना पडता है, कुछ से ही स्थिति कवियो-साहित्यकारो मे भी थी। इनकी समग्र चेतना अपनी रक्षा के लिए आश्रयदाताओ की इच्छाओ का मन रखने तक ही सीमित थी। सद्धान्त या वाद के अनुरूप यदि इस प्रवृत्ति को कोई नाम देना चाहे, तो महा ाजा जयसिह के दरवारी कवि बिहारी की स्थिति को देखते हुए, समस्त युगीन वृत्ति को हम 'अशर्फीवाद' का नाम दे सकते है। यह 'अशर्फीवाद' भी केवल

रसिकता एव शृगारिकता के आस-पास घूम रहा था, वीरगाथा-कालीन कवियो के समान जातीय या वीर भावनाओ को उभारने आदि की प्रवृत्ति पर नही। वहाँ कम से कम मर-मिटने की तडप तो थी—फिर चाहे वह थोथे दम्भ के लिये ही क्यो न थी। और यहाँ? यहाँ भी मर-मिटने की तडप थी, किन्तु मदिरा के चषको, नर्तकियो के पायलो की रुनझुन और कवियो की चमत्कारपूर्ण शृगारिक उद्भावनाओ से भरी शब्दावलियो के आवर्त-जाल मे डूबकर और बस! इन्हीं मूल बातो को ध्यान मे रखकर इस काल की प्रवृत्तियो एव साहित्यिक मान्यताओ का अध्ययन किया जा सकता है।

१ शृगार-प्रवृत्ति—यह प्रवृत्ति इस काल की सर्वाधिक स्पष्ट एव प्रमुख प्रवृत्ति है। समूचे काव्य मे शृगार रस की ही प्रधानता है। कवियो ने नख-शिख-सौन्दर्य वर्णन, नायिका भेद, अलकारो के लक्षण आदि ही प्रमुख रूप से वर्णित किये है, किन्तु इन सब पर मासल शृंगारिकता का आवरण चढा हुआ है। अत: शृगार ही रीतिकाल का प्रमुख काम्य एव प्रतिपाद्य है। इसके लिए कवियो ने किसी भी प्रकार की बहानेबाजी की अपेक्षा स्पष्टता से काम लिया। डॉ० नगेन्द्र अनुसार—"साँचा चाहे जैसा भी रहा हो, उसमे ढली शृगारिकता ही। इसकी अभिव्यक्ति मे उन्होने किसी भी प्रकार का सकोच नही किया। इसीलिये उनकी शृगारिकता मे अप्राकृतिक गोपन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नही है, न वासना के नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की चर्या उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वचित नहीं रही हो, परन्तु शारीरिक कुण्ठाओ से मुक्त थी। इसी कारण इस युग की शृगारिकता मे घुमड़न या मानसिक छलना नही है।"

रीतिकाल के कवियो ने शृगार के सयोग-वियोग दोनो ही पक्षो का सामान्यतया उचित निर्वाह किया है। फिर भी हमारे विचार मे सयोग शृगार स्वाभाविक है, जबकि वियोग शृंगार-वर्णन ऊहात्मक ही अधिक है। शृगार का निम्न उदाहरण कितना स्वाभाविक है —

> बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
> सौह करे भौहनु हँसै दैन कहै नटि जाय॥ (बिहारी)

इसके विपरीत वियोग की अस्वाभाविकता और अतिशयोक्ति का भी उदाहरण देखें :—

सुनत पथिक मुह माह निमि लुएँ चलत उहि गाम।
विनु वूझे विनहु कहे जियत विचारी वाम॥

कहीं-कही अत्यधिक मार्मिकता एव उक्ति वैचित्र्यादि के भी शृगारिक वर्णनो मे दर्शन होते है। सयोग-वियोग दोनो शृगारो के सभी अगो का वर्णन प्राय नही मिलता है। सयोग-वर्णन के अन्तर्गत रूप-वर्णन महत्त्वपूर्ण है। वियोग वर्णन मे कही-कही वीभत्स रूप का समावेश हो गया है। रीतिकालीन शृगार-चेतना को सक्षेप मे डॉ० भागीरथ मिश्र के शब्दो मे इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है—"शृगारिकता के प्रति उनका दृष्टिकोण मुख्यत भोगपरक था, इसलिए प्रेम के उच्चतर सोपानो की ओर वे नही जा सके।"

२ **अलकारो के प्रति रुझान**—शृगार-वर्णन के बाद रीतिकाल की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति है अलकार-वर्णन और काव्यो मे इनके प्रयोग के प्रति सर्वाधिक रुझान। प्राय सभी कवि अलकारवादी थे। उक्ति-वैचित्र्य एव चमत्कार प्रदर्शन मे अलकार निश्चय ही विशेष सहायक होते है। दूसरे कवि लोग लक्षण-ग्रन्थो के निर्माता भी थे, अत अलकारो के परम्परागत लक्षण देकर इन्होने उनके अनुरूप अपने लक्ष्य रचे। जिन कवियो ने लक्षण नही भी रचे थे, वे भी काव्य-सर्जना करते समय अलकारिकता का ध्यान तो अवश्य ही रखते थे। विहारी के दोहे इस वात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अलकार-शास्त्र का ज्ञान इस युग मे वैसे भी प्राय अनिवार्य माना जाता था। अलकारिकता का यह रुझान अनेक दशाओ मे घातक भी प्रमाणित हुआ। इस दृष्टि से पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति ने इतना वल पकडा कि कविता के भाव एव आन्तरिक सौन्दर्य प्राय विलुप्त हो गये। कविता एक सजा-सँवरा वाह्य ढाँचा मात्र ही वनकर रह गई।

३ **भक्ति की प्रवृत्ति**—भक्तिकाल से चली आ रही भक्ति—मुख्यत कृष्णभक्ति की परम्परा भी इसी काल मे देखने को मिलती है। पर ध्यातव्य यह है कि यहाँ भक्ति का स्वस्थ साम्प्रदायिक स्वरूप नहीं मिलता है। दूसरे, भक्ति-भावनाएँ भी वहुत वुरी तरह शृगारिकता के पर्यावरण से लिपटी हुई है। दृष्टि-

कोण स्थूल एव राधा-कृष्ण के बाह्य सौन्दर्य के चित्रण तक ही सीमित है। कही-कही तो यह भी प्रतीत होता है कि राधा-कृष्ण का तो मात्र नाम ही लिया जा रहा है, वर्णन वास्तव मे आश्रयदाताओ या वैयक्तिक प्रेम-सम्बन्धो का ही हो रहा है। भक्ति-भावनाओ के सम्बन्ध मे रीतिकालीन कवियो का दृष्टिकोण निम्न पद्य से स्पष्ट हो जाता है। उनका कथन था कि —

रीझि है सुकवि जो तो जानो कविताई,
न तो राधिका-गोविन्द को सुमिरन को बहानो है।

शत-प्रतिशत रीतिकाल के कवियो ने भक्ति सम्बन्धी इसी आदर्श का पालन किया। इस सम्बन्ध मे डॉ० नगेन्द्र के विचार दर्शनीय हैं—"यह भक्ति भी उनकी शृगारिकता का अग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब वे लोग घबरा उठते होगे तो राधाकृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा। इसी प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप मे उसकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी तरह उनका आँचल पकडे हुए थे।" हमारे विचार मे इसके बाद इस प्रसग मे और कुछ कहने की आवश्यकता नही रह जाती।

४ नीति—रीतिकाल के प्राय सभी कवियो ने नीति-सम्बन्धी उक्तियाँ भी स्थान-स्थान पर कही है। इनमे व्यावहारिकता का भाव स्पष्ट है। हमारे विचार मे शृगारिकता के सघन वातावरण मे घुटती हुई कवियो की चेतना जिस प्रकार ऊब मिटाने के लिए भक्ति की शरण मे जाती थी, उसी प्रकार कभी-कभी नीति की उक्तियाँ पढ़कर भी अपने मन की भड़ास निकाल लिया करती थी। इसी कारण यहाँ वहाँ तो जीवन के अनुभूत तथ्यो के दर्शन होते है और कही ओढे हुए तथ्यो के। फिर भी हमारे विचार मे नीति-सम्बन्धी उक्तियो मे प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूतियो के न्यूनाधिक दर्शन हमे अवश्य ही हो जाते है।

५. रीति ग्रन्थ रचना—रीतिकाल मे रीति-परम्परा की दृष्टि से तीन प्रकार के कवि हुए थे। पहले रीतिबद्ध, दूसरे रीतिसिद्ध या रससिद्ध और तीसरे रीति-मुक्त। इनमे से पहलो ने तो मुख्यतया रीति का स्वरूप बताने वाले ग्रन्थो की ही रचना की। इन रीति-ग्रन्थो के सर्जन के क्षेत्र मे मुख्यत इसी परम्परा के कवियो

का नाम आता है। दूसरे कवियो ने रीति या लक्षण वताने वाले ग्रन्थो का प्रणयन तो नही किया, फिर भी लक्ष्य प्रस्तुत करते समय इनके मन-मस्तिष्क मे लक्षणो का ध्यान अवश्य था। तीसरे तो रीतिमुक्त थे ही। इस प्रकार स्पष्ट है कि पहली दो प्रवृत्तियो मे कवि एव आचार्य के कर्म सामान्यत साथ-साथ चलते रहे। वास्तव मे इन दोनो कर्मो का साहचर्य-भाव युगीन विवशता थी। इस विवशता का दुष्परिणाम यह निकला कि न तो कवि-कर्म का और न आचार्य-कर्म का ही पूर्णतया निर्वाह हो पाया। इसी कारण आचार्य शुक्ल जैसे विद्वानो ने रीतिकालीन आचार्य कवियो द्वारा विनिर्मित रीति-ग्रन्थो पर आश्रित न रहने का परामर्श दिया है। वास्तव मे रीति या लक्षण-ग्रन्थो की रचना के मूल मे चमत्कारपूर्ण पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना ही प्रमुख है , क्योंकि इस पाण्डित्य के विना तव राज-दरवारो में प्रवेश पा सकना सम्भव नही था। फिर भी इस युग के कुछ लक्षण-ग्रन्थों को न्यूनाधिक मान्यता अवश्य मिली है। कम से कम ये ग्रन्थ मार्ग-दर्शक तो वने ही हैं।

६ **वीर-काव्यो का प्रणयन**—रीतिकाल मे सामान्यतया शृगार रस की ही प्रधानता रही। फिर भी इसके साथ-साथ वल्कि समानान्तर पर वीर-काव्यो की धारा अपने क्षीण रूप से प्रवाहित होती रही। औरगजेव जैसे शक्की एव धर्मान्ध के अत्याचारों से पीडित होकर देश के विभिन्न कोनो मे प्रतिकार चुकाने के लिए अनेक वीरात्मक शक्तियो का उदय हो गया था। इनकी वीरता-भावना से प्रेरित होकर एव इनके वीरत्व को सजग वनाए रखने के लिए कुछ कवि वीर-काव्यो का प्रणयन भी करने लगे थे। इन कवियो मे भूपण, सूदन, गोरेलाल, गुरु गोविन्द सिह आदि के नाम विशेप उल्लेखनीय हैं।

७ **प्रकृति-चित्रण**—प्रकृति अनादि-काल से ही कवियो एव साहित्यकारो की भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनती आ रही है। इसका वर्णन आरम्भ से ही कवि आलम्बन, उद्दीपन, आश्रय एव स्वतन्त्र रूपो से करते आ रहे हैं। परन्तु रीति-काल मे दरवारी वातावरण की विवशता के कारण प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप मे ही मुख्य रूप से हुआ है। षड्ऋतु-वर्णन और वारहमासे आदि के वर्णन मुख्यत इसी प्रकार के हैं। कही-कही सेनापति जैसे कुछ कवियो ने प्रकृति

के स्वछन्द स्वरूप का चित्रण करने का प्रयास भी किया है।

८. भाषा-शैली—रीतिकाल के काव्यो मे प्रमुखत ब्रजभाषा के प्रयोग के प्रति ही आग्रह है। वास्तव मे सस्कृत के बाद ब्रजभाषा कविता के लिए एक उपयुक्त भाषा थी। इसका लचकीलापन कवि-कर्म के लिए अत्यधिक उपयुक्त था। फिर कवियो ने ब्रजभाषा के सौकौमार्य की पर्याप्त रक्षा भी की है। 'रीतिकाल की भूमिका' मे उस काल की भाषा के सम्बन्ध मे डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—"उनके काव्य मे किसी भी ऐसे शब्द की गुंजाइश नहीं मिलती जिसमे माधुर्य नहीं है, जो माधुर्य गुण के अनुकूल न हो। अक्षरो के गुम्फन मे उन्होने कभी भी त्रुटि नहीं की। सगीत के रेशमी तारो मे इनके शब्द माणिक्य-मोती की तरह गुंथे हुए हैं नागरिकता और मसृणता इस काल की भाषा का मुख्य तत्त्व है।" हमारे विचा मे भाषा के सम्बन्ध मे और कुछ कहने की आवश्यकता प्राय. नही रह जाती हाँ, ब्रजभाषा के अतिरिक्त कवियो ने स्यात् दरबारी वातावरण के का अरबी, तुर्की, फारसी शब्दो का भी प्रयोग कहीं-कही किया है। आचलिक भाषा का प्रभाव भी यत्र-तत्र मिलता है।

काव्य-शैली की दृष्टि से रीतिकाल मे मुक्तक काव्यो का ही प्रमु प्रणयन हुआ। वास्तव मे इस समय के उत्तेजक एव वासनामय दरबारी-वाता की दृष्टि से मुक्तक काव्य-शैली का चयन उपयुक्त भी था। यहाँ कवित दृष्टि से लम्बे-लम्बे प्रबन्धकाव्यो को सुनने का न तो समय ही था और न एव धैर्य ही था। यहाँ तो ध्रुपद की एक ऐसी तान की आवश्यकता थी, ज ही स्वर-लय मे मुखर होकर श्रोता को आविर्भूत कर सके। रस की सुराहि बल्कि छोटे मात्र की आवश्यकता थी। इसी कारण कवियो ने मुक्तक-शैली को ही अपनाया। कुछ प्रबन्ध भी रचे गये, पर इनका विशेष महत्त्व है।

९. छन्द-अलकार—इस काल मे लक्षण ग्रन्थ पर्याप्त रचे गये। इन और अलकारो के पर्याप्त लक्षणोदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। य अलकार से तात्पर्य है कि काव्य-रचना के लिए कवियो ने किस प्रकार और अलकारो को आश्रय दिया। इस दृष्टि से रीतिकाल मे कवित्त,

दोहा जैसे छन्दो को ही अधिक महत्त्व दिया गया, क्योकि शृगार के लिए सवैये से अधिक उपयुक्त छन्द नही हो सकता। पर विहारी ने तो दोहा जैसा छन्द अपनाकर ही कमाल कर दिखाया। वीर रस के लिए कवित्त के अनेक रूप अधिक उपयोगी होते हैं। वैसे इसमे शृगार की रचना भी हो सकती है और हुई है। नीति की सूक्तियो के लिए दोहा वहुत उपयुक्त छन्द है। भक्ति के भी प्राय. दोहे और सवैये ही अधिक मिलते हैं।

जहाँ तक अलकारो के प्रयोग का प्रश्न है, कवियो की प्रवृत्ति सभी प्रकार के अलकारो के प्रयोग की ओर थी। शब्दालकार, अर्थालकार और सकर या उभया लकार आदि सभीके अनेकानेक उदाहरण इस युग की प्रवृत्ति ही नही, एक विशेषता भी है।

१० लोक-दर्शन—यह ठीक है कि दरवारी वातावरण की सीमा और 'अशर्फीवादी' प्रवृत्तियो के कारण सामान्यतया कवियो की रुचि लोक या प्रत्यक्ष जीवन के दर्शन की ओर नही थी, फिर भी सम्भ्रात जीवन का व्यापक चित्रण इनके काव्यो मे प्रत्यक्षत देखा जा सकता है। इसमे व्यापकता चाहे न हो, जीवन के रोहावरोहों के दर्शन भी विशेप नही होते, फिर भी कविगण कुछ न कुछ स्फूर्ति लोकजीवन को अवश्य देते रहे। इनके सीमित चित्रण को ही युग-परिवेश की दृष्टि से प्रशसनीय मानते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"कवियो ने दुनिया को अपनी आँखो से देखने का कार्य वन्द नही कर दिया नायिका-भेद की सकीर्ण सीमा मे जितना लोकचित्र आ सकता था उसका उतन चित्र निश्चय ही विश्वसनीय और मनोरम है, उनका दोष जरूर है कि यह चि असम्पूर्ण और विच्छिन्न है।" इसी प्रकार रीतिकालीन कवियो के लोकदर्शन के सम्वन्ध मे 'रीतिकाल की भूमिका' मे डॉ० नगेन्द्र ने भी लिखा है—"उनक आधारफलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए स्थान नहं है। उस पर अकित जीवन-चित्र भी स्वभावत एकागी है परन्तु उसमे एक मधु रमणीयता, मन को विश्राम देने का गुण अवश्य है।"

स्पष्ट है कि रीतिकालीन कवियो की प्रवृत्ति अपने सीमित परिवेश म सामान्यत लोक-दर्शन की ओर भी थी। पर हमारा यह स्पष्ट विचार है कि

इनका लोक-दर्शन सम्भ्रान्त वर्गों के जीवन तक ही सीमित है। सामान्य जनों के यदि कहीं दर्शन होते भी हैं तो 'नागरता के नाम' पर टेसुए विसूरते हुए ही। अतः लोक-दर्शन अधूरा ही कहा जा सकता है।

इन मुख्य बातों के अतिरिक्त प्रतिद्वन्द्विता की प्रवृत्ति भी इस युग में विद्यमान थी। यह प्रतिद्वन्द्विता केवल हिन्दी कवियों के साथ ही नहीं, फारसी कवियों के साथ भी थी। कवि पराश्रित थे, अतः इनकी अपनी सीमाएँ थीं, अपना परिवेश था। इसी कारण इस काल के कवियों में मौलिक चिन्तन-मनन का अभाव रहा। अन्त में रीतिकालीन प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं को डॉ० भागीरथ मिश्र के शब्दों में इस प्रकार अंकित किया जा सकता है—"ऐसा लगता है कि रीति-कविता के रचयिता यौवन और वसन्त के कवि हैं। जीवन का फूलता हुआ सुघर रूप ही उन्हें प्रिय है। पतझड़, संघर्ष और विनाश सम्भवतः स्वतः जीवन में इतने घोर रूप में विद्यमान था कि काव्य में भी उसको उतारकर नैराश्य और निवृत्ति की भावना को जगाना नहीं चाहता।·· उसने जीवन का एक ही स्वरूप, एक ही पक्ष लिया, यह इस धारा के कवि की संकीर्णता है, दुर्बलता और एकांगिता है। परन्तु जिस पक्ष को इसने लिया, उसके चित्रण में उसने कोई कसर उठा नहीं रखी। उसके समस्त वैभव और विलास के चित्रण में उसने कलम तोड़ दी।"

रीतिकालीन कवि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

रीतिबद्ध कवि

चिन्तामणि त्रिपाठी—चिन्तामणि त्रिपाठी रीतिकाल के प्रथम रीतिबद्ध आचार्य हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वानों ने इन्हींसे रीतिकाल का विधिवत् प्रवर्तन माना है। इनके द्वारा प्रवर्तित परम्परा ही अगले दो सौ वर्षों तक हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में चलती रही थी, अतः हमारे विचार में भी इन्हींको रीतिकाल का प्रथम रीतिबद्ध आचार्य माना जाना चाहिए।

इनका जन्म सम्वत् १६६६ के आसपास हुआ माना जाता है। जन्म-स्थान कानपुर जिले के अन्तर्गत बसा तिकवांपुर नामक स्थान है। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। रीतिकाल के अन्य प्रसिद्ध कवि मतिराम और भूषण

इनके छोटे भाई थे। इनका एक अन्य भाई भी था, जिसका नाम जटाशकर था। यह अनेक वर्षो तक नागपुर के सूर्यवशी भोंसला नरेश मकरन्द शाह के आश्रय मे रहे थे। ऐसा माना जाता है कि इन्होने अपनी कई प्रसिद्ध रचनाएँ इन्हींकी प्रेरणा से इन्हीके विनोदार्थ रची थी।

रचनाएँ—चिन्तामणि त्रिपाठी ने जो अनेक पुस्तके रची इनमे से 'कविकुल-कल्पतरु' का विशेष महत्त्व है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध भी है। इनीको इनकी कीर्ति का मुख्य आधार माना जाता है। इसका रचना-काल सम्वत् १७०० वि० माना जाता है और यही से रीतिकाल का प्रवर्त्तन भी होता है। इनकी अन्य उपलब्ध रचनाओ के नाम हैं—'पिंगल' और 'शृगार मजरी'। इनके अतिरिक्त 'शिवसिंह सरोज' मे इनकी काव्य विवेक, काव्य प्रकाश, छन्द विचार तथा रामायण आदि रचनाओ का उल्लेख भी किया गया है। किन्तु ये रचनाएँ आज उपलब्ध नही है। अपनी प्रमुख रचना 'कविकुल कल्पतरु' मे इन्होंने काव्य के सभी प्रमुख अगो का वर्णन किया है। इनका दृष्टिकोण रसवादी है। इन्होने 'काव्य प्रकाश', 'दशरूपक' और 'साहित्य दर्पण' जैसे सस्कृत के काव्याग-विवेचक ग्रन्थो को अपना आधार बनाया था, अत इनका रसवादी होना स्वभाविक ही है। काव्य-विवेचन काफी विशद एव विद्वत्तापूर्ण है। इसी प्रकार इन्होने अपनी दूसरी रचना 'शृगार मजरी' में भी निपुणता का परिचय दिया है। इन दोनो रचनाओं मे चिन्तामणि ने विषय के स्पष्टीकरण के लिए गद्य का भी प्रयोग किया है, जिससे हम १८वी शती के गद्य के रूप की सामान्य जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

'पिंगल' नामक रचना छन्दो से सम्बन्धित है और इसकी रचना 'प्राकृत पैंगलम्' के आधार पर की गई है। इसी रचना को कई स्थानो पर छन्द विचार' के नाम से भी उल्लिखित किया गया है। शेष रचनाएँ आज उपलब्ध नही है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन्होने 'पिंगल' की रचना नागपुर मे, 'रामायण' तथा 'कविकुल कल्पतरु' की रचना सोलकी नरेश रुद्रशाह के आश्रय मे और 'शृगार मजरी' की रचना मकरन्दशाह के पौत्र अकबर साहि के मनोविनोदार्थ की थी। उपरोक्त रचनाओ के अतिरिक्त जो उपलब्ध नही है, उनके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

चिन्तामणि त्रिपाठी रीतिकालीन प्रमुख दिशाबोधक आचार्य तो थे ही, इसके साथ-साथ प्रमुख रसवादी कवि भी थे। इन्होंने शृंगार रस का वर्णन प्रमुखत किया है। इनकी कविता में अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भी हुई है। भाषा तथा अन्य चमत्कारपूर्ण आडम्बरों से इनकी कविता सर्वथा मुक्त है। जो कुछ भी है सीधा-सादा और निश्छल है। इस प्रकार स्पष्ट है कि चिन्तामणि त्रिपाठी एक साथ कवि और आचार्य थे। रीतिकाल में सर्वप्रथम काव्यांगों के सम्पूर्ण विवेचन और सरल काव्यात्मक अभिव्यक्तियों के कारण इनका महत्त्व असन्दिग्ध है।

जसवन्तसिंह—यह जोधपुर (मारवाड़) के इतिहास-प्रसिद्ध राजा हैं। वास्तव में यह जितने तलवार के प्रेमी थे, उतने ही साहित्य के भी प्रेमी थे। इसी कारण वीरता और साहित्य दोनों क्षेत्रों में इनका समान महत्त्व अंकित किया जाता है। इनका जन्म संवत् १६८३ वि० (सन् १६२६) में हुआ था। अपने राजत्वकाल में इन्होंने औरंगजेब और मुगल साम्राज्य के लिए अनेक प्रदेशों पर विजय प्राप्त की थी और मुगल साम्राज्य को अनेक कठिन परिस्थितियों से उबारा था। इतने पर भी कहा जाता है कि इनकी वीरता से आतंकित होकर औरंगजेब ने इन्हें अफगानिस्तान की कठिन परिस्थितियों में भेजकर जान-बूझकर मरवा डाला था। इनकी निधन-तिथि सम्वत् १७३५ वि० (सन् १६७८) में मानी जाती है।

[illegible] ने अपने दरबार में अनेक कवि [illegible]

है। इस रचना का काव्य विषय अथवा प्रतिपाद्य अलकार-वर्णन ही है। रचनाकार स्पष्टत 'कुवलयानन्द' के विषय-वर्णन और शैली मे प्रभावित है। कवि ने एक पक्ति मे अलकार का लक्षण और दूसरी मे उदाहरण दिया है। यथा 'उत्प्रेक्षा' का उदाहरण देखें :—

उत्प्रेक्षा भावना, वस्तुहेतु फल लेखि ।
नैन मनो अरविन्द हैं, सरस विसाल विसेखि ॥

इस रचना के अतिरिक्त महाराजा जसवन्तसिह की अन्य रचनाएँ तत्त्वज्ञान से सम्वन्ध रखती हैं। एक रचना 'प्रवोधचन्द्रोदय' सस्कृत के इसी नाम के नाटक का भाषा-रूपान्तर है। इनसे भी कवि की कल्पना एव कवित्वशक्ति का सहज परिचय मिल जाता है। रीतिकालीन वातावरण मे तत्त्व-चिन्तन निश्चय ही विशेष महत्त्व रखता है।

मतिराम—मतिराम रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य कवि चिन्तामणि त्रिपाठी और वीररस के प्रख्यात कवि भूषण के भाई थे। इनका जन्म सम्वत् १६७५ वि० (सन् १६१८) के आसपास कानपुर जिले के तिकवांपुर गाँव मे हुआ था। पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। कुछ इतिहासकार इनका जन्म सम्वत् १६६० वि० मे और निधन सम्वत् १७५० वि० के लगभग स्वीकार करते हैं। जन्म-सम्वतो के सम्बन्ध मे यह मतभेद तो प्राय सभी जगह ही पाया जाता है। यह प्रसिद्ध है कि मतिराम अनेक राजाओ के आश्रय मे रहे थे और प्रत्येक आश्रय-दाता की इच्छा को प्रतिफलित करने के लिए इन्होने विविध विषयो पर अनेक ग्रन्थ रचे थे। मतिराम के व्यक्तित्व को लेकर विवाद प्रचलित है। कुछ लोग इस नाम के दो कवि होने की वात कहते है। किन्तु इस विभेद का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण अभी तक हमारे सामने नहीं आ पाया है।

रचनाएँ—मतिराम ने अनेक ग्रन्थ रचे हैं। इनके नाम हैं—ललित ललाम, रसराज, फूल मजरी, छन्दसार-पिगल, साहित्यसार, मतिराम सतसई, लक्षण शृगार और अलकार पचाशिका। 'वृत्त-कौमुदी' के नाम से एक अन्य रचना भी इनके नाम के साथ जोडी जाती है, परन्तु हमारे विचार मे वह 'छन्दसार-पिगल' का ही रूपान्तर है। इनमे से भी 'रसराज' और 'ललित ललाम' मतिराम की

कीर्ति के आधार-स्तम्भ हैं। कवि ने 'रसराज' मे नायिका-भेदो का विस्तार से विवेचन किया है, जब कि 'ललित ललाम' का सम्बन्ध अलकार निरूपण से है। ऐसा माना जाता है कि ललित 'ललाम' की रचना कवि ने सम्वत् १७१६ और १७४५ वि० के मध्य बूंदी-नरेश भावसिह के आश्रय मे की थी। इसमे सस्कृत के 'कुवलयानन्द' और 'चन्द्रालोक' के आधार पर केवल अर्थालकारो का वर्णन किया गया है। इसी विषय से सम्बन्धित अन्य रचना 'अलकार पचाशिका' सम्वत् १७४० वि० मे कुमायूं के राजा उदोतचन्द्र के बेटे ज्ञानचन्द्र के लिए की गई थी। किन्तु पहली रचना की तुलना मे अलकार-सम्बन्धी यह दूसरी रचना अत्यधिक महत्त्वहीन है। 'साहित्यसार' मे नायिका-भेद का वर्णन है। इसी प्रकार 'लक्षण शृगार' मे कवि ने रस-सम्बन्धी भावो और विभावो का वर्णन किया है।

मतिराम के दो ग्रन्थो 'रसराज' और 'ललित ललाम' के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रगट करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि "रसराज और ललित ललाम मतिराम के ये दो ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध है, क्योकि रस और अलंकारो की शिक्षा मे इनका उपयोग बराबर चलता आया है। वास्तव मे अपने विषय के ये अनुपम ग्रन्थ हैं। उदाहरणो की रमणीयता से अनायास रसो और अलकारो का अभ्यास हो जाता है। रसराज का कहना ही क्या है! ललित ललाम मे भी अलकारो के उदाहरण बहुत ही सरस और स्पष्ट हैं।" अपनी इन्ही दो रचनाओ के कारण मतिराम एक ओर तो आचार्यत्व की सीमा को स्पष्टतः सस्पर्श करते हुए दिखाई देते हैं, जबकि दूसरी ओर उत्कृष्ट कवित्व प्रतिभा का भी द्योतन करते हुए देखे जा सकते हैं।

मतिराम ने यद्यपि अलंकार, नायिका-भेद, रस छन्द आदि काव्य के विविध विषयो का विवेचन किया है, तो भी इनका महत्त्व आचार्यत्व की दृष्टि से उतना नही अकित किया जाता, जितना कि कवित्व की सरलता की दृष्टि से। कवि ने लक्षणो के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए जो कविता प्रस्तुत की है, वह वास्तव मे अनुपम है। वहाँ सुकुमारता, कल्पना की स्निग्ध कोमलता, माधुर्य एव सरसता आदि समस्त गुण विद्यमान है। भावो एव शब्दो के कृत्रिम और आडम्बरमय पर्यावरण वहाँ रत्ती नही है। भाषायी प्रयोगो की दृष्टि से भी इनका अत्यधिक

महत्त्व है। सरस, सरल एव विशुद्ध भाषा मे जिन भावो की अभिव्यक्ति मतिराम ने की है, वह रीतिकाल के बहुत कम कवियो मे देखी जा सकती है। इस सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियो मे पद्माकर को छोडकर और किसी कवि मे मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यजना नही मिलती।" मतिराम की कविता मे कृत्रिमता का नाम तक नही मिलता। सभी प्रकार की भाव-व्यजक व्यापक चेष्टाओ का वर्णन भी इनकी कविता मे स्वाभाविक हुआ है। नाद-सौन्दर्य, चित्रमयता एव अभिव्यक्ति की स्पष्टता आदि सभी गुणो से इनकी कविता सपन्न है। इनके 'रसराज' का एक उदाहरण देखें —

पारावार पीतम को प्यारी ह्वै मिली है गग,
बरनत कोऊ कवि कोविद निहारि कै।
सो तो मति 'मतिराम' के न मनमाने निज,
मति सौं कहत यह वचन विचारि कै॥
जरत बरत बडवानल सौं वारिनिधि,
वीचिनि के सोर सौं जनावत पुकारि कै।
ज्यावति विरचि ताहि प्यावत पियूष निज,
कलानिधि मडल कमण्डल तैं ढारि कै॥

स्पष्ट है कि मतिराम के काव्य मे कोई भी ऐसी ग्रन्थि नही, जो कविता मे दुरूहता का सचार करे। अपनी इसी सरसता के कारण ही मतिराम का स्थान रीतिकाल के कवियो मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मतिराम की एक अन्य विशेषता यह भी है कि उसने समकालिक सभी काव्य-शैलियो को सुव्यवस्थापूर्ण ढग से अपनाया है। मुक्तक काव्यधारा की प्राय सभी विशेषताएँ इनकी कविता मे देखी जा सकती हैं।

भूषण—चिन्तामणि त्रिपाठी और मतिराम के भाई, किन्तु रीतिकाल की रस-परम्परा मे उनसे सर्वथा भिन्न कवि भूषण उस घोर शृगारिकता के युग मे सबसे अलग-थलग जगमगाते हुए एक ऐसे प्रखर नक्षत्र हैं कि जिनका सानी आज तक नही मिलता। इनके जन्म और निधन तिथियो का अविकल रूप से पता

नही चल पाया है। सामान्यतया इनका रचना काल सम्वत् १७२७ वि० से १८२९ वि० तक माना जाता है। इसी प्रकार कुछ लोग इनकी जन्मतिथि स० १६७० और निधन तिथि स० १७६० वि० के आसपास मानते हैं। इनका जन्म कानपुर के तिकवांपुर गाँव मे रत्नाकर त्रिपाठी के यहाँ हुआ था। कहा जाता है कि इनका वास्तविक नाम ज्ञात नही, 'भूषण' उपाधि इन्हे चित्रकूट के सोलंकी नरेश रुद्र ने प्रदान की थी। कहीं-कहीं इनका वास्तविक नाम मुरलीधर भी मिलता है। किन्तु डॉ० ओमप्रकाश शास्त्री ने अपने एक लेख मे सबल तर्कों द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि 'भूषण' उपाधि नहीं, बल्कि कवि का वास्तविक नाम है। अभी तक डॉ० ओमप्रकाश शास्त्री की इस मान्यता का खण्डन किसी अधिकारी विद्वान् ने नही किया, अत: इस मान्यता को सही स्वीकार किया जा सकता है। नाम कुछ भी हो, किन्तु इसमे तनिक भी सन्देह नहीं कि रीतिकाल के समूचे शृगार और विलासिता के पंकिल वातावरण में भूषण का व्यक्तित्व एक बहुमूल्य आभूषण के समान भूषणो के ढेर मे स्वत. ही अलग-थलग प्रतीत होकर अपनी ओर सबका ध्यान अवश्य आकर्षित कर लेता है। इनकी ओजस्विनी कविता को सुनकर न समझ पाने वाले का मन भी फडक उठता है और वह यह कहने के लिए प्राय विवश हो जाता है कि उनमे केवल 'कुछ' ही नही, बल्कि 'बहुत कुछ' है।

रचनाएँ—भूषण के नाम से प्रचारित ६ रचनाओ के नाम मिलते है। उनके नाम हैं—शिवराज भूषण, शिवाबावनी, छत्रसाल दशक, भूषण उल्लास, दूषण उल्लास और भूषण हजारा। किन्तु इनमे से प्राप्त ग्रन्थो की सख्या केवल तीन ही है और हैं उपरोक्त पहले तीन ग्रन्थ। इनमे से 'शिवराज भूषण' अलकार-सम्बन्धी रचना है। इसमे कवि ने कुल एक सौ पांच अलकारो के नाम गिनाये हैं। कवि ने वर्णन केवल प्रसिद्ध अलकारो का ही किया है। रचना-प्रणाली इस प्रकार की है कि पहले तो अलकार का लक्षण दिया गया है, फिर उसे स्पष्ट करने के लिए कवि ने शिवाजी की वीरता आदि से सम्बन्धित घटनाओ के आधार पर कवित्त और सवैये रचकर उदाहरण दिये हैं। जहाँ तक अलकार-वर्णन का प्रश्न है, इसे प्रौढ एव सम्पन्न नहीं स्वीकार किया जाता। शास्त्रीय दृष्टि से अलकारो

के लक्षण अपूर्ण एव महत्त्वहीन है। हाँ, इनके उदाहरण अवश्य ही सप्राण हैं। भूषण ने लक्षण-रचना की दृष्टि से केवल परम्परा के निर्वाह का ही प्रयत्न किया है। अत इन्हें आचार्यत्व प्रदान नही किया जा सकता। जहाँ तक इनके मूल उद्देश्य शिवाजी के वीरत्व-वर्णन का प्रश्न है, भूषण वास्तव मे अद्वितीय हैं।

'शिवराज भूषण' के अतिरिक्त अन्य उपलब्ध रचनाओ मे से क्रमश 'शिवा वावनी' मे शिवाजी का और 'छत्रसाल-दशक' मे बुन्देलखण्ड के शासक छत्रसाल का वीरत्व गान अत्यन्त ओजस्वी भाषा मे किया गया है। भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल दोनो को युग-वीरता एव आदर्शो का प्रतीक मानकर ही इन्हे अपने काव्यो का नायक चुना है, इसके पीछे किसी भी प्रकार की सकीर्ण या सकुचित साम्प्रदायिक मनोवृत्ति नही है। भूषण राष्ट्रीयता की सहज भावना को ही प्रश्रय देना चाहते थे। यह सत्य है कि तब तक राष्ट्रीयता की भावना आज के समान विस्तृत एव व्यापक नही थी, फिर भी जातीयता-सयत-राष्ट्रीयता का भाव तो वहाँ था ही और उसे मुखरित करने का एकमात्र श्रेय कवि भूषण को है। इसी कारण कवि के रूप मे भूषण का अलग-थलग महत्त्व सर्व-स्वीकृत है।

वास्तव मे भूषण ने अपने युग मे विद्यमान अनय एव अत्याचार का ही विरोध किया है। भूषण बचपन से ही अभिमानी एव अक्खड थे। अत इनका स्वत्वाभिमानी व्यक्तित्व किसी भी प्रकार के अत्याचार एव युगीन पुरुषत्वहीनता को सहन नही कर सकता था। इसी कारण आरम्भ मे काफी दिनो तक भूषण आश्रय की खोज मे भटकते रहे। बाद मे शिवाजी जैसे आदर्श राष्ट्रीयता से सम्पन्न वीर को पाकर इनका स्वाभिमानी कवि मुखरित हो उठा —

इन्द्र जिमि जभ पर, वाडव सुअम्भ पर,
रावन सदम्भ पर रघकुल राज हैं।
पौन वारिवाह पर शम्भु रतिनाह पर,
ज्यो सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दावा द्रुमदण्ड पर, चीता मृगझुण्ड पर,
भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।

तेज तम अस पर, कान्ह जिमि कस पर

त्यो म्लेच्छ वस पर सेर सिवराज हैं।

निश्चय ही उस युग मे वहुमत के धर्म पर निर्मम आघात हो रहे थे और शिवाजी उनका उचित प्रतिकार भी कर रहे थे। इमी कारण भूपण ने उचित ही कहा —

वेद राखे विदित पुराण राखे सारयुत

राम-नाम राख्यो अति रसना सुघर मे।

शिवाजी के समान छत्रसाल भी उस युग मे औरगज़ेव की राष्ट्रघाती नीतियो का सामना कर रहे थे। अतः भूपण ने इनकी प्रशसा भी इसी दृष्टिकोण से की। भूपण ने तो यहाँ तक कह दिया :—

मिवा को सराहूँ कि सराहूँ छत्रसाल को।

यदि भूपण के मन मे साम्प्रदायिकता का भाव होता तो ये औरगज़ेव के पूर्वजो को 'हद बांधने वाला' न कहते। औरगज़ेव इनकी हदवदी को समूल उखाड़ फेंकना चाहता था, अत. भूपण जैसे जातीय गौरव एव राष्ट्राभिमान से भरे व्यक्ति के लिए इसका विरोध करना स्वाभाविक ही था।

वीररस का सहज परिपाक भूपण की कविता मे मिलता है। वीर के सहायक रौद्र, भयानक और बीभत्स रसो के उत्कृष्ट उदाहरण भी भूपण की कविता मे सरलता से खोजे जा सकते हैं। यो रस-वर्णन के अन्तर्गत इसके दो-तीन शृगार के पद्य भी खोजे जा सकते हैं, किन्तु भूपण का वास्तविक गौरव वीररस की अविरल स्रोत्स्विनी प्रवाहित करने के कारण ही है। वीरत्व ही भूपण की कविता है और यही इसकी सच्ची आलोचना भी है। भूपण को पाकर वास्तव मे शृगार की घिनौनी दलदल मे आकण्ठ-मग्न कविता-कामिनी धन्य हो गई।

भूपण ने मुख्यत. व्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। परन्तु इसमे प्रचलित अरबी, फारसी और बुन्देलखण्डी शब्द भी मिलते हैं। भाषा को भूपण ने अपनी योजना के अनुमार कही-कहीं तोडा-मरोडा भी है, जैसे 'गय-वर' इनकी कविता मे 'गैवर' और 'हय-वर' मात्र 'हैवर' होकर रह गया है; किन्तु यह रस की दृष्टि से इनकी विवशता है। भाषा मे ओजस्विता ही भूपण को भूपण प्रमाणित

करती है। शैली की दृष्टि से भूषण मे प्रबन्ध की प्रतिभा सर्वत्र देखी जा सकती है। इन्होने अपने चरित-नायको—शिवाजी और छत्रसाल के जीवन की प्राय समस्त प्रसिद्ध घटनाओ को काव्य में सजोया है, किन्तु परम्परा-निर्वाह की उलझन मे पकडकर ये वीररस के मुक्तककार ही प्रमाणित हो सके हैं। इसे भी सामयिक विवशता ही कहा जायेगा। कुछ भी हो, मुक्तक काव्यधारा मे वीरत्व की ओजपूर्ण अविरल सरिता प्रवाहित करने की दृष्टि से भूषण आज भी अजोड हैं।

देव या देवदत्त—'देव' उपनाम और देवदत्त पूर्ण नाम वाले इस आचार्य कवि का जन्म उत्तर प्रदेश के इटावा नगर मे सम्वत् १७३० वि० (सन् १६७३) मे हुआ था। ये कश्यप गोत्रीय द्यौसरिया या कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। देव की उपलब्ध जीवनी से पता चलता है कि इनका जीवन परिस्थितिवश प्राय. अस्थिर रहा। सभी दृष्टियो से योग्य होते हुए भी इन्हें आश्रय की खोज मे अनेक आश्रयदाताओ के यहाँ भटकना पडा। इनके प्रमुख आश्रयदाताओ के नाम हैं—आजमशाह, भवानीदत्त वैश्य, कुशलसिंह, उदोतसिंह और राजा भोगीलाल। कहा जाता है कि इनकी वास्तविक प्रतिभा की परख अन्तिम आश्रयदाता राजा भोगीलाल के यहाँ ही हो सकी। अत इन्होंने अपना अधिकाश समय इन्हींके यहाँ व्यतीत किया। इनकी निधन-तिथि सवत् १८२४ वि० के आसपास मानी जाती है।

रचनाएँ—कवि देव-विचरित ग्रन्थो की निश्चित सख्या के सबध मे आज तक अन्तिम रूप मे कुछ नही कहा जा सका है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास मे इनकी रचनाओ की सख्या २५ बताई है, मिश्र बन्धुओ ने यह सख्या २५ से दुगुनी से भी अधिक अर्थात् ५२ मानी है, जबकि शिवसिंह सरोज के अनुसार इनकी कृतियो की सख्या ७२ है। डॉ० नगेन्द्र ने इनके निम्नलिखित १६ उपलब्ध ग्रन्थो का उल्लेख किया है —

भाव-विलास, अष्टयाम, भवानी-विलास, प्रेम-तरग, कुशल-विलास, जाति-विलास, रस-विलास, सुजान-विनोद, शब्द-रसायन, सुख-सागर-तरग, प्रेम-चन्द्रिका, राग-रत्नाकर, देव-शतक देव-चरित्र, देव-माया-प्रपच और सोलहवाँ शिवाष्टक। इनके अतिरिक्त प्रेम पच्चीसी, तत्त्व-दर्शन पच्चीसी, जगद्दर्शन पच्चीसी

और आत्म-दर्शन पच्चीसी आदि कुछ पच्चीसियाँ भी इनकी मानी जाती हैं।

इनमे से प्रथम दस ग्रथो का सम्बन्ध काव्यशास्त्रीय विवेचन से है। यही ग्रन्थ देव का आचार्यत्व प्रमाणित करते हैं। इनमे प्रमुखत रस-विवेचन और नायिका भेद-वर्णन ही प्रतिपाद्य विपय हैं। नायिका-वर्णन मे देव ने परम्परागत नायिकाओ के अतिरिक्त कुछ नव्य नायिकाओ की उद्भावना भी की है। आचार्यत्व एव काव्याग-विवेचन की दृष्टि से भाव-विलास, रस-विलास और शब्द-रसायन का विशेप महत्त्व माना जाता है। देव ने 'भाव विलास' का प्रणयन औरगज़ेब के पुत्र आजमशाह के मनोविनोद के लिए सवत् १७४६ वि० मे किया था; इसका प्रमाण देव की निम्न उक्ति है —

शुभ सत्रह सो छयालिस, चढत सोलही वर्प।
कढी देव मुख देवता भाव-विलास सहर्प॥
दिल्लीपति अवरग के, आजमसाहि सपूत।
सुन्यो सराह्यो ग्रन्थ यह, अष्टजाम सजूत।

इस पद्य मे 'अष्टजाम' का सकेत भी मिलता है। इससे लगता है कि यह छोटा ग्रन्थ भी इसी वर्प रचा गया होगा। 'भाव-विलास' का प्रतिपाद्य नायिका भेद-वर्णन ही है। कवि की अन्य रचना 'प्रेमचन्द्रिका' का प्रतिपाद्य विशुद्ध प्रेम-तत्त्व है। 'राग-रत्नाकर' मे सगीत विपय का वर्णन है, जिससे देव की सगीत-प्रियता और ज्ञान का सम्यग् पता चल जाता है। पीछे जिन तीन-चार पच्चीसियो का उल्लेख किया गया है, उनमे वैराग्य-भावनाएँ सचित हैं। इन्हे या तो देव के प्रति जनता की उदासीनता की प्रतिक्रिया मान सकते हैं, या फिर विलास-शृगार से अन्तिम ऊब। 'देवशतक' मे काव्यत्व एव दर्शन का अद्भुत समन्वय कवि देव की विशिष्ट प्रतिभा का द्योतक है। 'देव-चरित्र' कृष्ण के जीवन से सबधित एक खण्ड-काव्य है। 'देव-माया-प्रपच' एक नाट्य-रूपक है, जिसका प्रणयन 'प्रबोध चन्द्रोदय' की शैली पर हुआ है। 'शिवाष्टक' मे नाम के अनुरूप ही भगवान शिव की वन्दना मे विरचित आठ कवित्त सकलित हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि रीति-काल के समस्त कवियो मे विपय-वैविध्य की दृष्टि से देव के समकक्ष कोई कवि नही ठहर पाता।

रीतिकाल के कवियो मे देव का महत्व ...

जाता है —एक तो कवि-आचार्य की दृष्टि से और दूसरे केवल कवित्व की दृष्टि से। दोनो ही कसौटियो पर देव का व्यक्तित्व खरा उतरता है। आचार्य के रूप मे देव ने काव्यागो का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उसमे पाण्डित्य, मौलिकता और गम्भीरता के स्पष्ट दर्शन होते हैं। सम्प्रदाय की दृष्टि से देव विशुद्ध रस-वादी थे। ये सस्कृत के रसवादी ग्रन्थो—काव्यप्रकाश, रस-तरगिणी, साहित्य-दर्पण और रसमजरी आदि ग्रथो से अत्यधिक प्रभावित थे। इनसे प्रभावित होते हुए भी देव ने काव्यागो-सबधी नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं। उनमे से कितनी मान्य हैं, यह अलग प्रश्न है, किन्तु नवीन उद्भावनाओ की क्षमता इनमे अवश्य थी और यही क्षमता इनका आचार्यत्व भी प्रमाणित करती है। रस, अलकार, नायिका-भेद आदि के अतिरिक्त देव ने छन्दशास्त्र पर भी अपनी कुशल प्रतिभा का परिचय दिया है। देव ने रस को ही काव्यात्मा के रूप मे असदिग्ध मान्यता प्रदान की। ये रसो मे शृगार को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। रस के अन्तर्गत इन्होने 'छल' आदि नव्य सचारीभावो की भी उद्भावना की है। प्राचीनो से अशत मत-भेद भी व्यक्त किया है। अलकार-वर्णन मे देव ने सभी अलकारो के मूल मे 'उपमा' का अस्तित्व स्वीकार किया है। इस प्रकार अनेक नव्य उद्भावनाओ, पूर्ववर्तियो के प्रति खण्डनात्मक दृष्टिकोण अपनाकर अपने मत के मण्डन आदि के कारण देव का आचार्यत्व रीतिकाल मे सबसे प्रखर रूप मे स्वीकृत है।

आचार्यत्व के समान देव का कवि रूप भी निश्चय ही अत्यधिक व्यापक एव प्रखर है। देव प्रधानत शृगारी कवि हैं। इन्होने शृगार को रसराज मानकर ही अनेक प्रकार की मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। इनका मन प्रेम-प्रसगो के विवेचन मे सर्वत्र तल्लीन हुआ-सा दिखाई देता है। इस तल्लीनता का एक उदाहरण देखिए —

> राधिका कान्ह को ध्यान धरैं तब कान्ह ह्वै, राधिका के गुन गावैं।
> त्यौं अँसुवा बरसैं, बरसाने को पाती लिखैं, लिखि राधिका ध्यावैं॥
> राधा ह्वै जात है छिन मे, वह प्रेम की पाती लै छाती लगावैं।
> आपु ही आपुन मे उरझैं, सुरझैं, बिरुझैं, समुझैं, समुझावैं॥

इस प्रकार देव ने शृगार के आलम्बन-आश्रय मे एकत्व की स्थापना कर बड़ी ही सरस उद्भावनाएँ की हैं। नायिक-नायिकाओ के हाव-भावो एव शृंगारिक चेष्टाओ का भी अर्थपूर्ण विवेचन किया है। यही सब देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके सम्बन्ध मे उचित ही लिखा—"इनका सा अर्थ-सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियो मे मिलता है। रीतिकाल के कवियो मे यह बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभासम्पन्न कवि थे, इसमे सन्देह नही।"

देव की वाणी मे तन्मयता के साथ भावावेश के क्षणो का रूपायन भी अत्यधिक स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। रस-स्निग्धता तो इनके कवित्त्व का प्रमुख वैशिष्ट्य है ही, वहाँ कल्पना-वैभव की भी कमी नही है। कल्पना चित्रो को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए देव ने सुन्दर शब्द-चित्रो की योजना से काम लिया है। स्थिर एव गतिशील दोनो प्रकार के चित्र इनकी कविता कामिनी की शोभा बढाते हैं। कही कही भावो की गहनता एव चित्र-योजना मे वायवी तत्त्वो का समावेश भी हुआ है, किन्तु दुरूहता फिर भी नही आने पाई। इस प्रकार का एक शब्दचित्र देखिए —

> साँसन ही सो समीर गयो, अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
> तेज गयो गुन लै आपुनो, अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
> जीव रह्यो मिलिवेई की आस की आसहु पास अकास रह्यो भरि।
> जा दिन ते मुख फेरि हरे हसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि॥

वियोग-शृगार के इस उदाहरण मे पाँच तत्त्वो की क्षीणता की योजना कितने सरस ढग से की गई है! देव की अभिव्यजना-पद्धति और भाषा काफी समृद्ध है। भाषा भावनाओ के सर्वथा अनुकूल है। कही-कही तुकबदी का मोह अवश्य दृष्टिगत होता है। जहाँ ऐसा मोह है, वहाँ वास्तव मे अभिव्यक्ति शिथिल हो गई है। इनकी भाषा व्याकरण की दृष्टि से चाहे दोषपूर्ण मानी जाती है; किन्तु इसके काव्य-सौन्दर्य मे कमी नही आने पाई। देव की समग्रता के सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल के निम्न शब्द विशेष अर्थपूर्ण हैं—"कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव मे खूब थी पर उनके सम्यग् स्फुरण मे उनकी रुचि-विशेष प्राय: बाधक हुई है।"

देव की कविता मे वैराग्य के भाव भी मिलते है, किन्तु इन्हे हम इनके जीवन की अन्तिम प्रक्रिया ही कह सकते हैं। स्पष्टत ये रीतिकाल के एक शक्त आचार्य और कवि थे।

कुलपति मिश्र—रीतिकालीन कवियो मे कुलपति मिश्र का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। अपनी रचना 'रस-रहस्य' मे इन्होने अपने-आपको आगरा का निवासी वताया है। यह वहाँ के निवामी परशुराम के वेटे थे, जो जाति के माथुर चौवे थे। यह भी माना जाता है कि यह रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि विहारी के भानजे थे। यह कूर्मवशीय महाराजा जयसिह के पुत्र रामसिह के आश्रय मे रहते थे। इन्होने अपनी प्रसिद्ध रचना 'रस-रहस्य' की रचना इन्हीके लिए की थी। इसका रचना-काल सवत् १७२७ वि० है। इनके एक अन्य ग्रथ 'मुक्ति तरगिणी' की रचना सवत् १७४३ वि० मे हुई थी। इस प्रकार इनका रचना-काल १८वी शती का मध्य भाग माना जा सकता है।

रचनाएँ—द्रोणपर्व, मुक्ति तरगिणी, नखशिख, सग्राम-सार और रस-रहस्य इनकी उपलव्ध रचनाएँ हैं। इनमें से 'द्रोणपर्व' और 'मुक्ति तरगिणी' के साथ-साथ 'सग्राम-सार' का महत्त्व काव्य की दृष्टि से ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'मुक्ति तरगिणी' के आरम्भिक पद्य विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं, क्योकि इनके आधार पर अनेक कवियो का काल-निर्णय सम्भव हो सका है। 'रस रहस्य' काव्यागो से सम्वन्धित एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसकी एक विशेपता यह है कि इसमे काव्यागो के लक्षण दोहे से लिखे गये हैं और इनके स्पष्टीकरण के लिए दिये गये उदाहरणों मे जहाँ-तहाँ पद्य का प्रयोग भी किया गया है। इसमे कुल ६५२ पद्य हैं, जिन्हें आठ वृत्तान्तो (अध्यायो) मे विभाजित किया गया है। काव्य-प्रयोजन, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, शव्द-शक्तियाँ, ध्वनि, रस, गुण, दोष, रीति सभी प्रकार के अलकार आदि समस्त काव्याग इसके वर्ण्य विषय के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनकी रचना का मुख्य आधार 'काव्य-प्रकाश' है जबकि 'साहित्य-दर्पण' आदि से भी यह काफी प्रभावित है। विशेपता यह है कि इन ग्रन्थों का कुलपति ने केवल अनुवाद ही नही किया, अपितु शास्त्रीय विषयो को वडे सरल एव सुवोध ढग से प्रस्तुत किया है। कही-कही मौलिक उद्भावनाएँ भी मिलती

है। इन्होने 'नखशिख' मे नायिका-भेद की व्यापक चर्चा एव वर्णन किया है। इस मौलिक विवेचन के कारण ही रीतिकाल के आचार्य कवियो मे इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कुलपति की आचार्य-प्रतिभा ही अधिक प्रतिफलित है। इन्होने कविता की ओर उतना ध्यान नही दिया है। फिर भी रस-परिपाक की दृष्टि से इनमे कवित्व-शक्ति भी यथेष्ट विद्यमान थी। कविता की भाषा ब्रज है और इसके साहित्यिक स्वरूप की पूर्णतया रक्षा हुई है। इनके रेखता मे रचे गये कुछ पद्य भी मिलते है। इतिहासकार कुलपति को जहाँ आचार्यत्व की दृष्टि से प्रथम श्रेणी का स्वीकार करते है, वहाँ कवित्व की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी मे रखना उचित मानते है। इनकी सरस कविता का एक उदाहरण देखे '—

ऐसिय कुज बने छवि पुज रहे अलि गुजत यो सुख लीजै।
नैन बिसाल हिये बनमाल बिलोकत रूप-सुधा भरि पीजै॥
जामिनी जाम की कौन कहै जुग जात न जानिए ज्यो छिन छीजै।
आनद यो उमग्यो ही रहै पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै॥

भिखारीदास—'दास' अथवा भिखारीदास के नाम से प्रसिद्ध इस व्यक्ति का रीतिकालीन आचार्यो एव कवियो दोनो मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कायस्थ जाति के और प्रतापगढ (अवध) के पास ट्योगा नामक ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृपालदास था। ऐसा माना जाता है कि सवत् १७६१ वि० से लेकर १८०७ तक प्रतापगढ के शासक पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपति सिंह के आश्रय मे रहकर ही इन्होने अपने अधिकाश ग्रथो की रचना की थी। इन्हे अधिकाश इतिहासकार रीतिकाल के अन्तिम वर्ग के आचार्यो मे सर्वाधिक सशक्त और स्पष्ट मानते है।

रचनाएँ—इनकी उपलब्ध रचनाओ की सख्या सात है। इनके नाम है—रससारांश, काव्य निर्णय, शृगार निर्णय, छन्दार्णव पिंगल, शब्दनाम प्रकाश, विष्णु पुराण भाषा और शतरज शतिका। इनमे से पहली चार रचनाओं का सम्बन्ध काव्यांग-निरूपण से है। शेष तीन अपने नाम के अनुरूप ही विषयो का [illegible] है।

दास कवि के 'रससाराश' के दोनो सस्करण प्राप्य हैं। इनमे से एक सस्करण बडा है, जिसमे लक्षणो के साथ उनके स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण भी दिये गये है, जबकि दूसरे छोटे सस्करण मे केवल लक्षणो को ही सकलित किया गया है। इसमे प्राय सभी रसो का वर्णन मिलता है। शृगार रस का वर्णन अत्यधिक विस्तार के साथ किया गया है। इसमे नायिकाओ के हाव-भावो का भी सरस एव व्यापक वर्णन हुआ है। इसी प्रकार 'शृगार निर्णय' का सम्बन्ध भी रस-वर्णन से ही है। पर 'रस साराश' के समान इसमे रस के सभी अगो का वर्णन नही मिलता और शृगार के अतिरिक्त अन्य रसो का भी नही। मात्र शृगार रस से सम्बन्धित सामग्री ही विस्तार से प्रस्तुत की गई है। 'छन्दार्णव पिगल' मे छन्दशास्त्र के विविध अगो का व्यापक चित्रण किया गया है।

कवि भिखारीदास की कीर्ति का आधार-ग्रन्थ है इनका 'काव्य-निर्णय'। इसमे उन्होने २५ उल्लासो (अध्यायो) मे काव्य के विविध अग-प्रत्यगो का सटीक वर्णन किया है। वर्ण्य विषयो मे काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, पदार्थ-निर्णय, शब्द-शक्तियाँ, रस, अलकार, गुण दोष आदि सभी कुछ आ जाता है। इन्होने 'तुक' तक की विवेचना करके अपनी मौलिकता का ही परिचय दिया है। लगता है कि काव्यात्मा 'रस' को नही बल्कि ध्वनि को स्वीकार करते थे। इन्होने रस को व्यग्य मानकर ध्वनि काव्य को श्रेष्ठ स्वीकार किया है। इन पर काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण, रस तरगिणी, कुवलयानन्द आदि का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। कही-कही गुण और शृगार रस के सम्बन्ध मे की गई इनकी मौलिक उद्भावनाएँ काफी सशक्त और सटीक बन पडी है। इस प्रकार कवि भिखारीदास का आचार्यत्व स्वत प्रमाणित हो जाता है।

आचार्य के साथ-साथ भिखारीदास मे कवित्व का रूप भी सुन्दर ढग से प्रतिफलित हुआ है। इनकी कविता मे शृगार रस की प्रधानता है। यह रस-ध्वनिवादी आचार्य है, अत इनकी कविता मे रसात्मकता के साथ-साथ ध्वन्यात्मकता की सहज अनुभूति भी दर्शनीय है। कल्पना की अधिक ऊँची उडान न रहते हुए भी प्रसादन की क्षमता यथेष्ट है। इनकी रस-ध्वनि-सयत कविता का एक उदाहरण देखें —

नैननि को तरसैये कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो बिरहागि मे तैये।
एक घरी न कहूँ कल पैये, कहाँ लगि प्रानन को कलपैये।।
अबै यही अब जी मे विचार सखि, चलि सौतिन के गृह जैये।
मान घटे ते कहा घटिहै, जु पै प्रान पियारे को देखन पैये।।

इन्होने रसात्मक कविता के साथ-साथ कही-कही नीति की सरस सूक्तियाँ भी कही हैं, जिनमे व्यवहार-जगत् के अनुभवो का यथेष्ट चित्रण मिलता है। इन्होने भाषा-सौंदर्य की रक्षा की है। इनमे नपी-तुली, सरस, सशक्त भाषा के प्रयोग की अद्भुत क्षमता विद्यमान थी। अभिव्यक्ति की स्पष्टता भी सर्वत्र विद्यमान है। अभिव्यजना मे व्यग्य की प्रधानता है। इन्होने ब्रजभाषा के साथ-साथ कही-कही अरबी, फारसी और सस्कृत के शब्दो का भी उचित प्रयोग किया है। फिर भी अन्य कवियो के समान भाषा की गडबड यहाँ नही मिलती। इस प्रकार भिखारीदास ने बडी सफलता के साथ आचार्यत्व और कवि रूप का सफल निर्वाह किया है।

पद्माकर—विद्वानो का यह मत है कि पद्माकर भट्ट अस्तोन्मुख रीतिकाल के अन्तिम कवि आचार्य है। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि रीतिकाल के परवर्ती खेमे के कवियो मे पद्माकर सर्वश्रेष्ठ थे। इनके बाद वास्तव मे रीतिकालीन काव्यधारा का सूर्य क्रमश अस्त होता गया। पद्माकर भट्ट कवि की दृष्टि से अधिक सफल एव प्रसिद्ध हैं। इनके आचार्यत्व के सम्बन्ध मे हिन्दी साहित्य के इतिहास के सामान्य पाठक प्राय अपरिचित ही रह जाते है। भाषा-भावना, शब्द एव वर्ण-विन्यास आदि सभी दृष्टियो से पद्माकर का महत्त्व सर्वमान्य है।

पद्माकर के पिता का नाम मोहनलाल था, जो जाति के तैलग ब्राह्मण और बान्दा के निवासी थे। मोहनलाल भी अपने युग के प्रसिद्ध कवियो मे से थे। इन्होने कवित्व-शक्ति के बल पर ही प्रतापसिंह के दरबार से न केवल सम्मान ही प्राप्त किया था, बल्कि 'कविराज शिरोमणि' की पदवी और अच्छी-खासी जागीर भी प्राप्त की थी। इनका अन्य अनेक दरबारो मे भी काफी सम्मान था। इन्हीके यहाँ पद्माकर का जन्म सवत् १८१० वि० (सन् १७५३) मे हुआ था। इनकी निधन-तिथि सवत् १८९० वि० (सन् १८३३) मे मानी जाती है। इन्होने

कानपुर मे गगा के तट पर अपने शरीर का परित्याग किया था। पद्माकर भी अपने पिता के समान अनेक राज्याश्रयो मे रहे थे। इन्हे प्राय सभी जगह सफलता और सम्मान मिला। यह भी सर्वप्रसिद्ध है कि अपने अतिम दिनो मे पद्माकर युगीन विलासिता से ऊबकर वैरागियो के समान सरल जीवन-यापन करने लगे थे।

पद्माकर के जन्मस्थान के सम्बन्ध मे कुछ मतभेद पाये जाते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो इनका जन्म-स्थान बान्दा ही मानते हैं, जबकि आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र इनका जन्म-स्थान सागर मानते हैं इन्हे जैतपुर, सुगरा, सागर, सितारा, दतिया, उदयपुर, जयपुर आदि अनेक दरबारो मे सम्मान प्राप्त हुआ था, परन्तु इनके जीवन का अधिकाश समय जयपुर मे ही व्यतीत हुआ।

रचनाएँ—इनकी कई रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। जिनमे से प्रमुख नाम ये हैं—हिम्मतबहादुर विरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, विनोद-पचासा, राम रसायन और गगालहरी। इनमे से 'जगद्-विनोद' और 'पद्माभरण' नामक रचनाओ का महत्त्व काव्यशास्त्रीय दृष्टि से विशेष माना जाता है। इन दोनो मे से भी 'जगद्विनोद को ही पद्माकर की कीर्ति का प्रमुख आधार माना जाता है। इसका सम्बन्ध रस-विवेचन से है। इसमे कवि की कवित्त्व शक्ति का भी यथेष्ट परिचय मिलता है। इन्होने इस ग्रन्थ की रचना जयपुर के सवाई प्रतापसिह के पुत्र जगतसिह के विनोद के लिए की थी। इसमे रसो के साथ-साथ नायिका-भेद का भी सरस वर्णन किया गया है। कोई सैद्धान्तिक नवीनता न रहते हुए भी उदाहरणो की मौलिक सरसता के कारण इसका विशेष महत्त्व है। इसमे शृगार रस को ही अधिक प्रश्रय दिया गया है। वैसे अन्य रसो का भी सामान्य वर्णन हुआ है। काव्यागो से सम्बन्धित दूसरी रचना 'पद्माभरण' मे कवि ने सस्कृत के 'कुवलयानन्द' के आधार पर अर्थालकारो का विशद् विवेचन किया है। सामान्यतया यह विवेचन सार्थक है। अलकारो के लक्षण और उदाहरण दोनो ही अत्यन्त स्पष्ट और सरस हैं। इतना होते हुए भी आचार्यत्व की दृष्टि से इनमे कोई मौलिकता नही। यो कहा जा सकता है कि परम्परा-निर्वाह की झोक मे यह भी इधर वह

गये। वास्तव मे पद्माकर कवि रूप से ही अधिक सफल है।

इनकी शेष रचनाओ मे से 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' एक वीरकाव्य है। [illegible] यह है कि शृगार रस के समान वीर रस के वर्णन मे भी कवि का मन समान रूप से रमा है। 'प्रबोध-पचासा' और 'गगालहरी' मे इनकी भक्ति और वैराग्यपरक रचनाएँ सकलित है। इन्होने भक्ति और वैराग्य के क्षेत्र मे भी अपनी प्रभावी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। 'राम रसायन' वाल्मीक रामायण के आधार पर विरचित दोहा-चौपाइयो मे लिखित एक चरितकाव्य है। परन्तु आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान् इतिहासकारो ने इसे पद्माकर की रचना होने पर सन्देह व्यक्त किया है। वैसे भी यह ग्रन्थ सामान्य कोटि का ही है।

पद्माकर की कवित्व-प्रतिभा के सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भाव-पूर्ण मूर्ति-विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्षानुभूति मे मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्ति-विधान करने वाली कल्पना बिहारी को छोडकर अन्य किसी कवि मे नही पाई जाती।" इसका कारण यह है कि इन्होने अपनी कल्पना को प्राय सयत एव मर्यादित रखा है। काव्य मे दृश्य एव शब्द-योजना की दृष्टि से भी पद्माकर का विशेष महत्त्व माना जाता है। काव्य मे इनके आनन्द एव उल्लास की अजस्र स्रोतस्विनी मुक्त भाव से प्रवाहित है। इनकी हार्दिक भावनाएँ पाठक एव श्रोता के मन पर सीधा प्रभाव डालने की क्षमता रखती है। इनका भाषा पर सहज अधिकार था। इसमे प्रवाह एव व्यापकता है। इन्होने युग की प्रवृत्तियो से कुछ हटकर भी रचना का सुचारु प्रयास किया। इनका महत्त्व रस-योजना की दृष्टि से बिहारी आदि से भी अधिक माना जाता है। पद्माकर की भाषा के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रगट करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते है —

"भाषा की सब प्रकार की शक्तियो पर कवि का अधिकार दिखाई पडता है। कही तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भावभरी प्रेम-मूर्ति खडी करती है, कही भाव या रस की धारा बहाती है, कही अनुप्रासो की ललित झकार उत्पन्न करती है, कही वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकडती और कडकती हुई चलती है और कही शान्त सरोवर के समान स्थिर और गभीर

होकर मनुष्य-जीवन-विश्रान्ति की छाया दिखाती है।"

इन्ही सब विशेषताओ के कारण सहृदय-समाज ने पद्माकर को रीतिकालीन कवियो मे अत्यधिक श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है। प्रबन्ध एव मुक्तक दोनो प्रकार की काव्य-शैलियो का इन्होने सरस और सुखर निर्वाह किया है। इनके विविध काव्य-रसो के कुछ उदाहरण देखिये —

पात बिन कीन्हें ऐसी भांति गन वेलिन के,
परत न चीन्हे जे ये लरजत कुंज हैं।
कहै पद्माकर बिसासी या वसन्त के सु
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुज हैं।
ऊधो यह सूधो सो सदेसो कहि दीजो भलो,
हरि सो हमारे ह्यां न फूले वन-कुज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
डारन पै डोलत अगारन से पुज हैं॥

पद्माकर की भक्ति और वैराग्य-सम्बन्धी कविता का प्रस्तुत उदाहरण कितना तथ्यात्मक एव सजीव लगता है —

भोग मे रोग, वियोग सयोग मे, योग मे काय कलेस कमायो।
त्यो पद्माकर वेद-पुरान पढ्यो, पढ के बहु वाद बढायो।
दूनी दुरास मे दास भयो पै कहूँ बिसराम को धाम न पायो।
काय गमायो सु ऐसेहि जीवन हाय, पे राम को नाम न गायो॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि पद्माकर सच्चे अर्थों मे कवि ही अधिक थे और कविता के कारण ही रीतिकाल मे इनका स्थान परवर्ती, खेमे के कवियो मे शीर्षस्थ है।

अमीरदास—अमीरदास का सम्बन्ध उदासीन सम्प्रदाय से था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी 'भक्तमाल' मे पजाब के जिन चार महान् भक्तो की चर्चा की है, उनमे 'कविवर' की उपाधि इन्होने अमीरदास को ही प्रदान की है। भक्त होने के साथ-साथ अमीरदास की गणना रीतिकालीन आचार्यत्व की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इनकी विशेषता और अपनापन इस बात मे है कि इन्होने

काव्यागो के लक्षण लिखकर स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत नही किये, वल्कि सस्कृत के आचार्यो के समान लक्षणो की रचना तो स्वय की, परन्तु उदाहरण अन्य विद्वान् कवियो के प्रस्तुत किये। इन्हे इस कारण हिन्दी के रीतिकाव्यो मे एक नई परम्परा स्थित करने वाला माना जाता है।

रचनाएँ—इनकी रीति-सम्बन्धी एक ही प्रमुख रचना प्राप्त हुई है। इसका नाम 'सभा-मण्डन' है। इन्होने इसमे रस, अलकार तथा काव्य-लक्षण-भेद आदि सभी काव्य-तत्त्वो का सुन्दर तथा सरस विवेचन किया है। इनके सामने एतद विषयो से सम्बन्धित सस्कृत-हिन्दी के अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। फिर भी इन्होने जिस स्पष्टता एव नव्यता का निर्वाह किया है, वह वास्तव मे अत्यधिक स्तुत्य है। अपने ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे कहते है :—

ग्रन्थ सभा-मण्डन रच्यो, कवियन के हित लागि।
सकल काव्य की रीति जो, जामै करि विभागि।।

'सभा-मण्डन' पर सस्कृत के 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है, वल्कि दोनो का समन्वित प्रभाव लेकर ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है। आवश्यकतानुसार अमीरदास ने स्व-रचित लक्षणो के स्पष्टीकरण के लिए गद्य का प्रयोग भी किया है। इनके गद्य का एक नमूना देखें :

"दृष्टान्त ।। जहाँ साधारण धर्मादि को उपमान-उपमेय विम्बभाव होइ, सो दृष्टान्त ।। सो द्विधा ।। एक साधर्म्य दृष्टान्त ।। दुति वैधर्म्य दृष्टान्त ।। जहाँ उपमान-उपमेय को एक धर्म को विम्ब-प्रतिविम्ब होइ सो साधर्म्य दृष्टान्त ।। आदि।"

यहाँ दृष्टान्त के सम्बन्ध मे 'साधारण' धर्म ही विम्ब-प्रतिविम्ब भाव होता है, यह सर्वथा मौलिक उद्भावना है। हाँ, इसमे अलकारो को जो क्रम दिया गया है, वह अवश्य वैज्ञानिक दृष्टि से उचित नही कहा जा सकता। पण्डित चन्द्रकान्त वाली के अनुसार—"जो हो, परिपुष्ट लाक्षणिकता, सुवर उदाहरणो का चयन, सफल समन्वय, तथा नूतन शैली के कारण अमीरदास को पजाव के आचार्य-वर्ग का प्रतिनिधि अनायास कहा जा सकता है।"

'सभा-मण्डन' के अतिरिक्त इनकी दो और रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनके

नाम 'कृष्ण-साहित्य सिन्धु' और 'वैद्यकल्पतरु' हैं। इनके प्रतिपाद्य विषय नामों से ही स्पष्ट है। इनमे इनकी बहुज्ञता एव भक्ति भावना का भी परिचय मिल जाता है। 'कृष्ण साहित्य सिन्धु' से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह अच्छे कवि भी थे। इन्होंने कविता मे सरस साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इनकी भाषा में मुक्त प्रवाह एव प्राजलता के दर्शन होते हैं। इनकी कविता का एक सरस पद देखिये :—

तरनि तनूजा तीर सुखद समीर धीर
खगन की भीर हियो हेरि हरखत हैं।
मजुल निकुजनि मैं गुजनि दुरैधन की
आनन्द के पुजनि पराग परखत हैं।
बाँकी वल्लरीनि को वितान सो विलोकियत
परम पुनीत अहि मन करखत हैं।
मौन मन भाइ (तहँ) अधीर सुखदाई जहाँ
स्याम घन चपला से रस बरसत है॥

इनका रचना-काल सम्वत् १८३० वि० के आसपास माना जाता है। यह अमृतसर के निवासी थे। आचार्य और कवि दोनो दृष्टियो से यह पजाब प्रान्त के हिन्दी साहित्य की समृद्धि मे किये गए योगदान का प्रतिनिधित्व करते हैं।

निहाल कवि—इनका रचना-काल सम्वत् १८९३ वि० माना जाता है। यह पटियाला राज्य के निवासी थे और महाराजा कर्मसिह के आश्रय मे रहते थे। इनका आचार्यत्व की दृष्टि से ही विशेष महत्त्व माना जाता है।

'साहित्य शिरोमणि' इनकी प्रमुख रीति-सर्जना है। इन्होने इसकी रचना संस्कृत के प्रमुख आचार्य मम्मट के आधार पर की है। यह एक अलकार-ग्रन्थ है। इसमे अलकारो के लक्षण तो मम्मट के आधार पर ही प्रस्तुत किये गए हैं, किन्तु उदाहरण दोहा तथा कवित्त छन्दो मे स्वतन्त्र रूप से दिये गये हैं। कहीं-कहीं अलकारो के लक्षण न देकर मात्र नामोल्लेख कर दिया गया है। अलकारो की सगति के प्रतिपादनार्थ टीका रूप मे गद्य का प्रयोग भी हुआ है। इसकी भाषा तो अवश्य ब्रज है, पर लिपि पजाबी है। इनका गद्य भी पजाबी से प्रभावित है।

इन्होने अपने आश्रयदाता महाराजा कर्मसिंह का यशोगान भी किया है। यहाँ इनके कवि रूप के दर्शन होते हैं। इस वर्णन की भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है। किन्तु कहीं-कहीं लोक-रुचि के अनुसार पंजाबीपन की झलक अवश्य मिल जाती है। कुल मिलाकर इनका विषय-प्रतिपादन काफी स्पष्ट एवं प्रभावी है। इस दृष्टि से यह अन्य अनेक कवि-आचार्यो से बहुत आगे बढ जाते है।

रीतिकाल के रीतिबद्ध कवि आचार्यो मे इन प्रमुख कवियो के अतिरिक्त आचार्य श्रीपति और आचार्य सोमनाथ का नाम भी विशेष लिया जाता है। आचार्य श्रीपति के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त नही। इनकी रचनाओ के नाम है—कवि कल्पद्रुम, रस सागर, अनुप्रास विनोद, विक्रम विलास, सरोज कलिका, अलंकार गंगा और काव्य-सरोज। किन्तु इनमे से कोई भी रचना आज उपलब्ध नही है। इसी प्रकार सोमनाथ के सम्बन्ध मे भी कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नही होती है। हाँ, इनके पांच ग्रन्थ अवश्य मिले बताये जाते है। इनके नाम है—रसपीयूष निधि, शृंगार-विलास, सुजान विलास, पंचाध्यायी और माधव विनोद। इनकी प्रथम दो रचनाओ मे सुकुमार मति पाठको के काव्यशास्त्रीय अध्ययन का विशेष ध्यान रखा गया है। इन्होने कवित्व-प्रतिभा का भी अच्छा परिचय दिया है। इतिहासकार इन्हे देव और मतिराम की परम्परा मे रखना पसन्द करते हैं।

रीतिसिद्ध या रससिद्ध कवि

इस श्रेणी मे वे कवि आते हैं, जिन्होने काव्यांगो का विवेचन करने वाला कोई लक्षण ग्रन्थ तो नही रचा, फिर भी मुक्तक काव्य रचते समय इनके मन-मस्तिष्क मे रीति-परम्परा का ध्यान अवश्य रहा था। अन्य इतिहासकारो ने ऐसे कवियो की गणना प्रायः रीतिबद्ध परम्परा के अन्तर्गत ही की है, किन्तु हमारे विचार मे ऐसे कवियो का स्वतन्त्र विवेचन करना ही अधिक तर्कसंगत है। जब हम यह स्वीकार करते है कि कुछ कवियो ने लक्षण ग्रन्थ न रचकर कुछ लक्षणो का ध्यान रखते हुए केवल लक्ष्य ग्रन्थ ही रचे, तो फिर इतिहास के सामान्य पाठको के लिए इनका अलग विवेचन करना ही अधिक युक्तिसंगत है। इन

रचनाएँ—कई आलोचको एव हमारा अपना भी यह मत है कि बिहारी ने कविता के क्षेत्र मे प्राय सभी युगीन प्रवृत्तियो को अपनाया होगा, अर्थात् इन्होने केवल दोहा छन्द ही नही कवित्त-सवैयो मे भी रचना की होगी। कुछ लोगो ने तो इनके कुछ कवित्त-सवैये खोज भी निकाले है। परन्तु सर्वमान्य रूप मे इनकी उपलब्ध रचना है—बिहारी सतसई। इसमे ७१३ के लगभग दोहे सकलित है। हो सकता है कि इन्होने और भी दोहे रचे हो। इनमे से श्रेष्ठ दोहे ही सतसई मे सकलित किये गये हो। कुछ भी हो, 'बिहारी सतसई' ही कवि की कीर्ति का आधारस्तम्भ है और यह हिन्दी साहित्य को इनकी एक अजोड देन है। बिहारी सच्चे अर्थो मे एक सफल मुक्तककार थे। इनकी सफल मुक्तक रचना के सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र का मत विशेष उल्लेखनीय है। वे कहते है—"यह बात साहित्य के क्षेत्र मे इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओ के परिमाण से नही होता, गुण के हिसाब से होता है।" मुक्तककार के लिए जिस प्रकार की सजग कल्पना-शक्ति और भाषायी समास शक्ति की आवश्यकता रहती है, वह बिहारी मे यथेष्ट मात्रा मे विद्यमान थी तभी ये भावो के गुलदस्ते इतनी निपुणता से सजा सके।

रस की दृष्टि से 'बिहारी सतसई' मे शृगार रस की प्रधानता है। कवि ने नायक-नायिकाओ के प्रेम, हाव-भाव, मान-मनुहार, हास-विलास आदि का बडी ही कुशलता से चित्रण किया है। शृगार के सयोग एव वियोग दोनो पक्षो का वैसे तो बिहारी ने समानत वर्णन किया है, किन्तु सयोग पक्ष के चित्रण मे इन्हें अधिक सफलता मिली है। यहाँ स्वाभाविकता भी है, जबकि वियोग-पक्ष के चित्रण मे ऊहात्मकता ही अधिक है। इनमे शृगार के प्रत्येक अग का वर्णन मिलता है। प्रेम के सहज प्रभाव को अकित करने वाला यह दोहा देखिए —

दृग उरझत टूटत कुटुग जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई, नई यह रीति॥

सयोग-वर्णन मे सहज स्वाभाविकता एव सरसता विशेष दर्शनीय है —

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनु हसै दैन कहै, नटि जाइ॥

इसके विपरीत बिहारी का वियोग शृंगार ऊहात्मक ही अधिक है। वह अस्वाभाविक-सा लगता है। भावनाओं का सहज स्फुरण एवं हार्दिक तत्त्व वहाँ नहीं, बल्कि बौद्धिक विलास एवं उक्ति-वैचित्र्य का भाव ही प्रमुख है। एक उदाहरण देखें —

इत आवति चलि जात उत, चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे-सी रहै, लगी उसासनु साथ॥

यहाँ वह सौहार्द नहीं, जो संयोग-चित्रण में है।

शृंगार के अतिरिक्त बिहारी के दोहों में नीति और भक्ति सम्बन्धी अभिव्यक्तियाँ भी मिलती हैं। नीति की दृष्टि से इनकी अन्योक्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार की एक अन्योक्ति देखिये —

अरे हंस या नगर में जैयो आप विचारि।
कागन सों जिन प्रीति करि कोकिल दई बिडारि॥

व्यवहार-नीति-सम्बन्धी सूक्तियाँ भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। वहाँ जीवन के अनुभवों का निचोड़ है:—

नर की अरु नल-नीर की गति ऐकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै तेतौ ऊँचो होइ॥

भक्ति के सम्बन्ध में निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित होते हुए भी बिहारी को किसी विशेष सम्प्रदाय में नहीं बाँधा जा सकता। अन्य रीतिकालीन कवियों के समान बिहारी के विलासिता से ऊबे मन के लिए भक्ति मात्र एक विश्रामस्थली ही है। तभी तो इनकी भक्ति-भावनाओं और राधा-कृष्ण के चित्रणों पर भी प्रत्यक्षत शृंगार का मुलम्मा चढ़ा हुआ है। इनकी दृष्टि राधा-कृष्ण के बाह्य अंगों तक ही सीमित रही है। फिर भी कहीं-कहीं भक्ति-सम्बन्धी सूक्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे .—

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन काँचे नाचे वृथा, साँचे राँचे रामु॥

इन मुख्य बातों के अतिरिक्त बिहारी ने अपने काव्य में प्रकृति-चित्रण भी किया है। परन्तु वह बाह्य एवं आलम्बन रूप में ही अधिक हुआ है। फिर बिहारी

ने दोहे जैसे छोटे छन्द मे ही प्रकृति के विविध रूपो का वर्णन करके सन्तोष कर लिया है, फिर भी उसमे वर्ण, शब्द-योजना एव रणात्मकता के साथ-साथ नाद-सौन्दर्य का महत्त्व अवश्य है। यह वर्णन आलकारिक भी विशेष है। एक उदाहरण देखिये —

रणित भृग घण्टावली झरित दान मधु नीर।
मन्द-मन्द आवतु चल्यो कुजरु कुज समीर॥

विहारी के काव्य मे चित्रमयता का विशेष गुण भी देखा जा सकता है। कहते है कि एक वार कोई चित्रकार एक चित्र वनाकर जयसिंह के दरवार मे ले आया। वह चित्र जयसिंह ने विहारी की ओर वढाकर उसमे काव्यत्व भरने को कहा। उस चित्र को निहारकर विहारी ने निम्नलिखित दोहा कहा —

वैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन तन मांह।
देखि दुपहरी जेठ की, छांहो चाहति छांह॥

विहारी को हमने रीतिसिद्ध या रससिद्ध परम्परा का कवि माना है। इसका कारण है इनकी काव्यशास्त्रीय दृष्टि। अलकार, ध्वनि एव रस-सम्प्रदायो मे से विहारी को अलकार-सम्प्रदाय नही भाया—यद्यपि इनके एक-एक दोहे मे कई अलकारो की सहज छटा देखी जा सकती है। विहारी वास्तव मे रसवादी भी नही थे। इन्होने सभी प्रकार की नायिकाओ का वर्णन किया है, सान्ध्याभिसारिका की नवीन उद्भावना भी की है, फिर भी जैसा कि कुछ आलोचक कहते हैं, विहारी सतसई का उद्देश्य नायिका-निरूपण नही है। विहारी शास्त्रीय दृष्टि से ध्वनिवादी थे। ध्वन्यात्मकता के विना इनकी कविता मे रसानुभूति अपने वास्तविक अर्थ मे सम्भव हो ही नही सकती। इनका प्रत्येक शब्द ध्वनि-सिद्धान्तो के अनुरूप ही योजित हुआ है। अत काव्यशास्त्रीय दृष्टि से विहारी ध्वनिवादी ही थे।

विहारी को ज्योतिष, कर्मकाण्ड, आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयो का भी सम्यग् ज्ञान था। इसका परिचय उन्होने अनेक स्थलो पर अत्यधिक तत्परता के साथ दिया है। इनका लक्ष्य अनेक प्रकार के 'सवाद' प्रस्तुत करना था, यह वात उन्होने स्वय स्वीकार की है —

करी विहारी सतसई भरी अनेक सवाद।

भाव-पक्ष के समान विहारी सतसई का कला-पक्ष भी काफी समुन्नत एव सम्पूर्ण है। इन्होने अलकारो का स्वच्छन्द प्रयोग किया है। छन्द की दृष्टि से विहारी ने केवल दोहा और सोरठा को ही अपनाया है। दोहे जैसे छोटे छन्द को अपनाकर भावनाओ का जो अथाह सागर उनमे विहारी ने भर दिया है, उसका वास्तव मे प्रत्युत्तर नही मिलता। गागर मे सागर भरने की कला मे विहारी निश्चय ही निपुण थे। अत इनकी सतसई के सम्बन्ध मे ठीक ही कहा गया है कि —

सतसैया के दोहरे ज्यो नावक के तीर।
देखन मे छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

विहारी की भाषा रीतिकाल के अन्य कवियो की तुलना मे विशुद्ध ब्रजभाषा है। भाषा मे चलतापन के साथ भी प्रौढता एव ब्रजभाषा के माधुर्य की पूर्णतया रक्षा हुई है। भाषा और भावना मे सामाजन्य स्थापना करने मे वास्तव मे विहारी अद्वितीय थे। इनके भाषा-प्रयोग मे कही-कही अरबी-फारसी शब्दो के हिन्दीकृत प्रयोग भी मिलते हैं। बुन्देलखण्ड की आचलिकता भी है। भाषा के सहज अलकरण की ओर भी उनका ध्यान रहा है। चित्रमयता, नाद-सौन्दर्य, सगीतात्मकता आदि समस्त भाषायी गुण इनके दोहो मे देखे जा सकते हैं। विहारी की भाषा के सम्बन्ध मे आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का मत विशेष दर्शनीय है—"विहारी का भाषा पर वास्तविक अधिकार था। उसके बाद भाषा पर अच्छा अधिकार दिखाने वाले मतिराम, पद्माकर आदि कुछ ही प्रवीण कवि हुए हैं।"

अन्त मे कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भावना, भाषा और अभिव्यक्ति आदि सभी दृष्टियो से विहारी वास्तव मे अजोड कवि हैं। कवि के रूप मे उनका शृगारी रूप ही अधिक प्रखर एव मान्य है। वैसे इन्होंने नीति और भक्ति सम्बन्धी दोहे भी रचे हैं, किन्तु डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के शब्दो मे, "विहारी जैसे शृगारी कवि को भक्त कहना कवि के साथ अन्याय करना हो।" विहारी की प्रसिद्धि का इससे बडा प्रमाण क्या हो सकता है कि आज तक जितनी टीकाएँ और आलोचनाएँ 'विहारी सतसई' पर लिखी गई हैं, शायद ही किसी अन्य भाषा के किसी ग्रन्थ पर लिखी गई हो।

रीति-मुक्त कवि

रीतिकाल मे ऐसे भी अनेक कवि हुए, जिन्होने प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप मे रीतिकालीन-परम्पराओं का पालन नही किया है। इन्होने सब वादो से दूर रहकर अपनी कविता मे संयत एव स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण किया है। इनकी शृगार-रस से सम्बन्धित रचनाओ मे संयोग और वियोग दोनो पक्षो का संयत एव स्वाभाविक चित्रण हुआ है। इनकी रचनाओ मे प्रेम-शृगार के अतिरिक्त राधा-कृष्ण की लीलाओ का भी उन्मुक्त चित्रण मिलता है, किन्तु फिर भी ये लोग भक्तो की श्रेणी मे नही आते। इनका प्रकृति-चित्रण प्रधानतया उद्दीपक ही है। सेनापति और गुमान मिश्र जैसे कुछ कवियो की रचनाओ मे प्रकृति के उन्मुक्त चित्रण भी मिलते हैं। इनकी रचनाओ मे उस युग की सामान्य सांस्कृतिक झांकी भी देखी जा सकती है। इनके काव्यो मे कवि-प्रसिद्धियो एव रूढियो को तो अपनाया गया, किन्तु रीति-परम्परा को नही। इन्होने अलकार मे से शब्दा-लकारो की चटक अधिक पसन्द की है। यद्यपि अर्थालकारो की स्वाभाविक छटा भी यहाँ विद्यमान है। इन्होने छन्दो की दृष्टि से कवित्त, सवैया और दोहा को ही अधिक प्रश्रय दिया, यो इन्होने बरवै, छप्पय आदि छन्दो के प्रयोग भी सामान्य रूप मे किये हैं।

जहाँ तक इस धारा के कवियो की भाषा-शैली का प्रश्न है, इन्होने स्वच्छ एव प्राजल व्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। इन्होने न तो भाषा को तोड-मरोडा ही है और न इनमे अन्य शब्दो के प्रयोग की खिचडी ही पकाई है। यहाँ तक कि घनानन्द जैसे कवियो की भाषा तो व्रजभाषा का परिनिष्ठित रूप तक स्वीकार किया जाता है। सामान्यतया इन्होने मुक्तक काव्य ही रचे हैं, किन्तु कही-कही प्रबन्धात्मकता का प्रयोग भी हुआ है। जैसे आलम की 'माधवानल कामकन्दला' और नरोत्तमदास का, 'सुदामाचरित' जैसी कुछ रचनाएँ प्रबन्धात्मक हैं। इनकी रचनाओ मे नीति का पुट भी मिलता है। इन कवियो के मन मे उक्ति-वैचित्र्य, मुहावरे और लोकोक्तियो के प्रयोग का मोह भी देखा जा सकता है। इस धारा के प्रमुख कवि ये हैं—

घनानन्द—रीति-मुक्ति काव्य-परम्परा मे घनानन्द का स्थान सर्वप्रमुख है। विद्वान् आलोचको ने इन्हे साक्षात् 'रस-मूर्ति' कहकर स्मरण किया है। इनका जन्म सम्वत् १७४६ वि० के आसपास माना जाता है। घनानन्द जाति के कायस्थ और दिल्ली के मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुशी थे। इनकी लोकप्रियता और प्रेमी स्वभाव से चिढकर बादशाह के दरबारियो ने इनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा। इनसे सुजान नामक दरबारी नर्तकी प्रेम करती थी। दरबारियो ने एक रोज बादशाह के कान भरे कि घनानन्द बहुत अच्छा गाते है। इन्हे दरबार मे गाने के लिए कहा जाए। बादशाह का आदेश मिलने पर घनानन्द किसी प्रकार टाल गये। दरबारियो ने फिर बादशाह के कान भरे कि यह केवल अपनी प्रेमिका सुजान के कहने पर उसीके सामने गाते हैं। बादशाह तो मनकी होते ही थे, अत सुजान को बुलाकर उसके समाने घनानन्द को गाने का आदेश दिया गया। सुजान की ओर मुंह तथा बादशाह की ओर पीठ करके घनानन्द तन्मयता से गाने लगे। बादशाह के मन पर गान का बहुत प्रभाव पडा और वह काफी प्रसन्न भी हुआ, किन्तु एक तो अपना पहला आदेश न मानने और दूसरे अपनी ओर पीठ करके गाने की बात से चिढकर बादशाह ने इन्हे अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। दिल्ली छोडते समय घनानन्द ने अपनी प्रेयसी सुजान को भी साथ चलने के लिए कहा, किन्तु वह साथ न चल सकी। इससे इनके मन को गहरी चोट पहुँची और वैराग्य-भाव का उदय हो गया। यह घूमते-घूमते वृन्दावन पहुँचे और निम्बार्क सम्प्रदाय मे दीक्षित होकर वही रहने लगे। इससे स्पष्ट है रसिकता घनानन्द के जीवन मे जन्मजात थी। इनका लौकिक प्रेम ही बाद मे अलौकिकता मे परिणत हो गया। अपनी प्रेमिका सुजान को यह आजीवन भुला नही पाये। वैरागी मन भी उसे मन से निकाल न पाया, यह इनकी रचनाएँ पढने मे स्पष्ट हो जाता है। इनका निधन सम्वत् १७९६ वि० मे होने वाली नादिरशाही मे हुआ।

रचनाएँ—घनानन्द की पाँच रचनाएँ अभी तक उपलब्ध हुई हैं। इनके नाम हैं—सुजान सागर, विरह लीला, कोक सार, रसकेलिवल्ली और कृपा-काण्ड। इनके अतिरिक्त लगभग चार सौ तक इनके मुक्तक पद्य भी मिलते हैं। इनका एक

वृहद् ग्रन्थ छत्रपुर के राजा के पुस्तकालय मे है, जिममे कृष्ण के जीवन से सम्वन्धित विविध लीलाओ का भावपूर्ण वर्णन है। रीतिकाल के अनेको कवि जव परान्त सुखाय काव्य रचकर आत्मसन्तोप मान रहे थे, उस समय घनानन्द ने आत्म-सुखाय काव्य रचकर एक नया आदर्श स्थापित किया। इस वात का आभास स्वव घनानन्द को भी था, तभी तो उन्होने कहा —

लोग है लागी कवित्त वनावत, मोहि तो मेरे कवित्त वनावत।

घनानन्द की कविता का मुख्य विपय शृगार-वर्णन ही है। ऐसा माना जाता है कि अपनी प्रेमिका सुजान की स्मृतियो मे विभोर होकर ही इन्होने काव्य रचा। इसी कारण इनके वियोग-शृगार वर्णन मे जो तल्लीनता है, वह अन्यत्र उपलब्ध नही होती। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्वन्ध मे उचित ही कहा है—"ये वियोग-शृगार के प्रधान मुक्तक कवि है। प्रेम की पीर लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम-मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जवांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभापा का दूसरा कवि नही हुआ।"

घनानन्द ने अपने काव्यो मे मुख्यत नारी-प्रेम, सौन्दर्य, प्रेमानुभूति एव विरह की व्यापक वेदना का ही चित्रण किया है। इनका प्रेम-भाव स्पष्टत एकनिष्ठ एव अन्तर्मुखी है। इसी कारण तत्सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावना को भी रूपायित कर पाने मे घनानन्द को विशेप सफलता मिली है। इनका रूप-चित्रण भी काफी प्रभावी है। शृगार का सयोग पक्ष हो या कि वियोग, दोनों के चित्रण मे उतना वाह्य विधान नही, जितना कि हार्दिक तत्त्वो का सन्निवेश। इन्होने अपनी कविता मे 'सुजान' शब्द का प्रयोग प्राय प्रत्येक पद्य मे किया है। कुछ लोग इस शब्द का अर्थ कृष्ण मानते है और यदि भक्ति-पक्ष पर ध्यान दिया जाए, तो 'कृष्ण' अर्थ लिया भी जा सकता है, किन्तु ध्यातव्य तथ्य यह है कि घनानन्द मूलत प्रेमी ही है, भक्त नही। इनकी कविता मे 'सुजान' शब्द वास्तव मे कृष्ण-स्मरण का वहाना है, है वह सुजान-नर्तकी का स्मरण ही।

इनका सौदर्य-चित्रण भी स्थूल न होकर सूक्ष्म, भाव एव तन्मयता से पूर्ण है। इसका एक उदाहरण देखिये —

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजति काननि ह्वै ।
हँसि बोलनि मे छवि-फूलन की बरषा, उर ऊपर जाती है ह्वै ॥
लट लोल कपोल कलोल करे, कल कण्ठ बने जलजावलि है।
अंग-अंग-तरग उठे दुति की, परि है मनो रूप अबै धर च्वै ॥

विरह-वर्णन मे उपालम्भ का भाव विशेष दर्शनीय हैं। इसमे एक स्वाभाविक व और स्मृत्याभास देखा जा सकता है। स्मृत्याभास के कारण ही इसमे सविष्णुता अधिक है :—

पहिले घन आनन्द सीचि सुजान कही बतियाँ अति प्यार-पगी।
अब लाय वियोग की लाय, बलाय बढाय, बिसास दगानि दगी।
अँखियाँ दुखियानी कुबानि परी, न कहूँ लगै, कौ घरी सुलगी।
मति दौरिथकी, न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह-मिठाम ठगी॥

वैसे घनानन्द के प्रेम का आदर्श और मार्ग अत्यन्य सीधा और सच्चा। जहाँ किसी भी प्रकार लाग-लपेट नहीं है। इसी कारण इनके प्रेम-वर्णन कामुकता के नही, बल्कि गम्भीर-उत्तान प्रणय-भाव के दर्शन होते हैं :—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नेकु सयानप बाँक नही।
तहँ साँचे चलै तजि आपनपौ, झिझकें कपटी जो निसाक नही।
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनो, इहाँ एक ते दूसरो आँक नही।
तुम कौन-सी पाटी पढे हो लला, मन लेहु पै देत छटाँक नही॥

स्पष्टत घनानन्द की कविता का भाव-पक्ष अत्यन्त मार्मिक, उदात्त, पुष्ट एवं भावी है। भाव-पक्ष के समान घनानन्द की कविता का कला-पक्ष भी अत्यन्त न्नत है। काव्य-गुण, छन्द, अलकार और भाषा आदि की सभी दृष्टियो से उनका ला-पक्ष प्रौढता का चरम रूप प्रस्तुत करता है। भाषा के सौष्ठव को घनानन्द काव्य ने विशेष सजाया-सँवारा एव निखारा है। इनकी भाषा के सम्बन्ध मे ाचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि—"अपनी भावनाओ के अनूठे रूप-ग की व्यजना के लिए भाषा का ऐसा बेधडक प्रयोग करने वाला पुराने कवियो म दूसरा नहीं हुआ।" इनकी काव्य शैली मुक्तक है। इन्होने आलकारिक रूप से कवित्त एव सवैयो मे ही अपनी प्रेम-भीनी भावनाएँ व्यक्त की है। अपनी इन्हीं

सरस भावनाओ एव अभिव्यक्तियों की सहजता के कारण घनानन्द हिन्दी साहित्य के इतिहास मे चिर अमर हैं।

आलम—आलम का रचना-काल सम्वत् १७४० से १७६० वि० के मध्य माना जाता है। यह औरगजेब के बेटे मुअज्जमशाह के राज्याश्रय मे रहते थे। कहा जाता है कि जाति से ब्राह्मण होते हुए भी इन्होने शेख नामक एक रगरेजिन या धोबिन के प्रेम मे फँसकर अपना धर्म परिवर्तित कर लिया था। इस सम्बन्ध मे एक दिलचस्प किवदन्ती प्रचलित है। कहा जाता है कि यह एक दोहा रच रहे थे। उसकी प्रथम पक्ति "कनक छरी-सी कामिनी काहे को कटि छीन" तो पूरी हो गई, किन्तु दूसरी पक्ति इन्हे सूझ नही रही थी। इन्होने वह कागज पगडी मे बाँधकर रख लिया, ताकि अवसर पडने पर दूसरी पक्ति पूरी कर लेगे। इसी बीच इन्होने पगडी रगने के लिए दे दी। रगते समय रगरेजिन शेख ने कोने मे बँधी पक्ति देखी और उसे यो पूरा कर दिया—"कटि को कचन काटि विधि कुचन मध्य भरि दीन।" और पगडी के कोने मे बाँधकर उसे लौटा दिया। इसे पढकर यह रगरेजिन पर लट्टू हो गये और धर्म-परिवर्तन करके उसके साथ विवाह कर लिया। स्पष्ट है कि आलम इनका बाद का नाम है, पहला वास्तविक नाम आज तक ज्ञात नही है।

रचनाएँ—'आलमकेलि' इनकी एकमात्र रचना है, जिसके निर्माण मे शेख का भी पूर्ण योगदान माना जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य रचनाएं भी इनकी रची बताई जाती हैं किन्तु उनके विषयवस्तु अभी प्रकाश मे नही आए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी रचना की आलोचना करते हुए अपने इतिहास मे कहा है—"ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरग के अनुसार रचना करते थे। इसीसे इनकी रचनाओ मे हृदयतत्त्व की प्रधानता है। प्रेम की पीर या इश्क का दर्द इनके एक-एक वाक्य मे भरा पाया जाता है।"

भाव-पक्ष की सरसता के समान इनकी कविता का कला-पक्ष भी काफी उन्नत है। इन्होने शब्द-वैचित्र्य और उत्प्रेक्षा अलकार का प्रयोग विशेषरूप से किया है। इनकी सर्जना मे अनुप्रास की प्रवृत्ति भी सर्वत्र पाई जाती है। फारसी के ज्ञाता होते हुए भी इनकी कविता मे उसका विशेष प्रभाव नही, बल्कि भारतीय

तत्वों का ही पालन किया गया है। इनको स्वच्छन्द प्रेम-वर्णन मे वास्तव में अद्भुत क्षमता प्राप्त थी। इन्ही सब बातो के कारण आचार्य शुक्ल आलम को रसखान और घनानन्द की कोटि का कवि मानते हैं।

बोधा—बोधा नाम से प्रसिद्ध इस कवि का वास्तविक नाम बुद्धिसेन कहा जाता है। महाराजा पन्ना ने 'बोधा' नाम इन्हे स्नेहवश दिया था। यह इसी नाम से ही प्रख्यात हो गये। इनका जन्मस्थान जिला बांदा का राजापुर गांव माना जाता है। इनकी जन्मतिथि तथा जीवन-सम्बन्धी विशेष घटनाओ का कोई अधिक पता नही चलता। एक घटना अवश्य इनके सम्बन्ध मे प्रचलित है कि यह किसी 'सुभान' नामक वेश्या से प्रेम करते थे। आश्रयदाता पन्ना नरेश के सामने 'सुभान' के साथ प्रेमाभिनय करने के कारण राजा ने रुष्ट होकर इन्हे ६ मास के लिए अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। शायद वे इनकी प्रतिक्रिया और प्रेम की तड़प देखना चाहते थे। बोधा इस परीक्षा मे सफल हुए। प्रवास-काल मे इन्होने 'विरह-वारीश' नामक काव्य रचा, जिसे लौटकर राजा को सुनाया। राजा ने इनकी प्रेम-पीडा की प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर 'सुभान' इन्हीको अर्पित कर दी। यह फिर वही रहकर काव्य-साधना करने लगे। इनका रचना-काल सम्वत् १८३० से १८६० वि० तक माना जाता है।

रचनाएँ—'विरहवारीश' के अतिरिक्त 'इश्कनामा' नामक इनकी एक अन्य रचना भी मिलती है। पर इस पर नाम ही के अनुरूप फारसीपन का समग्र प्रभाव है। पहली रचना मे प्रेम भाव की विभोरता, आनन्द एव उल्लास का भाव स्पष्टत देखा जा सकता है। ये भावुकता के आवेश मे कही-कही सस्तेपन पर भी उतरते दिखाई देते हैं। इनकी भाषा चलती हुई ब्रजभाषा है। इसमे विद्वानो ने अनेक दोष भी गिनाए हैं। काव्य मे सूफियो जैसी प्रेम की पीर भी दिखाई देती है। कृष्ण-राधा के प्रेम और भक्ति-सम्बन्धी कुछ पद्य भी बोधा ने रचे थे, किन्तु इन पर सामयिक प्रभाव स्पष्ट है। अत भक्तो मे इनकी गणना कर पाना सम्भव नही। इनकी कविता का प्रेम-वर्णन ही सार-तत्त्व कहा जा सकता है। रचना-शैली मुक्तक एव फारसी से प्रभावित है। सरस-स्निग्धता वहाँ सर्वत्र देखी जा सकती है। रीति-मुक्त धारा मे निश्चय ही बोधा महत्त्वपूर्ण कवि हैं।

ठाकुर—कवि ठाकुर का जन्म बुन्देलखण्ड के ओरछा राज्य मे सम्वत् १८२३ वि० मे हुआ था। यह कई आश्रयदाताओ के यहाँ सम्मानपूर्वक रहे। इनमे से जोधपुर, विजापुर राज्यो के साथ-साथ हिम्मतवहादुर सिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके जीवन के सम्बन्ध मे अन्य कोई विशेष विवरण उपलब्ध नही होता।

रचनाएँ—इनकी कोई विशिष्ट रचना उपलब्ध नही होती। हाँ, लाला भगवानदीन ने 'ठाकुर ठसक' नाम से इनकी रचनाओ का सकलन अवश्य प्रकाशित कराया था। इनके काव्य का मुख्य विषय प्रेम ही प्रतीत होता है। इन्होने कही-कही स्वाभाविक लोक-व्यवहारो का वर्णन भी लगन के साथ किया है। कवि अपने कर्म को काफी कठिन मानता है—इस बात की झलक भी इनकी रचना मे मिलती है। इन्होने अनेक उत्सवो का वर्णन बडी सजीवता एव सरसता से किया है। ये लोक-स्वभाव के विभिन्न पहलुओ का वर्णन करने मे भी विशेष सिद्धहस्त थे। इनकी भाषा-भावना मे सरलता एव स्पष्टता है। फारसी का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। इनकी कविता मे भाषा की स्वच्छता एव प्रवाह विशेष दर्शनीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे —

"ठाकुर बहुत ही सच्ची उमग के कवि थे। उनमे कृत्रिमता का लेश नही। न तो कही व्यर्थ का शब्दाडम्बर है, न कल्पना की झूठी उडान और न अनुभूति के विरुद्ध भावो का उत्कर्ष। भावो को यह कवि स्वाभाविक भाषा मे उतार देता है। बोलचाल की चलती भाषा मे भावो को ज्यो का त्यो सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की शृगारी कविता प्राय सभी पात्रो के ही मुख की वाणी होती है। अत स्थान-स्थान पर लोकोक्तियो का जो सुन्दर विधान इस कवि ने किया है उससे उक्तियो मे और भी स्वाभाविकता आ गई है।"

गोरेलाल—रीतिकाल मे भूषण के बाद भी वीररस-प्रधान कविता का प्रवाह चलता रहा। अन्तर इतना ही है कि भूषण ने तो रीति-परम्परा का पालन करते हुए रस-रूप मे वीर भावना को प्रश्रय दिया था, जबकि बाद के कुछ कवियो ने मुक्त भाव से वीर रस को प्रश्रय दिया। 'लाल' या गोरेलाल नाम से प्रसिद्ध कवि इसी रीतिमुक्त वीर काव्यो के गायको की परम्परा मे भूषण के बाद प्रमुख

स्थान रखते हैं। यह मऊ बुन्देलखण्ड के निवासी और वहाँ के शासक छत्रसाल के समकालीन थे, बल्कि उन्ही के राज-दरबार मे इन्होने आश्रय ले रखा था। उन्ही की उदारता और वीरता से प्रभावित होकर गोरेलाल को वीरभावपूर्ण काव्य रचने की प्रेरणा मिली थी।

रचनाएँ—'छत्र-प्रकाश' इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध एव प्रमुख रचना है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित इनकी अन्य रचनाएँ भी मानी जाती हैं—छत्र प्रशस्ति, छत्र कीर्ति, छत्रसाल-शतक, राज-विनोद और विष्णु-विलास। 'छत्र प्रकाश' मे कवि ने आश्रयदाता वीर छत्रसाल के समग्र जीवन का वर्णन पूर्णतया ऐतिहासिक परिवेश मे किया है। इसी कारण इनके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि—"पुराने ऐतिहासिक काव्यो की भाँति यह तथ्य और कल्पना का वेमेल गड्डमड्ड नही है।" इसमे ऐतिहासिकता के ध्यान के साथ-साथ प्रवन्ध-निर्वाह का ध्यान भी रखा गया है। इसी ग्रन्थ को इनकी कीर्ति का आधार स्तम्भ माना जाता है। अन्यो का विषय भी छत्रसाल की प्रशसा एव वीरता का वर्णन ही हो सकता है, किन्तु इनके सम्बन्ध मे ठीक प्रकार से कुछ कह पाना कठिन है। लाल कवि की प्रवन्ध-पटुता के सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है:—

"लाल कवि मे प्रवन्ध-पटुता पूरी थी। सम्बन्ध का निर्वाह भी अच्छा है और वर्णन-विस्तार के लिए मार्मिक स्थलो का चुनाव भी।" अपनी वात को और स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं—"लाल कवि का सा प्रवन्ध कौशल हिन्दी के कुछ इने-गिने कवियो मे ही पाया जाता है। शब्द-वैचित्र्य और चमत्कार के फे मे इन्होने कृत्रिमता कही से नही आने दी।" इनकी कविता का एक उदाहरण देखे :—

मधुदिन तहाँ मुकाम वजायो। सुन्यो छाउ चाउ चित आयो।
छरी भीर छत्रसाल बुन्देला। सुभट छ-सातक आपु अकेला।
सहज सिकार गेल रस पागे। वन वराह मृग मारन लागे।

भाषा का प्रवाह और सहजता भी दर्शनीय है। शब्द-चयन विषय भावना के अनुरूप है। इसी कारण वीर रस के कवियो मे भूषण के वाद लाल ——— है।

सूदन—रीतिकालीन वीर काव्यो की परम्परा और स्वच्छन्द धारा मे लाल के वाद सूदन का नाम विशेप आदर के साथ लिया जाता है। सूदन मथुरा निवासी चौवे ब्राह्मण थे। यह भरतपुर के राजा सूरजमल के यहाँ रहते थे। इनका वास्तविक नाम सुजानसिह था। अपने इसी आश्रयदाता की प्रशसा एव वीर-चरित्र का गान करने के लिए सूदन ने 'सुजान-चरित' जैसे प्रवन्ध-काव्य की रचना की थी। इनका कोई अन्य ग्रन्थ उपलव्ध नही है और न ही इनके जीवन के सम्वन्ध मे ही अन्य तथ्य ज्ञात हो सके है। इनकी भावना, वर्णन-कौशल और भापा आदि के सम्वन्ध मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार विशेप रूप से दर्शनीय है —

"चन्द के पृथ्वीराज रासो मे जिस प्रकार घोडो और अस्त्रो आदि की उवा देने वाली सूची मिलती है उसी प्रकार सूदन के सुजान चरित मे भी है। काव्य-रूढियो का इसमे जमकर सहारा लिया गया है, यद्यपि कथानक मे रूढियो की वैसी भरमार नही है जैसी कि रासो मे है। शव्दो को तोड-मरोडकर युद्ध के अनुकूल ध्वनि-प्रसू वातावरण उत्पन्न करने मे सूदन वहुत दक्ष हैं, पर उसमे भापा के प्रति न्याय नही हो सका।"

इस कथन से यह प्रमाणित हो ही जाता है कि वीर रस की परख और अभिव्यक्ति शक्ति सूदन मे पर्याप्त थी।

गुरु गोविन्दसिंह—यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि गुरु गोविन्दसिंह की चर्चा के विना रीतिकाल को किसी भी दृष्टि से सम्पूर्ण नही माना जा सकता। दशम गुरु गोविन्दसिह की वाणी केवल धार्मिक या आध्यात्मिक महत्त्व ही नही रखती, इसमे कवित्वमयता की उच्चता एव हार्दिक तत्त्वो का भी यथेष्ट समावेश है। इन्होंने पजावी मूल के होते हुए भी व्रजभापा मे काव्य रचना कर इसकी श्रीवृद्धि की है। इस दृष्टि से इनका महत्त्वपूर्ण स्थान साहित्य मे निश्चय ही है।

इनका जन्म १७ पौप, सवत् १७२३ वि० मे नवम गुरु तेगवहादुर के यहाँ पटना मे हुआ था। गुरु तेगवहादुर जी उस समय आसाम यात्रा पर होने के कारण इनकी माता पटना मे अपने भाई कृपालचन्द के पास रह रही थी। आठ

वर्ष की आयु मे गोविन्दसिंह पटना से अपने पिता के पास आनन्दपुर मे आये। वहाँ रुककर इन्होने सूक्ष्मता से तत्कालीन परिस्थितियो को ही नही देखा, वल्कि किशोरावस्था मे अपने पिताजी का वलिदान भी देखा। फलस्वरूप इनका उदय एक सच्चे सन्त एव सिपाही के रूप मे हुआ। इनके काव्यो मे भी सन्त और सिपाही के दोनो रूप प्रखरता के साथ मुखरित होते हुए देखे-सुने जा सकते है। इनके स्वर्गवास की तिथि सवत् १७६५ वि० मानी जाती है। स्वर्गवास दक्षिण भारत मे हुआ था।

रचनाएँ—दशम ग्रन्थ मे इनकी प्रायः सभी रचनाएँ सकलित है। इनकी प्रमुख रचनाएँ है—जाप साहव, अकाल स्तुति, विचित्र नाटक, चौवीस अवतार, चण्डी चरित्र, चण्डी दी वार (पजावी), ज्ञान-वोध, शब्द हज़ारे, तेती सवैये, शासन नाममाला, पख्यान चरित्र, ज़फर नामा और हिकायत नामा (दोनो फारसी)। इनके अतिरिक्त 'सरव लोह प्रकाश' नामक इनकी एक अन्य रचना की चर्चा भी की जाती है, किन्तु अभी तक इसका प्रकाशन नही हो पाया। उपरोक्त रचनाओ मे अधिकाश व्रजभापा मे रची गई है। इनकी कविता के सम्वन्ध मे भी रघुनन्दन शास्त्री का कथन है —

"इनकी वाणी मे ऊँचे दरजे की आध्यात्मिकता, पराकाष्ठा को स्पर्श करती हुई भक्ति-भावना और साथ ही कायर को भी वीर, महावीर वना देने वाली ओजस्विता के दर्शन होते हैं।"

गुरु गोविन्दसिंह अनेक कवियो के आश्रयदाता भी थे। कहा जाता है कि इनके दरवार मे (आनन्दपुर मे) ५२ कवि रहते थे। इन्होने उनकी कविताओ का एक विशाल सकलन किया था, जो राजनीतिक कारणो से आनन्दपुर छोडते समय नष्ट हो गया। गुरुजी की वीरता का आदर्श प्रस्तुत पद्य से प्रगट होता है :—

देहु शिवा! वर मोहि इहै शुभ कर्मन ते कवहूँ न टरौं।
न डरौं अरि सो जव जाइ लरौ निशचै करि आपुनि जीत करौं।
अरु सिक्ख हौं आपने ही मन कौं, इह लालच हौ गुन तौ उचरौं।
जव आव की औध निदान वनै अति ही रण मे तव जूझि मरौं॥

इन्होने प्रबन्ध और मुक्तक दोनो प्रकार के काव्य रचे। इनका भाषा पर समान अधिकार था। फारसी के भी यह बहुत बडे मर्मज्ञ और विद्वान् थे। इन्होने सभी प्रकार के मुख्य छन्दो का प्रयोग अपनी कविता मे किया है। कही-कहीं तो इनके भाषा प्रयोग सस्कृत जैसे प्रतीत होते हैं। 'जाप साहब' का एक उदाहरण देखें —

> नमस्त अकाल, नमस्त कृपाल।
> नमस्त अरूप, नमस्त अनूप।
> नमो सर्व सोख, नमो सर्व पोख।
> नमो सर्व कर्ता, नमो सर्व हर्ता।।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कवित्व एव वीरत्व की दृष्टि से भी गुरु गोविन्दसिह का व्यक्तित्व अत्यधिक आकर्षक एव महत्त्वपूर्ण है।

सेनापति—रीतिकाल की रीतिमुक्त परम्परा के कवियो मे सेनापति का नाम भी आदर से लिया जाता है। यह गुरु गोविन्दसिह के दरबारी कवि थे। इनके दरबारी कवियो मे सेनापति का नाम अग्रगण्य था। कुछ इतिहासकारो ने इन्हें 'राष्ट्रकवि' तक कहकर भी सम्बोधित किया है। वास्तव मे सिक्खों के दशम गुरु गोविन्दसिंह को अपना चरित-नायक बनाकर सेनापति ने राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य ही सम्पादित किया था। इनका रचना-काल स० १७५८ वि० के आसपास माना जा सकता है।

रचनाएँ—सेनापति की मुख्यतया दो रचनाएँ ही मिलती हैं—१ गुरु-शोभा और २ चाणक्य नीति का भाषानुवाद। इनके अतिरिक्त भी सेनापति के प्रकृति एव ऋतु-चित्रण-सम्बन्धी मुक्तक पद मिलते हैं। इतिहासकार मानते हैं कि रीतिकाल के समस्त कवियो ने प्रकृति का चित्रण मुख्यतया आलम्बन के रूप मे ही किया था, किन्तु सेनापति ही एक ऐसा कवि है कि जिसकी कविता मे प्रकृति के मुक्त चित्रण मिलते हैं। इसी दृष्टि से इनका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।

सेनापति की प्रमुख रचना 'गुरु शोभा' मे दशमगुरु के युद्ध-वृत्तो का वर्णन अत्यधिक ओजस्वी भाषा मे किया गया है। इस दृष्टि से सेनापति को भी वीर

कवियो की परम्परा मे रखा जा सकता है। पर यहाँ इनकी भाषा जितनी प्रखर एवं ओजस्वी है, प्रकृति-चित्रणो मे उतनी ही कोमल-कान्त हो गई है। इनकी भाषा मे आद्यन्त समरसता है। खडीबोली के शब्द भी इनकी व्रजभाषा मे विशेषत. पाये जाते है। भाषा और अभिव्यक्ति की सरलता एक प्रमुख विशेषता है। इनकी कविता का एक उदाहरण देखें —

वाजत सार सो सार तहाँ चमकै चिनगी सभ तारन जैसी।
ऐसो वनी रुत सावन की पटवीजनि ज्योति अनूप रलै सी।
इऊ उपजै झुनकार तहाँ मनु सैल पै वाजत है चमकैसी।
मानो महाघन मे चमकै-दमकै तलवार महा विजलै-सी ॥

इन कवियो के अतिरिक्त रीतिमुक्त काव्यधारा मे कुछ नीति विषयक काव्य-सर्जको के नाम भी आते हैं। इनमे से प्रमुख हैं—वृन्द और गिरधर कविराय। इनका अत्यन्त सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

वृन्द—इनका रचना-काल १८वीं शताव्दी का आरम्भिक चरण माना जाता है। यह कृष्णगढ के महाराजा राजसिंह के गुरु थे। इन्होने प्रमुखत व्यवहार-नीति-सम्बन्धी दोहे ही रचे थे, जिनका सकलन 'वृन्द सतसई' के नाम मे उपलब्ध है। 'शृगार शिक्षा' और 'चौर पचाशिका' नाम की इनकी दो अन्य रचनाएँ भी मानी जाती हैं। परन्तु इनका महत्त्व व्यवहार नीति सम्बन्धी दोहो के कारण ही है। इन्होने दैनिक जीवन मे काम आनेवाली वातें ही प्रमुखत दोहो मे कही हैं। इनकी भाषा सरल और अभिव्यक्ति स्पष्ट है। दोहा जैसे छोटे छन्द मे इन्होने जीवन की विविध अनुभूतियो को वडी ही कुशलता से सजाया-सँवारा है। इनमे सरसता भी है।

गिरधर कविराय— इनका पूरा नाम गोस्वामी गिरधर मिलता है। यह लाहौर के निवासी थे। ठाकुर शिवसिंह सेगर के अनुसार इनका जन्म सम्वत् १७७० वि० मे माना जाता है। कुछ लोग इन्हे लाहौर या पजाव का निवासी नहीं भी मानते; किन्तु वहुमत इनके पजाव निवासी होने के पक्ष मे ही है। इनकी पत्नी का नाम 'साईं' माना जाता है। इसीके आधार पर यह मान्यता है कि इनकी जिन कुण्डलियो मे 'साईं' शब्द आता है, वे वास्तव मे इनकी पत्नी द्वारा

ही विरचित हैं। परन्तु हमारे विचार मे ये बातें प्रवादमात्र ही हैं। इनकी कोई सन्तान नही थी। अत इनके जीवन का अधिकाश समय देशाटन मे ही व्यतीत हुआ। उसीसे प्राप्त अनुभवो को वास्तव मे इन्होने अपनी 'कुण्डलियो' मे सहेज सरसता से सँजोया है।

गिरधर या गिरिधर कविराय अपनी कुण्डलियो के लिए तो प्रसिद्ध हैं ही, इनकी 'नल-दमयन्ती' नामक एक अन्य रचना भी मानी जाती है, जो खण्ड काव्य है। पर इसका खण्डित रूप ही प्राप्त होता है। हिन्दी के अतिरिक्त पजाबी भाषा मे भी इनकी कुण्डलियाँ प्राप्त होती हैं। इनके सम्बन्ध मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत विशेष दर्शनीय है —

"वस्तुत साधारण हिन्दी जनता मे सलाहकार प्रधानत तीन ही रहे है— तुलसीदास, गिरधर कविराय और घाघ। तुलसीदास धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र मे, गिरधर कविराय व्यवहार और नीति के क्षेत्र मे, और घाघ खेती-बाडी के मामले मे।"

इनकी सरल भाषा मे रची एक कुण्डली देखिये —

रहिये लटपट काटि दिन, बरु घामहि मे सोय।
छाँह न बाकी बैठिये, जो तरु पतरो होय।
जो तरु पतरो होय, एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयार, टूटि तब जर से जैहै।
कह गिरिधर कविराय, छाँह मोटे की गहिये।
पाता सब झरि जाय, तउ छाया मे रहिए॥

आधुनिक काल (सम्वत् १९०० से आज तक)

७

रीतिकाल के बाद हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जिस नये दौर का आरम्भ हुआ, वह अनेक रूपों में अनेक प्रकार के आधुनिक अर्थात् सामयिक परिस्थितियों के बोध को लेकर हुआ था। इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा प्राय अन्य सभी विद्वान् इतिहासकारों ने भी, उसे आधुनिक काल नाम से अभिहित किया है। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने के योग्य है कि किसी भी काल का समापन किसी समारोह के साथ एकाएक नहीं हो जाया करता। इसी प्रकार किसी नव्य युग या उद्भावना का समारम्भ भी एकाएक नहीं हो जाया करता। एक की समाप्ति और दूसरे के समारम्भ के लिए पहले से ही धीरे-धीरे परिस्थितयाँ विनिर्मित होती रहती हैं। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि बहुत पहले आधुनिक काल के विनिर्माण की प्रक्रिया वास्तव में सम्वत् १८५८ वि० से ही आरम्भ हो गयी थी और यह प्रक्रिया सम्वत् १९२५ वि० तक चलती रही। सम्वत् १९२५ वि० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय हुआ और तभी इस नव्य चेतनाओं वाले काल का विविधत् प्रवर्तन भी हो सका। बीच के सत्तर-पचहत्तर वर्षों में नव्य प्रवृत्तियों के उदय एव उनके प्रतिष्ठापन की प्रक्रिया अनेक प्रकार के सघर्षों में निरन्तर चलती रही। तब कहीं जाकर एक नव्य-युग या काल खण्ड का भाव बोध स्पष्ट हो सका। इनके बाद इन उदित नव्य प्रवृत्तियों का अपने सामयिक परिवेश और इनके उत्थान-पतन से भावनाओं का सचयन कर क्रमश अनेक रूपों

मे विकास होता गया। विकास का यह क्रम आज भी अगाध गति से चल रहा है।

नामकरण

सन् १८५७ की असफल जन-क्रान्ति के वाद समूचे भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का साम्राज्य स्थापित हो गया। उधर जब इग्लैण्ड मे मलिका विक्टोरिया का राज्यारोहण हुआ, तो भारत स्थित ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा मलिका विक्टोरिया को एक बहुमूल्य भेंट राज्यारोहण की प्रसन्नता मे अर्पित की गई। वह भेंट थी—भारत के शासन की वागडोर। ब्रिटिश पार्लियामेट के हाथो मे भारतीय शासन-तन्त्र की वागडोर आते ही उमकी अपने साम्राज्य की नीव दृढ करने की नीतियो के फलस्वरूप यहाँ नवीन युग का आरम्भ हुआ। मलिका विक्टोरिया ने अपने भारत-सम्वन्धी घोपणा-पत्रो मे जिन नयी नीतियो की घोषणा की, उनसे एक ओर तो सन् १८५७ की जन-क्रान्ति के कारण चलने वाला दमन-चक्र समाप्त हुआ, दूसरी ओर भारत की राजनीतिक चेतना मे भी नई स्थितियो मे चिन्तन-मनन की नई गति-दिशा का आरम्भ हुआ। ऊपर से तो वातावरण मे एक गहरा सन्नाटा-सा छा गया, पर भीतर ही भीतर १८५७ की राजनीतिक और सास्कृतिक चेतना का अधिक सुलझे एव अनुभवपूर्ण परिवेश मे विकास होने लगा। यह प्रक्रिया राजनीतिक क्षेत्रो के साथ-साथ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रो मे भी अविरत प्रवाहित होने लगी। अपने अतीत को नये सन्दर्भो मे देखा जाने लगा। इन समग्र नव्य चेतनाओ को साहित्य ने भी आत्म सात् कर आधुनिक एव नव्य दिशा का तीव्र गति से अनुसरण करना आरम्भ किया। साहित्य की इन नव्य प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखकर ही विद्वानो ने सम्वत १९०० से आरम्भ होने वाले काल का नामकरण आधुनिक काल किया है, जो सभी दृष्टियो से युक्तिसगत है।

आधुनिक काल के साथ-साथ आचार्य शुक्ल जैसे विद्वानो ने गद्य-साहित्य सृजन की प्रमुख प्रवृत्ति के कारण इस काल को गद्य काल' का नाम भी दिया है। यह नाम साहित्य के सर्जनात्मक रूपो की विविधता एव अनेकता की दृष्टि से

सर्वथा युक्तिसगत है। पूर्ववर्ती कालो मे पद्यात्मक साहित्य ही प्रमुखतः लिखा जाता रहा। रीतिकाल तक यदि गद्य का कही कोई रूप दिखाई भी देता है, तो असम्बद्ध एव सामान्य। उनसे किसी प्रवृत्ति विशेष का अनुमान नही लगाया जा सकता। पूर्ववर्ती कालो मे मुख्यत ब्रज और उसके बाद अवधी भाषाओ का प्रयोग होता रहा। इन युगो का उपलब्ध गद्य ब्रजभाषा का ही है। राजस्थानी मे भी कुछ फुटकर गद्य के नमूने मिलते हैं। अत· इनका कोई साहित्यिक महत्त्व नही है। खडीबोली हिन्दी के गद्य को आन्दोलनात्मक रूप इस आधुनिक काल मे आकर मिला। यही से गद्य-साहित्य के विकास की परम्परा का सम्यग् प्रवर्तन हुआ और आज निश्चय ही काव्य की अपेक्षा गद्य-साहित्य अधिक उन्नत एव विविध-रूपा है। इसके साहित्य मे प्रौढता भी अधिक है और वह निरन्तर विकास के चरम शिखरो की ओर अग्रसर है। अत. 'गद्य काल' नाम का आधार भी ठोस एव सार्थक है। प्राय सभी विद्वान् इस नामकरण की सार्थकता पर सहमत हैं। हिन्दी भाषा ही नहीं, बल्कि ससार की समस्त समृद्ध भाषाओ की प्रवृत्ति आज गद्यात्मक ही अधिक है।

प्रवृत्त्यात्मक अन्तर्विभाजन

युगीन प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखते हुए हिन्दी साहित्य का प्रथम वैज्ञानिक इतिहास रचने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल को प्रभाव एव प्रवृत्तियो की दृष्टि से तीन अन्तर्युगो मे विभाजित किया था— १. भारतेन्दु-युग २ द्विवेदी-युग और ३ छायावादी युग। उन्होने इन्हे तीन उत्थानो का नाम दिया और बाद मे उपरोक्त नाम जोड दिये गये। उत्थानो का कालक्रम इस प्रकार से निश्चित किया गया था·—

१. प्रथम उत्थान—सम्वत् १९२५ से १९५० तक।

२ द्वितीय उत्थान—सम्वत् १९५० से १९७५ तक।

३ तृतीय उत्थान—सम्वत् १९७५ से आगे तक।

किन्तु अब साहित्य अपने विकास के इन चरणो से बहुत अधिक आगे बढ चुका है। छायावादी युग के बाद प्रगतिवाद, प्रतीकवाद और नवीन युग आदि

अनेक प्रवृत्तियो के दर्शन हुए तथा हो रहे हैं। अत आज के प्राय विद्वान् इतिहासकार आधुनिक काल को चार अन्तर्युगो मे विभाजित करना अधिक समीचीन मानते हैं। इनके नाम हैं —

१ प्रथम चरण (भारतेन्दु युग)।
२ द्वितीय चरण (द्विवेदी युग)।
३ तृतीय चरण (प्रसाद-प्रेमचन्द शुक्ल युग)।
४ चतुर्थ चरण (प्रगतिवादी और प्रयोगवादीयुग)।

अगले पृष्ठो मे हम इसी अन्तर्विभाजन के आधार पर ही आधुनिक काल की विभिन्न प्रवृत्तियो एव तत्सम्बन्धी कवियो एव साहित्यकारो की चर्चा करेंगे।

आधुनिक काल प्रारम्भिक परिस्थितियाँ

आधुनिक काल का प्रारम्भ अत्यधिक विषम परिस्थितियो मे हुआ था। सन् १८५७ की असफल जन-क्रान्ति के बाद सारे देश पर अंग्रेजी साम्राज्य का लौह-शिकजा बडी तीव्रता से जकड गया था। परिणामस्वरूप भारतीय जन-चेतना मे नये-नये परिवर्तन उभरने लगे थे। अंग्रेज़ी साम्राज्यवादियो की राज्य लिप्सा ने भारतीय जन-मानस को एकाएक झझोडकर जागृत कर दिया था। ब्रिटिश पार्लियामैण्ट के हाथो मे भारत के शासन की बागडोर आ जाने के बाद भारतीयो को आश्वस्त करने वाली घोषणाएँ तो अनेक की गईं, किन्तु इनके कार्यान्वियन की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया गया। वास्तव मे घोषणाओं और वायदो की आड मे साम्राज्यवादी अंग्रेज अपनी राजनीतिक जडें अधिकाधिक सशक्त करना चाहते थे, सो वे उसी नीति पर अविरत चलते रहे। फलस्वरूप देशवासियो के मन मे अशान्ति एव विक्षोभ की नई चेतनाएँ अगडाइयाँ लेने लगीं। अंग्रेज चाहते थे कि भारत मे अपने साम्राज्य की जडें अधिकाधिक दृढ की जायें। अत उनका ध्यान यहाँ की सास्कृतिक चेतनाओ को ध्वस्त करने की ओर गया। वे धर्म एव शिक्षा की दिशा मे नित नये कदम उठाने लगे। एक ओर तो यहाँ की निर्धनता एव अशिक्षा के कारण अन्धविश्वासो से लाभ उठाकर ईसाई मिशनरियाँ अपने धर्म का निरन्तर प्रचार करने लगी, दूसरी ओर शिक्षा नीतियो

मे भी परिवर्तन होने लगा। भारतीय सभ्यता-संस्कृति को ध्वस्त करने के लिए अंग्रेजों की यह दुहरी घुसपैठ थी। फलस्वरूप केवल निम्नवर्ग के लोग ही नही, अपितु समाज के मूर्द्धन्य वर्ग भी उनकी ओर आकर्षित होता गया। एक बार तो भारतीयता के चरम विनाश का क्षण आ पहुँचा। ऐसा प्रतीत होता था कि अंग्रेजों की नीतियो का प्रवाह समग्र भारतीयता को अपने साथ बहाकर ले जाएगा। यह एक सर्वसिद्ध बात है कि यदि किसी देश को अधिक काल के लिए अपना दास बनाये रखना हो, तो उसको अपनी सांस्कृतिक चेतनाओ से विछिन्न कर दिया जाए। संस्कृति से विछिन्न करने के लिए उस देश की भाषा को समूल नष्ट करना अनिवार्य होता है। विक्टोरिया के राजत्व-काल मे लार्ड मैकाले द्वारा प्रचारित अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति अंग्रेजो की इसी नीति का फल थी, जिसे हमारा देश आज तक भुगतता आ रहा है। लार्ड मैकाले का स्पष्ट उद्देश्य यही था कि भारत मे एक ऐसा बाबू वर्ग पैदा कर दिया जाये, कि जो नाममात्र को भारतीय रहे, शेष उसकी समस्त गतिविधियाँ, वेश-भूषा, रहन-सहन और आचार-विचार आदि अंग्रेजियत के रग मे रग जाएँ। इसी कारण नौकरियो के लिए भी अंग्रेजी शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। अंग्रेज-साम्राज्यवादियो को इस नीति का निश्चय ही अभीष्ट लाभ प्राप्त हुआ और देश उन्हीकी सभ्यता-संस्कृति के रगो मे आकण्ठ निमग्न होता गया।

अंग्रेजो ने ईसाईयत के प्रचार के लिए यहाँ की भाषा मे ईसाई-धर्म से संबधित अनेक ग्रन्थो के अनुवाद छपवाकर बिना मूल्य वितरित किये। दूसरी ओर इन्होने यहाँ के लोगो, विशेषत हिन्दुओ के सामाजिक एव धार्मिक विधि-विधानो मे हस्तक्षेप भी आरम्भ कर दिये। कुछ वास्तविक सुधार भी किये। जैसे—बाल-विवाह और सती प्रथा आदि को कानून बनाकर बन्द कर दिया। इस बात ने भी कुछ भारतीयो का ध्यान अंग्रेजो की ओर आकर्षित किया। उन्हे सुधारक एव हितैषी मानकर उनके धर्म मे दीक्षित होने लगे। अंग्रेज लोग अत्यधिक चुस्त एवं चालाक थे। वास्तव मे भारत जैसे विशाल एव भौगोलिक दृष्टि से अनेकताओ से भरे देश पर शासन-सूत्र को चला पाना सरल कार्य नही था। अत इन्होने रेल तार, डाक, पक्की सडको आदि का जाल बिछाना आरम्भ कर दिया। इसक

प्रत्यक्ष लाभ भारतवासियो को अवश्य प्राप्त हुआ, किन्तु इस सव आधुनिकीकरण के मूल मे अग्रेज़ो की नीति अपने राज्य की जडें दृढ करने की ही थी। सामान्य-जन इन नीतियो को समझ न सके और प्रत्यक्ष लाभो को देखकर अग्रेजो और ईसाईयत की ओर आकर्षित होते गये। इन्होने यह तक नही समझा कि इस आधुनिकीकरण के नाम पर भारत का कितना अधिक आर्थिक शोषण किया जा रहा है। देश की कितनी सम्पत्ति हडप की जा रही है। इगलैड के पूँजीपति कितने मुटाते जा रहे हैं। इस सम्वन्ध मे रजनी पामदत्त के शब्द विशेष उल्लेख-नीय हैं

"अग्रेजो ने हमारे निरन्तर विकासमान उद्योग-धन्धो का नाश कर हमारी सामाजिक एव आर्थिक उन्नति के रास्ते मे एक स्पष्ट व्यवधान उत्पन्न कर दिया।" उसके परिणाम की ओर सकेत करते हुए रजनी पामदत्त आगे कहते हैं—"भारत की साहित्यिक आत्मा, जो सीमित और रूढिवादी सामाजिक जीवन के कारण निष्प्राण हो रही थी, इस नये सास्कृतिक सस्पर्श से जाग उठी।"

तात्पर्य यह है कि आधुनिक काल के प्रारम्भ के मूल मे जो परिस्थितियाँ थीं, वे वास्तव मे रही-सही भारतीयता को भी चौपट कर जाने का सामान जुटा रही थी। धार्मिक क्षेत्र मे अग्रेजो ने फूट डालना आरम्भ कर दिया था। सामाजिक ढाँचे को भी तोडने के प्रयत्न होने लगे थे। राजनीतिक सत्ता तो अव रह ही नही गई थी। आधुनिकीकरण की आड मे यहाँ का आर्थिक तन्त्र भी थोथा और खोखला वनाया जा रहा था। इसी ओर इगित करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था —

अग्रेज-राज सुख-साज, सजे सव भारी।
पै धन विदेम चलि जात यहै अति ख्वारी॥

यह उक्ति उस युग के मनीषी-वर्ग के अतर्द्वन्द्व की स्पष्ट परिचायक है। इनका ध्यान स्पष्ट सतर्कता के साथ अग्रेजो की शोषणभरी नीतियो की ओर गया। इससे नव्य-चेतना अगडाइयाँ लेने लगी। ये लोग देशोद्धार के लिए अपने-अपने ढग से अपने स्वर मुखरित करने लगे। अग्रेजो से ही एक राष्ट्र, एक राष्ट्रीयता आदि की शिक्षा लेकर यहाँ भी अगले राष्ट्रीय धर्मयुद्ध के लिए जन-

मानस को प्रबुद्ध करने की प्रवृत्ति जागी। डॉ० शरणविहारी गोस्वामी इस सबंध मे लिखते है —"इन सबका प्रभाव भारतीयो पर पडा। उन्होने इस नये युग की चेतना और साहित्य को पहचाना। अंग्रेजो के देशप्रेम ने उनमे राष्ट्रीयता जगाई और उनके अत्याचारो ने देशप्रेम को और भडकाया।" और देशवासी कमर कसकर अंग्रेजी साम्राज्य की जडें उखाडकर फेकने के लिए मैदान मे कूद पडे। सन् १८५७ मे राष्ट्रीय जागरण की जो चेतना बारूद का ढेर बनकर विस्फोटक रूप मे फूट पडी थी, अब वह विविध क्षेत्रो की रीति-नीतियो एवं संघर्षात्मक आन्दोलन के रूप मे हमारे सामने आने लगी। इसी ओर इंगित करते हुए प्रसिद्ध आलोचक श्री प्रकाशचन्द्र ने लिखा है —

"आधुनिक युग का आरम्भ उत्पादन, यातायात और वितरण के नये साधनो के साथ होता है। अंग्रेजो ने एक ओर तो देशी उद्योग-धंधो को समूल नाश किया, दूसरी ओर विदेशी पूंजी से नये उद्योग-धंधे भी शुरू किये। रेल, तार, डाक आदि का आरम्भ उन्होने अपनी राजनीतिक और आर्थिक सत्ता कायम करने के लिए किया, एक नई सभ्यता-संस्कृति के दूत बन गये। किन्तु उनका चक्र सुदर्शन चक्र की भांति उलटकर उन्हीके मर्मस्थल पर लगा।"

अंग्रेजो के इसी चक्र को उलटने मे अनेक भारतीय राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक-सांस्कृतिक संस्थाओ ने अपना योगदान प्रदान किया। परिस्थितियो के अन्तर्गत इनका उल्लेख करना ही स्थिति को समझने मे विशेष सहायक होगा। इनके नाम तथा परिचय इस प्रकार हैं :—

१. इण्डियन एसोसियेशन (Indian Association)—सन् १८७६ मे श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ता मे अथक परिश्रम से इस संस्था का श्रीगणेश किया। इसका प्रयत्न था कि भारतवासी एक-राष्ट्रीयता की भवना को लेकर संगठित हो। अंग्रेज़ो की अनेक नीतियो के विरुद्ध इस संस्था ने देश-व्यापी आन्दोलन चलाये, जिनके फल सीमित ही सही, तत्कालीन परिस्थितियो के सन्दर्भ मे उचित ही निकले। और कुछ परिणाम हुआ या नही, परन्तु इतना अवश्य हुआ कि भारत के प्राय सभी जातियो एवं वर्गों के लोगो के मन मे आपसी मतभेदो को भुलाकर एक राष्ट्रीय मंच पर एकत्रित होने की भावना जागृत हो

उठी।

२ इण्डियन नेशनल काग्रेस (Indian National Congress)—इस सस्था की स्थापना श्री ह्यूम नामक एक अग्रेज ने ही सन् १८८५ मे की थी। इसका एकमात्र उद्देश्य सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, मानसिक एव बौद्धिक रूप से समूचे भारतीयो को एक मच पर एक ही उद्देश्य के लिए सुसगठित करना था। किन्तु इस सस्था का कार्य आरम्भ मे भाषण देने तथा कुछ प्रस्ताव पास करने तक ही सीमित रहा। यही देखकर ही स्यात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति एव साहित्यकार को कहना पडा था —

"सर्वस लिए जात अग्रेज, हम केवल लैक्चर के तेज।"

किन्तु बाद मे जब बाल गगाधर तिलक जैसे लोगो का सक्रिय सहयोग भी इस सस्था को प्राप्त होने लगा, तो इसके व्यवहार एव सैद्धान्तिक पक्षो मे आमूल-चूल परिवर्तन हो गया। सन् १९०५ मे जब बगाल का विभाजन हुआ, तब यह सस्था और भी अधिक सतर्क हो गई। इसके द्वारा बगाल-विभाजन के विरुद्ध चलाये गये आन्दोलन ने जन-मानस मे राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की चेतना को अत्य-धिक तीव्रता से प्रबुद्ध कर दिया। अब इसका उद्देश्य भाषण और कुछ प्रस्ताव पास करने तक ही सीमित न रहकर पूर्ण स्वाधीनता-प्राप्ति हो गया। बाद मे महात्मा गाधी जैसे नेताओ के आ जाने से हम सभी जानते हैं कि अनवरत प्रयत्नो के द्वारा इस सस्था ने अपने लक्ष्य की पूर्ति कर ली।

३ ब्रह्म समाज—'इण्डियन एसोसिएशन' और 'इण्डियन नेशनल काग्रेस' जैसी सस्थाएँ जहाँ राजनीतिक चेतना एव सगठन की दिशा मे प्रयत्नशील थी, वहाँ ब्रह्म समाज जैसी कुछ सस्थाओ ने धर्म और समाज के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी जागरण के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे। समाज मे व्याप्त कुरीतियो, अना-चारो एव आडम्बरपूर्ण बाह्याचारो को दूर करने की दिशा मे ऐसी सस्थाओ ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

ब्रह्म समाज की स्थापना राजा राममोहनराय ने की थी। वास्तव मे इस सस्था का उद्देश्य आरम्भ मे क्रान्तिकारी था। इस सस्था ने लडकी पैदा होने पर शोक मनाना और कई स्थितियो मे उसकी हत्या तक कर देना, विधवा-विवाह-

निषेध, सती-प्रथा, वलि-प्रथा तथा इसी प्रकार की अनेक कुरीतियो एव आडम्बरो का खुलकर विरोध किया। सस्थापक राजा राममोहनराय पाश्चात्य सभ्यता-सस्कृति से काफी प्रभावित थे। फिर भी इनका उद्देश्य कुरीतियो को जड से उन्मूलित करना था। इसी कारण इन्होने एक सीमा तक पाश्चात्य शिक्षा एव रीति-नीति का भी समर्थन किया। इन्होने उपरोक्त कुरीतियो को तो दूर करने का प्रयत्न किया ही सही, इनके अतिरिक्त स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, पर्दा-प्रथा का विरोध, अन्तर्जातीय विवाह, सम्पत्ति मे स्त्री का भाग आदि बातो का भी खुलकर समर्थन किया। इनका दृष्टिकोण मानवतावादी अधिक था। इसी कारण आरम्भ मे कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे लोगो का समर्थन भी इस सस्था को प्राप्त होता रहा। किन्तु बाद मे यह सस्था अपने मूल उद्देश्यो से भटककर ईसाईयत के प्रचार का अड्डा मात्र बनकर रह गई। फलत कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे लोगो ने अपना समर्थन वापस ले लिया। यह सस्था भी कुछ लोगो तक सीमित होकर रह गई। प्रारम्भिक स्थिति मे भारतीय जन-जागरण की दृष्टि से निश्चय ही इस सस्था का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

४ आर्यसमाज—इस सस्था के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती एक नव्य आस्थावादी चेतना को लेकर धर्म एव समाज के क्षेत्र मे प्रविष्ट हुए थे। स्वामी दयानन्द एक ओर जहाँ सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्, वैदिक धर्म के सरक्षक और सस्कृति के ध्वज-वाहक थे, वहाँ ये धर्म एव समाज के नाम पर पलने वाले अनेक पाखण्डो एव वाह्याचारो के प्रबलतम विरोधी भी थे। इन्होंने ईसाइयो के प्रचार एव धर्म-परिवर्तन के आन्दोलनो के विरुद्ध शुद्धि-आन्दोलन भी चलाया था। फलस्वरूप लोगो मे स्व-जाति-अभिमान और राष्ट्रीय चेतना का नव्य भाव सहसा अगडाई लेकर जाग उठा। जन-जीवन को सुशिक्षित बनाने की दिशा मे, विशेषत उत्तर भारत मे नारी-शिक्षा के प्रचार-प्रसार मे भी इस सस्था ने विशेष योगदान प्रदान किया। तात्पर्य यह है कि इस सस्था ने सभी प्रकार की रूढियो को तोड़कर न केवल जातीय गौरव, स्वाभिमान एव विशुद्ध नैतिक आस्थाओ को ही जगाया, जन-मानस मे राष्ट्रीयता की भावना भी जाग्रत की और स्वतन्त्रता के आन्दोलनो को, नव्य चेतनाओ को भी निश्चित रूप से बहुमुखी बल प्रदान

किया। हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार मे तो इस सस्था का योगदान विशेप महत्त्व रखता है।

५ रामकृष्ण मिशन—इस मिशन की स्थापना प्रसिद्ध सन्त और वेदान्ती रामकृष्ण परम हस ने की थी। बाद मे इस सस्था को स्वामी विवेकानन्द जैसे व्यावहारिक वेदान्ती और राष्ट्रीय सभ्यता-सस्कृति के अनन्य प्रेमी तथा उन्नायक प्राप्त हुए। इनके प्रयत्नो से निश्चय ही भारतीय जन-मानस सभी दिशाओ मे प्रबुद्ध हुआ और राष्ट्रीय आन्दोलनो को भी अत्यधिक बल मिला।

६ प्रार्थना समाज—महाराष्ट्र मे स्वनामधन्य महादेव गोविन्द रानाडे ने धार्मिक एकता एव सामाजिक जागृति के लिए अनेक सस्थाएँ स्थापित की थी। इनमे से प्रार्थना-समाज सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सस्था है। इसका उद्देश्य धार्मिक सकीर्णताओ का निवारण करके सामाजिक सुधार तथा जन-मानस मे भारतीय सस्कृति एव राष्ट्रीयता के प्रति अनुराग उत्पन्न करना था। महाराष्ट्र की जागृति मे निश्चय ही इस सस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। अन्तर्प्रान्तीय दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नही था।

७ थियोसॉफीकल सोसाइटी—इस सस्था की मूल स्थापना तो अमेरिका मे हुई थी, किन्तु भारतीय समाज मे नव्य जागृति लाने की दृष्टि से इसका महत्त्व निश्चय ही अत्यधिक है। श्रीमती ऐनी बेसैण्ट के इसमे आने से सस्था की उद्देश्य पूर्ति को विशेप बल मिला। भारतीय सभ्यता-सस्कृति के प्राचीन स्रोतो एव दर्शनो के प्रति अगाध अनुराग होते हुए भी इन्होने भारतीय समाज मे आधुनिक चेतनाएँ जगाने की दिशा मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इन्होने भारतीय सस्कृति एव दर्शनो के सम्यग् अध्ययन तथा प्रचार के लिए सर्वप्रथम काशी मे एक सैण्ट्रल हिन्दू स्कूल आरम्भ किया। यही बाद मे पहले कॉलेज और फिर हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप मे विकसित हुआ। सामाजिक चेतनाएँ एव जातीय स्वाभिमान की जागृति की दृष्टि से थियोसॉफीकल सोसाइटी का महत्त्व असन्दिग्ध है।

इन प्रमुख सस्थाओ के अतिरिक्त सनातन धर्म सभा जैसी कुछ अन्य सस्थाओं का नामोल्लेख भी किया जा सकता है, जिन्होने भारतीय जन-जीवन मे आई

हुई परिस्थितिजन्य जडता को दूर कर, अग्रेज़ी शासन की रीति-नीतियो की मूलभावनाओ को समझकर राष्ट्रीय स्वाभिमान को पुन जाग्रत करने की दिशा मे अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। इन सबके प्रयत्नो से चारो ओर नव-बोध एव जागरण की लहर दौड गई। इधर अग्रेजी नीतियो के कारण हमारा परिचय वैज्ञानिक युग एव पाश्चात्य साहित्य से भी हो चुका था। भारतीय साहित्य की अन्य भाषाओ के समान हिन्दी-साहित्य ने भी इन सबके समग्र प्रभाव को ग्रहण किया। फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य का आरम्भ भी आधुनिक प्रभावो के परिवेश मे हुआ। इसी कारण इसे आधुनिक काल की सज्ञा दी गई है।

वास्तव मे प्रत्येक युग का साहित्य अपने सामयिक परिवेश को साथ लेकर ही विनिर्मित होता है। आधुनिक काल की आरम्भिक परिस्थितियो का प्रत्यक्ष एव परोक्ष सभी प्रकार का प्रभाव ग्रहण करके ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे समर्थ, सजग एव राष्ट्रीय-सास्कृतिक चेतनाओ से सम्पन्न व्यक्ति ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का सबल प्रवर्त्तन किया। इनके इस प्रवर्त्तन मे उपरोक्त सभी सस्थाओ एव व्यक्तियो के सम्मिलित प्रभाव के सूक्ष्म कण निस्सन्देह विद्यमान है।

आधुनिक काल प्रमुख प्रवृत्तियाँ

आधुनिक काल का आरम्भ उस समय हुआ था जबकि एक ओर तो रीति-युगीन रगीन प्रवृत्तियो का अन्त हो रहा था और दूसरी ओर उन रगीनियो का फल भारतवासी सन् १८५७ के भयावह जन-संहार एव राजनीतिक पराजय के रूप मे भोग चुके थे। इतना ही नही, इससे भारतीय मानस क्षुब्ध, पददलित और पीडित होकर एक नई अगडाई भी लेने लगा था। अग्रेजी साम्राज्यवाद की नीतियो-रीतियो ने देशवासियो को अपने भविष्य के बारे मे सोचने के लिए एक प्रकार से बाध्य कर दिया था। पाश्चात्य सास्कृतिक प्रभावो और उनके कारण उत्पन्न वैषम्यो ने अपनी सस्कृति के पुनर्मूल्याकन के लिए प्रबुद्ध चेतनाओ को एक प्रकार से बाधित-सा कर दिया था। जीवन के आन्तरिक एव बाह्य सभी प्रकार के मूल्य एव मानदण्ड द्रुतगति से परिवर्तित हो रहे थे। साहित्य उन परिवर्तनो को सूक्ष्मत ग्रहण करके अपने नव्य कलेवर की रचना मे प्रवृत्त हुआ।

पीछे प्रवृत्त्यात्मक दृष्टियो से आधुनिक काल का अन्तर्विभाजन किया जा चुका है। इन चार अन्तर्युगो के आधार पर ही हम आधुनिक काल की प्रवृत्तियो का अध्ययन कर सकते हैं। समग्र प्रभाव की दृष्टि से इन प्रवृत्तियो का अकन इस प्रकार किया जा सकता है —

प्रारम्भिक चरण (भारतेन्दु-युग) से ही आधुनिक काल मे रूप एव विधान की दृष्टि से साहित्य के दो सरचनात्मक रूप दिखाई देने लगे थे। ये रूप थे गद्य एव पद्य के। इससे पूर्व तक तो स्पष्टत काव्य ही रचा जाता था, किन्तु आधुनिक काल मे आकर इसी परिमाण मे, वल्कि इससे भी अधिक गद्य साहित्य का सृजन होने लगा। काव्य के क्षेत्र मे प्रारम्भिक चरण का कवि एक ओर तो प्राचीनता के मोह को अपने हृदय मे छुपाये हुए था, जबकि दूसरी ओर इसके मन मे आधु-निकता के प्रति भी प्रयत्क्ष आकर्षण एव मोह का भाव विद्यमान था। कवियो ने आरम्भ मे जहाँ भक्ति, शृगार, प्रकृति-चित्रण और नीतिवादिता का ध्यान रखा, वहाँ आधुनिक सुधारात्मक विषयो को भी अपनी कविता का विषय बनाया। गद्य मे तो सुधारात्मक प्रवृत्तियाँ ही प्रत्यक्ष एव प्रवल थी। प्रारम्भिक युग मे राजभक्ति की प्रवृत्ति भी दिखाई देती हैं। यही प्रवृत्ति वाद मे परिस्थितियो को देखभाल कर राज से राष्ट्रभक्ति और प्रेम की ओर परिवर्तित हो गई थी। सभी प्रकार के साहित्य मे, चाहे वह भक्ति का साहित्य ही क्यो न हो, प्रारम्भ मे जातीयता का भाव ही है, यह प्रभाव आगे चलकर अनेक आन्दोलनो के फल-स्वरूप समुन्नत देशप्रेम और राष्ट्रीयता की भावना मे विकसित होता गया। गद्य-पद्य दोनो मे धार्मिक पाखण्डो, सामाजिक कुरीतियो पव रीति-नीतियो के प्रति आक्रोश की झलक स्पष्ट है।

उस समय भी आज के समान राष्ट्रभाषा अथवा एक भाषा का प्रश्न लोगो के सामने विद्यमान था। भारतेन्दु-युग मे गद्य और पद्य के क्षेत्र मे दो भाषाएँ चलती रही—कविता के क्षेत्र मे व्रजभाषा और गद्य के क्षेत्र मे खडी बोली हिन्दी। किन्तु आगे चलकर दूसरे चरण या द्विवेदी-युग मे भाषा की समस्या सदा के लिए सुलझा ली गई। गद्य और पद्य दोनो क्षेत्रो मे एकमात्र खडी बोली को साहित्य की भाषा स्वीकार कर लिया गया। भाषा मे व्याकरण की दृष्टि से इस

दूसरे चरण मे अनेक सुधार हुए। कविता के क्षेत्र मे इस दूसरे चरण मे राम-कृष्ण जैसे महापुरुषो के जीवन का पुनर्मूल्याकन आरम्भ हुआ। कविता मे प्राचीन आदर्शों के प्रति मोह का भाव भी वृद्धि पर दृष्टिगत होता है। यह अनेक प्रकार के सुधार आन्दोलनो का युग था, अत इनका प्रभाव अनिवार्यत साहित्य पर पडा, जिस कारण कविता के क्षेत्र मे इतिवृत्तात्मकता आ गई। इधर गद्य के क्षेत्र मे क्रमश विकास हुआ। भारतेन्दु-युग मे ही गद्य के क्षेत्र मे नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदि का श्रीगणेश हो चुका था। इस दूसरे चरण मे आकर नाटक को छोडकर शेष सभी विधाओ को विशेष बल मिला। विकास के नये क्षितिज खुलते हुए दृष्टिगोचर होने लगे। भारतेन्दु जी ने जिस नव्य राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया था, उसको अगले चरण मे आदर्श और सुधार-वादी प्रवृत्तियो से समन्वित कर दिया गया।

तीसरे चरण की प्रवृत्ति विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। ललित साहित्य की सर्जना वास्तव मे इस युग के गद्य एव पद्य दोनो की प्रमुख एव सजग प्रवृत्ति है। काव्य के क्षेत्र मे छायावादी प्रवृत्ति ने विशेष लालित्य एव माधुर्य का सचार किया, जबकि पद्य के क्षेत्र मे भी प्रेमचन्द, शुक्ल जैसे समर्थ लेखको के कारण नव्य प्रवृत्तियो का पूर्ण विकास हुआ। इन सबमे लालित्य का भाव विद्यमान है। प्रसाद ने जहाँ प्रकृति-प्रधान छायावादी चेतना को प्रश्रय दिया, वहाँ प्रेमचन्द जी ने समाजवादी आदर्शो को विकसित किया। शुक्ल जी ने निबन्ध एव समालोचना के क्षेत्रो मे समन्वयवाद की प्राचीनतम भारतीय नीति का सम्यग् प्रदर्शन किया। इस प्रकार यह तीसरा चरण गद्य और पद्य की दृष्टि से वास्तव मे विविध नव्य प्रवृत्तियो का युग है।

अपने चौथे चरण मे पहुँचकर साहित्य ने युगीन प्रवृत्तियो को आत्मसात् करने का विशेष प्रयास किया। देश-विदेश मे चलने वाले प्रगतिवादी आन्दोलनो के प्रभाव को भी ग्रहण किया। इसीके फलस्वरूप साहित्य मे प्रगतिवादी भावनाएँ क्रमशः विकसित होने लगी। मानवतावाद को अधिकाधिक प्रश्रय मिलने लगा। वैज्ञानिक युग होने के कारण यह युग नये-नये प्रयोगो का युग है। व्यवहार-जगत् के विभिन्न क्षेत्रो मे जिस प्रकार नये-नये प्रयोग चल रहे है, उसी

प्रकार के प्रयोग साहित्य के क्षेत्र मे भी अबाध गति से चल रहे हैं। आज का जीवन राजनैतिक, आर्थिक एव वैज्ञानिक उपलब्धियो के कारण वास्तव मे अधिकाधिक जटिलताओ का शिकार होता जा रहा है। इन जटिलताओ से मुक्ति पाने हेतु मानवात्मा छटपटा रही है। इसी छटपटाहट के विभिन्न रूप हमे प्रयोगवादी अथवा प्रतीकात्मक साहित्य मे दिखाई दे रहे हैं। वास्तव मे आज के इस प्रयोगात्मक युग को जिस प्रकार किसी एक प्रवृत्ति विशेष के साथ नत्थी नही किया जा सकता, उसी प्रकार साहित्य को भी किसी प्रवृत्ति की परिधि मे परिवेशित नही किया जा सकता। आज जीवन के समान साहित्य की प्रवृत्ति भी उन्मुक्त है। प्राचीनता का निर्मोक यहाँ प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

परिवर्तन जीवन का स्वाभाविक नियम है और साहित्य जीवन का ही लेखा-जोखा है। अत साहित्य को जीवन के समान ही किसी एक कोण से देख पाना सम्भव नही है। आज तो जीवन के समान ही साहित्य मे भी प्रत्येक दिशा मे विद्रोही स्वर मुखरित होते सुने जा सकते है। किन्तु चेतना का यह मूल द्वन्द्व एव मानवतावादी चीत्कार, जिसे लेकर आधुनिक काल का आरम्भ हुआ था—वह समाप्त नही हुआ है। हाँ, उसका रूप अवश्य बदलता रहा है और आज भी बदल रहा है। आज वास्तव मे उसमे अधिक प्रखरता आ गई है। इतना निश्चित है कि कल से अलग करके आज को भी नही देखा जा सकता।

आधुनिक काल अन्तर्युग परिचय

१ प्रथम चरण (भारतेन्दु-युग)

आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रथम चरण भारतेन्दु-युग कहलाता है। इस युग की कालावधि सन् १८७० से १९०३ या १९०५ तक मानी जाती है। इस युग की समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियो का नेतृत्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया, अत इस प्रथम चरण का नामकरण भारतेन्दु-युग किया गया। इस युग के समस्त साहित्यकार प्राचीन काव्य-परम्पराओ का उचित निर्वाह करते हुए भी आधुनिकता के क्षेत्र मे गतिशील रहे। शृगार, प्रकृति-चित्रण और धार्मिकता का आश्रय लीलावर्णन आदि के रूप मे जहाँ प्राचीनता का द्योतक है, वहाँ समाज-

सुधार और राजनीतिक विषयो का समावेश पूर्णतया आधुनिक है। नये और पुराने विषयो की यह गगा यहाँ समानान्तर पर निरन्तर प्रवाहित होती रही। इन्ही समानान्तर प्रवृत्तियो के कारण कुछ समालोचको ने भारतेन्दु-युग को सन्धि या सक्रान्ति-काल भी कहा है। चाहे यह सन्धि-काल हो या सक्रान्ति काल, नव्य चेतनाओ का आरम्भ एव क्रमश विकास यही से आरम्भ हुआ, इस बात मे तनिक भी सन्देह नही है।

भारतेन्दु-युग की प्रधान चेतना दो बातो मे देखी जा सकती है। एक तो यह कि इस युग मे नव्य राष्ट्रीय आन्दोलनो का सशक्त समारम्भ हुआ और दूसरी यह कि नव्य भारत मे सुधार-आन्दोलनो का सूत्रपात भी यही से हुआ। इसी कारण इस युग के साहित्य मे जन-जीवन और मानस की झाँकी स्पष्टत देखी जा सकती है। रीतिकालीन प्रवृत्तियो के कारण जन-सामान्य और साहित्य मे जो एक विच्छेद-सा आ गया था, उसमे पुन सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करने के कारण इस युग का बहुत अधिक महत्त्व है। इनके वर्ण्य विषय थे—अकाल, महामारी, राजनीतिक विषय, आर्थिक शोषण, समाज और शिक्षा आदि के क्षेत्र मे व्याप्त भ्रष्टाचार का भण्डा फोडना कुप्रथाओ का खण्डन, देशप्रेम धार्मिक रूढियो और अन्धविश्वासो का खण्डन, विधवाओ की दुर्दशा, बाल-विवाह का विरोध। ये सभी विषय सामाजिक थे, अत इस युग मे समाज का सशक्त चित्रण हुआ है।

भारतेन्दु जी स्वय तथा इनकी मण्डली के समस्त कवि और साहित्यकार परम्परागत मर्यादाओ एव उच्च परम्पराओ की रक्षा करने के साथ-साथ नव्य चेतनाओ के भी कुशल चितेरे थे। इनकी कविताओ मे भक्ति, शृगार और राष्ट्रीयता की सरस त्रिवेणी सतत प्रवाहित दिखाई देती है। भक्ति सम्बन्धी काव्यो मे इस युग के कवि वर्णन-शैली की दृष्टि से अपने-आपको परम्परागत साँचे से अलग नही कर सके। काव्य का रूप-विधान प्राय प्राचीन ही है। दैन्य-दासता का भाव भी प्रायः वही परम्परागत ही है। हाँ, एक नव्यता एव व्यापकता अवश्य दिखाई देती है कि ये लोग भगवान से अपनी रक्षा करने की प्रार्थना करते हुए भी अपने राष्ट्र एव जाति के उद्धार के भाव को भुला नही पाते। भारतेन्दु जी के शब्दो मे—

"डूबत भारत नाथ, वेगि जागो अब जागो।"

इस दृष्टि से इनकी भक्ति-भावना भी राष्ट्रीयता से संयत हो जाती है। जहाँ विशुद्ध राष्ट्रीयता का भाव है, वह तो महत्त्वपूर्ण है ही सही। इसी प्रकार इन्हें शृंगारिक चेतना भी रीतिकाल से विरासत रूप में प्राप्त हुई थी। पर यहाँ भी मौलिक अन्तर यह है कि भारतेन्दु-युग के कवियों की शृंगारिता में वासना, मांसलता और स्थूल विलासिता की भावना नहीं, अपितु शृंगार के विशुद्ध कवित्वमय स्वरूप के दर्शन होते हैं। तात्पर्य यह है कि रीतिकालीन शृंगार-वर्णन में जिन बोझिल अश्लीलताओं का समावेश हो गया था, भारतेन्दु-युग की कविता में उनका सर्वथा परिहार हो गया। यहाँ का शृंगार-वर्णन पूर्णतया श्लील और कलात्मक है।

यह भी एक तथ्य है कि आरम्भ में इस युग की कविता पर राजभक्ति का प्रभाव रहा, किन्तु धीरे-धीरे वही भावना परिपक्व राष्ट्रभक्ति में परिवर्तित हो गई। इन दोनों पहलुओं के दर्शन हमें भारतेन्दु जी के एक ही पद्य में होते हैं,

"अँगरेज-राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जाति, यहै अति ख्वारी॥"

इस दोषारोपण का प्रभाव इस स्थिति को समझ लेने के साथ ही समाप्त हो जाना चाहिए कि उस युग में देशभक्ति और राजभक्ति दोनों ही व्यावहारिक राजनीति का अंग मात्र थीं। किन्तु बाद में जागरूकता एवं बौद्धिक विकास के साथ-साथ स्पष्टतः देशभक्ति के मार्ग पृथक्-पृथक् हो गये। पृथक् हो जाने पर ही वास्तव में इस युग के देशभक्तिपूर्ण स्वरों में सच्ची ओजस्विता का संचार हो सका।

भारतेन्दु-युग में दो भाषाएँ साथ-साथ चलती रहीं। काव्य के लिए तो ब्रज भाषा को ही उपयुक्त समझा जाता रहा, जब कि गद्य के लिए खड़ीबोली को स्वीकार कर लिया गया। वैसे तो स्वयं भारतेन्दु जी ने और कुछ कुछ इनके अन्य समकालीन कवियों ने भी खड़ीबोली में काव्य रचने का प्रयास किया, किन्तु तुकबन्दी से अधिक इसका कुछ महत्त्व नहीं है। वास्तविक महत्त्व ब्रजभाषा की कविता में ही अंकित किया जा सकता है। हाँ, कविता की भाषा में किसी भी प्रकार की दुरूहता नहीं, तुकबन्दी के लिए इसे तोड़ा-मरोड़ा भी नहीं

गया है। इसी प्रकार खड़ीबोली में रचे गये गद्य साहित्य ने भी सामान्यतया सरल जन भाषा का ही प्रयोग किया गया है। परन्तु कहीं-कहीं तत्सम शब्दों से बोझिल भाषा भी देखी जा सकती है। भारतेन्दु जी का भाषा-सम्बन्धी स्पष्ट मत था

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा उन्नति मिटै न हिय को सूल ।।"

अतः इन्होंने वही कुछ किया, जिससे अपनी भाषा की उन्नति हो और हिय को सूल मिट सके। प्रायः मुक्तक काव्य ही इस काल-खण्ड में रचे गये। छन्दों की दृष्टि से एक ओर जहाँ परम्परागत छन्दों का प्रयोग किया गया, दूसरी ओर आधुनिक साहसिक प्रयोग भी किये गये। कुछ नये छन्दों के नाम हैं—बिरहा, कजरी, मलार, रेखता, कहरवा, चैती, होली, ठुमरी, गजल और साँझी आदि।

काव्य के साथ-साथ गद्य साहित्य के विकास को इस युग की महत्त्वपूर्ण घटना माना जाता है। भारतेन्दु जी से पूर्व गद्य के क्षेत्र में राजा शिवप्रसादसिंह और राजा लक्ष्मणसिंह नामक दो राजाओं का लम्बा विवाद चल चुका था। किन्तु भारतेन्दु जी ने इन दोनों के मध्य का मार्ग अपनाकर ही गद्य साहित्य के विकास की दिशा को प्रशस्त किया। खड़ीबोली के माध्यम से पत्रकारिता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, समालोचना आदि विभिन्न गद्य-विधाओं का प्रवर्त्तन एवं विकास इसी अन्तर्युग में हुआ। गद्य में विषयों का वैविध्य है, शैली में व्यंग्य, विनोद, हास्य के साथ-साथ प्रभावित करने की क्षमता पूर्णरूप से विद्यमान है। वास्तव में भारतेन्दु-युग में समग्र साहित्यिक चेतनाओं को परम्परागत सामन्ती शिकंजों से मुक्त करवाकर इन्हें जनता के मध्य प्रतिष्ठापित किया गया। यह इस युग की एक बहुत बड़ी देन और सफलता है। जीवन में नित्य-प्रति आने वाले परिवर्तनों की स्पष्ट झाँकियों के साथ-साथ स्वाभाविक मस्ती की तरलता भी यहाँ उपलब्ध है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युग का प्रथम चरण अनेक नव्य सरणियों को प्रवाहित करने की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतेन्दु जी का समग्र व्यक्तित्व समूची युग-चेतना पर आद्यन्त छाया रहा। इन्हें प्रेरणा-स्रोत मानकर या इनसे अनुप्राणित होकर अनेक कवि एवं गद्यकार साहित्य की श्रीवृद्धि करते

है। इसी कारण भारतेन्दु जी को आधुनिक काल का जनक कहा जाता है। नकी एकाकी चेतना ही वास्तव मे समग्र युग की चेतना की प्रतिध्वनि एव तिविम्व है।

कवि-परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—रीतिकालीन साहित्य की शृगार-विलास-प्रधान प्रवृत्तियो ने वास्तव मे साहित्य और समाज की दिशाएँ परस्पर भिन्न कर दी थी। इनमे समग्रत गत्यवरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। उसके वाद भारतीय जन-मानस की शृगार-रत चेतना को एक झटका देकर पुन जाग्रत करने वाली एक युगान्तरकारी प्रतिभा ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे जन्म लिया। इसी प्रतिभा का नाम था—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

भारतेन्दु जी का जन्म सन् १८५० मे काशी के एक समृद्ध एव प्रसिद्ध वैश्य-परिवार मे हुआ था। इनके पिता का नाम गोपालचन्द्र था, जो 'गिरिधरदास' उपनाम से कविता रचा करते थे। उन्होंने 'नहुप' नामक नाटक भी रचा था। पिता कृष्ण के अनन्य भक्त थे। अत कहा जा सकता है कि इन्हे कृष्णभक्ति, कविता और नाटको को रचने की प्रतिभा पिता से विरासत के रूप मे ही प्राप्त हुई। इनकी शिक्षा-दीक्षा घरेलू साहित्यिक वातावरण मे ही हुई थी, अत. कविता का स्फुरण शैशव के सुकुमार क्षणो से ही भारतेन्दु जी के मन-मस्तिष्क मे होने लगा था। यह भी प्रसिद्ध है कि इन्होने केवल पांच वर्ष की आयु मे ही अग्रलिखित दोहा लिखकर सभी को चकित कर दिया था —

"लै व्योढा ठाडे भए, श्री अनिरुद्ध सुजान।
वानासुर की सैन्य को हनन लगे वलवान।।"

इन्होंने व्रजभापा, खडीवोली हिन्दी, उर्दू, सस्कृत और वगला आदि भापाओ का गहन अध्ययन किया था। नौ वर्ष की अवस्था मे ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया था। पिता के स्वर्गवास के वाद यह लाखो की सम्पत्ति के अधिकारी वने और वह सव सम्पत्ति इन्होने हिन्दी भापा और साहित्य की उन्नति मे ही लगा दी। इनके मन मे प्राकृतिक स्थानो के भ्रमण के प्रति शैशव से ही उत्साह था।

अत यह केवल १५ वर्ष की आयु मे सपरिवार जगन्नाथपुरी की यात्रा पर निकले। इसी यात्रा के दौरान यह बगला भाषा और उसके साहित्य के सम्पर्क मे आये। इसका स्पष्ट प्रभाव इनकी साहित्यिक रचनाओ मे देखा जा सकता है। भारतेन्दु जी स्वभाव से तत्कालीन रईसो के समान कुछ रगीन, स्वच्छन्दतावादी, दानी एव परोपकारी थे। स्वय तो साहित्य-साधना मे रत हो ही गये, अनेक नव-युवक प्रतिभाओ को भी इन्होने सब प्रकार की सहायता प्रदान करके साहित्य-साधना के क्षेत्र मे निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व होकर निरत रहने की प्रेरणा प्रदान की। इस महान् प्रतिभा का निधन सन् १८८५ मे अत्यल्प अवस्था मे ही हो गया। इनके निधन के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रगट करते हुए डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा है—" · १८५७ के अनन्तर राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम प्रवर्त्तक नेता भारतेन्दु थे। यह देश का दुर्भाग्य था कि उनका देहान्त ३४ वर्ष की अल्प अवस्था मे ही हो गया था। यदि वे कुछ वर्ष भी और जीवित रहते तो काग्रेस का आरम्भिक स्वरूप कुछ और ही होता।" निश्चय ही भारतेन्दु जी का अल्पायु मे स्वर्गवास केवल हिन्दी-साहित्य के लिए ही नही, सारे देश के लिए दुर्भाग्यपूर्ण रहा।

भारतेन्दु जी अभी केवल सात वर्ष के ही थे कि सारे देश मे सन् १८५७ की जन-क्रान्ति का व्यापक दौर चला। किन्तु यह कम आश्चर्य की बात नही कि भारतेन्दु जैसा सजग एव सतर्क साहित्यकार उसके प्रति सर्वथा उदासीन रहा। इसका कारण कुछ भी रहा हो, किन्तु बाद मे इसकी प्रतिक्रिया इनके काव्य मे परोक्ष रूप से अवश्य देखी जा सकती है।

भारतेन्दु जी कविता के क्षेत्र मे सम्प्रदाय की दृष्टि से कृष्णभक्तों मे गिने जा सकते हैं। इनकी साधना-पद्धति सूरदास के समान मुख्यतया सख्य-भाव पर ही आधारित है। कही-कही इसमे दीनता का भाव-बोध भी मिलता है। यह भी सूरदास की विनय-पत्रिका या विनय के पदो के समान है। कही-कही तो सूरदास की पंक्तियो तक का भावानुवाद इनकी कविता मे देखने को मिलता है। इनके भक्ति-सम्बन्धी पदो मे एक सर्वाधिक एव सबसे पृथक् मौलिकता यह है कि कृष्ण की लीलाओ का वर्णन करते समय, या आत्मोद्धार की प्रार्थना करते समय भी

यह जाति एव राष्ट्र-रक्षा के प्रश्न को भुला नही पाते। वहाँ इनमे जाति एव राष्ट्र-रक्षा के लिए विनय करने लगते हैं। अत इनका कृष्ण सूरदास के कृष्ण के समान केवल लीला-विहारी ही नही है, बल्कि वह धर्म, जाति और राष्ट्र का रक्षक भी है। इनकी भक्ति-भावना भी राष्ट्रीयता के भाव मे सयत है। इन्होने शृगार-वर्णनो मे भी अपनी लेखनी एव कल्पना को अत्यधिक सयत रखा है। शृगार का विशुद्ध रसत्व या रसराजत्व ही वहाँ रूपायित हुआ है, मासल शृगारिकता यहाँ नही मिलती।

भक्ति और शृगार के समान भारतेन्दु जी की कविता का सामाजिक पक्ष भी अत्यधिक सयत और व्यापक है। इन्होने सामाजिक रूढियो, अन्धविश्वासो एव कुरीतियो पर व्यापक प्रहार किये हैं। इन्होने समाज-सुधार की प्रेरणा से बाल-विवाह-विरोध, विधवा-विवाह-समर्थन, स्त्री-शिक्षा-प्रचार आदि महत्त्वपूर्ण विचारो का प्रचार-प्रसार किया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इनकी कविता के विषय थे—भक्ति, प्रेम, शृगार, समाज-सुधार, देशभक्ति, प्रकृति-प्रेम, अतीत भारत के गौरव का गान और वर्तमान रूढियो के प्रति खुल्लमखुल्ला विद्रोह। इनकी प्रमुख काव्य-रचनाओ के नाम हैं—प्रेम-माधुरी, प्रेम-फुलवारी, प्रबोधिनी, प्रेम-मालिका, सतसई शृगार और कृष्ण चरित।

काव्य के क्षेत्र मे तो भारतेन्दु जी ने युग-प्रवर्त्तन किया ही, नाटककार के रूप मे भी इनका व्यक्तित्व वास्तव मे क्रान्तिकारी एव युगान्तरकारी ही प्रमाणित हुआ। आधुनिक हिन्दी नाटक के वे जनक एव सूत्रधार ही है। सस्कृत काल की समाप्ति के साथ-साथ नाट्य-साहित्य का प्राय अभाव हो गया था। हिन्दी के विगत तीन कालो मे भी नाटको का प्राय सर्वथा अभाव ही रहा। इस अभाव की पूर्ति सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ने ही की। इन्होने कुल १८ नाटक रचे थे, जिनमे मौलिक एव अनूदित दोनो प्रकार की रचनाएँ विद्यमान है। इनके मौलिक नाटक है—चन्द्रावली, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अन्धेर नगरी, वैदिकी हिसा हिसा न भवति, विषस्य विषमौषधम् और अपूर्ण नाटक सती प्रताप और प्रेमयोगिनी। इनके अनूदित नाटक है—मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र, धनजय विजय, विद्यासुन्दर, भारत जननी, कर्पूर मजरी, पाखड विडम्बना, दुर्लभ बन्धु तथा रत्नावली।

इनमे से कुछ तो पूर्ण अनुवाद है और कुछ मात्र भावानुवाद। पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के विषय इनमे आ जाते हैं। कथानक चाहे किसी भी युग से सम्बन्धित क्यो न हो, उद्देश्य सभी जगह समाज-सुधार एव रूढियो का विरोध कर सत्य की स्थापना ही है। इन्होने 'नाटक' नाम से एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखकर नाटको के व्यापक महत्त्व और नाट्य-कला पर भी सूक्ष्म प्रकाश डाला था। आरम्भ मे इनके नाटक सस्कृत की परपरा के अधिक निकट प्रतीत होते है, किन्तु बाद मे स्पष्टत इनमे एक विभाजक रेखा खिचती जाती है अर्थात् इनमे आधुनिक नाटकीय तत्त्वो का समावेश होता हुआ प्रतीत होने लगता है। इनके नाटको मे गद्य-पद्य का समन्वित रूप देखा जा सकता है।

कवि और नाटककार के समान पत्रकार के रूप मे भी भारतेन्दु जी का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रखर एव सजीव है। इन्होने 'कवि वचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (बाद मे 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका') नामक पत्रो का कुशलता से प्रकाशन-सम्पादन किया। इनमे कविता के साथ-साथ सामयिक विषयो पर सशक्त लेखादि भी प्रकाशित हुआ करते थे। भारतेन्दु जी ने अपने निबन्ध प्राय इन्ही पत्र-पत्रिकाओ मे ही प्रकाशित किये थे। इनकी गद्यात्मक प्रवृत्तियो के अध्ययन का सशक्त माध्यम ये पत्रिकाएँ ही हैं। हिन्दी गद्य के निर्माण एव विकास मे इन पत्रिकाओ का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है।

पत्रकारिता के साथ-साथ भारतेन्दु जी ने कुछ इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ भी रची थी। इनमे 'काश्मीर कुसुम' और 'बादशाह दर्पण' आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होने 'हमीर हठ' और 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' नाम से दो उपन्यास रचने भी आरम्भ किये थे, जो पूर्ण न हो सके। 'पूर्ण प्रभा और चन्द्र प्रकाश' नाम से मराठी के एक उपन्यास का अनुवाद भी इन्होने प्रस्तुत किया था। कुछ लोग इसे भारतेन्दु जी का मौलिक उपन्यास भी मानते है, पर वास्तव मे यह भावानुवाद मात्र ही है। इसी प्रकार बगला के कुछ उपन्यासो के अनुवाद भी इन्होने किये थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी ने अपने युग की किसी भी साहित्यिक विधा को अपनी प्रतिभा के सस्पर्श से अछूता नही रहने दिया। इनका

प्रभावशाली व्यक्तित्व समग्र विधाओ पर पूर्णत छाया रहा।

भारतेन्दु जी के स्वरचित एव अनूदित ग्रन्थो की सख्या १७५ तक मानी जाती है। इतनी विशाल मात्रा मे साहित्य-सर्जना करने के साथ-साथ इन्होंने सब प्रकार से सहायता एव प्रेरणा प्रदान करके लेखको की एक सशक्त मण्डली भी तैयार की। इस मण्डली के सशक्त एव सर्वाङ्गीण लेखक थे—पण्डित प्रताप-नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और लाला श्री-निवासदास आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी के प्रयत्नो से आधुनिक हिन्दी साहित्य की समस्त विधाओ के विकास के लिए एक व्यापक पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी। भारतेन्दु और इनकी मण्डली नीव का वह सुदृढ आधार एव पत्थर है, जिस पर आज तक हिन्दी साहित्य का विशालतम भवन एक के बाद एक मजिल के रूप मे लगातार विनिर्मित हो रहा है। अत प्रथम चरण का नाम 'भारतेन्दु-युग' उचित एव सर्वाशत सार्थक है।

प्रतापनारायण मिश्र—'भारतेन्दु-मण्डल' के लेखको मे प्रतापनारायण मिश्र अपने मनमौजीपन और मस्ती के कारण विशेष प्रसिद्ध है। इनका जन्म उन्नाव जिले मे स्थित बैजे नामक गाँव मे सन् १८५६ मे हुआ था। इनके पिता का नाम पण्डित सकटप्रसाद था। मिश्र जी उर्दू, सस्कृत और फारसी के अच्छे विद्वान् थे। अग्रेजी भाषा एव उसके साहित्य से भी सामान्यतया परिचित थे। मनमौजी होने के कारण स्कूलो की प्रतिबन्धित शिक्षा इनकी रुचि के अनुकूल न थी, अत शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था घर पर ही हुई थी। इनके स्वभाव का मनमौजीपन सभी प्रकार के साहित्य मे सर्वत्र देखा जा सकता है।

इनका कवि के रूप मे विशेष महत्त्व नही है। कवि के रूप मे यह समस्या-पूर्ति तक ही सीमित रहे। इन्हे लावनी छन्द विशेष प्रिय था, जिसे गाकर यह स्वय तो रम लिया ही करते थे, रसिक मण्डलियो को भी विभोर कर दिया करते थे। इनके साहित्यिक व्यक्तित्व के दर्शन हमे विशेषत इनके निबधो मे ही होते हैं। इन्होने 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका का सम्पादन करते समय अनेक प्रकार के मौलिक निबन्ध रचे। सरलता और विनोदप्रियता इनके स्वभाव के समान इनके निबधो का भी विशेष एव प्रमुख गुण है। अपने इन्ही गुणो के कारण निबधो मे

यह कठिन एवं गम्भीर विषयों को भी सरल मनोरंजकता से प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता रखते थे। इनके निबंधों के शीर्षक भी बड़े रोचक हैं। जैसे—बात, दाँत, भौं, आप, मरे को मारे शाह मदार, घूरे का लत्ता बिने आदि। इन विषयों एवं इनके प्रतिपादन को निहारकर इनके व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक इनमें मिल जाती है। 'शैली ही व्यक्तित्व है' (Style is the man) कहावत वास्तव में इनके निबन्धों पर पूर्णतया चरितार्थ होती है।

'ब्राह्मण' पत्रिका के अतिरिक्त यह 'हिन्दुस्तान' नामक पत्रिका का भी सम्पादन करते रहे थे। इनका इस दिशा में योगदान विशेष महत्त्व रखता है। इनके निबन्धों के विषय समाज-सुधार से ही सम्बन्धित हैं। निबंध चाहे 'दाँत' विषय को लेकर लिख रहे हों और चाहे 'वृद्ध' विषय पर, घुमा-फिराकर यह समाज-सुधार की मूलभूत भावना पर पहुँच जाते थे। इन्होंने सामाजिक कुरीतियों एवं अन्ध रूढ़ियों के निवारण के साथ-साथ देशभक्ति और राष्ट्रप्रेम को भी अपने निबन्धों का विषय बनाया। इनके द्वारा रचे गये इतिहास, भूगोल और व्यवहार-नीतियों पर भी लेख मिलते हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने चार बंगाली उपन्यासों एवं कुछ संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये थे। नाटककार के रूप में भी मिश्र जी एक अलग व्यक्तित्व रखते हैं। इनके प्रसिद्ध नाटकों के नाम हैं—गौ संकट नाटक, कवि कौतुक रूपक, हठी हमीर, भारत दुर्दशा, कलि प्रभाव नाटक इत्यादि। इन्होंने लावनी छन्दों के आधार पर 'संगीत शाकुन्तल' नाटक भी लिखा था। इस प्रकार पण्डित प्रतापनारायण मिश्र का व्यक्तित्व भी भारतेन्दु जी के समान ही बहुमुखी था।

इनकी भाषा प्रवाहमयी, मुहावरेदार एवं मनमौजी व्यक्तित्व से परिपूर्ण है। क्या विषय, क्या भाषा और क्या शैली, व्यंग्य-विनोद की चाशनी सब जगह विद्यमान है। यद्यपि यह अपने-आप को भारतेन्दु जी का शिष्य मानते थे, किन्तु वर्णन-शैली की दृष्टि से इनका व्यक्तित्व सर्वथा निजी है।

पण्डित बालकृष्ण भट्ट—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य के क्षेत्र में जिन विविध शैलियों का प्रवर्तन किया था, उनका सर्वाधिक विकसित रूप इनके मण्डल के लेखकों में यदि कहीं दिखाई देता है तो पण्डित बालकृष्ण भट्ट की रचनाओं में

ही दीख पडता है। इनका जन्म ३ जून, सन् १८४४ मे हुआ था। इनके पिता का नाम वेणीप्रसाद था। भट्ट जी शैशव के सुकुमार क्षणो मे ही अपने ननिहाल मे रहने लगे थे। इन्होने वही रहकर हिन्दी, अग्रेजी और सस्कृत भाषाओ का गहन अध्ययन किया। शिक्षा-समाप्ति के बाद पहले प्रयाग के जमुना मिशन-स्कूल मे और तत्पश्चात् कायस्थ पाठशाला मे अध्यापन कार्य करते रहे। भारतेन्दु जी के सम्पर्क मे आकर, इनकी प्रेरणा से ही इन्होने हिन्दी साहित्य-साधना के क्षेत्र मे प्रवेश किया। 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्रिका का सम्पादन-कार्य निरन्तर ३२ वर्षो तक करते रहे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित 'हिन्दी शब्द सागर' के सम्पादन मे भट्ट जी डॉ० श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वानो के साथ कार्य करते रहे। इस प्रकार इन्होने अनेक प्रकार से हिन्दी साहित्य को विकसित एव समृद्ध करने की दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनका २० जुलाई, सन् १९१४ मे सत्तर वर्ष की अवस्था भोगकर स्वर्गवास हुआ।

भट्ट जी ने सैकडो निवन्ध, छोटे-वडे वीस नाटक, अनेक उपन्यास और थोडी-वहुत कविताएं भी रची। इन्होने निवन्धो मे आँख, कान, आँसू जैसे सामान्य विषयो को लेकर वडे ही सुन्दर, सजीव निवन्ध रचे। इनकी गिनती भारतेन्दु-युग के श्रेष्ठ निवन्धकारो मे की जाती है। इनके निवन्धो की भाषा-शैली मे इनके व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है। वास्तव मे ये एक विशिष्ट शैली-कार हैं। इनके निबन्धो मे जिन्दादिली और व्यग्य-विनोद की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। घुमा-फिराकर इनके वर्ण्य विषय भी समाज-सुधार की भावनाओ से सम्वन्धित रहे। कही-कही हमे विशुद्ध ललित निवन्धो के भी दर्शन होते हैं। निवन्धो के अतिरिक्त नाटककार और उपन्यासकार के रूप मे भी इन्हें यथेष्ट सम्मान मिला। रेल का विकट खेल, वाल-विवाह नाटक, कलिराज की सभा और चन्द्रसेन इनके प्रसिद्ध नाटक है। 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' नामक इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इन्होने 'शर्मिष्ठा' और 'पद्मावती' नामक वगला नाटको का अनुवाद भी किया। आलोचक के रूप मे भी इनकी कम ख्याति नही। लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'सयोगिता स्वयवर' की अपने पत्र 'हिन्दी प्रदीप' मे सुविस्तृत एव सारगर्भित आलोचना प्रस्तुत करके इस दिशा

मे भी इन्होने भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित विधा को आगे बढाया। इस प्रकार भारतेन्दु-मण्डल के लेखको मे इनका स्थान और महत्त्व और भी अधिक बढ जाता है।

इनकी भाषा-शैली सरल, स्पष्ट एव प्रभावयुक्त है। इन्होने भाषा मे आवश्यकतानुसार उर्दू, फारसी के शब्दो के साथ-साथ अग्रेजी शब्दो का प्रयोग भी किया है। भाषा मे खरापन है और मुहावरे-लोकोक्तियो का प्रयोग भी पर्याप्त मिलता है। इनकी शैली सभी जगह स्पष्ट है। उसमे किसी भी प्रकार का दुराव या दुरूहता नही है। कवि से अधिक भारतेन्दु-युग के गद्यकार के रूप मे ही इनका सम्मान है।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—'प्रेमघन' जी भारतेन्दु-मण्डल के एक प्रमुख स्तभ थे। इनका जन्म सन् १८५५ मे मिर्जापुर के एक सम्मानित परिवार मे हुआ था। इनकी प्रकृति एव प्रवृत्ति मे भारतेन्दु के समान ही रईसी ठाठ-बाट विद्यमान था। हिन्दी भाषा के साथ-साथ यह फारसी, अग्रेजी और सस्कृत भाषाओ के भी सम्यग् ज्ञाता थे। यह प्राय• स्वान्त सुखाय ही साहित्य-सर्जना मे प्रवृत्त हुए थे।

इनकी कविता मे भी विशेष रुचि थी। इन्हे कजली लिखने का विशेष चाव था। इन्होने इस क्षेत्र मे काफी सफलता भी प्राप्त की थी। 'कजली-कादम्बिनी' नाम से इनका कजली-सग्रह प्रकाशित हुआ था। इनके द्वारा विरचित 'जीर्ण जनपद' नामक एक प्रबन्ध काव्य भी माना जाता है। इनकी अन्य प्रसिद्ध काव्य-रचनाएँ हैं—शुभ सम्मिलन काव्य, वर्षा बिन्दु गान, हार्दिक हर्षादर्श काव्य और सगीत सुधाकर।

इन्होने कवि के साथ-साथ सम्पादक-रूप मे हिन्दी साहित्य के विकास मे विशेष योगदान किया था। इन्होने 'नागरी नीरद' तथा 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिकाओ का प्रकाशन एव सम्पादन सफलतापूर्वक किया। इनके अनेक निबन्ध भी प्रकाशित हुए। यह कई नाटको के भी रचयिता हैं। कुछ नाटको के नाम हैं—भारत सौभाग्य, वीरागना रहस्य, वृद्ध-विलाप और प्रयाग-रामागमन। इनमे नाटककार ने सामयिक समस्याओ को उभारने का सफल प्रयास किया है।

इनकी भाषा-शैली समान्यतया कठिन मानी जाती है। कारण कि भाषा-

शैली के अलकरण की प्रवृत्ति विशेष रूप मे विद्यमान है। अपनी रचनाओ का यह बार-बार सशोधन एव परिमार्जन भी किया करते थे। वास्तव मे ये चमत्कार-वादी थे। फिर भी भाषा-शैली मे प्रौढता एव स्पष्टता अवश्य है। आलोचक के रूप मे भी 'प्रेमघन' का यथेष्ट मान हुआ, क्योकि इन्होने भी लाला श्रीनिवासदास के 'सयोगिता स्वयवर' पर आलोचना लिखकर रचनाओ के गुण-दोष निरीक्षण की प्रवृत्ति की नीव रखी थी। इस प्रकार कविता, पत्रकारिता, नाटक रचना और आलोचना के क्षेत्र मे कार्य करके 'प्रेमघन' ने भारतेन्दु-मडल की सर्वांगीण प्रवृत्तियो का भली भाँति निर्वाह किया। इनका सन् १९२२ मे स्वर्गवास हुआ।

लाला श्रीनिवासदास—इनका जन्म सन् १८५१ मे दिल्ली मे हुआ था। वहीं पर रहकर ही इन्होने शिक्षा-दीक्षा, कार्य-व्यवसाय एव साहित्य-साधना की थी। इनका निधन सन् १८८७ मे माना जाता है।

लाला श्रीनिवासदास की प्रसिद्धि के प्रतीक प्रमुख दो ग्रन्थ माने जाते हैं। एक तो 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास, जिसे प्राय सभी आलोचक हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास स्वीकार करते हैं। दूसरा ग्रन्थ है 'सयोगिता स्वयवर' नामक नाटक जिसकी उस युग मे काफी आलोचना-प्रत्यालोचना हुई थी। तत्कालीन लेखको मे से प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और बालकृष्ण भट्ट ने भी 'सयोगिता स्वयवर' की अपने-अपने ढग से आलोचनाएँ प्रस्तुत की थी। 'सयो-गिता स्वयवर' के अतिरिक्त इन्होने तप्तासवरण, रणधीर और प्रेममोहिनी तथा प्रह्लाद-चरित्र नामक तीन और नाटक भी रचे थे। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' के माध्यम से यह उपन्यास के समान पश्चात्य नाट्य-कला का समावेश करने के भी अधिकारी माने जाते हैं। इस सबध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत विशेष उल्लेखनीय है —

"यह स्पष्ट जान पडता है कि यह नाटक उन्होने अग्रेजी नाटको के ढग पर लिखा था। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाम ही 'रोमियो एण्ड जूलियट' की ओर ध्यान ले जाता है। कथावस्तु भी इसकी सामान्य प्रथानुसार पौराणिक या ऐतिहासिक न होकर कल्पित है। पर यह वस्तुकल्पना मध्ययुग के राजकुमार-राकुमारियो के क्षेत्र के भीतर ही हुई है।"

कुछ आधुनिक समीक्षक इनकी इस रचना को हिन्दी का प्रथम दुखान्त नाटक भी मानते हैं। अंग्रेजी के ढंग की यह प्रक्रिया इनके प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में भी स्पष्ट देखी जा सकती है। कुछ भी हो, इनका उद्देश्य भी सामाजिक चेतनाओं का परिष्कार और सुधार ही था। मूलतः यह आदर्शवादी ही थे।

इनकी भाषा-शैली सरल एवं स्पष्ट है। इनका उपदेशक का रूप भी कहीं-कहीं स्पष्ट झलकने लगता है। दिल्ली निवासी होने के कारण भाषा पर पश्चिमी-पन का प्रभाव स्पष्ट है। हिन्दी नाटक एवं उपन्यास को जीवन के यथार्थ धरातल पर प्रतिष्ठापित करने के कारण इनका महत्त्व असन्दिग्ध एवं अक्षुण्ण है।

अम्बिकादत्त व्यास—इन्हें संस्कृत साहित्य की दृष्टि से पण्डितराज जगन्नाथ के बाद सर्वाधिक प्रखर प्रतिभा वाला विद्वान् लेखक माना जाता है। संस्कृत में इनके द्वारा विरचित 'शिवराज विजय' संस्कृत का पहला और अन्तिम उपन्यास कहा जाता है। संस्कृत के समान ही इनकी गति हिन्दी भाषा में भी थी। हिन्दी भाषा और इसके साहित्य को सजाने-संवारने की दिशा में भी इन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया था।

इनका जन्म सन् १८५८ में जयपुर में हुआ था। यह सनातन धर्म के अनुयायी एवं प्रचारक थे। 'अवतार मीमांसा' और 'गद्य-काव्य-मीमांसा' नामक इनकी दो प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनमें से पहली का सम्बन्ध धर्म की व्याख्या और दूसरी का शास्त्रीय समीक्षा से है। इनकी गद्य के अतिरिक्त कविता में भी विशेष रुचि थी। प्रतापनारायण मिश्र के समान समस्यापूर्ति के क्षेत्र में इनकी भी धाक जमी हुई थी। कविता के क्षेत्र में 'पावस पचासा' और 'बिहारी-विहार' इनकी महत्त्वपूर्ण देन मानी जाती है। पर काव्य-शैली की दृष्टि से इनमें नव्यता के दर्शन प्रायः नहीं होते। इन्होंने प्राचीन परम्पराओं का ही प्रमुखतः निर्वाह किया है।

इनकी रचनाओं की कुल संख्या ७८ तक मानी जाती है। इनमें हिन्दी-संस्कृत दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। हिन्दी में उपरोक्त रचनाओं के अतिरिक्त कुछ नाटक भी प्रसिद्ध हैं। जैसे—गो-संकट, ललित नाटक, कलियुग, मरहट्ट नाटक, भारत सौभाग्य नाटक। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'वेणी संहार' का इन्होंने हिन्दी रूपान्तर भी प्रस्तुत किया था। हमारे विचार में हिन्दी में इनका महत्त्व

सस्कृत रचनाओ की दृष्टि से ही अधिक है। वहाँ इन्होने अत्यधिक सर्जनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। इनकी भाषा-शैली सरल, सुबोध प्रभावशाली एव हृदयग्राही है।

ठाकुर जगमोहनसिंह—'श्यामा स्वप्न' जैसी अत्यधिक सफल एव सरस रचना करने वाले ठाकुर जगमोहनसिंह युग-प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अन्तरग मित्र थे। इनका जन्म भारतेन्दु जी से सात वर्ष बाद सन् १८५७ मे विजयराघवगढ-नरेश ठाकुर सरयूसिंह के यहाँ हुआ था। इन्हे हिन्दी के साथ-साथ सस्कृत और अग्रेजी मे भी अच्छी शिक्षा मिली थी। इनका जीवन राज-परिवार से सम्बन्धित होने के कारण स्वच्छन्द एव स्वतत्र था। काफी समय तक यह कई सरकारी उच्च पदो पर कार्य करते रहे थे। इनमे उल्लेखनीय कार्य हैं—असिस्टेण्ट कमिश्नर एव कूचविहार की कौंसिल के मत्री का पद। सरकारी उलझनो मे फँसे रहने पर भी इनकी परिष्कृत साहित्यिक अभिरुचियाँ अबाध रूप से क्रियाशील रही।

इनका कवि के रूप मे ही विशेष महत्त्व है। 'श्यामा स्वप्न' इनकी प्रसिद्ध रचना है। इसमे मानवेतर प्रकृति का बडा ही स्वाभाविक चित्रण हुआ है। इनके प्रेमसम्पत्तिलता, श्यामलता और श्याम सरोजिनी अन्य काव्य-सग्रह हैं। इनके अतिरिक्त इन्होने कालिदास के 'मेघदूत' का सरस कवित्त-सवैयो मे अनुवाद भी प्रस्तुत किया था। इनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी प्राप्त हैं। इनमे प्रसिद्ध है—ऋतु सहार, प्रेम हजारा, सज्जनाष्टक, प्रलय, हसदूत, ज्ञान-प्रदीपिका, आदि। इनके अतिरिक्त इन्होने साख्य एव वेदान्त सूत्रो की सटिप्पण व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की थी। इससे स्पष्ट है कि काव्य एव दर्शन दोनो क्षेत्रो मे इन्हे समान गति प्राप्त थी।

सस्कृत के विद्वान् होने के कारण इनकी भाषा तत्सम शब्दो एव सानुप्रासिकता से बोझिल मानी जाती है। सानुप्रासिकता के कारण डॉक्टर जगन्नाथप्रसाद ने इनकी काव्य-शैली को 'अभ्यासपूर्ण' की सज्ञा प्रदान की है। इसी प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी काव्य-शैली को 'प्रलाप-शैली' कहकर आलोचित किया है। कुछ भी हो, भारतेन्दु-मण्डल के लेखको मे विशेषत कवि के रूप मे ठाकुर जगमोहनसिंह का निश्चय ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अन्य समसामयिक साहित्यकार—भारतेन्दु जी और इनके 'मण्डल' के

उपरोक्त साहित्यकारो के अतिरिक्त इनके समसामयिक कुछ अन्य साहित्यकारो ने भी हिन्दी साहित्य के सर्वांगीण विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। इनमे प्रमुख नाम है—राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, कार्तिकप्रसाद खत्री, काशीनाथ खत्री, तोताराम, लाला सीताराम, केशवराम भट्ट, मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या आदि। इन सबने अपने-अपने ढग से हिन्दी-साहित्य की विविध प्रवृत्तियो को सजाया-सँवारा और व्यापक बनाया।

इनमे से राधाचरण गोस्वामी का रचना-काल सन् १८५८ से १९२५ तक है। सुधारात्मक चेतना लेकर यह साहित्य के क्षेत्र मे आये। इन्हे नाटककार और अनुवादक के रूप मे विशेष ख्याति प्राप्त हो सकी। सती चन्द्रावली, श्रीदामा नाटक, अमरसिह राठौर आदि इनके मौलिक नाटक हैं। इन्होने मृण्मयी, विरजा और जाविन्री नामक बगला उपन्यासो के अनुवाद भी प्रस्तुत किये थे। दूसरे साहित्यकार राधाकृष्ण दास का रचनाकाल १८६५ से १९०७ तक का है। इन्होने एक तो भारतेन्दु जी के अधूरे नाटक 'सती प्रताप' को पूर्ण किया, जबकि निम्न-लिखित मौलिक नाटक भी रचे—दुखिनी बाला, महाराणा प्रताप, महारानी पद्मावती। 'निस्सहाय हिन्दू' इनके द्वारा विरचित उपन्यास है। इन्होने बगला के 'स्वर्णलता' और 'मरता क्या न करता' उपन्यासो के अनुवाद भी किये। इनकी मौलिक रचनाओ मे सुधार की भावना ही प्रमुख है।

कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'रेल का विकट खेल' नामक मौलिक नाटक की रचना की और बगला के अनेक उपन्यासो के अनुवाद प्रस्तुत किये। काशीनाथ खत्री ने अग्रेजी निबन्धो के अनुवाद प्रस्तुत करने के साथ-साथ कुछ मौलिक रचनाएँ भी की। इसी प्रकार तोताराम ने 'भारत बधु' नामक पत्र का प्रकाशन-सचालन किया। इन्होने 'भाषा-सवर्द्धिनी' नामक एक सस्था भी स्थापित की थी। 'कीर्ति केतु' इनका नाटक है। इन्होने कुछ अनुवाद भी किये थे।

लाला सीताराम ने सस्कृत के अनेक काव्यो और नाटको के अनुवाद हिन्दी भाषा मे प्रस्तुत किये। इन्होने शेक्सपियर के नाटको के अनुवाद भी सर्वप्रथम ही हिन्दी मे किये थे। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक लेखको की गणना भी की जाती है, जिन्होने हिन्दी साहित्य के प्रथम चरण—भारतेन्दु-युग मे अपने कार्यो से हिन्दी

साहित्य के भण्डार को भरने का अनवरत प्रयत्न किया।

२ द्वितीय चरण द्विवेदी-युग.

आधुनिक हिन्दी साहित्य का दूसरा चरण द्विवेदी-युग कहलाता है। इसकी समयावधि सम्वत् १९५० से १९७५ तक अर्थात् २५ वर्षो की मानी जाती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद पच्चीस वर्षो तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने प्रखर एव बहुमुखी व्यक्तित्व से हिन्दी-साहित्य का मार्गदर्शन किया, इस कारण यह कालखण्ड 'द्विवेदी-युग' के नाम से अभिहित किया जाता है। द्विवेदी जी अनेक वर्षों तक 'सरस्वती' नामक प्रमुख साहित्यिक पत्रिका का सम्पादन करते रहे। इन्होने इनके माध्यम से न केवल भाषा मे ही अनेक प्रकार के सुधार किये, अपितु युगीन भावनाओ एव इनकी अभिव्यक्तियो के विभिन्न माध्यमो को भी सजाते-सँवारते रहे। भारतेन्दु-युग मे दो भाषाएँ चलती थी, किन्तु द्विवेदी जी ने अपने यत्न से गद्य और पद्य दोनो के लिए खडीबोली को प्रतिष्ठापित किया। व्याकरण सम्बन्धी भाषायी दोषो का परिहार करके उसमे विराम-चिह्नो का प्रयोग आरम्भ किया, जिससे भाषा विचाराभिव्यक्ति मे अधिक सशक्त बन सकी। कविता, कथा-साहित्य एव समालोचना साहित्य को इस युग मे प्रौढता प्राप्त हुई। निबन्ध साहित्य मे भी अपूर्व विकास हुआ। काव्य के क्षेत्र मे राष्ट्रीय भावना को अधिक बल मिला। इस युग की राष्ट्रीयता वास्तव मे प्राचीन भारतीय आदर्शों से अधिक अनुप्रेरित एव सयत है। इसी कारण कुछ विद्वानो ने इस पर साम्प्रदायिकता का दोषारोपण भी किया है। किन्तु यह आरोप वास्तव मे अतिशयोक्तिपूर्ण है, क्योकि यहाँ निश्चय ही क्रमश स्वच्छ राष्ट्रीयता को विकास एव पोषण अधिक मिला। कविता मे उपदेशात्मकता का भाव अवश्य अखरने वाला है। उपदेश के कारण इस अन्तर्युग की कविता प्राय इतिवृत्तात्मक बनकर रह गई है। वैसे युगीन आन्दोलनो के प्रभाव को समग्रत आत्मसात् करके इस युग के कवियो ने निश्चय ही युग-प्रतिनिधित्व का अभूतपूर्व परिचय दिया।

द्विवेदी-युग के काव्य को पुनर्मूल्याकन करने वाला काव्य भी कहा जाता है। इस युग के हरिऔध एव गुप्त जैसे कवियो ने प्राचीन रूढिवादिता का खण्डन

करके राम और कृष्ण जैसे आदर्श महापुरषो के जीवन का मानवी दृष्टि से पुनर्मूल्याकन किया, जो निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण घटना और नव्य चेतना का द्योतक है। युग-समस्याओ का व्यापक चित्रण भी इस काल की कविता मे मिलता है। यह युग आर्यसमाज जैसी सस्थाओ के सुधार-आन्दोलनो का युग था। उधर काग्रेस जैसी राष्ट्रीय राजनीतिक सस्थाएँ भी अनेक प्रकार के आन्दोलन चला रही थी। इन सबका प्रभाव इस युग की कविता मे स्पष्ट देखा जा सकता है। गाधीवाद से स्पष्टत प्रभावित होते हुए भी द्विवेदी-युग को किसी वाद-विशेष की सीमा मे सीमित नही किया जा सकता। प्राय तीन प्रकार के कवि इस युग मे मिलते है। एक तो वे जिन्होने द्विवेदी जी के सुधारात्मक आदर्शो को अपनाकर काव्य रचे। अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवि इसी कोटि मे आते है। दूसरी प्रकार के कवि आर्यसमाज के आन्दोलनो से प्रभावित थे। नाथूराम शर्मा शकर प्रभृति कवि ऐसे ही है। तीसरे प्रकार के कवि पाश्चात्य साहित्य की प्रकृति-चित्रण एव स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो से प्रभावित होने लगे थे। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी जैसे कवियो को इस तीसरी कोटि मे रखा जा सकता है। इसे हम द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया का श्रीगणेश भी मान सकते है, जो पूर्णरूपेण आगे चलकर छायावादी काव्यधारा मे प्रतिफलित हुई। सभी प्रकार की काव्य-चेतना बहिर्मुखी ही अधिक है।

कविता की भाषा के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी ने अपने अनवरत प्रयत्नो से उसे काफी निखार प्रदान किया। बगला भाषा का प्रभाव भी इस युग की भाषा पर स्पष्ट दिखाई देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे, "... बग भाषा की ओर जो झुकाव रहा उसके प्रभाव से बहुत ही परिमार्जित और सुन्दर सस्कृत पद-विन्यास की परम्परा हिन्दी मे आई, यह स्वीकार करना पडता है।" द्विवेदी जी वास्तव मे सस्कृत और मराठी कविता के आदर्श को लेकर चले थे, अत सस्कृत के वर्णवृत्तो (छन्दो) को ही कविता मे अधिक प्रश्रय मिला। प्रबन्ध और मुक्तक दोनो प्रकार के काव्यो का मुक्त भाव से सृजन हुआ। गीति-काव्य का रूप भी यहा देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध मे डॉ० कृष्णलाल का मत विशेष दर्शनीय है—

"मुक्तको के वनखण्डो के स्थान पर महाकाव्य, आख्यान काव्य (Ballads) प्रेमाख्यान काव्य (Metrical Romanee), प्रबन्ध काव्य, गीति काव्य और गीतो का सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा।"

द्विवेदी-युग की कविता की समग्रता का प्रवृत्त्यात्मक विवेचन करते हुए डॉ० शिवदानसिंह चौहान लिखते हैं —

"उनकी दृष्टि मूलत वहिर्मुखी है, इसलिए राष्ट्र-जीवन की समसामयिक हलचलो मे निरन्तर रमती चली आई है। अन्तर्मुखी होकर व्यक्ति-चेतना की अगम गहराइयो मे नही उतर पाई। विशेषकर लोक-प्रचलित पौराणिक आख्यानो, इतिहास-वृत्तो और देश की राजनीतिक घटनाओ से इन्होने अपने काव्य की विषयवस्तु को सजाया है, इन आख्यानो, वृत्तो और घटनाओ के चयन मे उपेक्षितो के प्रति सहानुभूति, देशानुराग और सत्ता के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर है। यह एक प्रकार से राजनीति मे राष्ट्रीय आन्दोलन और काव्य मे स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति के वीच पलने और वहने वाली कविता की वहिर्मुखी धारा है, जिसने हिन्दी-भाषी जनता को आधुनिक युग के व्यक्ति-समाज-सम्बन्धी गहरे तात्त्विक प्रश्नो के प्रति नही तो राजनीतिक पराधीनता और राष्ट्रीय सघर्ष की आवश्यकता के प्रति सचेत बनाने मे बहुत बडा काम किया।"

इससे स्पष्ट है कि द्विवेदी-युग की कविता का मूल उद्देश्य देशानुराग था, अत प्राय कवियो ने इसी भाव को पोषित एव सवर्द्धित करने का सभी दृष्टियो से अनवरत प्रयत्न किया।

कविता के अतिरिक्त गद्य-साहित्य की जिन विभिन्न विधाओ का सूत्रपात पूर्ववर्ती भारतेन्दु-युग मे हुआ था, उसे भी विकास-पथ पर अग्रसर करने का अविरल प्रयास इस युग मे किया गया। इस युग मे नाटक-साहित्य को छोडकर शेष कहानी, उपन्यास, निवन्ध और समालोचना आदि गद्य-विधाओ का अनवरत विकास हुआ। इस युग मे नाटक के क्षेत्र मे वगला आदि भाषाओ से अनुवाद ही अधिक प्रस्तुत हुए, किसी मौलिक रचना की योजना नही हुई। उपन्यास के क्षेत्र मे जासूसी, तिलस्मी, ऐय्यारी, ऐतिहासिक आदि सभी प्रकार के उपन्यास रचे गये। जहाँ तक निवन्ध तथा आलोचना का सम्बन्ध है, इस कला मे स्वय

द्विवेदी जी बहुत दक्ष एवं सतर्क थे। 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से इनके विषय में इन्होने निश्चय ही अभूतपूर्व योगदान किया। इसी कारण प्राय: विद्वान् द्विवेदी-युग को मुख्यत. गद्य के विकास का युग ही कहते है। द्विवेदी जी के अनवरत प्रयत्नो से हिन्दी गद्य ने अपनी जातीय भावनाओ एव विशेषताओ के अनुरूप ही बगला, अग्रेजी, मराठी आदि भाषाओ से प्रभाव ग्रहण करके अपने नव्य कलेवर का सृजन किया। भावो, अनुभूतियो एव कल्पनाओ की गहराई का अभाव रहते हुए भी इस युग मे साहित्य के विविध रूपो का समग्र विकास हुआ। भाषा के परिमार्जन एव विकास की दृष्टि से इस युग का महत्त्व सर्वाधिक है।

अन्त मे हम यह कह सकते है कि भारतेन्दु-युग ने हिन्दी-साहित्य के विशाल भवन के निर्माण के लिए जो नीव के पत्थर रखे थे, द्विवेदी-युग की गति-विधियो ने इनको स्थिरता एव दृढता प्रदान की। साथ ही इनमे जो कही टेढापन या खुरदरापन रह गया था, इसे भी तराश-खराशकर सजाया-सँवारा और समतल किया। इसमे वह लचकीलापन एव तारल्य भी सचित कर दिया कि आगे की मजिलो की मनचाही रचना हो सकती थी। भविष्य की रचनाओ के लिए एक व्यापक एव सुदृढ पृष्ठभूमि विनिर्मित कर दी। नीव को भरकर इस पर साहित्यिक भवन की दीवारो को सुघडता से उसारना आरम्भ कर दिया और यह भूमिका किसी भी दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

द्वितीय चरण (द्विवेदी-युग) कवि-साहित्यकार-परिचय

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—आधुनिक हिन्दी साहित्य के द्वितीय चरण के नियामक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म रायबरेली जिले के दौलतपुर नामक गाँव मे सन् १८६४ मे हुआ था। इनके पितामह सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वास्तव मे द्विवेदी जी अपने पितामह की प्रतिभा लेकर ही उत्पन्न हुए थे। आर्थिक वैषम्य के कारण इनकी शिक्षा-दीक्षा की कोई उचित व्यवस्था नही हो सकी थी, फिर भी इन्होने अपने निरन्तर अध्यवसाय के बल पर हिन्दी, सस्कृत, मराठी, गुजराती, बगला और अग्रेजी आदि भाषाओ का गम्भीर अध्ययन किया। इन्होने जीवनयापन करने के लिए रेलवे की नौकरी से अपना कर्मक्षेत्र आरम्भ

किया। वहाँ निरन्तर प्रगति करते हुए यह काफी उन्नति कर गये। परन्तु स्वभाव मे स्वतन्त्रता थी, अत अच्छी-भली नौकरी को लात मारकर केवल बीस रुपये मासिक पर 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन करने लगे। यही से इनके साहित्यिक जीवन का आरम्भ होता है। इनके 'सरस्वती' पत्रिका के योग्यतापूर्वक सम्पादन-कार्य से प्रभावित होकर ही लोगो ने इन्हे सम्मान देने के लिए 'आचार्य' कहना प्रारम्भ कर दिया और वास्तव मे ये अपने अध्यवसाय से आचार्य पदवी के गौरव की आजीवन रक्षा करते रहे।

द्विवेदी जी ने आरम्भ मे ब्रजभाषा मे ही सस्कृत के वर्णवृत्तो को अपनाकर काव्य-रचना आरम्भ की थी, किन्तु शीघ्र ही ये खडीबोली की ओर मुड गये। इन्होने अपने प्रयत्न से खडीबोली को सजा-सँवारकर इस योग्य बना दिया कि वह काव्य की समुचित भाषा बन सके। इन्हे स्वभाव से ही सुधारक प्रवृत्ति के होने के कारण अपने भाषायी प्रयासो मे शीघ्र ही पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इनसे पहले श्रीधर पाठक जैसे कुछ कवियो ने खडीबोली मे काव्य-रचना आरम्भ कर दी थी, उसे व्यापक बनाने का श्रेय इन्हीको है। इसी कारण हमने यहाँ इस अन्तर्युग के कवियो मे सर्वप्रथम इन्हीका उल्लेख करना उचित समझा है। 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक बनने के अनन्तर यह प्रकाशनार्थ आने वाली रचनाओ को बडे मनोयोग से पढने, उनकी त्रुटियाँ सँवारते और फिर प्रकाशित करते। फलस्वरूप इनके अनवरत प्रयत्नो से अनेक नई-नई युवा प्रतिभाएँ सामने आने लगी। इनसे प्रोत्साहन पाकर अनेक युवा कवियो ने ब्रजभाषा का परित्याग करके खडीबोली मे काव्य-रचना आरम्भ कर दी और इनका भविष्य अच्छा ही रहा। इस प्रकार इन्हे सहज ही युग निर्माता का गौरव मिल गया।

द्विवेदी जी ने कविता और निबन्ध-रचना की ओर ही अधिक ध्यान दिया था। सन् १९०३ मे 'काव्य मजूषा' नामक इनका काव्य-सकलन प्रकाशित हुआ था। कालिदास के 'कुमारसभव' और पण्डितराज जगन्नाथ की 'गगालहरी' का इन्होने हिन्दी पद्यो मे सरस अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। यह सस्कृत मे भी काव्य रचा करते थे। इन्होने 'कविता-कलाप' नामक एक काव्य-सग्रह का सम्पादन भी किया था, जिसमे इनकी अपनी कविताएँ तो थी ही, अन्य अनेक कवियो की

रचनाएँ भी सकलित थी। इनकी दृष्टि मे कविता का उद्देश्य मनोरजन एव शिक्षा देना था। कविताओ मे इन्होने देशप्रेम, समाज-सुधार, अन्ध रूढियो का खण्डन, और शृगारिकता से बचाव जैसे विषयो को प्रश्रय दिया। कविताओ की भाषा सरल और हास्य-व्यग्य से सयत है। इनकी कविता विषय-वर्णन की दृष्टि से इतिवृत्तात्मक-सी प्रतीत होती है।

कवि से भी अधिक द्विवेदी जी का महत्त्व निबन्धकार और आलोचक के रूप मे मान्य किया जाता है। इनके निबन्ध उद्देश्यपूर्ण एव विभिन्न विषयो की जानकारियो से समन्वित थे। इन्होने वर्णनात्मक, भावात्मक, विचारात्मक निबन्धो के साथ-साथ कुछ व्यग्यात्मक निबध भी रचे थे। साहित्य, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, अध्यात्म और जीवन-चरित इनके निबन्धो के प्रधान विषय थे। कुछ निबन्ध इन्होने पुस्तको की भूमिकाओ के रूप मे भी प्रस्तुत किये थे। रसज्ञ-रजन, साहित्य-सीकर, विचार-विमर्श, पुरावृत्त, आध्यात्मिकी और प्राचीन चिन्ह आदि इनके प्रसिद्ध निबन्ध-सग्रह है। इन्होने 'बेकन विचार रत्नावली' नाम से प्रसिद्ध पाश्चात्य निबन्धकार बेकन के निबन्धो का अनुवाद भी प्रस्तुत किया था।

निबन्धकार के साथ-साथ द्विवेदी जी का आलोचक व्यक्तित्व भी सर्वमान्य है। इन्होने 'सरस्वती' मे 'पुस्तक-समीक्षा' स्तम्भ आरम्भ करके परम्परागत मानदण्डो का विरोध कर नई आदर्शवादी समालोचना का समारम्भ किया था। इन्होने 'कालिदास की आलोचना' पुस्तकाकार मे की थी। इसने पुस्तकाकार आलोचना-पद्धति को प्रथम बार प्रश्रय दिया। इसके अतिरिक्त इन्होने 'नैषध चरित' तथा 'विक्रमाक देव-चरित चर्चा' की परिचयात्मक आलोचना प्रस्तुत की थी। इन्होने कालिदास के दोषो का विवेचन करके निर्णयात्मक आलोचना-पद्धति को भी प्रश्रय दिया। इस प्रकार द्विवेदी जी ने निबन्ध और समालोचना साहित्य का बड़ी कुशलता से मार्गदर्शन किया। इनके निबन्ध और समालोचनाओ मे यद्यपि बहिर्मुखता ही अधिक है, फिर भी इनके प्रयासो से इन प्रवृत्तियो एव साहित्यिक विधाओ को अत्यधिक बढ़ावा मिला, इस दृष्टि से इनके निबन्धो एव आलोचनाओ की उपेक्षा नही की जा सकती।

द्विवेदी जी सरल एव सुव्यवस्थित सीधी-सादी भापा के पक्षपाती थे। इन्होंने अधिकाशत· ऐसी ही भापा का प्रयोग किया है। 'किन्तु 'प्रभात' जैसे कुछ निबन्धों मे भापायी अलकरण एव काव्यमयता की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है। इन्होंने कविता मे छन्द-योजना को अधिक महत्त्व नही दिया। वास्तव मे द्विवेदी जी का उतना महत्त्व अपनी रचनाओ के कारण नही, वल्कि एक युग, उसकी चेतना और उस चेतना को सजीव करने वाले सर्जको के निर्माण के कारण है। निर्माण करने का यह भाव इनके समग्र साहित्य का प्राण-तत्त्व है। इनका स्वर्गवास सन् १६३८ मे हुआ।

श्रीधर पाठक—पण्डित श्रीधर पाठक को भारतेन्दु-युग एव द्विवेदी-युग की कडी के रूप मे विशेप महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें अनेक कारणो से हिन्दी काव्य-क्षेत्र मे स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्त्तक माना है। इनका प्रकृति-प्रेम ही उसका मूल कारण है। इन्होने प्रकृति-चित्रण मे परम्परा-गत रूढियो से हटकर आलम्वन रूप को ही अधिक प्रश्रय दिया। इनके प्रकृति-चित्रण में सहज एव आत्मीय से लगने वाले प्राकृतिक रूपो के दर्शन होते हैं। इसी कारण अधिकाश विद्वान् श्रीधर पाठक की प्रकृति सम्वन्धी रचनाओ को छाया-वादी काव्यो की आधार-भूमि भी कहते हैं।

पाठक का जन्म सन् १८५६ मे जोधरी नामक गाँव मे हुआ था। गाँव मे जन्म लेने के कारण ही ग्राम-प्रकृति से इनका निकट का सम्वन्ध था। यह सस्कृत और अग्रेजी भापाओ के सशक्त विद्वान् थे। इसका प्रमाण इनके अनुवाद कार्यों से स्पष्ट मिल जाता है। इनका व्रज और खडीबोली दोनो भाषाओ पर समान अधिकार था। इस वात का प्रमाण भी इनकी दोनो प्रकार की रचनाओ मे स्पष्ट रूप मे उपलब्ध हो जाता है। इनकी 'स्वर्गीय वीणा' नामक कविता उस युग की खडी वोली की एक सशक्त रचना है, जबकि 'कश्मीर सुषमा' व्रजभाषा पर अधि-कार का सवल प्रमाण है।

पाठक जी ने गोल्डस्मिथ की तीन प्रसिद्ध रचनाओ के हिन्दी भाषा मे सरल, सशक्त एव सरस अनुवाद प्रस्तुत किये थे, इनके नाम हैं—एकान्तवासी योगी, श्रात पथिक और ऊजड ग्राम। ये तीनो क्रमश Hermit', Traveller' और

Deserted Village' के अनुवाद हैं। पहली दो रचनाओ के अनुवाद खड़ीबोली और अन्तिम का ब्रजभाषा मे किया गया है।

इनकी अनेक मुक्तक कविताएँ उपलब्ध है, जिनका विभिन्न दृष्टियो से अत्यधिक महत्त्व माना जाता है। इनका व्यक्तित्व विषय-वैविध्य की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। 'काश्मीर सुषमा', 'भारत गीत' और 'देहरादून' जैसी कविताओ मे प्रकृति की छटा के दर्शन तो होते ही हैं, देशप्रेम की सजग भावना भी विद्यमान है। इनके काव्य मे सुरुचि-सम्पन्नता, वैचारिक परिपक्वता, भावुकता आदि अच्छी कविता के समस्त गुण विद्यमान हैं। कविता के साथ-साथ पाठक जी ने अनेक मौलिक विषयो का भावपूर्ण सुन्दर विवेचन भी प्रस्तुत किया। इन्होंने राष्ट्र-पुरुषो का ओजस्वी गान, शिक्षा-प्रचार और विधवाओ के प्रति सवेदनाओ पर भी अपनी कुशल लेखनी चलाकर इन विषयो को सजीवता प्रदान की। ऐसी मान्यता है कि इन्होंने 'तिलस्मानी सुन्दरी' नामक एक उपन्यास भी लिखा था, पर वह अप्राप्य है।

इनकी भाषा-शैली सभी दृष्टियो से परिमार्जित एव सुरुचि-सम्पन्न है। शैली मे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो की झलक स्पष्ट है। इनका ब्रज और खड़ीबोली पर समान अधिकार था। इनकी कविताओ मे कही-कही आध्यात्मिकता की पुट भी है। ओज, प्रवाह, सगीतात्मकता, चित्रमयता आदि सभी गुण इनकी रचनाओ के प्राण-तत्त्व के समान है। इनका सन् १९२८ मे निधन हुआ।

नाथूराम 'शकर' शर्मा—द्विवेदी-युग के पूर्व ही जिन्होंने आर्यसमाज जैसी कुछ सुधारक सस्थाओ से प्रभावित होकर अपनी प्रवृत्तियो की अभिव्यक्तियो का माध्यम काव्य को बनाया था और निरन्तर द्विवेदी-युग मे भी काव्य-सर्जना करते रहे, उनमे श्री नाथूराम शकर शर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका जन्म सन् १८५९ मे हरदुआगज मे हुआ था। इन्हे हिन्दी और सस्कृत के साथ-साथ उर्दू एव अग्रेजी भाषाओ का भी सम्यक् ज्ञान था। इन्होंने आजीविकोपार्जन की दृष्टि से वैद्यक का धन्धा अपना रखा था और इस क्षेत्र मे भी इनका विशेष सम्मान था। इन्हे 'पीयूष पाणि वैद्य' कहकर सम्मानित किया जाता था। इनका निधन सन् १९३२ मे हरदुआगज मे ही हुआ था।

इनका द्विवेदी-युग के सुधार की विशेप चेतना वाले कवियो में विशेप महत्त्व था। इन्हे आशु-कवि माना जाता था। इनकी आशु-कविता और समस्यापूर्ति के क्षेत्र मे धाक जमी हुई थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इन्ही सब कारणों मे इनके विशेष प्रशसक थे। इनके बारे मे कही गई द्विवेदी जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेप महत्त्वपूर्ण हैं —

"रसिक-कुमुद-वन-कलाधर, प्रतिभा पारावार।
कविता-कानन-केसरी, सहृदयता आगार।"

इनकी कविता मे रसिकता का अश भी विशेप है, किन्तु इतना निश्चित है कि इनका अन्ततोगत्वा उद्देश्य सामाजिक कुरीतियो का परिहार करना ही था। यह सत्य है कि यह रूढिवादी नही थे और ऐसा आर्यसमाज के प्रभाव के कारण ही था। इन्होंने स्त्री-शिक्षा-प्रचार, अन्धविश्वासो का विरोध जैसे नीरस विपयों को भी काव्य का विषय बनाया। फलस्वरूप नीरसता एव उपदेशात्मकता ही इनके काव्यो मे अधिक है। इन पर साम्प्रदायिकता का आरोप तो नही लगाया जा सकता, पर इन्हे सामाजिक दृप्टि से विशेप दृप्टिकोण का प्रचारक अवश्य कहा जा सकता है। कविता मे युगानुकूल नीतिवत्ता भी काफी है। व्यग्य-विनोद का भाव भी मिलता है। इसी कारण कही-कही इनकी कविता मे अस्वाभाविकता के दर्शन भी होने लगते हैं। वास्तव मे इनकी कविता सही अर्थो मे इतिवृत्तात्मकता के सन्दर्भ की पूरक है। सामान्य पाठक इसमे रसिकता के गुण प्राय नही पाता।

अनुराग रत्न, शकर सरोज, गर्भरण्डा-रहस्य आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। इन्होने 'शकर सतसई' और 'ललित कलेवर' नामक दो अन्य रचनाएँ भी रची, किन्तु कहा जाता है कि ये किन्ही कारणो से नप्ट हो गई। इनके सुपुत्र हरिशकर शर्मा ने 'शकर सर्वस्व' (प्रथम भाग) नाम से इनकी कविताओ का एक सकलन प्रकाशित किया है। इन्होने ब्रजभापा मे ही काव्य-रचना आरम्भ की थी और अन्त मे ये भी युग-प्रवाह मे बहकर खडीबोली मे काव्य-रचना करने लगे थे। इन्होने सबसे पहले खडीबोली मे 'घनाक्षरी' छन्द को ही अपनाया था। इन्होने कविता के अतिरिक्त अन्य विधात्मक रचनाएँ नही रची। अन्त मे यही कहा जा सकता है कि शकर की कविता मे युगीन सुधारात्मक आन्दोलनो की एक स्पष्ट

झाँकी देखी जा सकती है। सच तो यह है कि नितान्त नीरस विषयों को भी कविता का विषय बनाना इनकी साहसिकता का ही परिचायक है और निश्चय ही सराहनीय है। कविता में कहीं-कहीं सरस रसिकता के दर्शन भी होते हैं; परन्तु इनकी सुधारात्मक प्रवृत्ति ने इनके व्यक्तित्व के रसिकता के पक्ष को उभरने नहीं दिया। इनका समूचा काव्यमय व्यक्तित्व संक्षेपतः इनकी प्रगतिशीलता का परिचायक कहा जा सकता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवियों में उपाध्याय जी का नाम सर्वप्रमुख है। वास्तव में खड़ीबोली का जो आन्दोलन द्विवेदी-युग में चला, वह इन जैसे कवियों की लेखनी का आधार पाकर ही विकसित हो सका। भारतेन्दु जी के बाद नये विषयों को लेकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होने वाले ये प्रमुख कवि हैं।

इनका जन्म सन् १८६५ में उत्तर प्रदेश के निज़ामाबाद नामक स्थान पर हुआ था। इनकी शिक्षा का क्रम आर्थिक वैषम्यों के कारण निरन्तर चालू न रह सका। अतः नार्मल पास करके अपने ही ग्राम के स्कूल में काफी दिनों तक ये अध्यापन-कार्य करते रहे। तत्पश्चात् कानूनगोई की परीक्षा पास कर ज़िला कचहरी में कानूनगो के पद पर कार्य करने लगे। बाद में जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित हुआ तो पण्डित मदनमोहन मालवीय के अनुरोध पर ये अध्यापन-कार्य करते रहे। इनका जीवन पैतृक रूप से सिक्ख मत से प्रभावित था। अतः इन्होंने सादगी, पवित्रता और धार्मिकता को आजीवन नहीं छोड़ा। परन्तु किसी भी दृष्टि से धार्मिक या साम्प्रदायिक संकीर्णता इनमें नहीं थी। अध्ययन-काल से ही काव्य-रचना की प्रवृत्ति जाग उठी थी और जल्दी ही इन्हें एक सशक्त कवि के रूप में प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो गई थी। इनका स्वर्गवास सन् १९४७ में हुआ। इस प्रकार इन्होंने अपनी आँखों से भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, एवं छायावाद के उत्कर्ष और क्रमशः ह्रास का युग देखा था। अतः इनके काव्यों में इन तीनों युगों की सामान्य मान्यताओं का प्रभाव देखा जा सकता है।

उपाध्याय जी का कविताकण्ठ ब्रज भाषा में ही फूटा था, किन्तु बाद में आचार्य द्विवेदी के प्रभाव एवं खड़ीबोली की बढ़ रही व्यापकता को निहारकर

यह खडीवोली मे काव्य की रचना करने लगे । प्रियप्रवास, पद्य प्रसून, प्रेम-प्रपन्च, प्रेम-पुष्पोपहार, काव्योपन, पारिजात और वैदेही वनवास के अतिरिक्त चोखे चौपदे तथा चुभते चौपदे आदि इनके प्रसिद्ध काव्य हैं। इनमे 'प्रियप्रवास' के कारण ही इनका अधिक महत्त्व माना जाता है। यह खडीवोली का प्रथम महाकाव्य है। प्रवन्ध-निर्वाह की दृष्टि से इसमे अनेक कमियाँ हो सकती हैं और विद्वानो ने इनकी ओर स्पष्ट इगित भी किया है, फिर भी इन्हें प्रवन्ध-काव्यो का पुन समारम्भ करने का श्रेय तो मिलता ही है। दूसरे, इसमे कवि ने कृष्ण जीवन के परम्परागत रूप को न अपनाकर इसका पुनर्मूल्याकन भी किया है। कृष्ण को केवल राधा-गोपी-प्रेमी न दिखाकर लोक-नायक एव लोक-रक्षक के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जो युगीन भावनाओ के अनुरूप ही है। इस दृष्टि से भी इस काव्य का विशेप महत्त्व है। इसमे यद्यपि प्राचीन सस्कृत के वर्णवृत्तो को अपनाया गया है, साथ ही भापा भी सस्कृतगर्भित है, तो भी इसके महत्त्व एव उपादेयता को झुठलाया नही जा सकता।

'प्रियप्रवास' के समान इनका अन्तिम काव्य 'वैदेही वनवास' भी कई दृष्टियो से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। सवमे पहली वात तो यह है कि 'वैदेही वनवास' एक खण्ड-काव्य है। दूसरे, इसमे कवि ने राम-सीता के परम्परागत स्वरूप को प्रस्तुत न कर मानवतावादी दृष्टिकोण एव लोकपक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया है। रीतिकाल के वाद शास्त्रीय विवेचक के रूप मे भी उपाध्याय जी का महत्त्व अकित किया जाता है। इन्होने व्रजभापा मे जो मुक्त भाव से कवित्त-सवैये रचे थे, इन्हें 'रस-कलस' मे एक नये रूप मे प्रस्तुत किया। यह रूप मुख्यत काव्यशास्त्रीय है। इसमे कवि ने रसो एव नायक-नायिकाओ का सरस विवेचन किया है। इसमे कुछ मौलिक उदभावनाएँ भी मिलती हैं। इनकी शेष रचनाओ मे अनेक विपयो पर लिखी मुक्तक कविताओ का सकलन है। इन्होने 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' और 'वोलचाल' मे लोक-नीतियो का मुहावरेदार भाषा मे वडी सरलता से चित्रण किया है। यहाँ स्पष्टत उपाध्याय जी नीतिकार के रूप मे हमारे सामने आते हैं।

काव्य के साथ-साथ गद्य-साहित्य के विकास मे भी उपाध्याय जी का सराह-

नीय योगदान रहा। इन्होने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नाम से दो उपन्यास रचे थे। हिन्दी साहित्य का इतिहास और कुछ आलोचनात्मक लेख भी लिखे थे। इस प्रकार इनकी रचनाओ मे समग्र युगीन चेतनाओ एव विधात्मक कृतियो का वैविध्य देखा जा सकता है। इनकी भाषा के दो रूप स्पष्ट है। एक ओर तो इन्होने अत्यधिक सरल किन्तु मुहावरेदार बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया, जबकि दूसरी ओर सस्कृतनिष्ठ ललित पदावली का। इनका प्रकृति-चित्रण परम्परा से आगे नही बढ सका। इसमे उपदेशक का रूप भी दिखाई देता है। प्रबन्ध और मुक्तक दोनो काव्य-शैलियो के विकास-विनिर्माण में इनका योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है। लोक-सग्रह की भावना सर्वत्र देखी जा सकती है। एक वाक्य मे यदि कहना चाहे तो 'हरिऔध' जी के साहित्य को समगत. युगीन प्रवृत्तियो का सामान्य दर्पण कहा जा सकता है।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—इनकी गणना ब्रजभाषा के अन्तिम सशक्त कवियों में की जाती है। जब चारो ओर खडीबोली का जोर-शोर था, वास्तव में 'रत्नाकार' जी ने ब्रजभाषा के परम्परागत रूप की रक्षा ही नही की, बल्कि इनके स्वर माधुर्य को सजाया-सँवारा और नया रूप भी प्रदान किया। इसी कारण इन्हे देव, मतिराम, पद्माकर एव सेनापति आदि रीतिकालीन कवियो की पक्ति मे अग्रगण्य रखा जाता है। भाषा ही नहीं, विषय-चयन की दृष्टि से भी यह इसी परम्परा में आते है।

इनका जन्म काशी मे सन् १८६६ में हुआ था। इनके पिता बाबू पुरुषोत्तम-दास फारसी के विद्वान् के रूप मे मान्य थे। हिन्दी कवियो के लिए भी इनके मन में यथेष्ट सम्मान का भाव था। इनके घर पर फारसी एव हिन्दी कवियो की महफिल जमा करती थी। भारतेन्दु जैसे सशक्त एव युग-प्रवर्त्तक कवियो का आगमन भी इनके यहाँ होता रहता था। अत. कहा जा सकता है कि 'रत्नाकर' जी का लालन-पालन सर्वथा साहित्यिक वातावरण मे हुआ था। इन्होने अग्रेजी और फारसी भाषाओ का भी सम्यक् अध्ययन किया था। ब्रजभाषा और ब्रजभूमि के प्रति तो इन्हे शैशवी सुकुमार क्षणो से ही अत्यधिक अनुराग था। ब्रजभाषा का सही अध्ययन करने के लिए ये काफी दिनो तक वहाँ निवास भी करते रहे थे।

रत्नाकर जी ने पहले-पहल 'ज़की' उपनाम से फारसी में ही काव्य-सर्जना आरम्भ की थी, किन्तु बाद में इसका पूर्णतया परित्याग करके ये ब्रजभाषा-काव्य के क्षेत्र में उतर आये।

इन्होने सन् १८९४ में समस्यापूर्ति से अपना ब्रजभाषा के कवि का जीवन आरम्भ किया और फिर इस क्षेत्र मे निरन्तर आगे ही आगे बढते गये। सर्व-प्रथम इन्होने १८९६ में अंग्रेज़ी के कवि और आलोचक पोप की रचना Essay on Criticism का 'समालोचनादर्श' नाम से अनुवाद प्रस्तुत किया। इसके बाद अन्य अनेक काव्य-कृतियाँ प्रस्तुत की। इनके नाम हैं—हिंडोला, हरिश्चन्द्र, गगा-लहरी, गगावतरण, शृगार-लहरी, कलकाशी, उद्धव-शतक, रत्नाष्टक और वीराष्टक। 'बिहारी रत्नाकर' नाम से इन्होने 'बिहारी सतसई' की प्रामाणिक टीका एव स्वरूप भी प्रस्तुत किया। कृपाराम की 'हितरगिणी', चन्द्रशेखर के 'हम्मीर हठ' और दूलह कवि कृत 'कण्ठाभरण' का सम्पादन-कार्य भी इन्होंने सम्पन्न किया। किन्तु इनका विशेष महत्त्व 'गगावतरण' तथा 'उद्धव-शतक' जैसी सशक्त कृतियो के कारण ही माना जाता है। इन्होने इन दोनो कृतियो में अपनी उत्कृष्ट कवित्व-प्रतिभा का परिचय दिया है। इनके वर्ण्य विषय रचनाओ के नामो के अनुरूप ही प्राचीन है, किन्तु व्यग्य-विनोद एव भावो की जो तीव्रता इनमें विद्यमान है, वह प्राचीन कवियो मे भी नही है। विषयो का निर्वाह सर्वत्र योग्यतापूर्वक हुआ है।

विषय एव भाषा के समान इन्होने छन्द भी प्राचीन ही अपनाये है, किन्तु निश्चय ही इन पर अपने सगीतमय कलात्मक व्यक्तित्व की अमिट छाप लगा दी है। भाषायी चमत्कार, छन्दो की निपुणता एव कारीगरी तथा सगीतात्मकता आदि को निहारकर ही डॉ० श्यामसुन्दरदास ने रत्नाकर जी को ब्रजभाषा का 'टैनिसन' कहा था। आज भी इनकी उपरोक्त कृतियाँ सहृदयो के हृदय का हार हैं। इनका स्वर्गवास २१ जून, १९३२ को हरिद्वार मे हुआ था।

रामचरित उपाध्याय—द्विवेदी-युग मे द्विवेदी जी के प्रभाव मे आकर ब्रज-भाषा का परित्याग करके खडीबोली मे काव्य-रचना करने वालो मे रामचरित उपाध्याय का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका जन्म सन् १८७२

और निधन सन् १९४३ मे हुआ था। ये संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् थे। पहले-पहले ब्रजभाषा मे पुराने ढग की कविताएँ ही रचा करते थे। किन्तु बाद मे युग-भावना के अनुरूप इनके भावो मे परिवर्तन आ गया था।

इनकी प्रमुख रचनाएँ है—रामचरित चिन्तामणि, राष्ट्र भारती, देवदूत, भारत-भक्ति, मेघदूत, सत्य हरिश्चन्द्र। यह भी माना जाता है कि इन्होने बिहारी के ढग पर एक 'सतसई' की रचना भी थी, किन्तु यह प्रकाश मे नही आई। इन्होने 'रामचरित चिन्तामणि' मे अयोध्यासिह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' को अपना आदर्श बनाया है। इन्होने अवधी भाषा मे भी कुछ कविताएँ रची थी। इनकी कविताओ मे विदग्धतापूर्ण भाषण की प्रवृत्ति पाई जाती है। इनकी कविताओ मे प्रबन्ध एव मुक्तक दोनो काव्य-शैलियो का सम्यक् निर्वाह हुआ है।

सत्यनारायण कविरत्न—स्वभाव के सरल, वेशभूषा से नितान्त ग्रामीण एव कोकिल कण्ठ वाले सत्यनारायण कविरत्न का जन्म सन् १८७९ मे और निधन सन् १९१८ मे हुआ था। इन्होने आधुनिक काल मे भी कृष्णभक्ति की अजस्र धारा को प्रवाहित रखा। ये ब्रजभूमि और ब्रजभाषा के अनन्य उपासक थे। सवैया छन्द की सर्जना मे तो ये अपना सानी नही रखते थे। इन्हे नन्ददास की परम्परा का कवि माना जाता है। इनका वैयक्तिक जीवन अनेक प्रकार की विषमताओ से पूर्ण था। ये यदि कृष्णभक्त थे, तो इनकी पत्नी आर्यसमाजी मान्यताओ की पोषक थी। फिर भी परिस्थिति-वैषम्य मे भी ये हतोत्साहित नही हुए, बल्कि इनकी अपनी आस्थाएं निरन्तर दृढ से दृढतर होती गई। एक बार तो इन्होने स्वामी रामतीर्थ जैसे वैरागी को अपने मनहर सवैयो से विमुग्ध कर लिया था और वे इन्हे अपने साथ विदेश चलने का आग्रह करने लगे थे। किन्तु ये अपनी मातृभूमि के प्रति अन्धविश्वास की सीमा तक निष्ठावान होने के कारण साथ न गये।

इनके द्वारा रचित 'भ्रमरदूत' इनकी कीर्ति का प्रमुख आधार खण्ड काव्य है। इसमे परम्परागत भ्रमरदूत की परम्परा का पालन न करते हुए भारत भूमि पर यशोदा का तथा अग्रेजी-शासन पर कस का आरोप किया गया है। कृष्ण से

प्रार्थना की गई है कि ये अग्रेज रूपी कस से भारत-भूमि रूपी माता यशोदा का उद्धार करें। 'प्रेमकली' और 'हृदयतरग' इनके अन्य काव्य-सगह हैं। इन्होंने सस्कृत के 'मालती माधव' और 'उत्तर रामचरित' नामक दो नाटको के अनुवाद भी प्रस्तुत किये थे। इनकी भापा प्राजल एव मधुर व्रजभापा है। इनकी कविता मे प्रवन्ध एव मुक्तक दोनो शैलियो का सरस निर्वाह हुआ है।

मैथिलीशरण गुप्त—भारतीय सभ्यता-सस्कृति के विभिन्न रूपो को राष्ट्रीय एकता के सूत्र मे पिरोने वाले आधुनिक हिन्दी काव्य के प्रतिनिधि और राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सन् १८८६ मे, चिरगांव, झांसी मे हुआ था। इनके पिता सेठ रामचरण गुप्त अच्छे कवि और रामभक्त थे। ये 'कनकलता' उपनाम से काव्य-सर्जन किया करते थे। इसी कारण कहा जाता है कि इन्हे कविता और रामभक्ति पिता से विरासत से ही प्राप्त हुई थी। अन्य अनेक कवियो के समान इन्हे भी स्कूल का वातावरण अच्छा न लगा था, अत इनकी शिक्षा-दीक्षा भी घर पर ही हुई। यह स्वभाव के अत्यन्त विनम्र, स्वाभिमानी, सरल एव सादे थे। इन्होने घर पर रहकर ही सस्कृत, वगला और अग्रेजी आदि विभिन्न भापाओ का अध्ययन व मनन किया था। द्विवेदी-युग की सबसे महान् देन वास्तव मे श्री मैथिलीशरण गुप्त ही हैं। इनमे द्विवेदी-युग की समस्त चेतनाएँ तो साकार हुई ही है, परवर्ती युगो की परिवर्तनशील चेतनाओ को भी इन्होने अपने काव्यो मे प्रतिध्वनित एव सजीव रूप से अकित किया है। इन्होने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से ही हिन्दी काव्य के क्षेत्र मे प्रवेश किया था। इस कारण यह द्विवेदी जी को अपना गुरु एव निर्माता मानते थे। यह वात इनकी निम्न पक्तियो से स्पष्ट हो जाती है।

तुलसी भी करते कहो कैसे मानसवाद।
महावीर का यदि उन्हे मिलता नही प्रसाद।

सर्वप्रथम पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित कविताओ के अतिरिक्त सन् १९१० मे 'रग मे भग' नामक इनका एक अल्पाकार प्रवन्ध-काव्य प्रकाशित हुआ था। परन्तु ज्योही इनकी 'भारत-भारती' नामक कृति प्रकाश मे आई, इनके नाम की सर्वत्र धूम मच गई और लोगो ने इन्हें तभी से राष्ट्रकवि कहना आरम्भ

कर दिया। वाद मे इनकी अन्य अनेक कृतियाँ भी प्रकाश मे आईं, जिनसे इनका मान-सम्मान क्रमश वृद्धि करता गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति ने सरकारी तौर पर इन्हे राष्ट्रकवि का पद देकर सम्मानित किया और राज्यसभा का सदस्य भी मनोनीत किया। इस पद पर ये अपने जीवन के अन्तिम क्षण सन् १९६५ तक वने रहे। आगरा विश्वविद्यालय ने इन्हे सम्मानित डी० लिट्० की मानद उपाधि से भी विभूपित किया। अन्य अनेक प्रकार से भी इन्हे सम्मानित किया गया। वास्तव मे गुप्त जी सभी के 'दद्दा' थे और हिन्दी साहित्य के इतिहास मे इनका 'दद्दा' का महत्त्व सदा-सर्वदा अक्षुण्ण वना रहेगा।

'भारत-भारती' के वाद गुप्त जी का दृष्टिकोण अत्यधिक व्यापक एव परिमार्जित होता गया। इन्होने अपने काव्यो के तीन आधार चुने—राम-कथा, वुद्ध-कथा एव महाभारत। स्वय वैष्णव-भक्त होते हुए भी इनका दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा। इनका लोकनायकत्व और राष्ट्रकवित्व भी इसी दृष्टि मे सार्थक है कि इन्होने भारत मे निवास करने वाली हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान, ईसाई आदि समस्त सस्कृतियो को समान राष्ट्रीयता की भावना से अपने काव्यो मे अकित किया।

इन्होने 'भारत-भारती' की परम्परा का ही निर्वाह करते हुए आगे चलकर हिन्दू, केशो की कथा और स्वर्ग-सहोदर नामक काव्य रचे, जो 'मगल घट' मे सकलित है। इन छोटी-छोटी रचनाओ के अतिरिक्त इन्होने प्रबन्ध काव्यो की परम्परा का निर्वाह भी वडी कुशलता से किया। रग मे भग, जयद्रथवध, विकट भट, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पचवटी, सिद्धराज और साकेत इनके प्रसिद्ध काव्य हैं। 'यशोधरा' की गणना चम्पू काव्यो की श्रेणी मे की जाती है। इनमे से भी 'साकेत' एव 'यशोधरा' गुप्त जी की कीर्ति के आधार-स्तम्भ है। 'साकेत' मे कवियो द्वारा उपेक्षिता लक्ष्मण-पत्नी उर्मिला को नायिका बनाकर गुप्त जी ने निश्चय ही एक महान् कार्य किया। दूसरे इसमें राम-जीवन से सम्बन्धित अन्य पात्रो को भी उभरने का अवसर प्रदान किया और उनका चरित्र-चित्रण करते समय विशेप मानवीय सहानुभूतिमय दृष्टिकोण अपनाया गया है। इनमे

राम के ईश्वरीय एव मानवीय स्वरूपो का सुन्दर समन्वय भी विशेष द्रष्टव्य है। यहाँ युगवादी चेतना प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। इस सर्जना पर गुप्त जी को मगलाप्रसाद पुरस्कार और हिन्दुस्तान अकादमी का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार इन्होने 'यशोधरा' मे गौतम बुद्ध की पत्नी परित्यक्ता यशोधरा के माध्यम से भारतीय नारी के जीवन मे व्याप्त परम्परागत ममता और करुणा का वडा ही मार्मिक उद्घाटन किया है। इसकी निम्नलिखित दो पक्तियाँ केवल इस काव्य की ही नही, वल्कि गुप्त जी के समूचे काव्य मे विद्यमान करुणा-भावना का सार-तत्त्व हैं —

"अवला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल मे है दूध और आँखो मे पानी॥"

'पचवटी' मे गुप्त जी का प्रकृति-प्रेम का भाव वडे ही सुन्दर रूप से अभिव्यक्त हुआ है। इन रचनाओ के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाओ के नाम इस प्रकार है—अनघ, द्वापर, नहुप, किसान, वैतालिक, जयभारत आदि। इन सभी मे भारतीय सभ्यता-सस्कृति के विभिन्न पृष्ठो पर वडी सूक्ष्मता से प्रकाश डाला गया है, जिससे यह सच्चे अर्थो मे भारतीय सस्कृति के साधक प्रमाणित होते हैं। इन्होने सस्कृति की साधना की दृष्टि से अधिकाश रचनाओ मे हिन्दू-सस्कृति के उदात्त तत्त्वो का गायन किया है। इन्होने अन्य सस्कृतियो की साधना की दृष्टि से 'गुरुकुल' मे सिक्खो के दस गुरुओ के महान् जीवन और सदेशो को चित्रित किया, 'अर्जन और विसर्जन' मे ईसाई सस्कृति के उदात्त तत्त्वो का विश्लेषण किया है, जवकि 'कावा और कर्वला' मे इस्लाम के उदात्त तत्त्वो और सदेशो को अकित किया है। 'यशोधरा' और 'कुणाल' बौद्ध-सस्कृति के गायक हैं, तो 'अनघ' जैसे काव्यो मे जैन-सस्कृति की झलक मिलती है। इन्होने भी रामभक्त होते हुए भी 'द्वापर' जैसा काव्य रचकर तुलसीदास के समान राम-कृष्ण का का समन्वय करने का सफल प्रयत्न किया। इस प्रकार गुप्त जी के काव्यो में भारतीय साधना का आधारभूत तत्त्व समन्वयवाद सर्वत्र प्रखर रूप से मुखर दिखाई देता है। यही देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था—"गुप्त जी वास्तव मे सामजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले अथवा म

मे झूमने वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हे प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमे है।"

गुप्त जी की चेतना ने परिवर्तनशील युग के प्रभाव को भी न्यूनाधिक ग्रहण किया है। छायावादी युग-चेतना से भी यह अछूते नही रहे। 'साकेत' के नवम सर्ग और 'यशोधरा' के गीतो मे छायावादी युग-चेतना का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। इन्होने कुछ रहस्यवादी ढग के गीत भी लिखे थे, जिनका सकलन 'झकार' नाम से प्रकाशित हुआ। किंतु वह इनका लक्ष्य या काम्य नही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे कहा जा सकता है कि · "असीम के प्रति उत्कण्ठा और लम्बी-चौडी वेदना का विचित्र प्रदर्शन गुप्त जी की अन्त प्रेरित प्रवृत्ति के अन्तर्गत नही। काव्य का एक मार्ग चलता देख ये उधर भी जा पडे।" इतना ही नही, 'किसान आदि काव्यों मे प्रगतिवादी धारणाओ का प्रभाव भी इन पर देखा जा सकता है। परन्तु कुल मिलाकर ये समन्वयवादी सास्कृतिक चेतनाओ के ही मूल गायक है।

'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास' नामक दो नाटक भी इन्होने रचे थे। इन्होने कुछ अनुवाद भी किये। इनकी अनूदित रचनाओ मे बगला कवि माइकेल मधुसूदन दत्त का प्रसिद्ध काव्य 'मेघनाद वध' प्रमुख है। अन्य अनूदित रचनाओ के नाम है क्रमश —वीरागना, विरहिणी व्रजागना, प्लासी का युद्ध आदि। इनके अतिरिक्त इन्होने उमर खैय्याम की कुछ रुबाइयो और सस्कृत के नाटक 'स्वप्न वासवदत्तम्' के अनुवाद भी किये थे। इस प्रकार मौलिक एव अनूदित रचनाओ की सख्या सत्तर के लगभग पहुँच जाती है।

गुप्त जी की भाषा सामान्यतया सरल साहित्यिक हिन्दी है। इनकी शैली मे भी किसी प्रकार की कठिनाई नही। इन्होने प्राय. सस्कृत के छन्दो को ही अपनाया। कुछ छन्दो की मौलिक उद्भावनाएँ भी की। इन्होने प्रबध एव मुक्तक के साथ-साथ गीत-प्रगीत की भी रचना की। इनकी सबसे बडी कमी है तुकबन्दियो का मोह, जो इनके समूचे काव्य-वैभव को कुछ खोखला-सा करके रख देता है। इन तुकबन्दियो के कारण कभी-कभी तो वितृष्णा एव ऊब का भाव

भी उभरने लगता है। कुछ भी हो, कवि रूप मे मैथिलीशरण गुप्त का व्यक्तित्व एक समूचे युग का व्यक्तित्व है और यही इनकी समग्र सफलता भी है।

रामनरेश त्रिपाठी—श्रीधर पाठक के काव्य मे जिन स्वच्छन्तावादी प्रवृत्तियों का आभास मिलता है, उनका क्रमश विकास त्रिपाठी जी के काव्यो मे देखा जा सकता है। इमी कारण इन दोनो को प्रवृत्ति की दृष्टि से द्विवेदी-युग के विद्रोही कवि माना जाता है। इनके विपय मे यह भी प्रसिद्ध है कि इन दोनो की काव्य-प्रवृत्तियो का विकास ही आगे चलकर छायावादी काव्यधारा के रूप मे हुआ। इम दृष्टि से श्रीधर पाठक के समान रामनरेश त्रिपाठी का महत्त्व भी हिन्दी साहित्य के इतिहास मे नितान्त अक्षुण्ण है।

इनका जन्म सम्वत् १८८९ मे उत्तर प्रदेश के जौनपुर जिले मे स्थित कोइरीपुर नामक गाँव मे हुआ था। हिन्दी-सस्कृत के समान उर्दू, अग्रेजी एव गुजराती भापा के भी ये अच्छे ज्ञाता थे। कई वर्षों तक अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मन्त्री-पद को सुशोभित करते रहे है।

हिन्दी मे इनके कलाकार का व्यक्तित्व एक साथ कवि, समालोचक, नाटककार एव उपन्यासकार के रूप मे प्रगट हुआ है। केवल युवको के लिए ही नहीं, किशोरो एव सुकुमार-मति वालको के लिए भी इन्होने साहित्य-सृजन किया। अनेक मुक्तक कविताओ के अतिरिक्त इन्होने 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' नामक खण्ड-काव्य रचे। इनमे देशभक्ति, राष्ट्र-प्रेम, त्याग और वलिदान के भावो को प्रधानतया प्रेरणा दी गई है। इन रचनाओ मे इनका प्रकृति-प्रेमी रूप भी स्पष्ट रूप से झलकता है। आत्मविश्वास, सत्यनारायण, समाज-सेवा-व्रत आदि इनके काव्यो के अन्य उदात्त भाव है। वास्तव मे इन्होने युग की नाडी पहचानकर और कल्पित कथाओ के माध्यम से युग की माँग राष्ट्रीय चेतना को जगाने का ही मुख्य प्रयास अपने काव्यो द्वारा किया है, इसी कारण इनके काव्यो मे अनेकशः नीति एव उपदेश के भाव भी परिलक्षित होने लगते है।

इनके फुटकर गीतो का सकलन 'मानसी' नामक रचना मे हुआ है। इन्होंने 'ग्राम-गीत' नाम से सुरुचिपूर्ण लोकगीतो का सकलन किया था। सुभद्रा, प्रेम-लोक मे तथा जयन्त—ये तीन इनके प्रसिद्ध प्रकाशित नाटक है। नाटको के अति-

रिक्त उनके उपन्यास भी प्रकाशित हुए है, नाम है—वीरागना, मारवाडी और पिशाचिनी, वीरवाला और लक्ष्मी। इनके व्यक्तित्व का एक पक्ष आलोचक का भी रहा है। इस पक्ष की देन है प्रसिद्ध आलोचनात्मक कृति—तुलसीदास। इन्होने हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओ के काव्य के प्रति अपनी सुरुचि का परिचय 'कविता-कौमुदी' के विभिन्न भागो मे दिया है। इन्होने इसमे हिन्दी, उर्दू, सस्कृत, वगला, गुजराती आदि विभिन्न भाषाओ की कविताओ का सुरुचि-सम्पन्न सकलन प्रस्तुत किया है। इससे विभिन्न भाषाओ की कविताओ के तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति को काफी सहायता और वल मिलता है। इनके प्रवन्ध-काव्यो के सम्वन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत विशेष दर्शनीय है। वे लिखते है :—

"इन प्रवन्धो मे नर-जीवन जिन रूपो मे ढालकर सामने लाया गया है, वे मनुष्य-मात्र का मर्म-स्पर्श करने वाले है तथा प्रकृति के स्वच्छन्दता और रमणीय प्रसार के वीच अवस्थित होने के कारण शेष सृष्टि से विच्छिन्न नही प्रतीत होते।"

क्या प्रेम, देशप्रेम और क्या प्रकृति-चित्रण कही भी कोई कमी नही। अनेकश इनके काव्यो मे रहस्योन्मुखी प्रवृत्तियो के दर्शन भी होते हैं। भाषा-भाव-अभिव्यक्ति सभी की स्वच्छता विशेष महत्त्वपूर्ण है।

द्विवेदी-युग के अन्य कवि और साहित्यकार

ऊपर द्विवेदी-युग के प्रमुख एव महत्त्वपूर्ण कवियो—अन्य विधात्मक साहित्यकारो की चर्चा की गई है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक कवियो ने भी इस अन्तर्युग मे विधात्मक साहित्य की श्रीवृद्धि मे अनवरत योगदान किया। सक्षेप मे इनकी चर्चा करना भी असगत न होगा।

१ बालमुकुन्द गुप्त (१८६५—१९०७ ई०)—गुप्त जी का महत्त्व इतना कवि के रूप मे नही, जितना कि इस युग के निवन्धकारो के रूप मे है। ये रोहतक जिले के गुडियाना ग्राम के निवासी थे। इन्हे कवि के रूप मे वहुत कम लोग जानते है। हा, इनका पत्रकार और निवन्धकार का व्यक्तित्व एव कृतित्व काफी समक्त

और आकर्षक है। इनकी कविता सामयिक तुकबन्दी से अधिक महत्त्व नहीं रखती। कही-कही इसमे अवश्य चरपरेपन का आभास मिल जाता है। इन्होने ब्रजभाषा और खडी बोली दोनो मे काफी तुकबन्दियाँ की थी।

इनका व्यक्तित्व निबन्धकार के रूप मे द्विवेदी युग के निबन्धकारो मे अत्यधिक प्रखर है। इनके निबन्ध हिन्दी एव उर्दू दोनो भाषाओ मे प्रकाशित हुआ करते थे। इन्होने 'भारत-मित्र' और 'बगवासी' जैसे तत्कालीन प्रसिद्ध पत्रो मे अनेक निबन्ध लिखे। निबन्धो मे अतीत-प्रेम एव सामयिक वैषम्य का भाव साथ-साथ चलता है। समसामयिक राजनीति के प्रति इनका दृष्टिकोण अत्यन्त सजग था। इसी कारण इन्होने अपनी ऐसी भावनाओ की अभिव्यक्ति के लिए व्यग्यात्मक शैली अपनायी और 'शिवशम्भू का चिट्ठा' शीर्षक के अन्तर्गत सजग व्यग्यात्मक निबन्ध रचते रहे। निबन्ध की भाषा-शैली अत्यन्त सजीव, चुस्त एव प्रभाव युक्त प्रवाहमयी है। मुहावरेदार भाषा के प्रयोग मे यह विशेष सिद्धहस्त थे। इन्होने 'शिवशम्भू का चिट्ठा' के अतिरिक्त जो अन्य रचनाएँ रची, उनके नाम हैं—हिन्दी भाषा, चिट्ठे और खत, खेल-तमाशा आदि। इनके निबन्धो एव अन्य रचनाओ का व्यावहारिक पक्ष अत्यन्त उज्ज्वल तथा प्रभावपूर्ण है।

लाला भगवानदीन (१८६६—१९३० ई०)—अनेक प्राचीन कवियो के काव्यो की उपयोगी टीकाएँ प्रस्तुत करने वाले लाला भगवानदीन उर्दू-फारसी के भी विद्वान् थे। इसी कारण इनकी कविता पर फारसी प्रभाव भी स्पष्ट है। इनकी कविता ब्रज और हिन्दी दोनो मे उपलब्ध है। इनकी 'वीर-पचरत्न' वीर-रस प्रधान एकमात्र प्रसिद्ध रचना है। इसमे इनकी वीरतापूर्ण कविताओ का सकलन हुआ है। इनकी प्रसिद्धि टीकाकार के रूप मे अधिक है। इनकी टीकाएँ रामचन्द्रिका, दोहावली, कवितावली, कविप्रिया, बिहारी सतसई आदि पर प्रसिद्ध हैं।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (१८६८—१९२० ई०)—आशु-कवि और समस्या-पूर्तियो के अखाडे के प्रसिद्ध सफल खिलाडी राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ब्रज एव खडी बोली दोनो भाषाओ के कुशल कवि थे। इन्होने मुक्तक-काव्य-रचना के साथ-साथ 'रसिक वाटिका' नाम से एक पत्र भी प्रकाशित किया था। इनकी फुटकर

कविताएँ 'पूर्ण सग्रह' मे सकलित है। 'अमलतास' को पढने से इनके प्रकृति-प्रेमी हृदय का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। वसन्त-वियोग, सग्राम-निन्दा और स्वदेशी कुण्डल आदि इनकी अन्य रचनाएँ है। इन्होने कालिदास की प्रसिद्ध रचना 'मेघदूत' का 'धाराधार-धावन' नाम से ब्रज भाषा मे सुन्दर अनुवाद भी प्रस्तुत किया था।

इन्होंने 'चन्द्रकला भानुकुमार' नामक कल्पित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक नाटक भी रचा था। इन्होंने कुछ कहानियाँ भी लिखी थी।

गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही'—इनका जन्म सन् १८८३ मे उन्नाव जिले के हडहा नामक गाँव मे हुआ था। इनकी काव्य-प्रतिभा का विकास शैशव काल से ही होने लगा था। ये हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू के भी विद्वान् थे। ये पहले उर्दू और ब्रजभाषा मे ही कविता किया करते थे। तत्पश्चात् खडीवोली की लोकप्रियता से प्रभावित होकर यह इसीमे काव्य रचने लगे। इनकी अनेक रचनाएँ 'त्रिशूल' उपनाम से भी मिलती हैं। ये 'सुकवि' नाम से एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन-सम्पादन भी करते रहे। समस्यापूर्ति के मैदान मे इनका काफी नाम था। कृपक-क्रन्दन, प्रेम-पच्चीसी, सजीवनी, कुसुमाजली, त्रिशूल-तरग आदि इनके प्रसिद्ध काव्य-सग्रह है।

रामचन्द्र शुक्ल (१८८४—१९४१ ई०)—इनके व्यक्तित्व का वास्तविक विकसित रूप हमे अगले युग मे मिलता है, इसी कारण यहाँ इनकी गणना द्विवेदी युग के सामान्य व्यक्तियो के अन्तर्गत की जा रही है। इनके व्यक्तित्व का प्रखर रूप निवन्ध एवं आलोचना के क्षेत्र मे दिखाई देता है। कविता की दृष्टि से इनका महत्त्व सामान्य ही है। वैसे यह प्रवृत्ति इनके स्वभाव में शैशव से ही थी। इन्होंने ब्रजभाषा और खडीवोली दोनो मे कविता के अखाड़े मे जोर-आजमाई की, पर यहाँ विशेष सफल न हो सके।

इन्होंने Light of Asia का 'बुद्धचरित' नाम से हिन्दी कविता मे सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया। ये कविता मे मानवीय भावों के सहज चित्रण के ही पक्षपाती थे। इनका 'हिन्दी शब्द-सागर' के सम्पादन में विशेष हाथ था। कई वर्षों तक 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन भी करते रहे। इसके निवन्धकार और आलोचकों के व्यक्तित्व का विकास वास्तव में यहीं पर हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में

हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष भी कई वर्षो तक रहे। इनकी कीर्ति का आधार-स्तम्भ जहाँ 'चिन्तामणि' जैसे निबन्ध-सग्रह है, वहाँ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी है। इसमे इन्होने पहली बार वैज्ञानिक ढग से क्रमबद्ध हिन्दी कवियो की गम्भीर समीक्षा प्रस्तुत की। निबन्ध एव समीक्षा क्षेत्रो मे नये मानदण्ड स्थापित करने के कारण ही इन्हे आचार्य प्रवर की सम्मानित पदवी प्राप्त हुई। परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके है, इनके सम्यक् व्यक्तित्व का विकास अगले अन्तर्युग मे ही विशेष हुआ।

लोचनप्रसाद पाण्डेय—मध्यप्रदेश-निवासी पडित लोचनप्रसाद पाण्डेय का जन्म सन् १८८६ मे हुआ था। इनका हिन्दी के अतिरिक्त उडिया भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था और इसमे कविता भी रचा करते थे। ये भी 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से ही प्रकाश मे आये। इनके बाल-विनोद, नीति-कविता, मेवाड-गाथा, मानव मजरी आदि फुटकर काव्य-सग्रह है। इन्होने 'महानदी' नाम से एक सुन्दर खण्ड-काव्य की रचना भी की। इसी प्रकार इन्होने मृगी दुखमोचन नामक काव्य सवैया छन्द मे रचा। इनकी कविता मे इतिवृत्तात्मकता विशेष रूप मे पाई जाती है।

सियारामशरण गुप्त (१८९५—१९६३ ई०)—यह राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के अनुज थे। उन्हीके समान बगला, गुजराती, मराठी एव सस्कृत आदि भाषाओ मे निष्णात विद्वान् थे। गाधीवादी चेतना का समग्र प्रभाव लेकर ही ये काव्य के क्षेत्र मे आये। इनकी कविताओ मे सास्कृतिक चेतनाओ के दर्शन भी यत्र-तत्र हो जाते है। इन्होने प्राय कथात्मक कविताएँ ही अधिक रची है। आधुनिकता का प्रभाव स्पष्टत देखा जा सकता है।

आर्द्रा, दूर्वादल, विषाद नामक काव्य-सग्रहो मे इनकी सामयिक सक्षिप्त कविताओ का सकलन हुआ है। इनके द्वारा रचे गये मौर्य-विजय, अभय, पाथेय आख्यानक खण्ड-काव्य है। इनके गीता-सवाद, नोआखली, दैनिकी और उन्मुक्त भी कथात्मक युग-भावनाओ को बिम्बित करने वाले काव्य है। 'उन्मुक्त' मे इन्होने युद्धो की विभीषिका दिखाकर गाधीवादी मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा दी है। इनकी 'पाथेय' सर्वश्रेष्ठ कृति मानी गई है।

इन्होंने कविता के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास और गीति-नाट्यो की भी रचना की है। 'कोटर-कुटीर' और 'मानुषी' इनके दो कहानी-सग्रह हैं। गोद, नारी और अन्तिम आकाक्षा इनके तीन उपन्यास हैं। इनमे 'नारी' काफी दिनो तक समीक्षकों की विशेष चर्चा का विषय बना रहा। इनका 'पुष्पवर्षा' नाम से एक नाटक भी प्रकाशित हुआ। 'निष्क्रिय प्रतिरोध' और 'कृष्णाकुमारी' अतुकान्त गीति-नाट्य हैं। इनके 'उन्मुक्त' को भी गीति-नाट्य ही माना जाता है। इनके खण्ड-काव्यो मे करुणा का वातावरण विशेष प्रभावशाली बना पडा है। इन्हे भावो एव अभिव्यक्ति की नव्यता विशेष प्रिय थी। चिन्त-मनन की गहराई भी इनकी रचनाओ मे सर्वत्र देखी जा सकती है। इन्होंने द्विवेदी-युग के अतिरिक्त अगला छायावादी युग भी देखा था, अत. उसका सामान्य प्रभाव भी इनकी रचनाओ मे विद्यमान है।

इनके अतिरिक्त द्विवेदी-युग मे कुछ अन्य कवियो एव विधात्मक साहित्यकारो की चर्चा भी की जा सकती है (निबन्धकारो का परिचय आगे अलग से दिया गया है)। कवियो मे ठाकुर गोपालसिंह, रूपनारायण पाण्डेय, अनूप शर्मा, गुरु-भक्तसिंह, वियोगी हरि आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ठाकुर गोपालसिंह ने मानवी, माधवी, सुमन, विश्व-गीत जैसी सुन्दर रचनाएँ हिन्दी साहित्य को प्रदान की। पण्डित रूपनारायण पाण्डेय कवि के अतिरिक्त सुलझे हुए पत्रकार और नाटककार भी थे। यह सोलह वर्षो तक मासिक पत्रिका 'माधुरी' का योग्यतापूर्वक सम्पादन करते रहे। इन्होंने ब्रज और खडीबोली दोनो मे काव्य रचे। यह एक अच्छे अनुवादक भी थे। भाषा की दृष्टि से इनमे काफी प्रौढता है। इनकी मौलिक एव अनूदित रचनाओ के नाम है—दुर्गादत्त, नूरजहाँ, पाषाणी, सीता, सूक्ति-सुधाकर, शान्ति-कुटीर, पत्र-पुष्प, पतित पति, अबला का बल आदि। भाषा-शैली की प्रौढता एव अनुवादो मे मूल भावो की रक्षा की दृष्टि से इनका महत्त्व काफी माना जाता है।

अनूप शर्मा की ख्याति का आधार है 'सिद्धार्थ' नामक महाकाव्य और 'कुनाल' नामक खण्ड-काव्य। महाकाव्य की शैली हरिऔध जी के 'प्रिय प्रवास' के समान है। वर्द्धमान, सुमनाजलि, शर्वाणी और फेरि मिलिबो आदि इनकी अन्य

प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। गुरुभक्तिसिंह ने 'नूरजहाँ' नामक महाकाव्य रचकर प्रसिद्धि प्राप्त की। 'कुसुमकुंज' और 'विक्रमादित्य' प्रभृति इनकी अन्य रचनाएँ हैं। वियोगी हरि रस की दृष्टि से भूषण एवं स्वरूप-विधान की दृष्टि से नीतिकार कवियों की परम्परा में आते हैं। वीरता के अतिरिक्त भक्ति-भाव भी इनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। इन्होंने ब्रजभाषा में 'वीर सतसई' की रचना की। दोहा छन्द में लिखी इस रचना पर इन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हुआ था। इनकी कीर्ति का वास्तविक आधार यही कवि है। कवि के साथ-साथ यह सम्पादक, नाटककार और गद्य-काव्य के लेखक के रूप में भी लब्धप्रतिष्ठ हैं। इनके 'वीर हरदौल' तथा 'छद्मयोगिनी' नाटक हैं। ये 'हरिजन' और 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका' का सम्पादन करते रहे। इनके 'प्रेमयोग' 'आर्तनाद' और 'सन्त-वाणी' प्रसिद्ध गद्य-काव्य-संकलन हैं।

द्विवेदी-युग के निबन्धकार

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और बाबू बालमुकुन्द गुप्त का परिचय इसी प्रसंग में पहले दिया जा चुका है। यहाँ केवल उन्हीं साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है जिनका कविता के साथ कोई संबंध नहीं था। इनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं —

माधवप्रसाद मिश्र—यह पंजाब के निवासी थे। इनका जन्म सन् १८७१ में हुआ था। ये सनातनधर्मी होने के कारण भारतीय सभ्यता-संस्कृति के प्रबल पोषक एवं समर्थक थे। इनका निबन्धकार के रूप में विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। इन्होंने प्रायः तीर्थस्थलों, उत्सव, त्योहारों, यात्रा, भ्रमण आदि विषयों पर बड़े ही सुरुचि-सम्पन्न निबन्ध लिखे थे। 'माधव मिश्र निबन्धमाला' नाम से इनके सरस निबन्धों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। निबन्धकार के साथ-साथ यह सफल पत्रकार भी थे। इन्होंने 'वैश्योपकारक' तथा 'सुदर्शन' जैसे पत्रों का सफलतापूर्वक सम्पादन किया था। निबन्धों में राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक चेतना के साथ-साथ देशप्रेम की भावना भी स्पष्टतः देखी जा सकती है। इनकी भाषा-शैली में स्वाभाविक प्रवाह, ओजस्विता आदि गुण विद्यमान हैं।

इन्होंने तत्सम शब्दो का प्रयोग पर्याप्त मात्रा मे किया। इनका निबन्धकार का व्यक्तित्व वास्तव मे पर्याप्त प्रभावी था। इनका स्वर्गवास सन् १९०७ ई० मे हुआ।

अध्यापक पूर्णसिंह—अध्यापक पूर्णसिंह द्विवेदी-युग के एक विशिष्ट निबन्धकार है। ये बहुत कम निबन्ध लिखकर भी द्विवेदी-युग के निबन्ध-साहित्य पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड गये है। इनका जन्म सन् १८८१ ई० मे पजाब के ऐबटाबाद नामक स्थान पर हुआ था। इन्टरमीजिएट तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद ये सन् १९०० मे जापान चले गये थे। वहाँ से लौटकर ये देहरादून के फॉरेस्ट कॉलेज मे नियुक्त हुए। स्वामी रामतीर्थ के शिष्य होने के कारण इनकी समतावादी अध्यात्म-चेतना का इनके जीवन एव व्यवहार पर अत्यधिक प्रभाव पडा था। यह प्रभाव-चेतना इनके निबन्धो मे भी देखी जा सकती है। इनका निधन सन् १९३१ ई० मे हुआ।

अध्यापक पूर्णसिंह ने कुल मिलाकर छ -सात निबन्ध ही लिखे। इनके नाम है—आचरण की सभ्यता, ब्रह्मकान्ति, मज़दूरी और प्रेम, पवित्रता, नयनो की गगा और सच्ची वीरता। इनमे से 'ब्रह्मकान्ति' को छोडकर शेप सभी निबन्धो को काफी ख्याति मिली और आज तक पाठ्यक्रमो मे इनमे से कोई न कोई निबन्ध अवश्य सम्मिलित किया जाता है। इन्होंने भावात्मक और विचारात्मक दो प्रकार के निबन्ध ही लिखे। इनके निबन्धो मे वैचारिक प्रौढता एव व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। इन्होंने प्रत्येक विषय को एक विशेष आध्यात्मिक पुट देकर प्रस्तुत किया है, जिस कारण उनकी प्रभविष्णुता एव सरसता काफी बढ गई है। इनकी निबन्ध-शैली और भाषायी प्रयोग काफी सयत एव आकर्षक है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए ये उदाहरणो, उद्धरणो, लोकोक्तियो और मुहावरो का मुक्त भाव से प्रयोग करते है। भाषा मे प्रचलित अरबी-फारसी और अग्रेजी के प्रयोग भी पाये जाते है। लाक्षणिक एव व्यजनात्मक प्रयोगो की भरमार के कारण निबन्धो का महत्त्व और बढ गया है। इनका दृष्टिकोण आद्यन्त मानवतावादी है। भाषा-भाव और अभिव्यक्ति का गुम्फन इनके निबन्धो मे विशेष दर्शनीय है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—'उसने कहा था' जैसी अमर कहानी के लेखक चन्द्रधर शर्मा एक कुशल निवन्धकार भी थे। इनका जन्म पजाव स्थित धर्मशाला के समीप अवस्थित गुलेर नामक स्थान पर सन् १८८३ मे हुआ था। प्रयाग विश्वविद्यालय से इन्होने सन् १९०८ मे बी० ए० की परीक्षा सर्वप्रथम रहकर उत्तीर्ण की थी। इनकी अध्ययन, चिन्तन और मनन मे रुचि शैशव से ही थी। ये सस्कृत, प्राकृत एव पाली भापाओ के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका निधन सन् १९२२ ई० मे हुआ था।

गुलेरी जी जयपुर से प्रकाशित होने वाली 'समालोचक' नामक पत्रिका का सम्पादन कई वर्पो तक करते रहे। इन्होने इसी युग मे अनेक पुरातत्त्व-सम्वन्धी, साहित्यिक, सामजिक एव आलोचनात्मक निवन्धो की रचना की थी। निबन्धो का सग्रह वाद मे काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान मे प्रकाशित हुआ। 'कछुआ धर्म' और 'मारेसि मोहि कुठाउँ' आदि इनके विशेप प्रसिद्ध निवन्ध हैं। इनके निवन्धो मे पाण्डित्यपूर्ण खोजो एव विश्लेपणात्मक प्रवृत्तियो का विशेप परिचय मिलता है। इनकी भापा-शैली पर्याप्त गहन होते हुए भी हास्य-व्यग्य से सपन्न है।

इन्होने निबन्धो के समान कहानियाँ भी वहुत कम रची—मात्र तीन। इनके नाम हैं—सुखमय जीवन, वुघुआ का काँटा और उसने कहा था। इन तीन और इनमे से भी विशेपत 'उसने कहा था' लिखकर ये हिन्दी साहित्य के इतिहास मे चिर अमर हो गये हैं। इनके निवन्धकार और कहानीकार दोनो के व्यक्तित्व अत्यधिक आकर्पक हैं। इनके निवन्धो के विपय एव भापा-शैली के सम्वन्ध मे व्यक्त किये गये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार विशेप दर्शनीय हैं —

"यह वेधडक कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरी जी मे मिलती है, वह और किसी लेखक मे नही। इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रो से ले गई है। अत इनके लेखो का पूरा आनन्द उन्हीको मिल सकता है जो वहुत या कम से कम वहुश्रुत हैं।"

डॉ० श्यामसुन्दरदास—द्विवेदी-युग के निवन्धकारो मे इनकी मान्यताओ को समग्रत अपनाकर निवन्ध तथा आलोचना के क्षेत्र मे प्रवेश करने वालो मे

डॉ० श्यामसुन्दरदास का व्यक्तित्व एव कृतित्व अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इनका जन्म बनारस के एक प्रतिष्ठित क्षत्रिय परिवार मे सन् १८७५ मे हुआ था। बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद बनारस के सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज मे अध्यापन-कार्य करने लगे। तदनन्तर कुछ दिनो तक सिंचाई विभाग मे कार्य करने के बाद लखनऊ स्थित कालीचरण हाई स्कूल मे प्रधानाध्यापक नियुक्त हो गये। अन्त मे जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, तो यहाँ हिन्दी विभागाध्यक्ष बनकर कार्य करने लगे। अध्यापन-कार्य के साथ-साथ ये सम्पादन-कार्य भी करते रहे। नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना एव इसकी गतिविधियो के सचालन मे भी इनका विशेष योगदान रहा। इनका निधन अगस्त सन् १९४५ ई० मे हुआ।

इन्होने अध्यापक एव सम्पादक होने के नाते अधिकाशत साहित्यिक समीक्षात्मक निबन्ध ही रचे। इनके निबन्धो के अनेक सकलन मिलते है। इनमे 'गद्य कुसुमावली' 'साहित्यिक लेख' और 'हिन्दी निबन्धमाला' आदि विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनके साहित्यालोचन, हिन्दी भाषा और साहित्य, भाषा-विज्ञान, रूपक-रहस्य, गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। इनके अग्रेजी आदि भाषाओ का वैचारिक प्रभाव निबन्धो एव आलोचनाओ मे विशेष रूप से देखा जा सकता है।

इनकी भाषा विशुद्ध हिन्दी है। ये अरबी-फारसी आदि के शब्दो से यत्नपूर्वक बचते रहे। इसी प्रकार इन्होने सस्कृत की समस्त पदावली से भी परहेज किया। शैली सरल, सुबोध एव प्रवाहमयी है। मुहावरो और लोकोक्तियो के प्रयोग भी इनकी भाषा-शैली मे नही मिलते। इन सब बातो को देखकर ऐसा माना जाता है कि द्विवेदी जी हिन्दी गद्य शैली के विनिर्माण का जो कार्य अधूरा छोड़ गये थे, उसे पूर्ण करने का कार्य डॉ० श्यामसुन्दरदास ने ही किया।

द्विवेदी-युग के इन प्रमुख निबन्धकारो के अतिरिक्त कुछ अन्य नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। इनमे से—पण्डित पद्मसिंह शर्मा (१८७६-१९३२ ई०) का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। पद्म पराग-प्रबन्ध मजरी, आदि इनके प्रसिद्ध निबन्ध सग्रह हैं। 'बिहारी सतसई' की समीक्षा-व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण इन्हे

विशेष यश एव मान मिला। इनके निबन्धो मे वैयक्तिकता का विशेष गुण महत्त्वपूर्ण है। भाषा-शैली की चटक भी विशेष दर्शनीय है। शैली की दृष्टि से इनके सस्मरणात्मक निबन्धो का विशेष महत्त्व माना जाता है। भाषा मे अपनापन और सजीवता उल्लेखनीय है।

इनके बाद पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र (सन् १८५६-१९२३) ने भी अनेक प्रकार के सामयिक एव साहित्यिक निबन्ध लिखकर द्विवेदीयुगीन निबन्ध साहित्य को समृद्ध किया। 'गोविन्द निबन्धावली' मे इनके समस्त निबन्ध सकलित हैं। 'सार सुधानिधि' पत्र मे अक्सर इनके निबन्ध प्रकाशित हुआ करते थे। इनकी भाषा-शैली सानुप्रासिक एव स्पष्ट प्रवाहमयी है। इसमे प्रभविष्णुता भी पर्याप्त है।

पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, गोपालराम गहमरी, मिश्रबन्धु, गगाप्रसाद अग्निहोत्री, बदरीनाथ भट्ट, मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या रूपनारायण पाण्डेय और बियोगी हरि प्रभृति विद्वानो के नाम भी इस युग के निबन्धकारो मे विशेष सम्मान के साथ लिये जाते हैं।

इस युग मे उपन्यास एव समालोचना आदि अन्य साहित्यिक विधाओ का भी समुचित विकास हुआ। उपन्यासकारो मे देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आलोचको मे प्राय अधिकाश निबन्धकारो और परवर्ती युग मे प्रखरता पाने वाले आलोचको के नाम प्रमुखत आते हैं। इनका विस्तृत विवेचन उपन्यास एव समालोचना आदि के विकास के अन्तर्गत ही किया जायेगा। इसी प्रकार कहानीकारो की चर्चा भी कहानी विकास के अन्तर्गत ही की जायेगी। यहाँ तक तो केवल द्विवेदी-युग के प्रमुख कवियो एव लेखको का परिचय ही प्रस्तुत किया गया है। इसमे द्विवेदी युग के दूसरे चरण की समग्रता का सम्पूर्ण ज्ञान अवश्य हो जाता है।

३ तीसरा चरण (छायावादी युग)

भारतेन्दु-युग मे आधुनिक साहित्य की अनेक विधाओ का बीज-वपन अत्यन्त पुष्ट एव साफ-सुथरी भूमि पर हुआ था। द्विवेदी-युग के दूसरे चरण मे उस बीज

को पुष्पित-पल्लवित करने का अनवरत प्रयत्न हुआ। अनेकानेक नव्य भावनाओ एव नव्य परिवेश मे मूल बीज की रक्षा करते हुए इसके अकुर प्रस्फुटित होने लगे। इसके बाद तृतीय चरण मे ये बीज पूर्णतया लहलहा उठे। इसी कारण आधुनिक साहित्य की समस्त विधात्मक दृष्टियो से इस तीसरे चरण को प्रौढता एव सम्पन्नता का युग कहा जाता है। सामान्यतया इस तीसरे चरण को छायावादी युग कह दिया जाता है। काव्य की दृष्टि से यह नामकरण उचित भी है, किन्तु, गद्य साहित्य की दृष्टि से वास्तव मे यह युग विविध प्रवृत्तियो के प्रतिफलन का युग है। इसी कारण इसे 'प्रसाद प्रेमचन्द शुक्ल' युग भी कहा जाता है। छायावादी काव्य का प्रवर्त्तन तो प्रसाद (श्री जयशकर प्रसाद) जी ने किया ही, नाटक के क्षेत्र मे भी यह प्रसाद युग ही है। कहानी एव उपन्यास के क्षेत्र मे यह प्रेमचन्द का युग है, जब कि निबन्ध एव समालोचना के क्षेत्र मे यह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का युग है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मूलत यह विविध साहित्यिक प्रवृत्तियो का युग है, प्रवृत्तियाँ भी सामान्य नही, बल्कि सभी दृष्टियो से प्रौढतम। वास्तव मे यह तीसरा चरण साहित्य के विधात्मक रूपो के चरम विकास का युग है। क्या भाव, क्या भाषा और क्या कला, सभी दृष्टियो से भक्तिकाल के बाद आधुनिक साहित्य का यह चरण पूर्णतया विकसित, परिमार्जित एव समुन्नत है।

काव्य के क्षेत्र मे छायावादी काव्य-परम्परा के कारण काव्य की सभी विधाओ मे चरम निखार आया। काव्य की आत्मा नये स्वर-स्पन्दनो मे केवल धडकन ही नही उठी, बल्कि मुखर हो उठी। इस युग मे गहन अनुभूतियो, मानवीय हृत्स्पन्दनो और सवेदनाओ को नया सुवासित एव सुवासित परिवेश मिला। प्राणो की समस्त कोमल एव सूक्ष्म चेतनाएँ यहाँ नये आकार-प्रकार मे स्थापित हुई। सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओ का मूर्तिकरण हुआ। अज्ञात एव अदृश्य जगत् के प्रति, अमूर्त एव अगोचर के प्रति, प्रकृति के बाह्य एव आन्तरिक रूपो के प्रति जिस सुन्दर एव [illegible] से नयन सत्य-जिज्ञासा-भाव को लेकर कविगण काव्य के क्षेत्र मे आये वह वास्तव मे अद्भुत एव प्राणो की सहज सवेदनाओ से नवनित था। अनेक प्रकार के प्रभावो को ग्रहण करते हुए भी छायावादी काव्य ने भारतीय आत्मा एव अपना भाषा की सहज प्रकृत्यात्मक स्फुरणो को [illegible] द सतर्कता से

सजोये रखा। सगीत का स्तर-स्पन्दन इसके अन्तराल मे नई स्वर-लहरियाँ मुखरित करता रहा। राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलनो का सूक्ष्म प्रभाव मानव-चेतना को आन्दोलित करके प्रकृति के माध्यम से नित नये गीतो एव काव्यो के साँचे मे ढलता रहा। व्यक्तिवादी गहन अनुभूतियाँ एव चेतनाएँ पूर्णत वैयक्तिक होते हुए भी मानव की हार्दिक सौन्दर्य साधना को सगीतमयी अभिव्यक्तियाँ देती रही। फलत व्यक्तिवाद के कल-क्रोड मे पलकर भी छायावादी काव्य विश्व मानवता के सहज स्फुरणो को मुक्त भाव से रूपायित करता रहा।

वैसे तो छायावादी काव्यधारा के प्रस्फुटन के आसार हमे द्विवेदी-युग के श्रीधर पाठक एव रामनरेश त्रिपाठी जैसे कवियो की कविताओं मे दिखाई देने लगे थे, किन्तु इसका विधिवत् प्रवर्त्तन जयशकर की कविताओ से ही हो सका। इसके बाद ही इसने एक विधात्मक साहित्य के आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। पन्त के काव्यो मे यह प्रवृत्ति बडी सुकुमारता के साथ पल्लवित हुई। निराला ने उसे दार्शनिकता, उन्मुक्तता एव नाद-सौन्दर्य प्रदान किया, और आगे चलकर महादेवी जैसी समर्थ कवयित्री ने इसे सगीतमय आरती के थाल मे सजोया-सँवारा। इन चारो के अतिरिक्त डॉ० रामकुमार वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा और माखनलाल चतुर्वेदी जैसे कुशल कवियो ने भी इस धारा के चरम विकास मे पूर्ण योग प्रदान किया। अन्य अनेक कवियो ने भी अपने प्राण-रस से इस धारा को पुष्पित-पल्लवित किया।

काव्य के अतिरिक्त नाटक-साहित्य का भी इस युग मे पूर्ण विकास हुआ। आधुनिक हिन्दी नाटको के विकास का युग भी यहीं से, जयशकरप्रसाद के नाटको से ही आरम्भ होता है। काव्य के समान नाटक के क्षेत्र मे भी प्रसाद जी का व्यक्तित्व क्रातिकारी एव युगान्तरकारी प्रमाणित हुआ। प्रसाद जी ने भारत के अतीत गौरव को अपनी नाटकीय वस्तु-योजनाओ का आधार बनाकर अपने सामयिक युग की समस्त चेतनाओ एव आवश्यकताओ को बडी कुशलता से नाटको मे प्रतिध्वनित किया। रगमच एव अभिनेयता की दृष्टि से सामान्यतया असफल होते हुए भी प्रसाद जी के नाटक अन्य सभी दृष्टियो से समुन्नत एव नव्य दिशा के उद्बोधक है। वास्तव मे प्रसाद जी ने बडी लगन एव तन्मयता के साथ

हिन्दी मे नाटको के अभाव को दूर किया। इस युग के अन्य नाटककारों मे उल्लेखनीय हैं—डॉ० रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर आदि। पूर्ण नाटको के साथ-साथ एकाकी नाटको का भी इसी युग मे आरम्भ तथा विकास हुआ। उपरोक्त प्राय सभी नाटककारो ने इस दिशा मे भी सराहनीय कार्य किया। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक सफल नाटक एव एकाकीकार भी हुए, जो आज भी इस दिशा मे अविरत अग्रसर हैं।

कथात्मक साहित्य के विकास की दृष्टि से इस युग को 'प्रेमचन्द-युग' कहा जाता है। वास्तव मे इस युग के कथात्मक साहित्य ने परम्परागत तिलस्म को तोडकर जीवन के यथार्थवादी क्षेत्र मे प्रवेश किया। इसमे अनुभूत जीवन का चित्रण होने लगा। प्रेमचन्द जी ने अपनी कहानियो एव उपन्यासो मे जन-जीवन की इच्छाओ-आकाक्षाओ एव वास्तविक स्थितियो को कुशलता के साथ स्थापित किया। रोचकता, कलात्मकता और सामाजिक जीवन की समग्र चेतनाएँ—सभी कुछ इस युग के कथा-साहित्य मे उपलब्ध है। अन्य कलाकारो मे विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और यशपाल जैसे सशक्त कलाकारो ने भी इस युग मे अपनी सर्जनात्मक प्रक्रियाएँ आरम्भ कर दी थी और आज भी ये लोग इस पथ पर अविरत अग्रसर है। अन्य अनेक कलाकारो के नामोल्लेख भी इस दिशा मे किये जा सकते है।

निबध एव आलोचना की दृष्टि से इस दूसरे चरण को 'शुक्ल-युग' कहा जाता है। शुक्ल जी ने वास्तव मे हिन्दी निबध एव आलोचना साहित्य को नवीन परिवेश प्रदान किया। शास्त्रीय, मौलिक, परम्परागत एव पाश्चात्य सभी विधियो का सामजस्य इस युग की आलोचना एव निबधो मे बडी सूक्ष्मता से हुआ है। शुक्ल जी ने निबध एव आलोचना की गतिविधियो का केवल विनिर्माण ही नही, वल्कि नियत्रण एव नियमन भी किया। समसामयिक अन्य अनेक विद्वान् भी इस क्षेत्र मे आये और इन्होने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया। आज के अधिकाश निबंधकार एव आलोचक मूलतः इसी अन्तर्युग की देन है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० शिवदा
सिंह चौहान, डॉ० रामविलास शर्मा प्रभृति विद्वानो का विधात्मक आरम्भ य
से हुआ और आज तक चल रहा है। विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि इस युग
छायावादी कवियो ने भी अपने काव्य की चेतना एव 'वाद' पर किये गये आक्षे
का उत्तर देने के लिए अनेक प्रकार के ललित एव आलोचनात्मक निबध लिखे
ये आलोचनाएँ एव निबध स्वतत्र भी हैं और इनके काव्य-सकलनो की भूमिक
भी हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यह तीसरा चरण वास्तव मे विविध विधात्म
साहित्यिक प्रवृत्तियो का युग है। अत यहाँ सभीका विधात्मक परिचय क्रम
प्रस्तुत किया जायेगा। ताकि एक अन्तर्युग की समस्त विधात्मक चेतनाओ
समग्र अध्ययन एक ही स्थान पर सम्भव हो सके। जहाँ तक विधात्मक विका
का प्रश्न है, वह तो बाद मे प्रस्तुत किया ही जायेगा।

छायावाद—छायावाद स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा का एक परिष्कृत भ.रत
कृत स्वरूप है। इसके आरम्भ एव विकास के मूल मे अनेक कारण विद्यमान थे
इनमे से असन्तोष की भावना ही प्रमुख थी। कुछ लोगो के अनुसार द्विवेदी-
की इतिवृत्तात्मकता ने ही इस नई काव्य-चेतना को जन्म दिया था। द्विवेदी-
की कविता सुधार चेतना एव उपदेशात्मकता के कारण नीरस एव शुष्क हो
थी। इस नीरसता एव शुष्कता से त्राण पाने के लिए कवियो ने प्रकृति की श
ली। इसके मनोरम स्वरूपो को अपनी अभिव्यक्तियो का माध्यम बनाया। प्रकृ
के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली काव्य-चेतना ही छायावाद कहलाई।

छायावाद के उदय का दूसरा कारण सामन्तवादी एव साम्राज्यवादी शो
प्रवृत्तियों को माना जाता है। क्रिया-प्रतिक्रिया सृष्टि एव प्रकृति का नियम
साम्राज्यवादी शोषक मनोवृत्तियो से छुटकारा पाने की तडप और इसके
असन्तोष का भाव छायावादी काव्यधारा के रूप मे रूपायित हुआ। राजनीि
कारण भी इसी असन्तुष्ट भावना के साथ जुडे हुए हैं, क्योकि यह पराधीनता
युग था। दूसरी ओर देश की राजनीति स्वाधीनता-प्राप्ति की दिशा मे स
थी। विचाराभिव्यक्ति पर विदेशी शासन के कारण अनेक प्रकार के प्रति

रगे हुए थे। अत स्वातन्त्र्य-चेता कवियो ने विचारो को अभिव्यक्ति देने के लिए प्रकृति को अपना माध्यम बनाया। यह माध्यम ही छायावाद कहलाया।

इसी प्रकार कुछ लोग सामाजिक नैतिक प्रतिबन्धो से मुक्ति की छटपटाहट एव यौन-सम्बन्धो मे स्वच्छन्दता की आकाक्षा को छायावादी काव्यधारा के उन्नयन का मूल कारण मानते है। अनेक लोग बगला-साहित्य—विशेषत रवीद्र-साहित्य के प्रभाव से हिन्दी मे छायावादी प्रवृत्ति का जन्म मानते है, जबकि वास्तविकता यह है कि बगला-साहित्य मे 'छायावाद' जैसे किसी शब्द का प्रयोग कभी नही हुआ है। इसी तरह कुछ लोग योरुप मे १८वी शताब्दी के अन्त मे जिस स्वच्छन्दतावादी (Romantic) प्रवृत्तियो ने जन्म लिया था, उसीके प्रभाव से छायावादी काव्यधारा का उदय स्वीकार करते हैं। कुछ तो 'छायावाद' को Romanticism या 'स्वच्छन्दतावाद' का पर्यायवाची तक कहते है। आधुनिक उद्योगवाद और मशीनीकरण की प्रवृत्ति के कारण जीवन मे जो अनेक प्रकार से रिक्तताएँ एव व्यक्तिवाद की चेतनाएँ आ गई थी, इन्हे भी छायावादी प्रवृत्ति के उदय का एक कारण माना जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि छायावाद के मूल मे अनेक प्रवृत्तियाँ विद्यमान थी। हमारी अपनी मान्यता के अनुसार न्यूनाधिक रूप मे उपरोक्त सभी मान्यताएँ छायावादी भाव-बोध के मूल मे विद्यमान है। इन सब मान्यताओ के समन्वित प्रभाव ने व्यक्ति-भावना को बडी तीव्रता से जागृति प्रदान की। अह एव व्यक्तित्व की रक्षा का प्रश्न राजनीतिक जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओ के समान साहित्यकार के सामने भी प्रस्तुत हुआ। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्यान्य क्षेत्रो मे मचने वाली उथल-पुथल ने एक व्यापक असन्तोष को जन्म दिया। इनके परिहार का कोई प्रत्यक्ष उपाय नही दीख रहा था। छटपटाहट अवश्य थी। इस छटपटाहट ने साहित्यकार को अन्तर्मुखी बना दिया। अन्तर्मुखता के इन क्षणो मे अभिव्यक्ति के लिए किसी न किसी माध्यम की आवश्यकता थी। अतः प्रकृति के शाश्वत, सुन्दर एव अविरत परिवर्तनशील रहस्यमय स्वरूप ने माध्यम के रूप मे कवियो की अन्तर्मुखी चेतनाओ को सम्बल प्रदान किया। फलस्वरूप काव्य के क्षेत्र मे जो भाव-बोध सुन्दर पर्यावरण ओढकर प्रगट होने लगा, वही छायावाद कहलाया। निश्चय ही इसमे शिव का तत्त्व भी

विद्यमान था। यह वैयक्तिकता वास्तव मे अन्तर्मुखी सामजस्यता का सुगठित फल था। अत छायावादी काव्य को समग्रत वैयक्तिक नही कहा जा सकता। यहाँ समग्र चेतनाएँ व्यक्ति की आन्तरिक रुप मे वैयक्तिक चेतनाओ के रूप मे अभिव्यक्त हुई, यही इस सम्वन्ध मे चरम सत्य है।

छायावादी युग की समयावधि प्रथम विश्वयुद्ध और दूसरे विश्वयुद्ध की माध्यमिक सीमा मानी जाती है। पर जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, द्विवेदी-युग मे ही यह प्रवृत्ति जाग्रत हो चुकी थी और इसके अर्थात् दूसरे विश्व-युद्ध के वाद भी चलती रही। आज भी इसका 'इत्यलम्' नही हो गया। महादेवी वर्मा जैसी कवयत्रियाँ आज भी इसी पथ की अविरत पथिका हैं। समग्रत इस तथ्य से इनकार नही किया जा सकता कि इस प्रवृत्ति के उदय मे अनेक प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक, आर्थिक और वैयक्तिक निराशाएँ विद्यमान थी। ये निराशाएँ आज भी विद्यमान है, अत छायावादी प्रवृत्ति आज भी समाप्त नही हुई है। हाँ, आज का स्वरूप अवश्य परिवर्तित हो गया है। आज का छायावादी कवि क्षितिज की चिलमनो को फाडकर या प्रकृति के ओढे हुए पर्यावरण को उघाडकर जीवन के ठोस धरातल पर आ गया है। जहाँ तक प्रतीक-विधान एव विम्ब-योजना का प्रश्न है, आज का कवि भी छायावादी ही है। हाँ, इसके प्रतीक एव विम्व सारूप्य की दृष्टि से कुछ परिवर्तित अवश्य हो गये हैं। अव इनमें कोमलता एव सुकुमारता नही रह गई। जीवन के प्रति आक्रोश भी वही है। अतृप्ति एव असन्तुष्टि भी वही है। अन्तर्मुखी चेतना वहिर्मुख होकर अधिक ठोस हो गई है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि छायावादी चेतना ने निश्चय ही अपने युग-परिवेश मे कवियो-कलाकारो के साथ-साथ जनमानस को भी सम्वल प्रदान किया है। भाषा, भाव एव अभिव्यक्ति आदि की सभी दृष्टियो से विचारो को काव्य मे सुन्दर तत्त्व के अधिक समावेश के साथ रूपायित किया। जहाँ तक विशुद्ध कवित्व एव इसके सुन्दर शिल्प-विधान का प्रश्न है, छायावादी युग हिन्दी काव्य के चरम विकास का युग है। इसमे किसी भी दृष्टि से कोई न्यूनता या कुरूपता नही है।

पारिभाषिक दृष्टि से छायावादी धारा के सम्वन्ध मे मतैक्य नही पाया

जाता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल छायावादी काव्यधारा की पारिभाषिक विवेचना करते हुए कहते हैं—"छायावाद छन्द का प्रयोग दो अर्थों मे समझना चाहिए—एक तो रहस्यवाद के अर्थ मे जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन कर अत्यत चित्रमयी भाषा मे प्रेम की अनेक प्रकार से व्यजना करता है। छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ मे है।" इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी छायावाद का प्रतिपाद्य प्रेम मानते हैं और दूसरी ओर उसे एक काव्य-शैली या पद्धति मात्र स्वीकार करते हैं, जिसमे रहस्यमयता का समावेश भी रहता है। डॉ० रामकुमार वर्मा भी छायावाद एव रहस्यवाद को अभिन्न ही मानते हैं। इनके अनुसार, "परमात्मा की छाया आत्मा मे पडने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा मे।" शान्तिप्रिय द्विवेदी ने कहा है—"छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है।" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छायावादी काव्य मे मानवीय दृष्टि की प्रधानता प्रतिपादन करते हुए इसे कवियो की वैयक्तिक चेतना मे अर्जित, बदलते मूल्यो की स्वीकृति, शास्त्रीय पद्धतियो का तिरस्कार, नव्यता के प्रति उत्साह आदि कहकर परिभाषित किया है। ये एक व्यापक सास्कृतिक चेतना का फल ही छायावाद को मानते हैं। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, "स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद है।" इन्होने छायावाद को एक भावात्मक दृष्टिकोण और विशेष प्रकार की भाव-पद्धति भी स्वीकारा है। डॉ० रामविलास शर्मा डॉ० नगेन्द्र की परिभाषा का खण्डन करते हुए कहते हैं—"छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नही रहा, वरन् थोथी नैतिकता, रूढिवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बन्धनो के प्रति विद्रोह रहा है।" इसके साथ मध्यवर्गीय, असगति, पराजय और पलायन की भावना भी जुडी है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कहते है कि—"मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौदर्य मे आध्यात्मिक छाया का भाव मेरे विचार मे छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।"

इससे स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानो ने अपने-अपने वैचारिक परिवेश मे छायावाद को पारिभाषित करने का प्रयास किया है। हमारे विचार मे 'प्रकृति-साधना' का तत्त्व यहाँ अवश्य ही विद्यमान है। अत प्रकृति को अलग करके

छायावादी चेतना को किसी परिभाषा मे नही बाँधा जा सकता। प्रकृति पर चेतना का आरोप यहाँ सर्वत्र मिलता है। मानवीकरण की प्रवृत्ति भी यहाँ विद्यमान है। हमारे विचार में छायावाद की सर्वांगीण तथा सर्वाधिक स्पष्ट परिभाषा इस धारा के प्रवर्तक जयशकर प्रसाद ने ही की है। इनके अनुसार, "अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा ही छायावाद का मूल बोध है। लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता, सुन्दर प्रतीको का विधान, उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की निवृत्ति ही छायावाद का साध्य है।" हमारे विचार मे मुख्य प्रश्न स्वानुभूति की निवृत्ति का ही रहता है। यह बात प्रत्येक युग के काव्य मे मुख्य है। छायावादियो ने इसे विशेष प्रकार की ध्वन्यात्मकता एव उपचार-वक्रता के पर्यावरण मे निवृत्त किया। अत कहा जा सकता है कि छायावाद भी युग-बोध को लेकर ही चला और उस बोध को अभिव्यक्ति देने का उसने एक विशेष ढग अपनाया। वह ढग ही पारिभाषिक रूप से छायावाद है। वास्तव मे छायावादी काव्यधारा अपने समूचे युग-बोध को लेकर चली है। अत डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दो मे कहा जा सकता है —

"भारतीय काव्य-परम्परा मे हिन्दी कविता की छायावादी धारा अपने पूर्ववर्ती युग की प्रतिक्रिया मे प्रस्फुटित एक विशेष शैली है, जिसमें लौकिक प्रेम के माध्यम मे अलौकिक अनुभूतियो का चित्रण हुआ है, जिसमे प्रकृति का मानवीकरण है, वेदना की निवृत्ति है, सौन्दर्य-चित्रण है। गीति-तत्त्वो की प्रमुखता है और जिसके व्यक्तिवाद के स्वर मे सर्व सन्निहित है।"

इस विवेचन के बाद अन्त मे हम यही कहेगे कि छायावाद एक ऐसी काव्य-विधा है, जिसने प्रकृति को माध्यम बनाकर मानव-जीवन के समस्त सूक्ष्म भावो एव चेतनागत विद्रोह को स्वरूप, आकार एव स्वर प्रदान किया। यहाँ राष्ट्रीयता का उन्मेष भी है और सस्कृति का स्वर-स्पन्दन भी। प्रेम की अनवरत भूख भी है और आध्यात्मिकता का सहज स्फुरण भी। परम्पराओ के प्रति विद्रोह एवं आक्रोश भी है, नव्यता का मुखर आह्वान भी। यह सब वहाँ कौए के कर्कश स्वरो मे नही वल्कि कोयल की कल-कूजन-तान में हुआ है। इसका वाह्यावरण बादाम या नारियल जैसा नही और न ही वद्रीफल (वेर) जैसा है, वल्कि अगूर जैसा

है, जो बाहर-भीतर से समरस का छलकता हुआ प्रकृति की एक अमूल्य देन माना जाता है।

छायावादी समस्याएँ—श्रीमती महादेवी वर्मा के अनुसार—"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्त का संचय न देकर हमें केवल समष्टि-गत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसीसे उसे यथार्थ रूप मे ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।" एक अन्य स्थान पर वे कहती है—"...व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा आज गौण है। सारे व्यक्तिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद की मान्यता न तो किसी रूढ़ि पर आधारित है और न ही वहाँ मात्र व्यक्ति-चेतनाओ को अभिव्यक्ति देना ही काम्य है। हाँ, वहाँ अभिव्यक्तियो की कला-त्मकता का प्रोत्साहन अवश्य है। सभी प्रकार के नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैयक्तिक, आर्थिक, धार्मिक आघातो एव दबावो के प्रति विद्रोह मुखर करना भी इस धारा की प्रमुख मान्यता रही है। पुरातनता का निर्मोक और सभी दृष्टियो से नव्यता को प्रश्रय देना भी इनका मुख्य उद्देश्य रहा है। इस निर्मोक मे भाषा, भावना, छन्द एव अलकार-विधान, चेतना एव संस्कारगत भाव, अभिव्यजना-पद्धति सभी कुछ स्पष्टत अन्तर्हित हो जाता है।

वैयक्तिक चेतना को यहाँ प्रमुख प्रश्रय मिला है। परन्तु यहा व्यक्ति को समष्टि-चेतनाओ की अभिव्यक्ति का मात्र माध्यम माना गया है। इस माध्यम से समष्टि चेतनाओ को ही सूक्ष्मत रूपायित किया गया है। सवेदना एव सहानुभूति के भाव से भरकर वास्तविक जीवन एव आत्म-तत्त्व से साक्षात्कार करने का प्रयत्न इनकी मान्यताओ का विशिष्ट अग है। पुरुष एव नारी के सम्बन्धो का पुन-र्मूल्यांकन भी इन्होने इसी दृष्टि से करके दोनो की स्वतन्त्रता को प्रतिपादित कि[illegible] है। इनकी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना भी इस लक्ष्य एव भाव-बोध की अ[illegible] बोधक है। युगीन भौतिक संत्रासो से मुक्ति का उपाय करके मानसिक, बौ[illegible] एव आत्मिक शान्ति की खोज करना इनकी एक मान्यता है। इसके लिए इन[illegible] प्रकृति के शान्त वातावरण मे रहकर समस्त चेतनाओ को सन्तुलित करने[illegible] प्रेरणा प्रदान की है। प्रकृति एव इसकी रहस्यमयता के प्रति कौतूहल का

सौन्दर्य-प्रेम आदि भी इनकी विशेष मान्यताएँ हैं। व्यक्ति एव समष्टि-स्वातन्त्र्य का एक स्वर से सभीने समर्थन किया है।

इन्ही मूल मान्यताओ को अपनाकर छायावादी काव्यधारा प्रवाहित हुई। इसकी अन्त सलिला को आरम्भ मे अनेक प्रकार की अवरोधक स्थितियो से टकराना पडा। आचार्य शुक्ल एव आचार्य द्विवेदी ने इन प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के सन्देह व्यक्त किये। अन्त मे शुक्लजी को भी इस धारा की सप्राणता, सजीवता एव उपयोगिता पर यह कहकर अपनी स्वीकृति की मुहर लगानी पडी कि "छायावादी शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का अच्छा विकास हुआ। इसमे भावावेश की आकुल व्यजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, कोमल पद-विन्यास आदि काव्य का स्वरूप सगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई देती है।"

वास्तव मे प्रकृति पर मानवीय चेतना का आरोप कर छायावादी कवियो ने जिन सौन्दर्यानुभूतियो को स्वरूप प्रदान किया, इनमे करुणा की भावना सर्वत्र व्याप्त है। अत कहा जा सकता है कि मानवीय करुणा की स्वीकृति के साथ ही छायावादी मान्यताएँ विनिर्मित हुई और इनकी सशक्त अभिव्यक्ति भी हो सकी। इसमे बौद्धिक तत्त्व भी पाये जाते है। रागात्मक तत्त्वो के साथ-साथ कल्पना एव बुद्धि-तत्त्वो के उचित सामजस्य ने ही इस काव्यधारा को अपने शाश्वत मार्ग एव लक्ष्य से पथभ्रष्ट नही होने दिया। एक बात और, वह यह कि छायावादी भावबोध समष्टि-चेतना से सम्बन्धित होते हुए भी अपनी भाषायी एव अभिव्यक्ति की अलकारिता के कारण जन-सामान्य मे स्वीकृति नही पा सका। यही इसकी सबसे बडी दुर्बलता, अतएव असफलता भी है।

सामान्य विशेषताएँ—प्रकृति के माध्यम से समूचे युग-बोध की अभिव्यक्ति छायावादी काव्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। आन्तरिक एव बाह्य सभी प्रकार की चेतनाओ को प्रकृति के माध्यम से ही यहाँ रूपायित किया गया। सहज मानवीय सवेदनाओ का चित्रण, करुणा, रहस्य-रोमाच आदि भावनाओ की अभिव्यक्ति, गीतिमयता, व्यक्ति के अह का रूपायन एव निवृत्ति आदि इस काव्यधारा की अन्य प्रमुख विशेषताएँ हैं। चित्रमयता, नये छन्दो का विधान,

रूपराशि, चन्द्रकिरण, वीर हमीर, चित्तौड की चिता, निशीथ, एकलव्य आदि, इनके प्रसिद्ध काव्य हैं। 'एकलव्य' भारतीय दर्शन एव आदर्शों का प्रतिपादक महाकाव्य है। इनकी 'चित्ररेखा' नामक रचना पर इन्हें देव पुरस्कार और 'चन्द्र-किरण' पर चक्रधार पुरस्कार प्राप्त हुआ था। इन्होंने वर्णनात्मक एव गीतिकाव्य इन दो विधाओं को ही अपनाया। गीतों मे गीत के समग्र तत्त्व विद्यमान हैं। आगे चलकर वर्मा जी ने काव्य-रचना प्राय त्याग दी। इनकी चेतना का विकास नाटक एव एकाकी के क्षेत्र मे विशेष रूप से देखा जा सकता है। आलोचना एव इतिहास-लेखन के क्षेत्र मे भी वर्मा जी का नाम आदर से लिया जाता है। 'कबीर का रहस्यवाद' इनकी सुप्रसिद्ध आलोचनात्मक रचना है।

हरिकृष्ण प्रेमी—छायावाद के साथ-साथ प्रेम, निराशा एव मानव-प्रगति के गायक प्रेमी जी का जन्म गुना (ग्वालियर) मे सन् १९०८ मे हुआ था। किन्तु इनके जीवन का अधिकाश समय पजाव की साहित्यिक गति-विधियों के केन्द्र लाहौर मे ही व्यतीत हुआ। इनका जीवन आरम्भ से ही अनेक प्रकार के सघर्षों मे व्यतीत हुआ। इनके अपने शब्दों मे—"मेरा जीवन तो सदा आँधी-तूफानों की छाती पर सवार होकर चला है। कभी वह उडकर हिमालय के ऊपर पहुँचा है तो कभी समुद्र की गहराइयों मे जा डूबा है, कभी थपेडे खाकर मूर्च्छित भी हो गया है। उसकी बाँसुरी के स्वर रुके भी हैं। किन्तु कोई अज्ञात मेरे श्वासों मे प्राण भर जाता है और मैं गा उठता हूँ।" इनके काव्यों मे स्वरों एव चेतनाओं का यह आरोहावरोह स्पष्टत. देखा जा सकता है।

प्रेमी जी की काव्य-चेतना मे क्रमशः अनेक पडाव आये हैं। इन्होंने युग-कवि के समान भी समय की नाडी को पहचानकर अपना स्वर बदला है। सभी दृष्टियों से वेदना ही इनके काव्यों का प्रमुख स्वर है। इनके प्रमुख काव्य-सग्रह हैं—आँखों में, स्वर्ग-विहान, अनन्त के पथ पर, अग्नि गान, रूप दर्शन और जादूगरनी। इनमें से 'आँखों में' नामक रचना मे इनकी आरम्भिक कविताएँ सकलित हैं। प्रेम-यौवन और प्रकृति-प्रेम ही इनकी कविताओं का मुख्य विषय है। 'स्वर्गविहान' एक राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत पद्य-नाटिका है। इनकी प्रखर एव उग्र राष्ट्रीय चेतना के कारण ही अग्रेज सरकार ने इसे प्रतिबन्धित कर दिया था।

'अनन्त के पथ पर' नामक रचना मे छायावादी पर्यावरण मे पलने वाली सुघड रहस्यवादी चेतना के दर्शन होते हैं। 'अग्निगान' मे समस्त शोषणो के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर होता सुनाई देता है।

प्रेमी जी के काव्यो की भाषा अधिक सरल एव भावाभिव्यक्ति मे समर्थ है। काव्य-शैली भी दुरूह एव जटिल नही है। इनकी भाषा-शैली की सरल स्वाभाविकता ही लोकप्रियता का प्रमुख कारण है। यह बात विशेष ध्यान देने की है कि छायावादी युग मे रहकर भी प्रेमी जी की कविता मे व्यक्ति तत्त्वो को अधिक प्रश्रय मिला है। इस कारण आज के अनेक आलोचक इन्हें व्यक्तिवादी कवि भी कहते हैं परन्तु निश्चय ही इनकी वैयक्तिकता मे समग्र मानवता के सुख-दुख को ही रूपाकार प्राप्त हुआ है।

प्रेमी जी का कवि से भी अधिक महत्त्व ऐतिहासिक नाटककार के रूप मे अकित किया जाता है। मध्य युगीन भारत के इतिहास को अपने नाटको का विषय बनाकर इन्होने राष्ट्रीय एकता को प्रश्रय दिया। इनके रक्षाबन्धन, पाताल विजय, शिवा-साधना, आहुति, प्रतिबोध, विषपान, स्वप्नभग और छाया आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं।

वैयक्तिक कविता या हालावाद

छायावादी काव्य-चेतना का एक पक्ष प्रखर व्यक्तिवादी चेतना के रूप में विकसित हुआ। डॉ० नगेन्द्र प्रभृति विद्वानो ने वैयक्तिक चेतना से सम्पन्न कविता को छायावाद एव प्रगतिवाद की मध्यवर्तिनी धारा कहा है। उस धारा के प्रमुख कवि हैं—हरिवशराय बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, रामेश्वर शुक्ल अचल, नरेन्द्र शर्मा आदि। विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि कुछ इतिहासकारो ने इस व्यक्ति-चेतना से विनिर्मित काव्यधारा को 'हालावाद' के नाम से भी अभिहित किया है, क्योकि इसमे एक अपनी ही मस्ती, अल्हडता एव अक्खडता है। इस हालावादी कविता के दो पक्ष स्वीकारे गये हैं—एक विशुद्ध भौतिक एव दूसरा आध्यात्मिक। पहले पक्ष के दर्शन बच्चन मे होते हैं, जब कि दूसरे पक्ष के भगवतीचरण वर्मा की कविता मे। अन्य कवि इन्हीमे से किसी एक के अन्तर्गत आते हैं। वैसे उस

वैयक्तिक या हालावादी काव्यधारा का प्रतिनिधि हरिवंशराय बच्चन को ही स्वीकार किया जाता है।

हरिवंशराय बच्चन—बच्चन जी का जन्म सन् १९०७ ई० में इलाहाबाद में हुआ था। शैशव के सुकुमार क्षणों से ही इनकी प्रवृत्ति पद्य-रचना की ओर थी, जिसे उनके माता-पिता पसन्द नहीं करते थे। कॉलेज-जीवन में बच्चन जी ने कुछ कहानियाँ लिखी और वे पसन्द भी की गईं, परन्तु इनको विशेष प्रसिद्धि तब मिली जब इन्होंने एम० ए० में अध्ययन करते हुए 'उमर खय्याम की 'रुबाइयों' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। इन्हें अपने वैयक्तिक जीवन में अनेक प्रकार के आघात सहने पड़े, फलस्वरूप इनके काव्यमय जीवन में निराशा एवं वेदना का स्वर गहरा होता गया। इन्होंने उसी वेदना एवं निराशा के विस्मरण के लिए जो पद्धति अपनाई, वही वास्तव में काव्य-जगत् में 'हालावाद' के नाम से प्रसिद्ध हो गई। इसी कारण इन्हें छायावादी काव्य-चेतना की निराशावादी प्रवृत्तियों को हाला की मस्ती में उड़ेलने वाला कवि कहा जाता है। आजकल बच्चन जी भारत सरकार के विदेश मंत्रालय में एक उच्च अधिकारी हैं।

मधुबाला, मधुशाला, मधुकलश, एकान्त संगीत, निशा-निमंत्रण, मिलन यामिनी, सतरंगिणी, बंगाल का अकाल, हलाहल, प्रणय-पत्रिका, आकुल अन्तर, आरती और अंगारे, बुद्ध और नाचघर, धार के इधर-उधर, आदि इनकी प्रसिद्ध प्रकाशित काव्य-रचनाएँ हैं। इनमें से आरम्भिक पाँच रचनाएँ क्षणवाद, निराशा एवं अन्तर की अकुलाहट को प्रगट करने वाली हैं। बाद में जीवन के तौर बदलने पर उनके स्वरों में आशावाद मुखरित होने लगा। 'मिलन यामिनी और 'सतरंगिणी' जैसी रचनाओं में आशावादी स्वर अधिक मुखर हुआ है। शेष रचनाओं में कवि ने सामाजिक चेतनाओं को मुखर किया है। बाद में चाहे बच्चन की कविता में प्रगतिवादी स्वर भी मुखर होने लगे हैं, किन्तु इनका वास्तविक कवित्व हालावादी रचनाओं में ही प्रस्फुटित हुआ है और लोग इनके इसी रूप से परिचित हैं तथा इसीको पसन्द भी करते हैं। वास्तव में बाद में बच्चन जी की स्थिति युग से उखड़े वृक्ष के समान ही अधिक हो गई है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि बच्चन का महत्त्व एक युग में व्याप्त

निराश युवक चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करने के कारण ही अधिक है, खादी के धागे बुनने के कारण नही। इनकी उस कविता मे सहजता, स्वाभाविकता, स्वरमाधुर्य और कल्पना की गहरी उडान आदि सब कुछ है। वैयक्तिक अनुभूतियो की उस दर्पपूर्ण तडपन का नाम ही बच्चन है, बाद का कवि बच्चन तो कुछ और ही हो गया है।

भगवतीचरण वर्मा—इनका जन्म सन् १९०३ मे हुआ था। हरिवशराय बच्चन से जिस हालावादी परम्परा का आरम्भ हुआ था, वर्मा जी उसके प्रमुख आधार-स्तम्भ हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनके काव्यो मे बच्चन के समान निराशा का स्वर न होकर मस्ती एव खुमार का, यौवन एव उल्लास का विशुद्ध भाव है। इनमे कही-कही आध्यात्मिक मस्ती का पुट भी दिखाई देता है। इनका निम्नलिखित मस्ती-भरा स्वर अत्यधिक प्रसिद्ध है —

हम दीवानो की क्या हस्ती,
है आज यहाँ कल वहाँ चले।
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उडाते जहाँ चले।

स्पष्टत इनके स्वरो मे न तो निराशा है और न किसी भी प्रकार की अस्वाभाविक कृत्रिमता ही है। इनकी 'मधुवन' एव 'प्रेम-सगीत' जैसी रचनाओ मे इसी प्रकार की मस्ती का उत्तम स्वर सुन पडता है। किन्तु आगे चलकर युग-आन्दोलनो एव आवश्यकताओ को पहचानकर इनका स्वर सहसा परिवर्तित हो गया। परिवर्तन की यह पग-ध्वनियाँ 'मानव' नामक काव्य-सकलन से स्पष्टत सुनाई देने लगी। यहाँ यह शोषित और पीडित वर्गों के स्वर मे स्वर मिलाकर मानव के अस्तित्व की रक्षा के लिए चिन्तित दिखाई देने लगे। इस सकलन की 'भैंसागाडी' और 'ट्राम' जैसी कविताएँ मानव-जीवन की विगतियो का करुणापूर्ण प्रभावी चित्र प्रस्तुत करती है। इनके काव्यो की भाषा भी अत्यधिक सरल, प्रवाहमयी एव सहज सगीत के उद्रेक से समन्वित है। अभिव्यक्ति-पद्धति भी अत्यधिक सहज एव प्रभावी है। 'भैंसागाडी' नामक कविता का यह पद्य देखें —

चरमर-चरमर चूँ चरर-चरर जा रही चली भैंसागाडी।
उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर।
भू की छाती पर फोडे से हैं, उठे हुए कुछ कच्चे घर।
नर पशु बन कर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना, बस इन लोगो का यही काम।

कविता के अतिरिक्त कहानी एव उपन्यास के क्षेत्र मे भी वर्मा जी को अत्यधिक सफलता मिली है। वहाँ भी इनका स्वर मानव-प्रगतिवादी ही है।

नरेन्द्र शर्मा—इनका जन्म सन् १९१३ मे बुलन्दशहर जिले के जहाँगीरपुर गाँव मे हुआ था। इनके कवि-जीवन का आरम्भ छायावादी काव्यधारा से ही हुआ था। अत इनकी आरम्भिक रचनाओ मे एक ओर जहाँ प्रकृति के प्रति अनुराग-भाव के दर्शन होते है, वहाँ निराशा एव वेदना का स्वर भी अत्यधिक प्रबल है। 'पलाश वन', 'प्रवासी के गीत' और 'कामिनी' जैसे काव्य-सकलनो मे उपरोक्त स्वर ही प्रमुखत सुनाई देते है। इसी प्रकार 'शुभ फूल' और 'कर्ण फूल' जैसी प्रारम्भिक रचनाओ मे विशुद्ध प्रेम-भाव को ही अभिव्यक्ति मिली है। इनके बाद क्रमश इनकी वैयक्तिक वेदना दु खी एव पीडित मानवता की वेदना बनती गई और यह गा उठे :—

उजड रही अनगिनत बस्तियाँ,
मन, मेरी ही बस्ती क्या ?

इनकी परवर्ती रचनाओ मे प्रगतिवादी स्वर क्रमश: प्रबलतर होता गया है। यथार्थवादी दृष्टिकोण को अधिक विस्तार मिला। प्रगतिवादी चेतनाओ को स्थापित करने पर भी वास्तव मे नरेन्द्र शर्मा प्रेम-गीतकार ही अधिक है। वैसे इनकी कविताओ मे व्यापक राष्ट्रप्रेम की झाँकी भी मिलती है; किन्तु वास्तव मे ये अपने-आपको मानवीय दुर्बलताओ का कवि ही अधिक मानते है और इनके कवित्व की सफलता भी इसी दृष्टि से अधिक है। सांस्कृतिक चेतनाओ का उभार भी इनकी परवर्ती रचनाओ मे देखा जा सकता है। परवर्ती रचनाओ के नाम है—प्रभात-फेरी, मिट्टी और फूल, अग्निशस्य आदि। 'अग्निशस्य' मे सांस्कृतिक आदर्श चेतनाओ की पुष्टता परिलक्षित होती है। इस प्रकार इनके काव्य-स्वरों

मे स्पष्टत वैविध्य के दर्शन होते हैं। इनकी मार्मिक अनुभूतियो का एक सजीव उदाहरण देखें —

एक-दूसरे का अभिनव कर
रचने एक नये भव को
है सघर्ष-निरत मानव
जब फूंक जगत गत वैभव को।

रामेश्वर शुक्ल 'अचल'—'अचल' जी का जन्म जिला कृष्णपुरा के फतहपुर नामक स्थान पर सन् १९१५ मे हुआ था। इनके पिता का नाम मातादीन शुक्ल है, जो हिन्दी साहित्य के परम विद्वान् थे। इनका काव्य-कण्ठ छायावादी युग मे ही प्रस्फुटित हुआ था। छायावादी कवियो ने नारी के मासल एव प्रत्यक्ष सौन्दर्याकर्षण पर जो एक अध्यात्म-चेतनाओ का झीना पर्दा डाल दिया था, अचल जी ने उस पर्दे के भीतर प्रविष्ट होकर उसके रूप, सौन्दर्य, यौवन एव प्रेम का उन्मुक्त चित्रण किया है। इसी कारण इन्हे छायावादी प्रवृत्तियो के ह्रासमय परिवेश का कवि और गायक माना जाता है। डॉ० शिवदानसिंह चौहान के अनुसार—

"प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी ने व्यक्ति के सुख-दु ख, उल्लास-निराशा की अनुभूतिप्रवण और विषयीप्रधान अभिव्यजना करते हुए भी जिन नये मानव-मूल्यो की सृष्टि की थी, कविता का जिन नई अर्थ-भूमियो पर प्रसार किया था और काव्य के अन्त स्वर मे मानवतावादी उदात्तता की जो गरिमा भर दी थी, अचल तक आते-आते उन मानव मूल्यो, अर्थ-भूमियो, और अन्त स्वर की उदात्तता का सम्पूर्ण विघटन हो गया और छायावादी कविता का दायरा सकीर्णतर होता गया। छायावादी काव्य के उत्कर्ष और ह्रास की यह प्रक्रिया हिन्दी कविता के विकास-क्रम की एक कडी है।"

वास्तव मे रूप की लालसा एव अदम्य प्यास ही अचल की कविता मे प्रमुखत. अभिव्यक्ति पा सकी है। इन्होंने मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर कृषको-मजदूरो से सहानुभूतिपरक कुछ कविताएँ भी रची हैं, किन्तु वहाँ इनके वास्तविक व्यक्तित्व के दर्शन नही होते। अतृप्तियो की मुखर अभिव्यजना मे ही अचल की सफलता है। भाषा, भावना एव अभिव्यक्ति अत्यधिक प्रखर वेगवती

है। इनकी दोनो प्रकार की कविता के उदाहरण देखें —

एक पल के ही दरस मे जग उठी तृष्णा अधर मे,
जल रहा परितप्त अगो मे पिपासाकुल पुजारी।

यहाँ यदि वासना की अतृप्तियो का उद्दाम वेग है, तो निम्न पक्तियो मे इन्कलाव का स्वर मुखरित हुआ है .—

देखो मुट्ठी भर दाने को तडप रही कृषक की काया,
कव से सुप्त पडी खेतो मे जागो इन्कलाव फिर आया।

अपराजिता, मधुकर, मधूलिका, किरण वेला, लाल चूनर, करील, वर्षान्त के वादल आदि इनके प्रमुख प्रकाशित काव्य-सकलन हैं। इनमे से 'मधूलिका' और 'अपराजिता' मे प्रेम की वासनात्मक अतृप्तियो का चित्रण हुआ है। अन्य रचनाओ मे मानव-विद्रोह एव उसकी प्रगति-भावनाओ की अभिव्यक्ति के स्वर सुनाई देते हैं। मूलत अचल जी प्रेम, वासना एव मानव-अतृप्तियो के ही कवि हैं। यही उनका व्यक्तित्व प्रखर रूप मे हमारे सामने उभरकर आया है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि अचल जी का साहित्यिक जीवन कहानीकार के रूप मे ही प्रारम्भ हुआ था। लेकिन वाद मे यह कविता के क्षेत्र मे आ गए। इनकी कहानियो के संकलन प्रकाशित हो चुके हैं।

छायावादी युग . राष्ट्र-धारा के कवि

जिस प्रकार रीतिकाल मे रीतिवद्ध शृगार-सयत कविता के साथ-साथ वीर-रस-प्रधान राष्ट्रीय काव्यधारा भी प्रवाहित होती रही, उसी प्रकार आधुनिक काल के इस तृतीय चरण छायावादी युग मे भी राष्ट्रीय काव्यधारा उसके समानान्तर पर प्रवाहित रही। इसमे पूर्ववर्ती युग के मैथिलीशरण गुप्त आदि कुछ कवि तो कार्यरत ही रहे, अन्य अनेक सशक्त कवियो का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन्हींका सक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

माखनलाल चतुर्वेदी—राष्ट्र-धारा के काव्यकारो मे श्री माखनलाल चतुर्वेदी का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। वैसे उनका काव्य-स्वर भी छायावादी परिवेश मे ही मुखरित हुआ था, किन्तु जल्दी ही वह सुघट राष्ट्रीयता के रंग मे

रगकर गूँजने लगा। इनका जन्म सन् १८८८ मे मध्यप्रदेश के जिला होशगाबाद मे बसे बावई नामक गाँव मे हुआ था। इन्होंने नार्मल पास करके सर्वप्रथम अध्यापन कार्य आरम्भ किया। अध्यापन-काल मे इन्होने हिन्दी के साथ-साथ मराठी, गुजराती एव अग्रेज़ी आदि भाषाओ का गहन अध्ययन किया। कुछ समय बाद यह अध्यापन-कार्य त्यागकर 'प्रभा' नामक पत्रिका का सम्पादन करने लगे। तत्पश्चात् इन्होने खण्डवा से 'कर्मवीर' का प्रकाशन-सम्पादन आरम्भ किया और जीवन के अन्तिम क्षण तक यही रहकर राष्ट्र एव साहित्य-सेवा करते रहे। पहले-पहल यह देश के क्रान्तिकारियो के साथ भी अन्त सम्बन्धित रहे। बाद मे गाधी-वादी विचारधारा से प्रभावित होकर व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलनो के एक अग बन गये। परिणामस्वरूप इन्हे अनेक बार कारावास का दण्ड भोगना पडा। इनके महान् राष्ट्रीय कार्यों से प्रभावित होकर भारत सरकार ने इन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि देकर सम्मानित किया। इसी प्रकार सागर विश्वविद्यालय ने इन्हे डी० लिट्० की सम्मानित उपाधि भी प्रदान की। इनका निधन सन् १९७० मे खण्डवा मे ही हुआ।

चतुर्वेदी जी का समूचा काव्य प्रधानत राष्ट्रीयता की ओजस्वी भावनाओ से समन्वित है। वैसे इन्होने प्रेम-प्रधान रहस्यात्मक काव्य भी रचे, किन्तु महत्त्व राष्ट्रीय चेतनाओ से समन्वित कविताओ के कारण ही है। छायावादी प्रेमानु-भूतियो से भी यह प्रभावित रहे। कुछ प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ भी रची। प्रमुख बात यह है कि राष्ट्रीयता को इन्होने कही भी विस्मृत नही किया।

हिमकिरीटिनी, हिम-तरगिणी, युग चरण, समर्पण, माता आदि इनके प्रसिद्ध काव्य-सग्रह हैं। कविता के अतिरिक्त गद्य-साहित्य के विकास मे भी इनका सराहनीय योगदान है। 'साहित्य देवता' इनका गद्य-काव्य है। इस पर इन्हे पुरस्कृत भी किया गया था। 'वनवासी' मे इनकी अनेक कहानियाँ सकलित हैं। इसी प्रकार इन्होने 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नामक एक साहित्यिक नाटक भी लिखा था।

राष्ट्रीय आन्दोलनों के युग मे अनेक बार इन्हे भूमिगत भी होना पडा था। किन्तु उन दिनो मे भी यह 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से साहित्य-सृजन मे

निरत रहा करते थे। साहित्य मे इनका यही नाम अधिक प्रचलित है। 'फूल की चाह', इनकी बहुत ही प्रसिद्ध छोटी कविता है, जो राष्ट्रीयता के लिए आत्म-बलिदान की अमिट तडप से भरी है। इनकी भाषा-शैली अत्यधिक सरल किन्तु ओजस्वी है। छन्द-विधान आदि की दृष्टि से भी इनमे नव्यता के दर्शन होते हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—वास्तव मे काव्य के क्षेत्र मे प्रगतिवादी चेतना के प्रथम अन्वेषक एव राष्ट्रीय धारा के अमर गायक नवीनजी का जन्म ग्वालियर स्थित शाहजापुर गाँव मे हुआ था। जन्म-सन् १८९७ है। इनके कर्मक्षेत्र का आरम्भ क्रातिमयी गतिविधियो से हुआ था, इसी कारण छायावाद के अन्तराल मे भी क्रान्ति के स्वर मुखर कर सकने मे यह पूर्णतया समर्थ तथा सफल हो सके। बाद मे राष्ट्रीय आन्दोलनो के कारण देश की राजनीति मे भी इन्होने दृढता से अपने पाँव जमा लिये थे। अत राष्ट्रीय भावना की प्रमुखता तो इनके स्वर-सन्धान मे है ही सही, इसके साथ-साथ दार्शनिकता, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो, सामाजिक घात-प्रतिघातो एव प्रगतिवादी यथार्थ चेतनाओ के दर्शन भी इनके काव्यो मे समन्वित रूप से होते हैं। शृगार-चेतनाओ के दर्शन, एव प्रकृति के सूक्ष्म चित्रित रूप भी इनके काव्यो का सहज शृगार हैं। शृगार चित्रण मे वासना नाममात्र को भी नही है। और कुछ भी हो, इनकी प्रस्तुत पक्तियो ने ही वास्तव मे पहली बार लोगो का ध्यान प्रगति-चेतना की ओर आकर्षित एव उन्मुख किया था :—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
          जिससे उथल-पुथल मच जाये।
नियम और उपनियम के ये,
          बन्धन टूटकर छिन्न-भिन्न हो जायें।

न कुकुम, अपलक, रश्मि-रेखा, क्वासि, विस्मृता, उर्मिला और विनोबास्तवन आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ है। इन्होने 'प्राणार्पण' नामक एक खण्ड काव्य भी लिखा था। इनकी भाषा, भावना और अभिव्यक्तियो मे सर्वत्र ओजस्विता है। विप्लव का स्वर इनके काव्य की प्रमुख विशेषता है। राष्ट्रभाषा के विकास मे

एव स्वतन्त्र भारत के सविधान-निर्माण मे भी इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यह विधान-परिषद् के सक्रिय सदस्य रहे हैं। समग्रत इनका दृष्टिकोण सर्वत्र क्रान्तिकारी ही प्रमुख है। इस महान् विभूति का स्वर्गवास सन् १९६० मे हुआ। यह रिक्तता आज तक अपूरित है।

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'—इनका जन्म सन् १९०७ मे ग्वालियर के पास स्थित मुरार नामक गाँव मे हुआ था। इनका काव्य-स्वर छायावादी युग मे ही मुखर तो हुआ, परन्तु राष्ट्रीय चेतना को लेकर हुआ था। इसी कारण इनकी गणना युगीन राष्ट्रीय प्रतिनिधि कवियो मे की जाती है। इनकी कला का एक मात्र उद्देश्य राष्ट्रीय नव-जागरण एव नवनिर्माण ही है। इसी कारण इन्होंने दलितो, शोषितो, मजदूर-किसानो की स्थितियो का बडा ही मार्मिक अकन अपनी कविताओ मे किया है। जागरण का सन्देश देने वाली इनकी कविता का एक उदाहरण देखें —

> प्रासादो का ही नही, कुटी का आँगन भी तो है आँगन।
> सुख-दुख पर होता है समान हर मानव के उर मे स्पन्दन,
> सब के प्राणो की पुलक बने ऐसा क्षण कौन बुलाएगा ?
> ऐसा वसन्त कब आएगा ?

इनकी कविता मे प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आग्रह का भाव भी है, किन्तु वहाँ भी राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण अन्तर्हित है। कल्पना की उदात्तता, सूक्ष्मता, प्रेम, करुणा और नवनिर्माण की उत्सुकता एव ओजस्विता आदि बातो से समन्वित इनकी कविता वास्तव मे अत्यधिक प्रेरणादायक है। इनके भावो के समान छन्द-विधान मे भी विविधता है।

मिलिन्द जी, अग्रेजी, बगला, मराठी, उर्दू और सस्कृत आदि भाषाओ के भी विद्वान् हैं। कुछ दिनो तक यह 'भारती' नामक पत्रिका का सम्पादन भी करते रहे। अभी तक आठ से अधिक रचनाएँ प्रकाश मे आ चुकी हैं। उनमे से प्रमुख हैं—जीवन-सगीत, नवयुवक का गान, बलिपथ के गीत, भूमि की अनुभूति, पखुरियाँ आदि। कविता के अतिरिक्त मिलिन्द जी ने कुछ नाटक भी रचे हैं। उनके नाम हैं—प्रताप-प्रतिज्ञा, समर्पण और गौतम नन्द। 'चिन्तनकण' नाम से

राष्ट्रीयता की प्रखर चेतना के साथ-साथ वात्सल्य एव स्नेह का भाव भी इनके काव्यो मे अनेकश ध्वनित हुआ है। काव्य का स्वर ओजस्वी, प्रखर, सरस एव प्रबल निष्ठा का द्योतक है। रोने-खीझने को वे अपने व्यक्तित्व का अपमान मानती थी। जीवन को सघर्षमय कर्मभूमि मानकर ही इन्होने जिया, अत राष्ट्रीय चेतना से समन्वित कर्मठता ही इनके काव्य का प्रमुख एव उच्च सन्देश है।

सोहनलाल द्विवेदी—द्विवेदी जी ने इस विश्वास को लेकर काव्य-साधना के क्षेत्र मे प्रवेश किया कि "उदात्त भावो को, सद्विवेक, सद्विचार, सद्भावना को जगाना ही काव्यादर्श है। जो कला-कविता हममे अच्छे सस्कारो को जाग्रत न कर सके, समझना चाहिए कि वह अपने आदर्श से च्युत है।" अपने इस आदर्श के अनुसार ही द्विवेदी जी ने जन-चेतना को राष्ट्रीयता का एक अग मानकर अपने काव्यो मे चित्रित किया है।

इनका जन्म सन् १९०५ मे हुआ था। गाधीवादी चेतना को अपनाकर इनकी सर्जना का स्वर मुखरित हुआ। अन्य युगीन राष्ट्र-धारा के कवियो के समान इन्होने भी विदेशी सत्ता को उखाड फेकने के लिए विद्रोही स्वर गुंजाया। भारतीय जीवन एव समग्र मानवता के सामने सत्य, अहिंसा एव सदाचार के आदर्शों का उद्घोष किया। इन्होने आशा, उत्साह एव साहस का सबल प्रदान कर युगीन चेतनाओ को प्रखरता प्रदान की। इनके काव्यो का स्वर जीवन के थार्थ धरातल पर टिका होने पर भी अन्ततोगत्वा आदर्शवादी है। आत्मविश्वास ा अदम्य भाव इनकी रचनाओ मे सर्वत्र परिव्याप्त है।

भैरवी, पूजा-गीत, वासवदत्ता, कुणाल, युगारम्भ, वासन्ती, वाँसुरी, मोदक, ाल भारती आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ है। 'भैरवी' राष्ट्र पर सर्वस्व न्योछावर र देने की प्रेरणा से ओतप्रोत ओजस्वी काव्य है। 'पूजा-गीत' की यह पक्तियाँ त्यधिक प्रसिद्ध एव प्रेरणादायक है कि —

वदना के इन स्वरो मे एक स्वर मेरा मिला लो।

तव कभी माँ को न भूलो,

राग में जब मत्त झूलो
अर्चना के रत्नकण में एक कण मेरा मिला लो।

'वासवदत्ता' में सांस्कृतिक स्वरों की प्रबलता है, जब कि 'कुणाल' में बौद्ध-संस्कृति के आदर्शों को स्थापित किया गया है। इनकी भाषा शैली भावनाओं के समान ही सरल, उदात्त एवं प्रखर-प्रभावी है। इसमें एक सरस-स्वाभाविक आवेग है। बाल-काव्य रचने में भी यह पूर्णतया समर्थ हैं। 'दूध बताशा' और 'बाल भारती' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। राष्ट्रप्रेम एवं जागरण ही इनका प्रमुख सन्देश है।

रामधारीसिंह 'दिनकर'—मानवीय पौरुष एवं जन-भावनाओं के अमर गायक राष्ट्रकवि 'दिनकर' भी छायावादी युग की ही मूलतः देन हैं। किन्तु इनके तीखे स्वरों को छायावाद अपने में आत्मसात् न कर सका। अतः यह राष्ट्र-धारा के कवियों में सर्वाधिक सबल व्यक्तित्व लेकर उभरे। उस युग की दीवारों को फांदकर इन्होंने अगले युग की प्रगतिवादी चेतनाओं को भी अपने विराट व्यक्तित्व से छा रखा है।

इनका जन्म सन् १६०८ में बिहार प्रान्त के मुंगेर जिले में स्थित सिमरिया नामक गाँव में हुआ था। हिन्दी, अंग्रेजी के साथ-साथ इन्होंने उर्दू, संस्कृत और बंगला भाषाओं एवं साहित्य का भी गहन अध्ययन किया। दर्शन, इतिहास और राजनीति में भी इनकी गहरी पैठ है। राजनीतिक एवं सामयिक चेतनाओं के साथ-साथ वे सांस्कृतिक चेतना के भी सर्वाधिक सशक्त गायक हैं। जन-भावों का वास्तविक प्रतिनिधित्व यदि कहीं समग्रतः मिलता है तो 'दिनकर जी' की कविताओं में ही। आधुनिक काव्य की समस्त विधाओं पर इनका समान अधिकार है। उर्दू-कवि इकबाल, बंगला के कवीन्द्र रवीन्द्र, पाश्चात्य कवियों में से मिल्टन, कीट्स और शैले आदि से दिनकर जी विशेष प्रभावित हैं। किन्तु जहाँ तक नदम्य राष्ट्रीयता का प्रश्न है, इनका व्यक्तित्व सर्वथा अपना और पूर्णतया भारतीय हैं। आरम्भ में यह क्रान्तिकारी विचारधारा के रहे, फिर गांधीवाद की प्रखरता से प्रभावित हुए। किन्तु क्रान्ति-भावना का विसर्जन यह किसी भी क्षण नहीं कर पाये। इसी कारण अपने सम्बन्ध में वह कहा करते हैं कि "मैं एक

राष्ट्रीयता की प्रखर चेतना के साथ-साथ वात्सल्य एव स्नेह का भाव भी इनके काव्यों मे अनेकश ध्वनित हुआ है। काव्य का स्वर ओजस्वी, प्रखर, सरस एव प्रबल निष्ठा का द्योतक है। रोने-चीखने को वे अपने व्यक्तित्व का अपमान मानती थी। जीवन को सघर्षमय कर्मभूमि मानकर ही इन्होने जिया, अत राष्ट्रीय चेतना से समन्वित कर्मठता ही इनके काव्य का प्रमुख एव उच्च सन्देश है।

सोहनलाल द्विवेदी—द्विवेदी जी ने इस विश्वास को लेकर काव्य-साधना के क्षेत्र मे प्रवेश किया कि "उदात्त भावो को, सद्विवेक, सद्विचार, सद्भावना को जगाना ही काव्यादर्श है। जो कला-कविता हममे अच्छे सस्कारो को जाग्रत न कर सके, समझना चाहिए कि वह अपने आदर्श से च्युत है।" अपने इस आदर्श के अनुसार ही द्विवेदी जी ने जन-चेतना को राष्ट्रीयता का एक अग मानकर अपने काव्यो मे चित्रित किया है।

इनका जन्म सन् १९०५ मे हुआ था। गाधीवादी चेतना को अपनाकर इनकी सर्जना का स्वर मुखरित हुआ। अन्य युगीन राष्ट्र-धारा के कवियो के समान इन्होने भी विदेशी सत्ता को उखाड फेंकने के लिए विद्रोही स्वर गुँजाया। भारतीय जीवन एव समग्र मानवता के सामने सत्य, अहिंसा एव सदाचार के आदर्शो का उद्घोष किया। इन्होने आशा, उत्साह एव साहस का सबल प्रदान कर युगीन चेतनाओ को प्रखरता प्रदान की। इनके काव्यो का स्वर जीवन के यथार्थ धरातल पर टिका होने पर भी अन्ततोगत्वा आदर्शवादी है। आत्मविश्वास का अदम्य भाव इनकी रचनाओ मे सर्वत्र परिव्याप्त है।

भैरवी, पूजा-गीत, वासवदत्ता, कुणाल, युगारम्भ, वासन्ती, बाँसुरी, मोदक, बाल भारती आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ है। 'भैरवी' राष्ट्र पर सर्वस्व न्यौछावर कर देने की प्रेरणा से ओतप्रोत ओजस्वी काव्य है। 'पूजा-गीत' की यह पक्तियाँ अत्यधिक प्रसिद्ध एव प्रेरणादायक हैं कि —

वदना के इन स्वरो मे एक स्वर मेरा मिला लो।
तव कभी माँ को न भूलो,

राग मे जब मत्त झूलो
अर्चना के रत्नकण मे एक कण मेरा मिला लो।

'वासवदत्ता' मे सांस्कृतिक स्वरो की प्रबलता है, जब कि 'कुणाल' मे बौद्ध संस्कृति के आदर्शो को स्थापित किया गया है। इनकी भाषा शैली भावनाओ के समान ही सरल, उदात्त एव प्रखर-प्रभावी है। उसमे एक सरस-स्वाभाविक आवेग है। बाल-काव्य रचने मे भी यह पूर्णतया समर्थ हैं। 'दूध बताशा' और 'बाल भारती' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। राष्ट्रप्रेम एव जागरण ही इनका प्रमुख सन्देश है।

रामधारीसिंह 'दिनकर'—मानवीय पौरुष एव जन-भावनाओ के अमर गायक राष्ट्रकवि 'दिनकर' भी छायावादी युग की ही मूलत देन हैं। किन्तु इनके तीखे स्वरो को छायावाद अपने मे आत्मसात् न कर सका। अत. यह राष्ट्र-धारा के कवियो मे सर्वाधिक सबल व्यक्तित्व लेकर उभरे। उस युग की दीवारो को फाँदकर इन्होने अगले युग की प्रगतिवादी चेतनाओ को भी अपने विराट व्यक्तित्व से छा रखा है।

इनका जन्म सन् १९०८ मे बिहार प्रान्त के मुंगेर जिले मे स्थित सिमरिया नामक गाँव मे हुआ था। हिन्दी, अंग्रेज़ी के साथ-साथ इन्होने उर्दू, संस्कृत और बंगला भाषाओ एव साहित्य का भी गहन अध्ययन किया। दर्शन, इतिहास और राजनीति मे भी इनकी गहरी पैठ है। राजनीतिक एव सामयिक चेतनाओ के साथ-साथ वे सांस्कृतिक चेतना के भी सर्वाधिक सशक्त गायक है। जन-भावो का वास्तविक प्रतिनिधित्व यदि कही समग्रत मिलता है तो 'दिनकर जी' की कविताओ मे ही। आधुनिक काव्य की समस्त विधाओ पर इनका समान अधिकार है। उर्दू-कवि इकबाल, बंगला के कवीन्द्र रवीन्द्र, पाश्चात्य कवियो मे से मिल्टन, कीट्स और शैले आदि से दिनकर जी विशेष प्रभावित है। किन्तु जहाँ तक [illegible] राष्ट्रीयता का प्रश्न है, इनका व्यक्तित्व सर्वथा अपना और पूर्णतया भारतीय है। आरम्भ मे यह क्रान्तिकारी विचारधारा के रहे, फिर गांधीवाद प्रखरता से प्रभावित हुए। किन्तु क्रान्ति-भावना का विसर्जन यह किसी भी [illegible] नही कर पाये। इसी कारण अपने सम्बन्ध मे वह कहा करते है कि "मैं —

बुरा गाधीवादी हूँ ।" यह ईंट का जवाब पत्थर से देना ही उचित मानते है। इसी कारण इन्होने अपनी 'हिमालय' नामक कविता मे युधिष्ठिर को स्वर्ग मे जाने देने और भीम-अर्जुन को गदा-गाण्डीव-सहित लौटा देने की बात कही है। हमारे विचार मे समूची राष्ट्रवादी काव्यधारा मे जनता का आक्रोश यदि वास्तविकता के साथ कही रूपायित हुआ है, तो वह केवल 'दिनकर' की रचनाओ मे ही हो पाया है।

रेणुका, हुकार, द्वन्द्वगीत, सामधेनी, रसवन्ती, बापू, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, उर्वशी, धूप और धुआँ, इतिहास के आँसू, नील कुसुम आदि इनके प्रमुख काव्य है। 'हुकार' मे इनकी राष्ट्रीयता सर्वाधिक उभरकर आई है। 'कुरुक्षेत्र' एक विचार-प्रधान काव्य है। इसमे इन्होने युद्ध एव हिंसा की समस्या पर गम्भीरता से विचार करने के बाद अन्त मे मानवतावाद एव कर्मयोग को ही प्रश्रय दिया है। 'रश्मिरथी' मे इन्होने जातिवाद के घिनौने स्वरूप को नगा करने के बाद युद्ध और शान्ति के प्रश्न पर भी विचार किया है। 'उर्वशी' एक प्रेम-काम-प्रधान सर्जना है। कवि के अतिरिक्त गद्यकार के रूप मे भी दिनकर का व्यक्तित्व अत्यन्त सजीव है। इस दिशा मे 'सस्कृति के चार अध्याय' और 'अर्धनारीश्वर' जैसी रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय है। मानवता का अदम्य भाव इनकी समूची चेतना का सार तत्त्व है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' नामक इनकी रचना में जिस राष्ट्रीय आक्रोश एव आह्वान को स्वर मिला है, वह वास्तव मे आज के हिन्दी काव्य की महान् ऐतिहासिक घटना है।

भाषा एव शैली का वैविध्य दिनकर के व्यक्तित्व एव कृतित्व का सर्वाधिक उजागर पहलू है। छायावादी युग से लेकर नव्य कविता के इस युग तक समस्त विधाएँ इनकी लेखनी का प्रखर सस्पर्श पा चुकी और पा रही हैं। सौन्दर्योपासना, यौवन की उमगें, प्रगतिचेता मानवतावाद, प्रकृति की रमणीयता सभी कुछ यहाँ अन्तर्हित है। निराशा कही भी नही है। अभी दिनकर से, सच्चे अर्थो मे युग जन एव युग-कवि से हिन्दी साहित्य को अनेक आशाएँ हैं।

उदयशकर भट्ट—छायावादी युग की मिश्रित विविध प्रवृत्तियो को अपनाकर काव्य-सर्जना करने वाले कवियो मे श्री उदयशकर भट्ट का नाम भी विशेष

उल्लेखनीय है। इनका जन्म सन् १८९८ में हुआ था। इनके जीवन का अधिकांश काल लाहौर एवं दिल्ली में व्यतीत हुआ। स्वतन्त्रता-पूर्व पंजाब की साहित्यिक गतिविधियों में इनका विशेष योगदान स्वीकार किया जाता है।

भट्ट जी की रचनाओं में प्रमुख हैं—तक्षशिला, राका, मानसी, विश्वमित्र, मत्स्यगन्धा, विसर्जन, युग-दीप, यथार्थ और कल्पना, अमृत और विष आदि। इनमें इनकी चेतना के विविध स्वर सुने जा सकते हैं। वास्तव में इनका कवित्व-मय व्यक्तित्व छायावादी युग से लेकर स्वातन्त्र्योत्तर कविता-साहित्य तक फैला हुआ है। इसी कारण कुछ इतिहासकारों ने इनका उल्लेख प्रगतिवादी कवियों के अन्तर्गत भी किया है। इनकी आरम्भिक रचनाओं में निराशा का भाव ही प्रमुख है। किन्तु धीरे-धीरे उसमें प्रखरता आती गई है। बाद में तो यह स्पष्टतः परम्पराओं के विरोधी बनकर उनके प्रति एक चुनौती के रूप में प्रगट हुए। अनाचार, भाग्यवाद एवं अकर्मण्यता के यह प्रबल विरोधी रहे। हमेशा हिम्मत, उत्साह एवं जागरूक चेतनाओं को प्रश्रय दिया। अन्ध रूढ़ियों का भी इन्होंने डट-कर विरोध किया। इनकी काव्य-भाषा-शैली सरल एवं सुबोध है। इन्होंने मूलतः मानवतावाद को ही अपने काव्यों में प्रश्रय दिया है।

इनका व्यक्तित्व कवि के अतिरिक्त नाटककार एवं एकांकीकार के रूप में भी अत्यन्त प्रखर है। इन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक सभी प्रकार के नाटक रचे। इन्होंने एकांकीकार के रूप में रूढ़िवादी परम्पराओं एवं मान्यताओं पर प्रखर प्रहार किये हैं। यहाँ इनका व्यंग्य-विनोदकार का व्यक्तित्व बड़ी प्रखरता से उभरा है। हिन्दी नाटक के क्षेत्र में दुखान्त नाटकों का तो इन्हें प्रव-र्तक ही माना जाता है। दाहर, अम्बा, सगर-विजय, मुक्तिपथ, कमला, अन्तहीन अन्त आदि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। दर्जनों एकांकी भी प्रकाश में आये हैं। इस प्रकार भट्ट जी का व्यक्तित्व विविधमुखी चेतनाओं को लेकर प्रकाश में आया।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—मूलतः कथात्मक साहित्य के विकास में योगदान करने वाले अश्क जी प्रवृत्ति से कवि भी हैं। इनका जन्म सन् १९१० में जालन्धर में हुआ था। इनको जिस प्रकार के घरेलू वातावरण और इसके बाद सामाजिक विद्रोह वातावरण में रहना पड़ा, उसने मूलतः इनकी प्रवृत्ति को निराशावादी

बना दिया। अत कहा जा सकता है कि कविता के क्षेत्र मे इनकी गणना निराशा-वादियों मे ही की जा सकती है। शोक एव वेदना का स्वर इनके काव्यो में स्पष्टत. सुना जा सकता है।

अश्क जी का साहित्यिक जीवन उर्दू से आरम्भ हुआ था। किन्तु प्रेमचन्द जैसे सशक्त कलाकार की प्रेरणा से जल्दी ही इन्होने हिन्दी भाषा मे साहित्य-सर्जना आरम्भ कर दी। आज के अन्य अनेक श्रेष्ठ गद्यकारो के समान इनका साहित्यिक जीवन काव्य-सर्जना से ही आरम्भ हुआ था। इनकी काव्य-चेतना मे निश्छलता एव आडम्बरशून्यता विशेष दर्शनीय है। सीधे-सादे ढग एव भाषा मे यह अपनी बात कह देते हैं। इनकी निश्छल अभिव्यक्ति का एक उदाहरण देखें —

> जाने क्यो है एक खुमारी, वैभव का यह शान ?
> डाल दिया करता पर्दा क्यो, आँखो पर अनजान
> नहीं समझता क्यो मानी मन,
> है यह चार घड़ी का यौवन,
> पत्ता है पतझड का जीवन
> क्या जाने कब गिर जायेगा, लेकर सब अभिमान !

इनके 'प्रात दीप' और 'ऊर्मियाँ' नामक दो काव्य-सकलन प्रकाश मे आ चुके है। 'बरगद की बेटी' और 'चाँदनी रात और अजगर' इनके दो खण्ड-काव्य हैं। पहले खण्ड काव्य मे प्रेम के नाम पर सम्पन्नो की विलासिता का सशक्त चित्रण किया गया है, जबकि दूसरे मे शोषित जीवन के कुहासो को उत्पाटित करने का प्रयत्न किया गया है।

कवि के अतिरिक्त 'अश्क' जी एक सफल कहानी लेखक, उपन्यसाकार, नाटककार एव एकाकी-लेखक भी हैं। इस दिशा मे भी इनकी अनेक रचनाएँ प्रकाश मे आ चुकी हैं।

छायावादी युग की समग्र भावनाओ एव युग-बोधो को स्वर प्रदान करने वाले इन कवियो के अतिरिक्त अन्य अनेक स्वरकारो ने भी हिन्दी साहित्य के भण्डार को भरने मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इनमे से अनेक आज भी परवर्ती

रूपराशि, चन्द्रकिरण, वीर हमीर, चित्तौड़ की चिता, निशीथ, एकलव्य आदि, इनके प्रसिद्ध काव्य हैं। 'एकलव्य' भारतीय दर्शन एव आदर्शो का प्रतिपादक महाकाव्य है। इनकी 'चित्ररेखा' नामक रचना पर इन्हे देव पुरस्कार और 'चन्द्र-किरण' पर चक्रधार पुरस्कार प्राप्त हुआ था। इन्होने वर्णनात्मक एव गीतिकाव्य इन दो विधाओ को ही अपनाया। गीतो मे गीत के समग्र तत्त्व विद्यमान हैं। आगे चलकर वर्मा जी ने काव्य-रचना प्राय त्याग दी। इनकी चेतना का विकास नाटक एव एकाकी के क्षेत्र मे विशेष रूप से देखा जा सकता है। आलोचना एव इतिहास-लेखन के क्षेत्र मे भी वर्मा जी का नाम आदर से लिया जाता है। 'कबीर का रहस्यवाद' इनकी सुप्रसिद्ध आलोचनात्मक रचना है।

हरिकृष्ण प्रेमी—छायावाद के साथ-साथ प्रेम, निराशा एव मानव-प्रगति के गायक प्रेमी जी का जन्म गुना (ग्वालियर) मे सन् १६०८ मे हुआ था। किन्तु इनके जीवन का अधिकाश समय पजाब की साहित्यिक गति-विधियो के केन्द्र लाहौर में ही व्यतीत हुआ। इनका जीवन आरम्भ से ही अनेक प्रकार के संघर्षो मे व्यतीत हुआ। इनके अपने शब्दो मे—"मेरा जीवन तो सदा आँधी-तूफानों की छाती पर सवार होकर चला है। कभी वह उडकर हिमालय के ऊपर पहुँचा है तो कभी समुद्र की गहराइयो मे जा डूबा है, कभी थपेडे खाकर मूर्च्छित भी हो गया है। उसकी बाँसुरी के स्वर रुके भी हैं। किन्तु कोई अज्ञात मेरे श्वासो मे श्वास भर जाता है और मैं गा उठता हूँ।" इनके काव्यो मे स्वरो एव चेतनाओ का यह आरोहावरोह स्पष्टत. देखा जा सकता है।

प्रेमी जी की काव्य-चेतना मे क्रमश. अनेक पडाव आये हैं। इन्होने युग-कवि के समान भी समय की नाडी को पहचानकर अपना स्वर बदला है। सभी दृष्टियो से वेदना ही इनके काव्यो का प्रमुख स्वर है। इनके प्रमुख काव्य-सग्रह है—आंखो मे, स्वर्ण-विहान, अनन्त के पथ पर, अग्नि गान, रूप दर्शन और जादूगरनी। इनमे से 'आंखो मे' नामक रचना मे इनकी आरम्भिक कविताएँ सकलित हैं। प्रेम-यौवन और प्रकृति-प्रेम ही इनकी कविताओ का मुख्य विषय है। 'स्वर्णविहान' एक राष्ट्रीय भावनाओ से ओतप्रोत पद्य-नाटिका है। इसकी प्रखर एव उग्र राष्ट्रीय चेतना के कारण ही अग्रेज सरकार ने इसे प्रतिबन्धित कर दिया था।

'अनन्त के पथ पर' नामक रचना मे छायावादी पर्यावरण मे पलने वाली सुगढ रहस्यवादी चेतना के दर्शन होते हैं। 'अग्निगान' मे समस्त शोषणो के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर होता सुनाई देता है।

प्रेमी जी के काव्यो की भाषा अधिक सरल एव भावाभिव्यक्ति मे समर्थ है। काव्य-शैली भी दुरूह एव जटिल नही है। इनकी भाषा-शैली की सरल स्वाभाविकता ही लोकप्रियता का प्रमुख कारण है। यह बात विशेष ध्यान देने की है कि छायावादी युग मे रहकर भी प्रेमी जी की कविता मे व्यक्ति तत्त्वो को अधिक प्रश्रय मिला है। इस कारण आज के अनेक आलोचक इन्हें व्यक्तिवादी कवि भी कहते हैं परन्तु निश्चय ही इनकी वैयक्तिकता मे समग्र मानवता के सुख-दुख को ही रूपाकार प्राप्त हुआ है।

प्रेमी जी का कवि से भी अधिक महत्त्व ऐतिहासिक नाटककार के रूप मे अकित किया जाता है। मध्य युगीन भारत के इतिहास को अपने नाटको का विषय बनाकर इन्होने राष्ट्रीय एकता को प्रश्रय दिया। इनके रक्षाबन्धन, पाताल विजय, शिवा-साधना, आहुति, प्रतिबोध, विषपान, स्वप्नभग और छाया आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं।

वैयक्तिक कविता या हालावाद

छायावादी काव्य-चेतना का एक पक्ष प्रखर व्यक्तिवादी चेतना के रूप मे विकसित हुआ। डॉ० नगेन्द्र प्रभृति विद्वानो ने वैयक्तिक चेतना से सम्पन्न कविता को छायावाद एव प्रगतिवाद की मध्यवर्तिनी धारा कहा है। उस धारा के प्रमुख कवि हैं—हरिवशराय बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, रामेश्वर शुक्ल अचल, नरेन्द्र शर्मा आदि। विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि कुछ इतिहासकारो ने इस व्यक्ति-चेतना से विनिर्मित काव्यधारा को 'हालावाद' के नाम से भी अभिहित किया है, क्योकि इसमे एक अपनी ही मस्ती, अल्हडता एव अक्खडता है। इस हालावादी कविता के दो पक्ष स्वीकारे गये हैं—एक विशुद्ध भौतिक एव दूसरा आध्यात्मिक। पहले पक्ष के दर्शन बच्चन मे होते है, जब कि दूसरे पक्ष के भगवतीचरण वर्मा की कविता मे। अन्य कवि इन्हीमे से किसी एक के अन्तर्गत आते हैं। वैसे उस

वैयक्तिक या हालावादी काव्यधारा का प्रतिनिधि हरिवंशराय बच्चन को ही स्वीकार किया जाता है।

हरिवंशराय बच्चन—बच्चन जी का जन्म सन् १९०७ ई० मे इलाहाबाद मे हुआ था। शैशव के सुकुमार क्षणो से ही इनकी प्रवृत्ति पद्य-रचना की ओर थी, जिसे इनके माता-पिता पसन्द नहीं करते थे। कॉलेज-जीवन मे बच्चन जी ने कुछ कहानियाँ लिखी और वे पसन्द भी की गई, परन्तु इनको विशेष प्रसिद्धि तब मिली जब इन्होने एम० ए० मे अध्ययन करते हुए 'उमर खय्याम की 'रुबाइयो' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। इन्हे अपने वैयक्तिक जीवन मे अनेक प्रकार के आघात सहने पडे, फलस्वरूप इनके काव्यमय जीवन मे निराशा एव वेदना का स्वर गहरा होता गया। इन्होने उसी वेदना एव निराशा के विस्मरण के लिए जो पद्धति अपनाई, वही वास्तव मे काव्य-जगत् मे 'हालावाद' के नाम से प्रसिद्ध हो गई। इसी कारण इन्हें छायावादी काव्य-चेतना की निराशावादी प्रवृत्तियो को हाला की मस्ती मे उडेलने वाला कवि कहा जाता है। आजकल बच्चन जी भारत सरकार के विदेश मत्रालय मे एक उच्च अधिकारी है।

मधुबाला, मधुशाला, मधुकलश, एकान्त सगीत, निशा-निमत्रण, मिलन यामिनी, सतरगिणी, बगाल का अकाल, हलाहल, प्रणय-पत्रिका, आकुल अन्तर, आरती और अगारे, बुद्ध और नाचघर, धार के इधर-उधर, आदि इनकी प्रसिद्ध प्रकाशित काव्य-रचनाएँ हैं। इनमे से आरम्भिक पाँच रचनाएँ क्षणवाद, निराशा एव अन्तर की अकुलाहट को प्रगट करने वाली हैं। बाद मे जीवन के तौर बदलने पर इनके स्वरो मे आशावाद मुखरित होने लगा। 'मिलन यामिनी और 'सतरगिणी' जैसी रचनाओं मे आशावादी स्वर अधिक मुखर हुआ है। शेष रचनाओ मे कवि ने सामाजिक चेतनाओ को मुखर किया है। बाद मे चाहे बच्चन की कविता मे प्रगतिवादी स्वर भी मुखर होने लगे है, किन्तु इनका वास्तविक कवित्व हालावादी रचनाओ मे ही प्रस्फुटित हुआ है और लोग इनके इसी रूप से परिचित है तथा इसीको पसन्द भी करते हैं। वास्तव मे बाद मे बच्चन जी की स्थिति मूल से उखडे वृक्ष के समान ही अधिक हो गई है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि बच्चन का महत्त्व एक युग मे व्याप्त

निराश युवक चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करने के कारण ही अधिक है, खादी के धागे बुनने के कारण नही। इनकी उस कविता मे सहजता, स्वाभाविकता, स्वरमाधुर्य और कल्पना की गहरी उडान आदि सब कुछ है। वैयक्तिक अनुभूतियो की उस दर्पपूर्ण तडपन का नाम ही बच्चन है, बाद का कवि बच्चन तो कुछ और ही हो गया है।

भगवतीचरण वर्मा—इनका जन्म सन् १६०३ मे हुआ था। हरिवंशराय बच्चन से जिस हालावादी परम्परा का आरम्भ हुआ था, वर्मा जी उसके प्रमुख आधार-स्तम्भ हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनके काव्यो मे बच्चन के समान निराशा का स्वर न होकर मस्ती एव खुमार का, यौवन एव उल्लास का विशुद्ध भाव है। इनमे कही-कही आध्यात्मिक मस्ती का पुट भी दिखाई देता हैं। इनका निम्नलिखित मस्ती-भरा स्वर अत्यधिक प्रसिद्ध है —

हम दीवानो की क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले।
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उडाते जहाँ चले।

स्पष्टत इनके स्वरों मे न तो निराशा है और न किसी भी प्रकार की अस्वाभाविक कृत्रिमता ही है। इनकी 'मधुवन' एव 'प्रेम-सगीत' जैसी रचनाओ मे इसी प्रकार की मस्ती का उत्तम स्वर सुन पडता है। किन्तु आगे चलकर युग-आन्दोलनो एव आवश्यकताओ को पहचानकर इनका स्वर सहसा परिवर्तित हो गया। परिवर्तन की यह पग-ध्वनियाँ 'मानव' नामक काव्य-सकलन से स्पष्टत सुनाई देने लगी। यहाँ यह शोपित और पीडित वर्गों के स्वर मे स्वर मिलाकर मानव के अस्तित्व की रक्षा के लिए चिन्तित दिखाई देने लगे। इस सकलन की 'भैंसागाडी' और 'ट्राम' जैसी कविताएँ मानव-जीवन की विगतियो का करुणापूर्ण प्रभावी चित्र प्रस्तुत करती है। इनके काव्यो की भापा भी अत्यधिक सरल, प्रवाहमयी एव सहज सगीत के उद्रेक से समन्वित है। अभिव्यक्ति-पद्धति भी अत्यधिक सहज एव प्रभावी है। 'भैसागाडी' नामक कविता का यह पद्य देखें —

चरमर-चरमर चूँ चरर-चरर जा रही चली भैसागाडी।
उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर।
भू की छाती पर फोडे से हैं, उठे हुए कुछ कच्चे घर।
नर पशु वन कर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही है गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना, वस इन लोगो का यही काम।

कविता के अतिरिक्त कहानी एव उपन्यास के क्षेत्र मे भी वर्मा जी को अत्यधिक सफलता मिली है। वहाँ भी इनका स्वर मानव-प्रगतिवादी ही है।

नरेन्द्र शर्मा—इनका जन्म सन् १९१३ मे वुलन्दशहर ज़िले के जहाँगीरपुर गाँव मे हुआ था। इनके कवि-जीवन का आरम्भ छायावादी काव्यधारा से ही हुआ था। अत इनकी आरम्भिक रचनाओ मे एक ओर जहाँ प्रकृति के प्रति अनुराग-भाव के दर्शन होते हैं, वहाँ निराशा एव वेदना का स्वर भी अत्यधिक प्रवल है। 'पलाश वन', 'प्रवासी के गीत' और 'कामिनी' जैसे काव्य-सकलनो मे उपरोक्त स्वर ही प्रमुखत सुनाई देते हैं। इसी प्रकार 'शुभ फूल' और 'कर्ण फूल' जैसी प्रारम्भिक रचनाओ मे विशुद्ध प्रेम-भाव को ही अभिव्यक्ति मिली है। इसके वाद क्रमश इनकी वैयक्तिक वेदना दु खी एव पीडित मानवता की वेदना वनती गई और यह गा उठे —

उजड रही अनगिनत वस्तियाँ,
मन, मेरी ही वस्ती क्या ?

इनकी परवर्ती रचनाओं मे प्रगतिवादी स्वर क्रमश प्रवलतर होता गया है। यथार्थवादी दृष्टिकोण को अधिक विस्तार मिला। प्रगतिवादी चेतनाओ को रूपायित करने पर भी वास्तव मे नरेन्द्र शर्मा प्रेम-गीतकार ही अधिक हैं। वैसे इनकी कविताओ मे व्यापक राष्ट्रप्रेम की झाँकी भी मिलती है; किन्तु वास्तव मे ये अपने-आपको मानवीय दुर्वलताओ का कवि ही अधिक मानते है और इनके कवित्व की सफलता भी इसी दृष्टि से अधिक है। सास्कृतिक चेतनाओ का उभार भी इनकी परवर्ती रचनाओ मे देखा जा सकता है। परवर्ती रचनाओ के नाम हैं—प्रभात-फेरी, मिट्टी और फूल, अग्निशस्य आदि। 'अग्निशस्य' मे सास्कृतिक आदर्श चेतनाओ की पुष्टता परिलक्षित होती है। इस प्रकार इनके काव्य-स्वरों

मे स्पष्टत वैविध्य के दर्शन होते हैं। इनकी मार्मिक अनुभूतियो का एक सजीव उदाहरण देखें —

एक-दूसरे का अभिनव कर
रचने एक नये भव को
है सघर्ष-निरत मानव
जब फूंक जगत गत वैभव को।

रामेश्वर शुक्ल 'अचल'—'अचल' जी का जन्म ज़िला कृष्णपुरा के फतहपुर नामक स्थान पर सन् १६१५ मे हुआ था। इनके पिता का नाम मातादीन शुक्ल है, जो हिन्दी साहित्य के परम विद्वान् थे। इनका काव्य-कण्ठ छायावादी युग मे ही प्रस्फुटित हुआ था। छायावादी कवियो ने नारी के मासल एव प्रत्यक्ष सौन्दर्याकर्पण पर जो एक अध्यात्म-चेतनाओ का झीना पर्दा डाल दिया था, अचल जी ने उस पर्दे के भीतर प्रविष्ट होकर उसके रूप, सौन्दर्य, यौवन एव प्रेम का उन्मुक्त चित्रण किया है। इसी कारण इन्हे छायावादी प्रवृत्तियो के ह्रासमय परिवेश का कवि और गायक माना जाता है। डॉ० शिवदानसिह चौहान के अनुसार —

"प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी ने व्यक्ति के सुख-दुख, उल्लास-निराशा की अनुभूतिप्रवण और विषयीप्रधान अभिव्यजना करते हुए भी जिन नये मानव-मूल्यो की सृष्टि की थी, कविता का जिन नई अर्थ-भूमियो पर प्रसार किया था और काव्य के अन्त स्वर मे मानवतावादी उदात्तता की जो गरिमा भर दी थी, अचल तक आते-आते उन मानव मूल्यो, अर्थ-भूमियो, और अन्त स्वर की उदात्तता का सम्पूर्ण विघटन हो गया और छायावादी कविता का दायरा सकीर्णतर होता गया। छायावादी काव्य के उत्कर्ष और ह्रास की यह प्रक्रिया हिन्दी कविता के विकास-क्रम की एक कडी है।"

वास्तव मे रूप की लालसा एव अदम्य प्यास ही अचल की कविता मे प्रमुखत. अभिव्यक्ति पा सकी है। इन्होने मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर कृषको-मजदूरो से सहानुभूतिपरक कुछ कविताएँ भी रची हैं, किन्तु वहाँ इनके वास्तविक व्यक्तित्व के दर्शन नही होते। अतृप्तियों की मुखर अभिव्यजना मे ही अचल की सफलता है। भाषा, भावना एव अभिव्यक्ति अत्यधिक प्रखर वेगवती

है। इनकी दोनो प्रकार की कविता के उदाहरण देखें —

एक पल के ही दरस मे जग उठी तृष्णा अधर मे,
जल रहा परितप्त अगो मे पिपासाकुल पुजारी।

यहाँ यदि वासना की अतृप्तियो का उद्दाम वेग है, तो निम्न पक्तियो मे इन्कलाव का स्वर मुखरित हुआ है —

देखो मुट्ठी भर दाने को तडप रही कृषक की काया,
कव से सुप्त पडी खेतो मे जागो इन्कलाव फिर आया।

अपराजिता, मधुकर, मधूलिका, किरण वेला, लाल चूनर, करील, वर्षान्त के वादल आदि इनके प्रमुख प्रकाशित काव्य-सकलन हैं। इनमे से 'मधूलिका' और 'अपराजिता' मे प्रेम की वासनात्मक अतृप्तियो का चित्रण हुआ है। अन्य रचनाओ मे मानव-विद्रोह एव उसकी प्रगति-भावनाओ की अभिव्यक्ति के स्वर सुनाई देते हैं। मूलत अचल जी प्रेम, वासना एव मानव-अतृप्तियो के ही कवि हैं। यही उनका व्यक्तित्व प्रखर रूप से हमारे सामने उभरकर आया है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि अचल जी का साहित्यिक जीवन कहानीकार के रूप मे ही प्रारम्भ हुआ था। लेकिन वाद मे यह कविता के क्षेत्र मे आ गए। इनकी कहानियो के सकलन प्रकाशित हो चुके है।

छायावादी युग राष्ट्र-धारा के कवि

जिस प्रकार रीतिकाल मे रीतिवद्ध शृगार-सयत कविता के साथ-साथ वीर-रस-प्रधान राष्ट्रीय काव्यधारा भी प्रवाहित होती रही, इसी प्रकार आधुनिक काल के इस तृतीय चरण छायावादी युग मे भी राष्ट्रीय काव्यधारा उसके समानान्तर पर प्रवाहित रही। इसमे पूर्ववर्ती युग के मैथिलीशरण गुप्त आदि कुछ कवि तो कार्यरत ही रहे, अन्य अनेक सशक्त कवियो का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन्हीका सक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

माखनलाल चतुर्वेदी—राष्ट्र-धारा के काव्यकारो मे श्री माखनलाल चतुर्वेदी का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। वैसे इनका काव्य-स्वर भी छायावादी परिवेश मे ही मुखरित हुआ था, किन्तु जल्दी ही वह सुघड राष्ट्रीयता के रंग मे

रगकर गूँजने लगा। इनका जन्म सन् १८८८ मे मध्यप्रदेश के जिला होशगाबाद मे बसे बाबई नामक गाँव मे हुआ था। इन्होने नार्मल पास करके सर्वप्रथम अध्यापन कार्य आरम्भ किया। अध्यापन-काल मे इन्होने हिन्दी के साथ-साथ मराठी, गुजराती एव अग्रेजी आदि भाषाओ का गहन अध्ययन किया। कुछ समय बाद यह अध्यापन-कार्य त्यागकर 'प्रभा' नामक पत्रिका का सम्पादन करने लगे। तत्पश्चात् इन्होने खण्डवा से 'कर्मवीर' का प्रकाशन-सम्पादन आरम्भ किया और जीवन के अन्तिम क्षण तक यही रहकर राष्ट्र एव साहित्य-सेवा करते रहे। पहले-पहल यह देश के क्रान्तिकारियो के साथ भी अन्त सम्बन्धित रहे। बाद मे गाधी-वादी विचारधारा से प्रभावित होकर व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलनो के एक अग बन गये। परिणामस्वरूप इन्हे अनेक बार कारावास का दण्ड भोगना पडा। इनके महान् राष्ट्रीय कार्यों से प्रभावित होकर भारत सरकार ने इन्हे 'पद्मभूषण' की उपाधि देकर सम्मानित किया। इसी प्रकार सागर विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० लिट्० की सम्मानित उपाधि भी प्रदान की। इनका निधन सन् १९७० मे खण्डवा मे ही हुआ।

चतुर्वेदी जी का समूचा काव्य प्रधानत राष्ट्रीयता की ओजस्वी भावनाओ से समन्वित है। वैसे इन्होने प्रेम-प्रधान रहस्यात्मक काव्य भी रचे, किन्तु महत्त्व राष्ट्रीय चेतनाओ से समन्वित कविताओ के कारण ही है। छायावादी प्रेमानु-भूतियो से भी यह प्रभावित रहे। कुछ प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ भी रची। प्रमुख बात यह है कि राष्ट्रीयता को इन्होने कही भी विस्मृत नही किया।

हिमकिरीटिनी, हिम-तरगिणी, युग चरण, समर्पण, माता आदि इनके प्रसिद्ध काव्य-सग्रह है। कविता के अतिरिक्त गद्य-साहित्य के विकास मे भी इनका सराहनीय योगदान है। 'साहित्य देवता' इनका गद्य-काव्य है। इस पर इन्हें पुरस्कृत भी किया गया था। 'वनवासी' मे इनकी अनेक कहानियाँ सकलित है। इसी प्रकार इन्होने 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नामक एक साहित्यिक नाटक भी लिखा था।

राष्ट्रीय आन्दोलनो के युग मे अनेक बार इन्हे भूमिगत भी होना पडा था। किन्तु उन दिनो मे भी यह 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से साहित्य-सृजन मे

निरत रहा करते थे। साहित्य मे इनका यही नाम अधिक प्रचलित है। 'फूल की चाह' इनकी बहुत ही प्रसिद्ध छोटी कविता है, जो राष्ट्रीयता के लिए आत्म-बलिदान की अमिट तडप से भरी है। इनकी भाषा-शैली अत्यधिक सरल किन्तु ओजस्वी है। छन्द-विधान आदि की दृष्टि से भी इनमे नव्यता के दर्शन होते हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—वास्तव मे काव्य के क्षेत्र मे प्रगतिवादी चेतना के प्रथम अन्वेषक एव राष्ट्रीय धारा के अमर गायक नवीनजी का जन्म ग्वालियर स्थित शाहजापुर गाँव मे हुआ था। जन्म-सन् १८९७ है। इनके कर्मक्षेत्र का आरम्भ क्रांतिमयी गतिविधियो से हुआ था, इसी कारण छायावाद के अन्तराल मे भी क्रान्ति के स्वर मुखर कर सकने मे यह पूर्णतया समर्थ तथा सफल हो सके। बाद मे राष्ट्रीय आन्दोलनो के कारण देश की राजनीति मे भी इन्होने दृढता से अपने पाँव जमा लिये थे। अत राष्ट्रीय भावना की प्रमुखता तो इनके स्वर-सन्धान मे है ही सही, इसके साथ-साथ दार्शनिकता, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो, सामाजिक घात-प्रतिघातो एव प्रगतिवादी यथार्थ चेतनाओ के दर्शन भी इनके काव्यो मे समन्वित रूप से होते है। शृगार-चेतनाओ के दर्शन, एव प्रकृति के सूक्ष्म चित्रित रूप भी इनके काव्यो का सहज शृगार हैं। शृगार चित्रण मे वासना नाममात्र को भी नही है। और कुछ भी हो, इनकी प्रस्तुत पक्तियो ने ही वास्तव मे पहली बार लोगो का ध्यान प्रगति-चेतना की ओर आकर्षित एव उन्मुख किया था :—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाये।
नियम और उपनियम के ये,
बन्धन टूटकर छिन्न-भिन्न हो जायें।

कुकुम, अपलक, रश्मि-रेखा, क्वासि, विस्मृता, उर्मिला और विनोबास्तवन आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। इन्होने 'प्रेमार्पण' नामक एक खण्ड काव्य भी लिखा था। इनकी भाषा, भावना और अभिव्यक्तियो मे सर्वत्र ओजस्विता है। विप्लव का स्वर इनके काव्य की प्रमुख विशेषता है। राष्ट्रभाषा के विकास मे

एव स्वतन्त्र भारत के सविधान-निर्माण मे भी इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यह विधान-परिषद् के सक्रिय सदस्य रहे हैं। समग्रत इनका दृष्टिकोण सर्वत्र क्रान्तिकारी ही प्रमुख है। इस महान् विभूति का स्वर्गवास सन् १९६० मे हुआ। यह रिक्तता आज तक अपूरित है।

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'—इनका जन्म सन् १९०७ मे ग्वालियर के पास स्थित मुरार नामक गाँव मे हुआ था। इनका काव्य-स्वर छायावादी युग मे ही मुखर तो हुआ, परन्तु राष्ट्रीय चेतना को लेकर हुआ था। इसी कारण इनकी गणना युगीन राष्ट्रीय प्रतिनिधि कवियो मे की जाती है। इनकी कला का एक मात्र उद्देश्य राष्ट्रीय नव-जागरण एव नवनिर्माण ही है। इसी कारण इन्होंने दलितो, शोषितो, मजदूर-किसानो की स्थितियो का बडा ही मार्मिक अकन अपनी कविताओ मे किया है। जागरण का सन्देश देने वाली इनकी कविता का एक उदाहरण देखें —

> प्रासादो का ही नही, कुटी का आँगन भी तो है आँगन।
> सुख-दुख पर होता है समान हर मानव के उर मे स्पन्दन,
> सब के प्राणो की पुलक बने ऐसा क्षण कौन बुलाएगा ?
> ऐसा वसन्त कब आएगा ?

इनकी कविता मे प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आग्रह का भाव भी है, किन्तु वहाँ भी राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण अन्तर्हित है। कल्पना की उदात्तता, सूक्ष्मता, प्रेम, करुणा और नवनिर्माण की उत्सुकता एव ओजस्विता आदि बातो से समन्वित इनकी कविता वास्तव मे अत्यधिक प्रेरणादायक है। इनके भावो के समान छन्द-विधान मे भी विविधता है।

मिलिन्द जी, अग्रेजी, बगला, मराठी, उर्दू और सस्कृत आदि भाषाओ के भी विद्वान् हैं। कुछ दिनो तक यह 'भारती' नामक पत्रिका का सम्पादन भी करते रहे। अभी तक आठ से अधिक रचनाएँ प्रकाश मे आ चुकी हैं। उनमे से प्रमुख हैं—जीवन-सगीत, नवयुवक का गान, बलिपथ के गीत, भूमि की अनुभूति, पखुरियाँ आदि। कविता के अतिरिक्त मिलिन्द जी ने कुछ नाटक भी रचे हैं। उनके नाम हैं—प्रताप-प्रतिज्ञा, समर्पण और गौतम नन्द। 'चिन्तनकण' नाम से

इनका निवन्ध-सग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। इनको अपनी अनेक रचनाओ पर पुरस्कार भी प्राप्त हो चुके हैं। वास्तव मे मिलिन्द जी की कविता मे यह ओजस्वी भावना एव सौन्दर्य है जो नव्य-चेतना का सचार कर प्रखर राष्ट्रीयता का स्वर प्रदान कर सकता है।

सुभद्राकुमारी चौहान—छायावादी युग के परिवेश मे जिस राष्ट्रीय काव्य-धारा ने जन्म लिया था, श्रीमती सुभद्राकुमारी का भी उसके विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान है। महादेवी वर्मा के वाद हिन्दी-कवयित्रियो मे इनका व्यक्तित्व सर्वाधिक आकर्षक एव महत्त्वपूर्ण है। अनेक प्रकार के सकटो को झेलने के वावजूद भी इनके जीवन का एकमात्र आदर्श रहा है —

> उत्साह, उमग निरन्तर रहते मेरे जीवन मे !
> उल्लास विजय का हँसता मेरे मतवाले मन मे !

इनके जीवन मे यह आस्था एव मतवालापन अन्तिम क्षण तक वना रहा है। इनका जन्म प्रयाग मे सन् १६०४ मे हुआ था। इनकी शिक्षा-दीक्षा जवलपुर एव प्रयाग मे श्रीमती महादेवी वर्मा के साथ-साथ हुई थी। दोनो का सहेलपना भी हिन्दी साहित्य मे प्रसिद्ध है। इनके खण्डवा-निवासी पति ठाकुर लक्ष्मणसिह चौहान राष्ट्रीय आन्दोलनो के एक सुदृढ अग थे, अतः सुभद्रा जी का जीवन भी अपने पति के पथ का अनुयायी वनकर निरन्तर सघर्षो मे ही पनपता-उभरता रहा। संघर्षो की तपन ने इनके समग्र व्यक्तित्व को कुन्दन के समान निखार दिया। अत राष्ट्र एव काव्य-साधना ही इनके जीवन का चरम लक्ष्य वन गया। इसी लक्ष्य का निर्वाह करते हुए सन् १६४७ मे एक मोटर दुर्घटना मे इनका स्वर्गवास हो गया। एक प्रज्ज्वलित दीपक सहसा वुझ गया।

'मुकुल' इनका एकमात्र प्रकाशित काव्य-सकलन है। इनकी 'झाँसी की रानी' कविता की पक्ति 'खूव लडी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' आज भी नसो को फडका देती है। कवयित्री के अतिरिक्त यह एक सफल कहानी-लेखिका भी थी। विखरे मोती, उन्मादिनी और सीधे-सादे चित्र इनके प्रसिद्ध कहानी-सग्रह है। 'मुकुल' एव 'विखरे मोती' पर इन्हें सम्मेलन की ओर से पुरस्कृत भी किया गया था।

राष्ट्रीयता की प्रखर चेतना के साथ-साथ वात्सल्य एव स्नेह का भाव भी इनके काव्यो मे अनेकश ध्वनित हुआ है। काव्य का स्वर ओजस्वी, प्रखर, सरस एव प्रबल निष्ठा का द्योतक है। रोने-चीखने को वे अपने व्यक्तित्व का अपमान मानती थीं। जीवन को सघर्षमय कर्मभूमि मानकर ही इन्होने जिया, अत राष्ट्रीय चेतना से समन्वित कर्मठता ही इनके काव्य का प्रमुख एव उच्च सन्देश है।

सोहनलाल द्विवेदी—द्विवेदी जी ने इस विश्वास को लेकर काव्य-साधना के क्षेत्र मे प्रवेश किया कि "उदात्त भावो को, सद्विवेक, सद्विचार, सद्भावना को जगाना ही काव्यादर्श है। जो कला-कविता हममे अच्छे सस्कारो को जाग्रत न कर सके, समझना चाहिए कि वह अपने आदर्श से च्युत है।" अपने इस आदर्श के अनुसार ही द्विवेदी जी ने जन-चेतना को राष्ट्रीयता का एक अग मानकर अपने काव्यो मे चित्रित किया है।

इनका जन्म सन् १९०५ मे हुआ था। गाधीवादी चेतना को अपनाकर इनकी सर्जना का स्वर मुखरित हुआ। अन्य युगीन राष्ट्र-धारा के कवियो के समान इन्होने भी विदेशी सत्ता को उखाड फेंकने के लिए विद्रोही स्वर गुंजाया। भारतीय जीवन एव समग्र मानवता के सामने सत्य, अहिसा एव सदाचार के आदर्शो का उद्घोष किया। इन्होने आशा, उत्साह एव साहस का सबल प्रदान कर युगीन चेतनाओ को प्रखरता प्रदान की। इनके काव्यो का स्वर जीवन के यथार्थ धरातल पर टिका होने पर भी अन्ततोगत्वा आदर्शवादी है। आत्मविश्वास का अदम्य भाव इनकी रचनाओ मे सर्वत्र परिव्याप्त है।

भैरवी, पूजा-गीत, वासवदत्ता, कुणाल, युगारम्भ, वासन्ती, बाँसुरी, मोदक, बाल भारती आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ है। 'भैरवी' राष्ट्र पर सर्वस्व न्योछावर कर देने की प्रेरणा से ओतप्रोत ओजस्वी काव्य है। 'पूजा-गीत' की यह पक्तियाँ अत्यधिक प्रसिद्ध एव प्रेरणादायक है कि —

वदना के इन स्वरो मे एक स्वर मेरा मिला लो।
तव कभी माँ को न भूलो,

राग मे जब मत्त झूलो
अर्चना के रत्नकण मे एक कण मेरा मिला लो।

'वासवदत्ता' मे सास्कृतिक स्वरो की प्रवलता है, जब कि 'कुणाल' मे बौद्ध-सस्कृति के आदर्शो को रूपायित किया गया है। इनकी भाषा शैली भावनाओ के समान ही सरल, उदात्त एव प्रखर-प्रभावी है। इसमे एक सरस-स्वाभाविक आवेग है। वाल-काव्य रचने मे भी यह पूर्णतया समर्थ है। 'दूध बताशा' और 'वाल भारती' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। राष्ट्रप्रेम एव जागरण ही इनका प्रमुख सन्देश है।

रामधारीसिंह 'दिनकर'—मानवीय पौरुष एव जन-भावनाओ के अमर गायक राष्ट्रकवि 'दिनकर' भी छायावादी युग की ही मूलत देन है। किन्तु इनके तीखे स्वरो को छायावाद अपने मे आत्मसात् न कर सका। अत यह राष्ट्र-धारा के कवियो मे सर्वाधिक सबल व्यक्तित्व लेकर उभरे। उस युग की दीवारो को फाँदकर इन्होने अगले युग की प्रगतिवादी चेतनाओ को भी अपने विराट व्यक्तित्व से छा रखा है।

इनका जन्म सन् १६०८ मे विहार प्रान्त के मुगेर जिले मे स्थित सिमरिया नामक गाँव मे हुआ था। हिन्दी, अग्रेज़ी के साथ-साथ इन्होने उर्दू, सस्कृत और वगला भाषाओ एव साहित्य का भी गहन अध्ययन किया। दर्शन, इतिहास और राजनीति मे भी इनकी गहरी पैठ है। राजनीतिक एव सामयिक चेतनाओ के साथ-साथ वे सास्कृतिक चेतना के भी सर्वाधिक सशक्त गायक है। जन-भावो का वास्तविक प्रतिनिधित्व यदि कही समग्रत मिलता है तो 'दिनकर जी' की कविताओ मे ही। आधुनिक काव्य की समस्त विधाओ पर इनका समान अधिकार है। उर्दू-कवि इकवाल, वगला के कवीन्द्र रवीन्द्र, पाश्चात्य कवियो मे से मिल्टन, कीट्स और शैले आदि से दिनकर जी विशेष प्रभावित है। किन्तु जहाँ तक अदम्य राष्ट्रीयता का प्रश्न है, इनका व्यक्तित्व सर्वथा अपना और पूर्णतया भारतीय है। आरम्भ मे यह क्रान्तिकारी विचारधारा के रहे, फिर गाधीवाद की प्रखरता से प्रभावित हुए। किन्तु क्रान्ति-भावना का विसर्जन यह किसी भी क्षण नही कर पाये। इसी कारण अपने सम्बन्ध मे वह कहा करते हैं कि "मैं एक

वुरा गाधीवादी हूँ ।" यह ईट का जवाव पत्थर से देना ही उचित मानते है। इसी कारण इन्होने अपनी 'हिमालय' नामक कविता मे युधिष्ठिर को स्वर्ग मे जाने देने और भीम-अर्जुन को गदा-गाण्डीव-सहित लौटा देने की वात कही है । हमारे विचार मे समूची राष्ट्रवादी काव्यधारा मे जनता का आक्रोश यदि वास्तविकता के साथ कहीं रूपायित हुआ है, तो वह केवल 'दिनकर' की रचनाओ मे ही हो पाया है।

रेणुका, हुकार, द्वन्द्वगीत, सामधेनी, रसवन्ती, वापू, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, उर्वशी, धूप और धुआँ, इतिहास के आँसू, नील कुसुम आदि इनके प्रमुख काव्य है। 'हुकार' मे इनकी राष्ट्रीयता सर्वाधिक उभरकर आई है। 'कुरुक्षेत्र' एक विचार-प्रधान काव्य है । इसमे इन्होने युद्ध एव हिंसा की समस्या पर गम्भीरता से विचार करने के वाद अन्त मे मानवतावाद एव कर्मयोग को ही प्रश्रय दिया है। 'रश्मिरथी' मे इन्होने जातिवाद के घिनौने स्वरूप को नगा करने के वाद युद्ध और शान्ति के प्रश्न पर भी विचार किया है । 'उर्वशी' एक प्रेम-काम-प्रधान सर्जना है । कवि के अतिरिक्त गद्यकार के रूप मे भी दिनकर का व्यक्तित्व अत्यन्त सजीव है। इस दिशा मे 'सस्कृति के चार अध्याय' और 'अर्धनारीश्वर' जैसी रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय है। मानवता का अदम्य भाव इनकी समूची चेतना का सार तत्त्व है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' नामक इनकी रचना में जिस राष्ट्रीय आक्रोश एव आह्वान को स्वर मिला है, वह वास्तव मे आज के हिन्दी काव्य की महान् ऐतिहासिक घटना है।

भाषा एव शैली का वैविध्य दिनकर के व्यक्तित्व एव कृतित्व का सर्वाधिक उजागर पहलू है। छायावादी युग से लेकर नव्य कविता के इस युग तक समस्त विधाएँ इनकी लेखनी का प्रखर सस्पर्श पा चुकी और पा रही है । सौन्दर्योपासना, यौवन की उमगें, प्रगतिचेता मानवतावाद, प्रकृति की रमणीयता सभी कुछ यहाँ अन्तर्हित है। निराशा कही भी नही है। अभी दिनकर से, सच्चे अर्थो मे इस जन एव युग-कवि से हिन्दी साहित्य को अनेक आशाएँ है।

उदयशकर भट्ट—छायावादी युग की मिश्रित विविध प्रवृत्तियो को अपनाकर काव्य-सर्जना करने वाले कवियो में श्री उदयशकर भट्ट का नाम भी विशेष

उल्लेखनीय है। इनका जन्म सन् १८९८ मे हुआ था। इनके जीवन का अधिकाश काल लाहौर एव दिल्ली मे व्यतीत हुआ। स्वतत्रता-पूर्व पजाब की साहित्यिक गतिविधियो मे इनका विशेप योगदान स्वीकार किया जाता है।

भट्ट जी की रचनाओ मे प्रमुख है—तक्षशिला, राका, मानसी, विश्वमित्र, मत्स्यगन्धा, विसर्जन, युग-द्वीप, यथार्थ और कल्पना, अमृत और विप आदि। इनमे इनकी चेतना के विविध स्वर सुने जा सकते हैं। वास्तव मे इनका कवित्व-मय व्यक्तित्व छायावादी युग से लेकर स्वातत्र्योत्तर कविता-साहित्य तक फैला हुआ है। इसी कारण कुछ इतिहासकारो ने इनका उल्लेख प्रगतिवादी कवियो के अन्तर्गत भी किया है। इनकी आरम्भिक रचनाओ मे निराशा का भाव ही प्रमुख है। किन्तु धीरे-धीरे उसमे प्रखरता आती गई है। बाद मे तो यह स्पष्टत परम्पराओ के विरोधी वनकर इनके प्रति एक चुनौती के रूप मे प्रगट हुए। अनाचार, भाग्यवाद एव अकर्मण्यता के यह प्रवल विरोधी रहे। हमेशा हिम्मत, उत्साह एव जागरूक चेतनाओ को प्रश्रय दिया। अन्ध रूढियो का भी इन्होने डट-कर विरोध किया। इनकी काव्य-भापा-शैली सरल एव सुवोध है। इन्होने मूलत मानवतावाद को ही अपने काव्यो मे प्रश्रय दिया है।

इनका व्यक्तित्व कवि के अतिरिक्त नाटककार एव एकाकीकार के रूप मे भी अत्यन्त प्रखर है। इन्होने पौराणिक, ऐतिहासिक एव सामाजिक सभी प्रकार के नाटक रचे। इन्होने एकाकीकार के रूप मे रूढिवादी परम्पराओ एव मान्यताओ पर प्रखर प्रहार किये हैं। यहाँ इनका व्यग्य-विनोदकार का व्यक्तित्व वडी प्रखरता से उभरा है। हिन्दी नाटक के क्षेत्र मे दुखान्त नाटको का तो इन्हे प्रव-र्त्तक ही माना जाता है। दाहर, अम्वा, सगर-विजय, मुक्तिपथ, कमला, अन्तहीन अन्त आदि इनके प्रसिद्ध नाटक है। दर्जनो एकाकी भी प्रकाश मे आये हैं। इस प्रकार भट्ट जी का व्यक्तित्व विविधमुखी चेतनाओ को लेकर प्रकाश मे आया।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—मूलत कथात्मक साहित्य के विकास मे योगदान करने वाले अश्क जी प्रवृत्ति से कवि भी हैं। इनका जन्म सन् १९१० मे जालन्धर मे हुआ था। इनको जिस प्रकार के घरेलू वातावरण और इसके वाद सामाजिक निरीह वातावरण मे रहना पडा, उसने मूलत इनकी प्रवृत्ति को निराशावादी

वना दिया। अत कहा जा सकता है कि कविता के क्षेत्र मे इनकी गणना निराशा-वादियो मे ही की जा सकती है। शोक एव वेदना का स्वर इनके काव्यो में स्पष्टत सुना जा सकता है।

अश्क जी का साहित्यिक जीवन उर्दू से आरम्भ हुआ था। किन्तु प्रेमचन्द जैसे सशक्त कलाकार की प्रेरणा से जल्दी ही इन्होने हिन्दी भापा मे साहित्य-सर्जना आरम्भ कर दी। आज के अन्य अनेक श्रेष्ठ गद्यकारो के समान इनका साहित्यिक जीवन काव्य-सर्जना से ही आरम्भ हुआ था। इनकी काव्य-चेतना में निश्छलता एव आडम्वरशून्यता विशेष दर्शनीय है। सीधे-सादे ढग एव भापा में यह अपनी वात कह देते हैं। इनकी निश्छल अभिव्यक्ति का एक उदाहरण देखें —

जाने क्यो है एक खुमारी, वैभव का यह ज्ञान ?
डाल दिया करता पर्दा क्यो, आँखो पर अनजान
नही समझता क्यो मानी मन,
है यह चार घडी का यौवन,
पत्ता है पतझड का जीवन
क्या जाने कब गिर जायेगा, लेकर सब अभिमान !

इनके 'प्रात दीप' और 'ऊर्मियाँ' नामक दो काव्य-सकलन प्रकाश मे आ चुके है। 'बरगद की वेटी' और 'चाँदनी रात और अजगर' इनके दो खण्ड-काव्य हैं। पहले खण्ड काव्य मे प्रेम के नाम पर सम्पन्नो की विलासिता का सशक्त चित्रण किया गया है, जबकि दूसरे मे शोपित जीवन के कुहासो को उत्पाटित करने का प्रयत्न किया गया है।

कवि के अतिरिक्त 'अश्क' जी एक सफल कहानी लेखक, उपन्यसाकार, नाटककार एव एकाकी-लेखक भी है। इस दिशा मे भी इनकी अनेक रचनाएँ, प्रकाश मे आ चुकी हैं।

छायावादी युग की समग्र भावनाओ एव युग-वोधो को स्वर प्रदान करने वाले इन कवियों के अतिरिक्त अन्य अनेक स्वरकारो ने भी हिन्दी साहित्य के भण्डार को भरने मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इनमे से अनेक आज भी परवर्ती

चेतनाओ के अन्तर्गत अपने कवि-कर्म मे निरत है। इनमे से प्रमुख हैं—श्याम-नारायण पाण्डेय, तारा पाण्डेय, हसकुमार तिवारी, सुमित्राकुमारी सिन्हा, विद्यावती कोकिल, रमानाथ अवस्थी, आरसीप्रसाद सिह, जानकीवल्लभ शास्त्री आदि। अन्य अनेक नाम भी हैं जिनका स्थानाभाव के कारण यहाँ उल्लेख सम्भव नही।

४ चतुर्थ चरण . प्रगतिवादी युग

सन् १९३६ के वाद से अर्थात् १९४० के आसपास से साहित्य के क्षेत्र मे नई प्रवृत्तियो का उद्‌भव एव विकास स्पष्टत दिखाई देने लगा था। काव्य के क्षेत्र मे यह स्वर अपने पूर्ववर्ती एव क्रमश क्षीण हो रहे छायावादी युग की चेतना से सर्वथा भिन्न था। इनमे स्पष्टत कवियो की काव्य-चेतनाएँ सुदूर क्षितिज से उतरकर धरती की मिट्टी के साथ अधिकाधिक सुसम्बद्ध होती हुई दिखाई देती हैं। इसे हम छायावादी काव्य-प्रवृत्ति मे आने वाली अत्यधिक वैयक्तिकता, निराशा एव तद्‌जन्य शिथिलता की प्रतिक्रिया तो कह ही सकते हैं, साथ ही यह व्यवहार-जीवन मे आने वाली अनवरत चेतनाओ एव परिवर्तनो का भी परिणाम था। अपने जीवन एव स्वभाव की मूल प्रवृत्तियो के कारण मानव स्वत ही नव्य-चेतनाओ का अन्वेषक है, उसकी गति आद्यन्त प्रगतिशील है। फिर वैज्ञानिक अनुसन्धानो, जटिलताओ, अर्थक्षेत्र के सघर्षो एव वैषम्यो के कारण मानव-चेतना जीवन के समस्त क्षेत्रो मे प्रगति के नये क्षितिज खोजने लगी थी। साहित्य अपने मूल स्वभाव से जीवन का अनुगामी तो होता ही है, कई वार उससे आगे वढकर वह मानव-जीवन के लिए सम्भावित सत्यो एव प्रगतियो की खोज भी करता है। इसी कारण वह जीवन के समान ही प्रगतिशील है। कवि और साहित्यकार किसी भी रूढ परम्परा का अधिक दिनो तक अनुयायी वनकर नही रह सकता। उसकी चेतना जीवन मे आने वाले परिवर्तनो से अनुप्राणित होकर स्वत ही नव्यता की ओर अग्रसर होती है। उसी नव्यता की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति ने छायावादी युग के अन्तराल मे ही एक नई प्रवृत्ति को जन्म दिया। वह प्रवृत्ति थी मानव-प्रगतियो का गान या नई प्रगतियो की ओर मानव-चेतना

को उन्मुख करने का सशक्त प्रयास। परिणामस्वरूप छायावादी स्वरो के मध्य से ही जो नया स्वर स्वत' प्रस्फुटित होने लगा, वह प्रगतिवादी स्वर और उसका सैद्धान्तिक नाम 'प्रगतिवाद' कहलाया। अत कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य-चेतना के प्रति प्रतिक्रिता का, उसके व्यक्तिवादी निराशामय परिवेश को भेदन कर मानवता के लिए नये क्षितिजो की खोज का जो अनवरत प्रयास आरभ हुआ, वही प्रगतिवाद है। हमारे विचार मे प्रगतिवादी चेतना का आरम्भ छायावादी परिवेश मे पलने वाले राष्ट्र-धारा के कवि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की इस एक पक्ति से ही माना जाना चाहिए '—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाये।

और इस तान की रूप-रेखा को अभिव्यक्त करते हुए इन्होने मानव की रूढिबद्ध चेतना को ललकारते हुए आगे कहा —

नियम और उपनियम के ये
बधन टूटकर छिन्न-भिन्न हो जायें।
विश्वम्भर की पोपक वीणा
के सब तार मूक हो जायें।

इस ललकार के फलस्वरूप युगीन प्रभावो, मान्यताओ और चेतनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली एक नई धारा प्रवाहित हो उठी। वही 'प्रगतिवाद' कहलाई।

प्राय सभी विद्वान् इतिहासकार यह तथ्य स्वीकार करते हैं कि प्रगतिवादी ना का मूल बीजारोपण छायावादी कवियो पन्त एव निराला की कविताओ से हो चुका था। पन्त जी ने अपनी 'परिवर्तन' नामक कविता मे परिवर्तन को रिहार्य बताया। ये ग्रामो की धूल-धूसरित धरणी मे 'भारतमाता' की खोज रने निकल पडे। उधर निराला की कविताओ में भी मानवता-विरोधी भ ओं के प्रति व्यग्य-बाण छूटने लगे। इनकी 'दान', 'वह तोडती पत्थर', मक्षुक' और 'जागो फिर एक बार' आदि कविताओ मे एक नया भाव-बोध ष्टत मुखर होने लगा, जो परिवर्तनशील नव्य युगीन चेतनाओ को प्रति-

विम्वित करने वाला था। इसी से अनुप्राणित होकर हालावादी मस्ती के गीत गाने वाले भगवतीचरण वर्मा जैसे कवि भैसागाडी की 'चू चरर-मरर' मे मानवता को दुर्गति एव प्रगति के स्वर सुनने लगे। 'नवीन' जी मानव के वच्चो को जूठे पत्ते चाटते देखकर बौखला उठे और 'दिनकर' जैसे कवियो को यह सहन न हुआ कि 'श्वानो को दूध-दही' मिले, जव कि निर्धन के वच्चे भूख से तडप रहे हो। कल्पना का सुकुमार कवि पन्त कोकिल के रूप मे युग-कवियो का आह्वान करते हुए सहसा कह उठा—"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' और फिर उसने कहा —

ओ कोकिल वरमा पावक कण,
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन।

इतना ही नही, इन्हे विगत युग निष्प्राण दिखाई देने लगा। वे उसके समूल नाश की कल्पना करने लगे, ताकि :—

ककाल-जाल जग मे फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मासल हरियाली।

इस 'मासल हरियाली' को लाने का सतत प्रयत्न चारो ओर समन्वित रूप से होने लगा। शोपित, दलित, पीडित मानवता के उन्नयन का प्रयास, सामन्ती-साम्राज्यवादी परम्पराओ का विरोध और वद्धमूल रूढियो के प्रति आक्रोश का मुखर स्वर ही साहित्य मे 'प्रगतिवाद' के नाम से प्रचारित हो सका। लेकिन यह सव एक ही दिन मे या सहसा ही नही हो गया। इसके मूल मे अनेक प्रकार के प्रभाव काम कर रहे थे। विश्व मानवता के जीवन मे उद्भूत होने वाली अनेक प्रकार की आकुलताएँ स्थित थी। इन्हीका स्वर-साधित उद्गिरण प्रगतिवादी चेतना के रूप मे प्रगट हुआ और उसने साहित्य के समस्त अगो को छा लिया।

प्रगतिवादी विचारधारा के विनिर्माण के मूल मार्क्सवादी या साम्यवादी प्रभावो का विशेष योगदान है। इसीको राजनीतिक क्षेत्रो मे साम्यवाद, सामाजिक क्षेत्रो मे समाजवाद, और दार्शनिक शब्दावली मे द्वन्द्वात्मक भौतिक-

वाद के नाम से अभिहित किया जाता है। देश-विदेश मे जो परिवर्तनशील घटना-चक्र द्रुत गति से घूम रहा था, उसने देशी पर्यावरण मे इस चेतना को प्रभावित किया। विश्व मे विगत कई दशाब्दियो से जिन सिद्धान्तो का उन्नयन हो रहा था, उसने युगीन रुचियो को न केवल सजगता ही प्रदान की, उन्हे सजाया-सँवारा भी। वर्ग-सघर्ष की चेतना का उदय प्रगतिवाद का मूल आधार बनी। विदेशो मे होने वाली अनेकानेक परिवर्तन कर पाने मे सक्षम क्रान्तियो ने यहाँ के जन-मानस एव उसके प्रतिनिधि साहित्यकार को सशक्त सम्बल प्रदान किया। राजनीति के क्षेत्र मे चलने वाले आन्दोलन ने इस नव्य-वर्ग सघर्ष की चेतना को सान दी। वाल्टेयर, रूसो, कार्ल मार्क्स के जीवन-दर्शन ने हमारे सैद्धान्तिक जीवन को हिलाकर रख दिया। उधर फ्रॉयड एव उसके अनुयायियो की खोजो एव मान्यताओ का प्रभाव भी पडा। परिणामत सभी प्रकार के द्वन्द्वो, कुण्ठाओ एव हीनताओ से मुक्त होने की भावनाएँ अँगडाई लेकर सहसा जाग उठी। मुक्त होने की यह भावना केवल राजनीतिक मुक्ति तक ही सीमित नही रही, बल्कि धार्मिक, सामाजिक एव आर्थिक क्षेत्रो तक भी इसका विस्तार हुआ। सबसे बडी बात तो यह है कि चिरकाल से उपेक्षित, पददलित एव शोषित निरीह मानवता के मन मे भी अपने आपको 'मानव-समाज का अपरिहार्य जीवन्त अग' समझने का भाव जागा, अपने अधिकारो को पुन प्राप्त करने की भावना जागी और वह इन्हे किसी भी प्रकार से प्राप्त करने के लिए दृढ निश्चय का सम्बल लेकर एकाएक उठ खडा हुआ। परिणामत जिस नई चेतना ने जीवन के सभी क्षेत्रो मे जन्म लिया, वह प्रगतिवाद कहलाई। वह मानव-प्रगति का सबल बनी।

'अस्तित्व-बोध' एव 'अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न' ही एक वाक्य मे प्रगतिवादी चेतना का मूल आधार है। यह स्पष्ट हो चुका था कि प्रचलित मतवाद या जीवन-पद्धतियाँ समग्र मानवता के अस्तित्व की रक्षा कर सकने मे समर्थ नहीं है। अत इनके प्रति आक्रोश स्वाभाविक था। इस आक्रोश को मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तो ने प्रत्यक्ष प्रश्रय दिया। यह दर्शन मानव-प्रगति के साथ 'पूँजीवाद' को सर्वाधिक बाधक मानता है। श्रम एव पूँजी का समा

या श्रम के आधार पर विभाजन इसका प्रमुख नारा है। समाज के सभी भेद-भावो को मिटाकर वर्गहीन समाज की स्थापना करना इसका चरम लक्ष्य है। अत सामान्यतया लोग मार्क्सवाद को ही प्रगतिवादी साहित्यिक चेतनाओ का मूल मानते हैं। किन्तु हमारे विचार मे यह चेतना नितान्त उधार ली हुई ही नही है। सबसे पहली बात तो यह है कि प्रगतिशील समय-बोध-स्वत ही इन चेतनाओ को उत्पन्न कर दिया करता है। फिर हमारे अपने भारतीय जीवन-दर्शन मे इस प्रकार की समतावादी चेतनाएँ अनादिकाल से विद्यमान हैं। साम्यता भारतीय जीवन-दर्शन का एक प्रमुख एव महत्त्वपूर्ण अग है। समय-समय पर अनेक रूपो मे यह विचार यहाँ आन्दोलन बनकर प्रगट होता रहा है। कबीर आदि सन्तो की वाणी मे इसका स्वरूप प्रत्यक्षत देखा जा सकता है —

साई इतना दीजिए, जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु ना भूखा जाय॥

इससे पहले भी 'सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामयाः" जैसी वैदिक ऋचाएँ इसी ओर इगित करती है। फिर जिस आज के युग की हम चर्चा कर रहे हैं, जिसमे मार्क्स, फ्रायड, रूसो, वाल्टेयर आदि विश्व-मानव-चेतना को प्रभावित कर रहे थे, उस युग मे भारत का गाधी एव उसके अनुयायी भी 'ग्राम-सुधार, कृषि-सुधार, दरिद्रनारायण की सेवा' आदि विभिन्न आन्दोलनो के माध्यम से यहाँ कार्यरत थे। ठीक है कि इनके प्रयत्न उतने भौतिक नही थे जितने सूक्ष्म अध्यात्म-चेतनाओ से समन्वित, फिर भी भौतिक जीवन की मूल आवश्यकताओ की पूर्ति की बात को प्राचीन या युगीन चेतनाओ ने उपेक्षा की दृष्टि से नही देखा था। अत प्रगतिवादी साहित्यिक चेतनाओ के मूल मे ये सब प्रभाव भी स्पष्टतः विद्यमान है। मानव की मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति सम्मानपूर्ण जीवन के लिए आवश्यक है। उसी पूर्ति का साहित्य के माध्यम से होनेवाला प्रयत्न ही 'प्रगतिवाद' है। वह छायावादी अन्तर्मुखी सूक्ष्म चेतना के प्रति विद्रोह भी है और प्रत्यक्ष जीवन के समूचे परिवेश मे परिवर्तन लाने वाले विचारो का सक्षम आग्रह भी है। अपने व्यापक अन्तराल मे वह समग्र

परम्परागत एव युगीन प्रगतिवादी आन्दोलनो, भावो एव विचारो को सहेजे हुए है।

जैसा कि आरम्भ मे कहा जा चुका है, इस धारा का विधिवत् प्रवर्त्तन सन् १९३६ मे हुआ। तव प्रेमचन्द जैसे समर्थ मानवतावादी लेखको की अध्यक्षता में इस चेतना को व्यापक वनाने के लिए भारतीय लेखको का एक सगठन स्थापित हुआ। उसमे मानव-प्रगतियो को प्रश्रय देने वाले साहित्य का सृजन करने की एक प्रकार से प्रतिज्ञाएँ की गई। फलस्वरूप साहित्य की समस्त विधाओ मे मानव की मूल और भौतिक आवश्यकताओ को ध्यान में रखकर सृजनात्मक तत्त्व सामने आने लगे। निश्चय ही यह एक नये युग का आरम्भ था।

मान्यताएँ—जन-कल्याण के लिए समाजवादी समाज की स्थापना इस आन्दोलन का प्रथम लक्ष्य और मान्यता है। इसके प्रतिष्ठापन के लिए सर्वहारा वर्गो की समस्याओ को उभारना, इनकी जाग्रत चेतनाओ का गान करना, इनके चेतनागत सस्कारो को परिवर्तित करना परमावश्यक था। अत इस दिशा मे सजीव प्रयत्न होने लगे। साहित्य को वैयक्तिकता की परिधियो से निकालकर सामाजिक परिधियो मे स्थापित करना इसकी द्वितीय प्रमुख मान्यता है, क्योकि वास्तविक जन-कल्याण ऐसा करने पर ही सम्भव हो सकता है। अत जन रुचियो को वैयक्तिकता से सामाजिकता की ओर मोडने का सफल प्रयास होने लगा। समस्त प्रकार की कुण्ठाओ का परिहार किया जाने लगा, ताकि जीवन के स्वस्थ पक्ष उभर सकें। ऐसा करने के लिए प्रत्यक्ष जीवन के आसपास से ही काव्यीय साधन जुटाए गये। कपोल-कल्पनाओ को किंचित् भी स्थान न दिया गया। इन वातो से भावक्षेत्र के समान कला-क्षेत्र मे भी स्पष्ट परिवर्तन प्रमाणित है। सभी दृष्टियो से सामाजिकता को प्रश्रय दिया जाने लगा। प्रगतिवादियो ने जीवन के क्षेत्र मे आ गई विविध विडम्वनाओ एव कुरूपताओ को भी उद्घाटित करना अपना लक्ष्य वनाया। धर्म, सभ्यता, सस्कृति, इतिहास, साहित्य आदि सभीकी नवीन एव उपयोगितावादी व्याख्याएँ की जाने लगी। इसके मूल मे उद्देश्य यही था कि इन पर परम्परागत रूप से कसा वर्गीय शिकजा ढीला हो सके और समस्त वस्तुएँ युगानुकूल चेतनाओ के अनुरूप जन-मानस की सम्पत्ति वन सकें।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये, तो कहा जा सकता है कि विशुद्ध एवं सर्वाङ्गीण मानवता को प्रश्रय देना, मानवतावाद की स्थापना करना ही इसका लक्ष्य एव प्रमुख मान्यता है। अत कवि एव साहित्यकार कल्पना के उन्नत क्षितिजो से उतरकर धरती की मिट्टी के साथ समग्रत. जुड गये, जिसका परिणाम यह निकला कि शोपित एव पीडित वर्गों को प्रत्यक्ष एव व्यावहारिक जीवन में सभी दृष्टियो से प्रश्रय मिलने लगा। भाग्यवाद एव ईश्वरवाद के शोपक वादो का विरोध करना भी प्रगतिवादियो ने अपना लक्ष्य बनाया। क्योकि इनकी आड़ मे मानवता का शोपण तो किया जा सकता था, उसका उद्धार सम्भव नही था। इसी कारण तो उदयशकर भट्ट ने कहा था—

कुछ न कर सका पीडित के प्रति
कुछ न किया है अब तक उसने
कुछ न करेगा आगे भी वह
निर्वल को यो देगा चुसने।

पर 'मानव को चुसने देना' अब युगचेता कवियो एव साहित्यकारो को स्वीकार नही था। अत: 'दिनकर' के शब्दो मे कवि का अन्तराल मचल उठा :—

हटो व्योम के मेघ पन्थ से स्वर्ग लूटने आते हैं।
दूध-दूध ओ वत्स तुम्हारा दूध खोजने हम आते है।।

और धरती के बेटो के लिए मानवता के दूध की अविरत खोज होने लगी। प्रगतिवादी चेतना से हमारे प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन को विशेपत स्वातन्त्र्य-आन्दोलन को विशेप बल मिला। इसका प्रत्यक्ष कारण यही था कि देश के आन्दोलन विदेशी दासता से मुक्ति के साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक एव समस्त रूढियो से मुक्ति की दिशा मे भी सक्रिय थे। वहाँ वर्गहीन समाज की चेतना काम कर रही थी। सभीकी रोटी-रोजी की रक्षा, सभीके विकास के लिए उचित साधनो का प्रयोग करना आदि भावनाएँ भी यहाँ थी। इन सभी चेतनाओ को प्रगतिवादियो ने स्वर-सम्बल प्रदान किया। इस विवेचना के आधार पर प्रगतिवादी प्रवृत्तियो को निम्नलिखित पारिभापिक शब्दावली मे अकित किया जा सकता है —

समस्त रूढियो का विरोध, शोपक वर्गो के प्रति आक्रोश एव शोपितो के प्रति समग्रत सहानुभूति, मानवतावाद को प्रश्रय, नव्य अन्वेपण एव क्रान्तिकारी परिवर्तनो की चेतना, सामाजिक प्रश्नो के प्रति सजग दृप्टिकोण और सजग-सजीव चित्रण, कला-पक्ष मे नव्य प्रयोग, नारी सहित समाज के सभी वर्गो के व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ-साथ सामूहिक हित-साधन, सडी-गली मान्यताओ का विरोध करके समग्रत मानव-जीवन का नव-निर्माण। आज तक की प्रगतिवादी चेतना विभिन्न अन्त धाराओ मे बँटती-विखरती इन्ही प्रवृत्तियो को रूपायित कर रही है।

प्रगतिवाद महत्त्व एव कमियाँ—प्रगतिवादी चेतनाओ का महत्त्व मूलत इस वात मे है कि उसने मानवता के समग्र भाव को प्रश्रय दिया है। उसके समग्र विकास के स्वरो का सन्धान किया है। भौतिक जीवन का अभ्युत्थान करने और जीवन मे उपस्थित मानवता के सकट एव वैपम्यो के निवारण मे निश्चय ही इस का महत्त्वपूर्ण योगदान है। मानवतावाद की प्रतिष्ठा का सराहनीय प्रयत्न ही इसकी महानतम उपलब्धि कही जा सकती है। इसी ओर इगित करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने कहा था .

"भारत मे प्रगतिवाद का भविष्य साम्यवाद के साथ बँधा है लेकिन फिर भी आधुनिक काव्य के अध्येता को आदर और धैर्यपूर्वक उसका अध्ययन करना होगा। उसने हिन्दी काव्य को एक जीवन्त चेतना प्रदान की है, इसका निपेध नही किया जा सकता।"

प्रगतिवाद का भविष्य साम्यवाद से ही बँधा है, डॉ० नगेन्द्र की यह धारणा वास्तव मे निर्मूल है, क्योकि जीवन स्वत मे प्रगति है और इसी कारण साहित्य भी प्रगतिवादी है। वाद विशेपो का प्रभाव तो सामयिक ही हुआ करता है। फिर यह कहना भी सगत नही कि हिन्दी साहित्य की प्रगतिवादी चेतनाओ के मूल में केवल साम्यवादी चेतना ही है। जैसाकि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं, इसके मूल में अपनी अनेक परम्परागत एव सामयिक चेतनाओ का सारतत्त्व भी समन्वित है।

कमियाँ—श्री सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दो मे, "नवीन लोक-मानवता की

गम्भीर सशक्त-चेतना के जागरण-गान के स्थान पर उसमे नगे-भूखे श्रमिक-कृषकों के अस्थि-पजरो के प्रति मध्यवर्गीय आत्मकुण्ठित, बुद्धिवादियो की मानसिक प्रतिक्रियाओ का हुकार भरा क्रन्दन सुनाई पडने लगा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद मे सुरुचि, सस्कारिता का स्थान विकृत, कुत्सित वीभत्स ने ले लिया।" इस विकृत, कुत्सित एव वीभत्स का सहज मानवीय चेतनाओ के स्थानापन्न हो जाना ही हमारे विचार मे प्रगतिवाद की सबसे बडी कमी एव पराजय है। ऐसा करके एक ओर तो मात्र अचेतन जडताओ को उभारा गया, दूसरी ओर कुत्सित वासनाओ के घिनौने रूपो को रूपायित करने का प्रयत्न किया गया। यह बात भी बहुत अखरने वाली है कि प्रगतिवादी साहित्य मे जीवन के सुन्दर एव आनन्द-पक्ष की सस्वरता तथा भास्वरता प्राय विलुप्त हो गई। हमारे विचार मे कुरूपताओ को उभारना एव कलात्मकता को तिलाजलि देना किसी भी दृष्टि से प्रगति का लक्षण नही है। प्रगतिवादी चेतनाओ ने वर्ग-सघर्षो को आवश्यकता से अधिक उभारकर जीवन की सहज धारा मे अनेकानेक अवरोध भी खडे किये है। इतना सब होते हुए भी मानवतावाद एव युगो-युगो से पीडित-दलित मानव की अन्तश्चेतनाओ को स्वर-स्वरूप प्रदान करने के कारण निश्चय ही प्रगतिवादी काव्य-चेतना का महत्त्वपूर्ण पहलू है। इसीको प्रश्रय देकर यह साहित्यिक स्वर अपने महान् लक्ष्यो तक पहुँच सकता है।

प्रगतिवादी कवि—कवियो के सम्बध मे विशेप ध्यान देने योग्य बात यह है कि पूर्ववर्ती काव्यधारा के विशुद्ध छायावादी पक्ष को छोडकर अन्य पक्षो का उद्घाटन करने वाले कवि ही वास्तव मे प्रगतिवादी कवि भी है। नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर, नागार्जुन, उदयशकर भट्ट, रागेय राघव, अश्क, अचल नरेन्द्रशर्मा भगवतीचरण वर्मा आदि ने ही इस धारा को विकसित किया है। इन सबका परिचय दिया जा चुका है। इनके अतिरिक्त प्रगतिवादी काव्य-धारा के विकास मे निम्नलिखित कवियो का भी विशेप योगदान माना जाता है—गोपालसिह नेपाली, शिवमगलसिह सुमन, नागार्जुन, डॉ० रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द जैन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेरबहादुरसिह, भारत भूपण अग्रवाल, जगन्नाथ नलिन, विद्याभास्कर 'अरुण', देवराज 'दिनेश' तथा

अन्य अनेक। इन सभीने साहित्य के माध्यम से मानव की प्रगति-चेतनाओ को निश्चय ही अद्भुत सम्बल प्रदान किया है। इनमे से अधिकाश के स्वर आज भी नये साँचो मे ढलकर मानव प्रगतियो का गान कर रहे हैं।

आज यह प्रगति चेतना विविध खण्डो मे विभाजित होकर साहित्य-सर्जना मे निरत है। इसमे नये-नये प्रयोग भी होने लगे हैं, जो सभी प्रगति या विकास के ही सूचक हैं। हमारे विचार मे 'प्रयोगवाद', 'प्रतीकवाद' और 'नवगीत-वाद' आदि सभी बातें प्रगतिवाद का ही अग हैं। फिर भी हम यहाँ परम्परा की दृष्टि से इनका अलग-अलग परिचयात्मक उल्लेख कर रहे है।

प्रयोगवाद नई कविता

जैसाकि हम पहले व्यक्त कर चुके हैं, प्रयोगवाद प्रगतिवादी काव्य-चेतना का ही एक विकसित या प्रयोगात्मक नव्य रूप है। इसी कारण इसके नामकरण मे जहाँ 'प्रयोगवाद' लिखा जाता है, वहाँ इसे 'नई कविता' कहने की प्रवृत्ति भी जुडी हुई है। इन दो नामो के अतिरिक्त प्रपद्यवाद, प्रतीकवाद, रूपवाद अन्य कई नामो से भी इसे अभिहित किया जाता है। हमारे विचार के अनुसार इन अनेक नामो का प्रमुख कारण यह है कि अभी तक इस नव्यतम प्रवृत्ति का कोई स्पष्ट रूप निर्धारित नही हो सका। इसकी प्रयोगावस्था ही है। अत प्रयोगवाद या नई कविता नाम ही अधिक समीचीन है।

इस नव्य धारा का प्रवर्त्तन सन् १६४३ मे प्रथम 'तारसप्तक' के प्रकाशन से माना जाता है। गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द जैन, प्रभाकर माचवे, भारत भूषण, गिरिजाकुमार माथुर, डॉ० रामविलास शर्मा और अज्ञेय—पहले 'तारसप्तक' मे इन सात कवियो की कविताएँ सकलित की गई। अज्ञेय जी ने इसका सम्पादन किया। इस सग्रह की समस्त रचनाओ पर प्रत्यक्षत फ्रायडवाद का प्रभाव दिखाई देता है। फ्रायड के प्रभाव के कारण इन कविताओ मे वैयक्तिक कुण्ठाओ एव चेतनाओ को ही प्रत्यक्षत अभिव्यक्ति मिली है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वैयक्तिक कुण्ठाओ को अभिव्यक्ति देने के लिए कवियो ने नई भाषा, भावना, अभिव्यक्ति, शिल्प, प्रतीको, बिम्बो आदि के प्रयोग किये हैं। प्रत्येक नव्य-

चेतना को जिस प्रकार अनेक तरह के प्रवादो का शिकार होना पडता है, उसी कार प्रयोगवादी चेतना को भी अनेक आलोचनाओ से गुजरना पडा और आज ी गुजरना पड रहा है। प्रयोगवादियो ने इन आलोचनाओ के उत्तर भी दिये । गिरिजाकुमार माथुर के अनुसार "प्रयोगो का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक त्य के खण्ड अनुभवो का साधरणीकरण करने मे कविता को अनुकूल माध्यम ना जिसमे व्यक्ति द्वारा उस व्यापक सत्य का सर्व वोधगम्य प्रेषण सम्भव हो के।" इनके विपरीत डॉ० धर्मवीर भारती लिखते हैं :—

"प्रयोगवादी कविता मे भावना है किन्तु हर भावना के आगे एक प्रश्नचिह्न नगा है। इसी प्रश्न-चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सास्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है और यह प्रश्नचिन्ह उसीकी ध्वनि मात्र है।"

इस काव्यधारा के प्रवर्त्तको एव वाहको का यह मत ही प्रमुख है कि परम्परागत भाषा, अभिव्यक्ति-पद्धतियाँ एव मान्यताएँ आज के परिवर्तित मूल्यो व नये युग की चेतनाओ को पूर्णतया अभिव्यक्ति दे पाने मे समर्थ नही है। इसी कारण आज अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए नव्यान्वेषण हो रहा है और अज्ञेय जी के अनुसार "इस धारा के कवि तो राहो के अन्वेषी है, मजिल जाने कहाँ होगी ?" यह सत्य है कि इस धारा की कविता मे घोर अहमन्यता एव वैयक्तिकता भी है, किन्तु अहमन्यता एव वैयक्तिकता भी वास्तव मे प्रगति के नये शिखर एव क्षितिज खोजने का प्रयास ही है। फिर भी अतृष्णा एव अनास्था का भाव इस धारा मे अत्यधिक प्रवल है। इस चेतना का जन्म वास्तव मे द्वितीय विश्वयुद्ध एव उसके पश्चात् व्याप्त होने वाले सन्तोष, निराशा, अभाव एव अनैतिकता के प्रभावो के मध्य हुआ था। यह असन्तोष प्राचीनता को उखाड फेंकने के भावो तक अधिक सीमित रहा, अभी तक इसमे नव-निर्माण को किसी चेतना के दर्शन नही हो पाये। लगता है कि यह चेतना सभी प्रकार के भाव-अभाव से अपने-आपको अलग रखना चाहती है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पडता है कि इस चेतना मे यथार्थता एव शैलीगत नवीनता तो है ही। इस दिशा मे इस धारा के कवियो की साहसिकता की प्रशसा करनी ही पडती है। फिर प्रयोग तो सदा से होते ही आये हैं और वास्तव मे वे मानव-प्रगति के ही द्योतक

हैं। अज्ञेय जी के शब्दो मे, "प्रयोग सभी कालो के कवियो ने किये हैं, यद्यपि किसी एक काल मे किसी विशेष दिशा मे प्रयोग करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है, किन्तु कवि क्रमश अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रो मे प्रयोग हुए हैं उनमे आगे वढकर अव उन क्षेत्रो का अन्वेषण करना चाहिए, जिन्हे अभी नहीं छुआ गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।" अभेद्यता को भेदन करने का साहस वास्तव मे सराहनीय है।

प्रयोगवादी काव्यधारा का प्रथम चरण प्रथप 'तारसप्तक' से आरम्भ हुआ था, इस वात का उल्लेख पहले किया जा चुका है। 'तारसप्तक' के अतिरिक्त कुछ पत्र-पत्रिकाओ के प्रकाशन से भी इस वाद को नया वल प्राप्त हुआ। प्रतीक, पाठक, दृष्टिकोण, तथा पथ आदि पत्र-पत्रिकाओ के नाम इस विद्या मे विशेप उल्लेखनीय है। इसके विकास का दूसरा चरण सन् १९५१ मे प्रकाशित होने वाले दूसरे 'तारसप्तक' से आरम्भ होता है। इसमे जिन कवियो के स्वर सचित किये गये थे, इनके नाम हैं—भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्त माथुर, हरि-नारायण व्यास, शमशेर वहादुरसिह, नरेश महेता, रघुवीर सहाय और डॉ० धर्मवीर भारती। हमारे विचार मे इस दूसरे चरण की दो विशिष्ट उपलब्धियाँ मानी जा सकती हैं—एक तो भवानीप्रसाद मिश्र और दूसरी डॉ० धर्मवीर भारती। वैसे इन कवियो के काव्यो मे किसी प्रकार की भावात्मक एकता नहीं है, विभिन्न दिशाओ मे विभिन्न प्रयोगात्मक स्वर ही सुनाई देते हैं। दोनों 'तारसप्तक' के कवियो मे से डॉ० रामविलास शर्मा और भवानीप्रसाद मिश्र प्रगतिवादी अधिक प्रतीत होते हैं। प्रयोगो के साथ-साथ मानव-जीवन की प्रगतियो या विगतियो के प्रति इनका आग्रह स्पष्टत अधिक है। भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' नामक कविता इस तथ्य को स्पष्ट उजागर करती है —

जी हाँ, हजूर मैं गीत वेचता हूँ।
जी, पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझको,
पर पीछे-पीछे अक्ल जगी मुझको,
जी, लोगो ने तो वेच दिये ईमान।

इन पक्तियो मे, वास्तव मे जीवन का यथार्थ भाव-वोध ही रूपायित हुआ

है। हाँ, कहने का ढग अवश्य नया और स्यात् इसी कारण प्रयोगवादी भी है। इसी प्रकार की यथार्थ चेतना के दर्शन हमे डॉ० धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' एव 'कनुपिया' जैसी रचनाओ मे भी होते हैं। इस प्रकार के प्रयोग वास्तव मे सराहनीय है। किन्तु अधिकाश प्रयोगवादियो ने जिस प्रकार के प्रयोग किये हैं, वे निश्चय ही वेतुके-से प्रतीत होते हैं। शायद उन्हीको लक्ष्य कर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा था—"प्रयोगवादी साहित्य से साधारणत उस व्यक्ति का वोध होता है, जिसकी रचना मे कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित तत्त्व नही।" किन्तु वाजपेयी जी का यह मत सर्वाशित सत्य नहीं कहा जा सकता। क्योकि प्रत्येक सृजनात्मक प्रक्रिया मे कोई न कोई तत्त्व तो रहता ही है, उसका स्पष्ट न होना अलग वात है और तथ्य यह है कि अभी तक अपनी अस्पष्टता के कारण ही नये भाव-वोध वाली यह कविता प्रयोगवाद के नाम से अभिहित की जाती है। इस सम्वन्ध मे हम यहाँ डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के मत का अपनी सहमति के साथ उल्लेख करना चाहेगे —

"नई कविता, नये समाज के नये मानव की नई प्रवृत्तियो की नई अभिव्यक्ति, नई शव्दावली मे है, जो नये पाठको के नये दिमाग पर नये ढंग से नया प्रभाव उत्पन्न करती है।"

निश्चय ही नई कविता का अन्तराल नव्य भाव-वोधो से समन्वित है। सन् १६५६ मे प्रकाशित होने वाले तीसरे 'तारसप्तक' से इस धारा के विकास का तीसरा चरण आरम्भ होता है। इसमे प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिह, कुवर नारायण, विजय देव नारायणसिह और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविताएँ सकलित की गई हैं। वास्तव मे तीनों 'तारसप्तक' विकास के तीन चरणो मे इस धारा के प्रमुख कहे जाने वाले कवियो से परिचित कराने वाली रचनाएँ हैं। तीनो से किसी स्पष्ट एव प्रत्यक्ष दिशा का न तो वोध होता है और न इस काव्य-चेतना का कोई स्वरूप ही निश्चित हो पाया है। वस, प्रयोग पर प्रयोगो का दौर ही चल रहा है।

प्रयोगवादी काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं—अहमन्यतापूर्ण वैयक्तिकता—

का रूपायन, नग्न यथार्थ भावनाओ का अकन, अति बौद्धिकता, निराशा, वैज्ञानिक सन्दर्भो मे नये मूल्यो का अकन, यौन-वर्जनाओ की अभिव्यक्ति, कला-पक्ष मे भी नव्य प्रयोग-नये छन्द, गद्यात्मकता, नई भाषा और नव्य विषय का प्रतिपादन। तात्पर्य यह है कि सगत-असगत नव्य विषयो का उद्घाटन करने की प्रवृत्ति ही इनमे मुख्य है। दृश्य-अदृश्य कोई भी विषय इनकी कविता का विषय बन सकता है। भाव, भाषा और अभिव्यक्ति मे यह स्वच्छन्दतावादी भावनाओं को प्रश्रय देते हैं। अपने-आपको किसी वाद-विशेष से सम्बद्ध न मानते हुए भी अपने-आपको जीवन के भोगे जा रहे सत्यो एव यथार्थ तत्त्वो का उपासक मानते हैं। प्रकृति-चित्रण, नव्य-सौन्दर्य-बोध और नारी की मासलता के प्रति आग्रह तो इनमे है, किन्तु इन सबके चित्रण मे धरती का खुरदरापन विद्यमान है, न कि कोमल चिक्कणता। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि भौतिक मूल्य ही इनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, न कि सूक्ष्म सचेतन तत्त्व। पराजित मनोवृत्तियो को इन्होने सशक्त ढग मे उभारा है। ये काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष मे किसी भी प्रकार के बन्धन को नहीं स्वीकारते। बस, अभिव्यक्ति चाहिए, वह किसी भी निर्बन्ध रूप से हो, इसका प्रश्न नही। ज्ञात से अज्ञात की ओर तथा परम्परागत मूल्यो से निकलकर नव्य मूल्यो की ओर बढना, चिरकाल से स्थापित सत्यों को ही अन्तिम सत्य न मानकर प्राणवान् नव्य सत्यो का अन्वेषण करना इनकी प्रवृत्तियो एव मान्यताओ के प्रमुख अग हैं। डॉ० देवराज के शब्दो मे कहा जा सकता है कि "बदलते हुए जीवन की नयी सम्भावनाओ के उद्घाटन के लिए अथवा नये मूल्यो की प्रतिष्ठा के लिए नवीन प्रयोग करते हैं। इसलिए नई शैली का अर्थ है जीवन या अनुभव जगत् के नये पहलुओ को नयी दृष्टि से देखना और उन्हें नये चित्रो, प्रतीको, अलकारो द्वारा अभिव्यक्ति देना।" हमारे विचार मे प्रयोगवादी काव्यधारा की मान्यताओ एव प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे कुछ और कहना व्यर्थ है।

प्रयोगवादी कविता के आरम्भ के मूल कारणो को खोजने की दिशा मे भी अनेक प्रयास हुए हैं। इस सम्बन्ध मे श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा का मत विशेष उल्लेखनीय है "प्रथम तो छायावाद ने अपने शब्दाडबर मे बहुत से शब्दों एव बिम्बों

के गतिशील तत्त्वो को नष्ट कर दिया था। दूसरे प्रगतिवाद ने सामाजिकता के नाम पर विभिन्न भाव-स्तरो एव शब्द-सस्कारो को अभिधात्मक बना दिया था। ऐसी स्थिति मे नये भाव-बोध को व्यक्त करने के लिए न तो शब्दो मे सामर्थ्य था और न परम्परा मिली हुई शैली मे। परिणामस्वरूप उन कवियो को जो इनसे पृथक् थे सर्वथा नया स्वर और नये माध्यमो का प्रयोग करना पडा। ऐसा इसलिए और भी करना पडा क्योकि भाव-स्तर की नई अनुभूतियाँ विषय और सन्दर्भ मे इन दोनो से सर्वथा भिन्न थीं।" इससे स्पष्ट है कि प्रयोगवादियो की दृष्टि से वह केनवेस अब उपयुक्त नही रह गया था, जिस पर अभी तक भावाभिव्यक्ति होती आ रही थी। उसके उपकरण रग एव तूलिका आदि भी अब नये अर्थो मे महत्त्वहीन हो चुके थे, अत. उनके प्रति ऊबाहट स्वाभाविक ही थी। परिणामतः नये साधनो-उपकरणो को लेकर नये परिवेश मे काव्य-सर्जना का आरम्भ हुआ। श्री रामेश्वर शर्मा के अनुसार —

"प्राचीन रूढियो और सस्कारो से जब मनुष्य ऊब जाता है, तब वह नवीनता की ओर उन्मुख होता है।" अत इस नई कविता को नव्यता की ओर उन्मुख होने की प्रक्रिया कहा जा सकता है। यह छायावादी काव्य-चेतना की तो समग्रतः प्रतिक्रिया है ही सही, प्रगतिवाद मे जो आग्रह का भाव था, यहाँ उससे भी आगे बढने की चेष्टा-प्रक्रिया विद्यमान है। ये लोग स्वर्गीय निराला की रचना 'कुकुर-मुत्ता' को पहली प्रयोगवादी रचना मानते हैं। हमारे विचारानुसार भी वास्तव मे प्रयोगो का आरम्भ वही से हो गया था। यह भी सत्य है कि साहित्य की विकास-गगा नये-नये पथो का चिरन्तन काल से अन्वेषण करती आ रही है और इसी कारण उस पर नये-नये घाटो का निर्माण भी होता रहा है। अत प्रयोगवाद भी वास्तव मे घाट-निर्माण की एक प्रक्रिया है, जो अभी निर्माणात्मक क्षणो से गुजर रही है। इसका पूर्ण-विनिर्मित स्वरूप क्या होगा, यह तो भविष्य ही बतायेगा, किन्तु यह सत्य है कि विनिर्माण की इस प्रक्रिया मे एक पीडित-आहत चेतना का क्रन्दन एव कसक है। अत समझना चाहिए कि अश्रुपात कर लेने के बाद जिस प्रकार मन-मस्तिष्क हल्के हो जाते हैं, बाद मे ताज़गी आ जाती है, उस प्रकार का कुछ परिणाम आगे चलकर प्रयोगवादी काव्यधारा से भी निकल

सकता हैं । नव निर्माण की तडपन तो इसमे है ही नही । इसकी वास्तविक उपलब्धिओ का अकन तो भविष्य ही कर सकेगा ।

नवगीत

स्वातन्त्र्योत्तर काव्य-चेतना मे एक ओर जहाँ नये-नये प्रयोगो का दौर हिन्दी काव्य क्षेत्र मे चल रहा है, वहाँ दूसरी ओर परम्परागत गीति-काव्य या गीत-सर्जना की चेतना का भी पुनरुद्धार हो रहा है। पर इस पुनरुद्धार के आगे उसी प्रकार 'नव' शब्द जुडा हुआ है, जिस प्रकार कहानी आदि विधाओ के आगे। गुनगुनाना या गाना जिस प्रकार मानव स्वभाव का एक अग है, उसी प्रकार नव्यता की ओर अग्रसर होना भी मानव के स्वभाव का वैशिष्ट्य है। वह सदा से नव्य क्षितिजो के उद्‌घाटन की दिशा मे न केवल उत्सुक ही रहा है, वल्कि तत्पर भी रहा है। 'नवगीत' स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि की इसी चेतना का परिणाम है। इसके सम्बन्ध मे डॉ० शभुनाथसिह का मत विशेष दर्शनीय है —

"नवीन पद्धति और विचारो के नवीन आयामो तथा नवीन भाव-सरणियो को अभिव्यक्त करने वाले गीत जब भी और जिस युग मे भी लिखे जायेंगे—नवगीत कहलायेंगे।"

हाँ, यदि गेयता उनमे हो तो निश्चय ही नई भाव-सरणियो एव आयामो को अभिव्यक्ति देने वाले स्वर-सन्धान युगीन चेतना के अनुरूप 'नवगीत' ही कहे जायेंगे। युग-परिवेश मे सहजभाव से गुनगुनाना एव कभी-कभी आन्तरिक उच्छलनो के आवेश मे उन्मुक्त स्वरो मे गा उठना मानवमात्र का मौलिक स्वभाव है।

नवगीतो की इस चेतना को नया गीत, प्रगीत, अगीत (अ-कहनी के समान), लोकगीत तथा कबीर-गीत आदि अनेक प्रकार के नाम देने की चेष्टा की गई है। पर मूल ध्यातव्य वात तो यह है कि 'गीत' शब्द सब नामो के साथ जुडा है, अत 'नवगीत' नाम स्वीकार कर लेना अधिक युक्तिसगत लगता है। यो गीति या गीत की परम्परा अनादि काल से अविच्छिन्न है, वह कही भी, नये या पुराने किसी भी भाव-वोध मे टूटने नही पाई, किन्तु अपने मन्तव्यो एव उनके वाह्य

रूपो को नवीन कहकर प्रतिष्ठापित करने और यश लूटने की प्रवृत्ति मानव स्वभाव का एक अग है। इमी कारण कुछ इतिहासकारो ने 'नवगीत' नाम की इम प्रवृत्ति को भी नाम के भूखे कुछ लोगो का प्रयत्न ही कहा है। इस सम्बन्ध मे डॉ० शिवकुमार शर्मा लिखते हैं—"नवगीत या नया गीत का आन्दोलन नई कविता के ध्वज-वाहको के समान कतिपय नाम के भूखे लोगो का आन्दोलन है। आधुनिकता और वैज्ञानिक युग वोध और सौन्दर्य के दावेदारो के इन गीतो मे नये प्रतीक, नये छन्द, नई भाषा, नये अप्रस्तुत विधान और नये शिल्प-विधान का नया प्रयोग कर नवगीत की सार्थकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।" परन्तु हमारे विचार मे यह नाम के भूखो का आन्दोलन मात्र न होकर काव्य-जगत् की एक स्वाभाविक नव्य एव युगीन प्रक्रिया है। इस पर मात्र 'नाम के भूखो का आन्दोलन' का आरोप लगाने वाले शायद जीवन के समान काव्य-जगत् की स्वतः प्रगतिशीलता एव नव्यान्वेषण की मौलिक प्रवृत्ति की वात भूल जाते हैं। अत. इसे 'नाम के भूखो का आन्दोलन' कहकर उस परम्परागत किन्तु रूप-विधान की दृष्टि से नव्य विधा की उपेक्षा नही की जा सकती। वास्तव मे यह नई कविता या प्रयोगवादी कविता की उस न्यूनता का पूरक है, जो गेयता के अभाव के कारण इसमे परिव्याप्त हो गई है। अद्यतन स्वरूप की अस्पष्टता रहते हुए भी उसका प्राण-तत्त्व गीति-तत्त्वो से ही अनुप्राणित है।

श्री राजेन्द्रप्रसादसिंह के अनुसार 'नवगीत' के स्वरूप का विधान करने वाले निम्नलिखित पाँच तत्त्व स्वीकार किये जाते है—जीवन-दर्शन, आत्मनिष्ठा, व्यक्तित्व-वोध, प्रीति तत्त्व एव परिसचय। इसके साथ-साथ गेयता को मान्यता प्रदान करने के कारण ही यह 'नवगीत' कहलाने का अधिकारी हो पाया है। इन तत्त्वो के अध्ययन पर हम निम्नलिखित कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं —

१ नवगीत मे नव्य भाव वोध अनिवार्यत रहना चाहिए, क्योकि गीतो के पुराने वोध आज मर चुके हैं और वे जीवन को आधुनिक परिवेश मे अनुप्राणित नही कर सकते।

२ व्यक्तिगत निष्ठा इनका अनिवार्य तत्त्व है। इसे नव्य तत्त्व न मानकर परम्परागत गीति-तत्त्व ही कहा जायेगा। क्योकि वैयक्तिकता के उच्छलन के

विना वहाँ भी गीति की सर्जना सम्भव नही मानी गई। केवल इतना अन्तर अंकित किया जा सकता है कि आज की वैयक्तिकता मे आधुनिक युग-बोधो के प्रति ही अधिक आग्रह है, केवल अन्तश्चेतनाओ का ही उच्छलन यहाँ नही है।

३ गेयता प्रत्येक युग के गीत के समान यहाँ भी अनिवार्य है।

४ पारिवेशिक और अभिव्यजना के स्वरूप का भी यहाँ आधुनिक होना अनिवार्य है। इस दृष्टि से नव गीतकारो का कथन है कि इसमे परम्परागत राग-रागनियो की अपरिहार्यता नही, वल्कि सुपाठ्यता मात्र ही पर्याप्त है। लेकिन यह भी ध्यातव्य तथ्य है कि कुछ नवगीतकार सुपाठ्यता के स्थान पर हार्दिकता एव स वेदनात्मक अनुभूतियो की स्वरवद्धता को भी अनिवार्य मानते हैं।

५ कुछ लोग परिसचयन को ही अनिवार्य मानते है, जैसा कि ऊपर इसका सकेत एक मूल तत्त्व के रूप मे भी किया गया है, साथ ही कुछ ने सप्रेषणीयता को भी अपरिहार्य माना है।

इसी प्रकार कुछ अन्य विरोधाभासो से युक्त पारिभाषिक तत्त्व भी इस धारा' में मिलते हैं। 'नवीनता' का शब्दवोध यहाँ सर्वत्र मिलता है। परन्तु ध्यातव्य यह है कि प्रत्येक युग ने अपने आप को नवीन ही कहा है, क्योकि प्रत्येक क्षण एव उसका युग-परिवेश मे बोध स्वत ही नवीन हुआ करता है। जिस भी युग या धारा के स्वर-सन्धान मे मात्र परम्परागत वातें या उधार लिये हुए आवेश रहते हैं, वह कभी भी न तो जीवित ही रहती है और सामयिक तौर पर भी अपना स्थान नही वना पाती। उसका वरसाती आवेग स्वत ही उतरकर शून्य मे विलीन हो जाया करता है। परन्तु निश्चय ही 'नवगीत' की स्थिति ऐसी नही है और न ही भविष्य मे इसके शून्य मे समा जाने की आशका ही है।

यह एक सर्वमान्य एव निखरा हुआ तथ्य है कि वही कविता (उसका रूप चाहे कुछ भी हो) जीवित रह पाती है जो कि सामयिक वोधो को जीवन के नित्य सत्यो एव शाश्वत वोधो का आयाम दे पाती है। केवल प्रासगिक या अनित्य वोधो को लेकर रची जाने वाली कविता जीवित रहना तो क्या, सामयिक महत्त्व भी प्राप्त नही कर पाती। किसी भी प्रकार के काव्यमय भाव-वोध मे किसी न किसी प्रकार की अपरिहार्य आस्था का होना आवश्यक है। इस दृष्टि से हमारे

नवगीतकार पूर्णत अनास्थावादी नही। नव्यता का निर्माण या नव मूल्यो की थापना भी तो एक प्रकार की आस्था ही है। हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि हर साहित्यिक विधा का अपना एक आदर्श भी होता है और हर विचारधारा भी अपने मे एक आदर्श है। यदि कोई गीतकार या साहित्यकार साम्यवादी चेतना को लक्ष्य बनाकर स्वर-सन्धान करने या सृजन-प्रक्रिया मे प्रवृत्त होता है तो साम्यवाद को उसका आदर्श कहा जा सकता है। किन्तु वह सफल तभी है जब कि वह आदर्श के अनुकूल जीवन के शाश्वत तत्त्वो एव मूल्यो को रूपायित कर पाता है। इसी दृष्टि से हम आज तो नही, भविष्य मे प्रयोगवादी कविता के समान 'नवगीत' पद्धति का मूल्याकन भी कर सकेंगे, क्योकि प्रत्येक नव्यधारा मे आरम्भ मे निराशाएँ, आस्थाएँ एव अस्थिरताएँ परिलक्षित हुआ ही करती हैं। धीरे-धीरे ही उसका स्वरूप क्रमश स्थिर होता एव निखरा करता है। हमारे विचारानुसार हर युग का गीत 'नव' ही हुआ करता है। अत 'नवगीत' परम्परा की ही एक आधुनिक कडी है। उदाहरणत कवि नीरज की निम्न पक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं:—

जाने क्यो जितनी ही कम है बात किसी पर कहने की,
वह जाने क्यो उतने ही स्वर से शोर मचाता है।
जो जितना गहरा घाव लिए बैठा दिल मे,
वह दबी-दबी आहे भरता भी उतना सकुचाता है।

वास्तव मे इनमे नवीन कुछ भी नही, एक परम्परागत शाश्वत तत्त्व को ही नये परिवेश मे रूपायित किया गया है। हाँ, यदि कविता किन्ही आग्रहो से निबद्ध हो जाती है, तो निश्चय ही फिर वह किसी भी प्रकार 'नवगीत' तो क्या 'सामान्य गीत' तक भी नही बन सकती। इस प्रकार की कुछ निबद्धताएँ 'नवगीत' मे भी दिखाई देती हैं। जैसे अति बौद्धिकता, अनिश्चयी स्थिति, अतिशय कुण्ठाओं एवं यौन-ग्रन्थियो का निवेश, सास्कृतिक परम्पराओ से ओढी हुई विमुखता, कही-कही दैचित्रता, कही-कही असामाजिक प्रवृत्तियो का उद्घाटन एव उन्नयन, अहमन्यताओ की अतिशयता आदि। पर इन निबद्धताओ ने समग्रत. 'नवगीत' को आक्रान्त कर रखा हो, यह बात भी अन्तिम सत्य नही है। ऊपर के उदाहरण

से यह स्पष्ट है कि अहमन्यताओं से विमुक्ति का सहज प्रयास भी यहाँ विद्यमान है।

नीरज, अज्ञेय, डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० शम्भुनाथसिंह, केदारनाथ अग्रवाल, नरेश मेहता, सर्वेश्वर सक्सेना, वीरेन्द्र मिश्र, धर्मवीर भारती, श्रीकान्त वर्मा, राही, जगदीश गुप्त, सोम ठाकुर, मुद्रा राक्षस आदि अनेक व्यक्ति 'नवगीत' के विकास मे दत्तचित्त हैं। प्रगतिवादी एव प्रयोगवादी परम्परा के कुछ कवियो ने भी इसके सवर्द्धन एव दिशा-निर्देश मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनके गीत पत्र-पत्रिकाओ मे तो प्रकाशित होते ही रहते हैं, कुछ पुस्तकाकार सकलनो मे भी पढने को मिल जाते है। इनकी यह मान्यताएँ कि गीत आकार मे लघु, सत्य, नव प्रतीको एव चित्रो से युक्त, नये उपमानो वाले, छन्द एव भाषा की दृष्टि से भी नवीन एव नये सौन्दर्य बोध से सयत होने चाहिए, कोई नवीन मान्यताएँ नही है। इन्हे प्रत्येक युग के गीत के सम्बन्ध मे इतने ही आत्मविश्वास के साथ कहा जा सकता है, जितना कि ये लोग कहते है।

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि 'नवगीत' कोरा प्रलाप नही है। यह एक बोध को लेकर चल रहा है। यह बोध सूक्ष्मत मानव-जीवन के विकासशील बोधात्मक तत्त्वो के साथ ही जुडा हुआ है। फिर यह काव्य-क्षेत्र की कोई अन्तिम प्रक्रिया ही तो नही। अभी भविष्य मे पता नही युग-चेतनाओ के अनुरूप काव्य को समग्रत कितनी प्रक्रियाओ मे से गुजरना है।

उपर्युक्त विधात्मक काव्य-सर्जना के साथ-साथ परम्परागत काव्य-धाराओ की सरणी भी अविरत प्रवाहित है। आज गीति-काव्य की स्वच्छन्द सर्जना भी हो रही है। प्रबन्ध एव अन्य मुक्तक भी रचे जा रहे हैं। प्रबन्ध काव्यो के अन्तर्गत महाकाव्यो और खण्ड-काव्यो की अविरत सर्जना-धारा निरन्तर प्रवाहित है। इधर डॉ० शरणविहारी गोस्वामी के 'पाषाणी' नामक खण्ड-काव्य की खूब चर्चा रही है। इस पर इन्हे पजाब सरकार द्वारा पुरस्कृत भी किया गया है। 'श्रीकृष्ण की जन्मभूमि' इनका दूसरा बहुप्रशसित खण्ड-काव्य है।

काव्य-गगा का प्रवाह अविरल एव अविश्रान्त है। उसकी सृजन-प्रक्रिया आज सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एव साकेतिक होती जा रही है। पर इस अखण्ड धारा के विराम या गत्यवरोध की आशका सर्वथा निराधार है।

गद्य-साहित्य : आरम्भ और विकास | ८

आधुनिक काल मे गद्य-साहित्य के विनिर्माण को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वानो ने एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना कहा है। वास्तव मे गद्य-साहित्य के विधात्मक निर्माण की दृष्टि से आधुनिक काल का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसी कारण आधुनिक काल को 'गद्यकाल' भी कहा गया है। इस विषय मे एक ऐतिहासिक तथ्य यह भी है कि जब बुद्धिवादी चेतनाओ एव विज्ञान का अधिक विकास होता है तो हृदय-पक्ष से सम्बन्धित कविता का प्राय ह्रास हो जाया करता है और विचार-विनिमय की भाषा और माध्यम को ही अधिक प्रश्रय मिलता है। इस दृष्टि से गद्य मे साहित्य-सर्जना की प्रक्रिया का आरम्भ एव विकास स्वाभाविक ही कहा जाएगा।

आधुनिक काल के आरम्भ से पूर्व गद्य-साहित्य का विधात्मक स्वरूप एकदम नही मिलता, वैसे भी गद्य नाम से किसी प्रकार की साहित्यिक चेतना की सर्जना-प्रक्रिया का प्राय अभाव ही रहा है। वास्तव मे तब विचाराभिव्यक्ति के लिए पद्य को ही श्रेष्ठ माना जाता था, यह बात केवल हिन्दी भाषा के साहित्य के सम्बन्ध मे ही नही, अपितु विश्व की समस्त भाषाओ के साहित्य के सन्दर्भ में एक सर्वमान्य सत्य है। फिर भी स्वभावत· व्यावहारिक क्षेत्रो मे मनुष्य गद्यमयता का आश्रय ही लेता आया है। अत· न्यूनाधिक गद्य की प्रक्रिया प्रत्येक युग मे मिलती है। इसी दृष्टि से कहा जा सकता है कि आधुनिक काल के आरम्भ के पूर्व भी

हिन्दी गद्य का यत्किंचित् स्वरूप तो विद्यमान था, किन्तु उसकी कोई निश्चित एव विकसित परम्परा नही मिलती। विधिवत् परम्परा का आरम्भ तो भारतेन्दु युग मे आकर ही हुआ। अत यहाँ हमारा विवेच्य विषय है भारतेन्दु से पूर्व युग मे हिन्दी गद्य का स्वरूप एव विकास। इस स्वरूप एव विकास का अध्ययन करने से पूर्व हिन्दी की अन्य बोलियो या भाषाओ के गद्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे जान लेना भी बहुत युक्तिसगत होगा। इस दृष्टि से दो ही भाषाएँ महत्त्वपूर्ण हैं—एक राजस्थानी भाषा और दूसरी व्रजभाषा।

राजस्थानी गद्य—हिन्दी भाषाओ मे गद्य के प्राचीनतम नमूने राजस्थानी गद्य के ही उपलब्ध होते हैं। सन् ९४५ से लेकर १३४५ तक हिन्दी साहित्य के विकास एव प्रणयन की गतिविधियो का केन्द्र राजस्थान ही रहा है। तत्कालीन चारण-भाटो ने जहाँ काव्य क्षेत्र मे डिगल-पिंगल-मिश्रित राजस्थानी को अपनाया, वहाँ धर्म, नीति, इतिहास और छन्द-शास्त्र आदि विषयो के प्रतिपादन मे राजस्थानी गद्य का आश्रय भी लिया। कुछ लोक-कथाओ को भी गद्य मे प्रस्तुत किया गया। इसी युग और इसी प्रदेश के कुछ सम्प्रदाओ के साधुओ ने भी विभिन्न विषयो पर राजस्थानी गद्य मे अपने विचार प्रगट किये। इनमे से अनेक पुस्तकें एव रचनाएँ आज भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अपभ्रशो के बाद राजस्थानी भाषा मे ही बिखरे रूप मे गद्य का प्रयोग किया गया, जो विकास-क्रम के सूत्रो को जोडने की दृष्टि से सामान्यत उपयोगी कहा जा सकता है।

व्रजभाषा-गद्य—साहित्यिक दृष्टि से व्रजभाषा का अत्यधिक महत्त्व है। यह एक लम्बी अवधि तक काव्य-सर्जना का माध्यम बनी रही है। व्रजभाषा मे हिन्दी काव्य का तो उत्कर्ष देखा ही जा सकता है, इसके गद्य-रूप भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि व्रजभाषा के गद्य मे डेढ-दो दर्जन रचनाएँ ही मिलती हैं, फिर साहित्यिक तत्त्वो की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व भी नही है। फिर भी विकास की कडियाँ जोडने की दृष्टि से इन सबका अध्ययन पर्याप्त दिलचस्प है। गोरखपन्थी परम्परा मे व्रजभाषा के आरम्भिक नमूने मिलते हैं। सन् १३५० के आसपास गोरखपन्थी विचारधारा के अनुरूप हठयोग एव ब्रह्मज्ञान से

सम्वन्धित तीन ग्रन्थ रचे गये थे। इनके नाम हैं—गोरख-गणेश-गोष्ठी, महादेव-गोरखसम्वाद, गोरखनाथजी की सत्रह कला। आचार्य शुक्ल भी व्रजभाषा के गद्य का पहला ग्रन्थ गोरखपन्थी साहित्य मे ही मानते है। इनका कथन है—"हिन्दी पुस्तको की खोज मे हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से सम्वन्ध रखने वाले कई गोरख-पथी ग्रन्थ मिले हैं जिनका निर्माण-काल सवत् १४०७ के आस-पास है।" किन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन रचनाओ को और वाद की माना है। इसके विपरीत डॉ० भागीरथ मिश्र ने इन्हे और भी पहले की रचनाएँ वताते हुए लिखा है—"गोरख-गोष्ठियो के गद्य को यदि गोरखनाथ का माना जाए, तव तो वह १००० ई० के आस-पास ठहरता है, परन्तु यदि वह नाथपथी साधुओ का गद्य माना जाय तो भी १४०० ई० से पहले का ही है। अत. व्रजभापा के प्रारम्भिक गद्य का स्वरूप यही है।" इस विवाद से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि व्रज-भापा के गद्य के उपलव्ध आदि स्रोत गोरखपथी ग्रन्थ ही हैं, चाहे इनके रचना-काल के सम्वन्ध मे अभी तक अन्तिम रूप से कुछ नही कहा जा सकता है।

उपरोक्त मतो के साथ-साथ श्री हरिमोहन श्रीवास्तव का मत भी मिलता है, जिसके अनुसार वल्लभाचार्य व्रजभाषा गद्य के प्रथम सर्जक हैं। इनका कहना है कि "सर्वप्रथम महाप्रभु वल्लभाचार्य का नाम व्रजभापा-गद्य-लेखको मे लिया जाता है उन्हीके नाम से प्रसिद्ध '४८ अपराध' नामक एक व्रजभाषा गद्य का ग्रन्थ भी उपलव्ध है। इसे १५७० से १५८० के वीच की रचना कहा जाता है।" किन्तु 'सूरदास की वार्ता' नामक सर्जना मे प्रभुदयाल मीतल ने इसे परवर्ती एवं किसी अन्य व्यक्ति की रचना माना है। कुछ भी हो, इसके वाद से व्रजभापा-गद्य का एक निश्चित इतिहास मिलने लगता है। १६वी शती के उत्तरार्द्ध मे महाप्रभु वल्लभाचार्य के प्रमुख शिष्य एव सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने 'शृगाररस-मण्डन' नामक ग्रथ रचा। कुछ लोग इसे गोसाई जी के इसी नाम के सस्कृत-ग्रन्थ का अनुवाद मात्र मानते हैं। अनुवाद हो या मूल, इसका गद्य की दृष्टि से महत्त्व अवश्य है।

१७वी शती के पूर्वार्द्ध मे रचित व्रजभापा गद्य के दो और सशक्त एवं प्रामाणिक गन्थ हमारे सामने आते हैं। इनके नाम हैं—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'

और 'दो सौ वावन वैष्णवन की वार्ता'। कुछ लोग इनके प्रणेता गोस्वामी विट्ठलनाथ के बेटे गोकुलनाथ को मानते हैं और कुछ इनके किन्ही शिष्यो को। इनकी भाषा काफी व्यवस्थित एव परिमार्जित कही जाती है। वन यात्रा, रहस्य भावना, सिद्धान्त-रहस्य, वल्लभाष्टक, पुष्टिमार्ग के वचनामृत, सर्वोत्तम स्तोत्र आदि गोस्वामी गोकुलनाथ की अन्य रचनाएँ मानी जाती हैं। डॉ० सरनदास भनोत ने अपने इतिहास मे इनके द्वारा प्रणीत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के गद्य का निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किया है —

'वहुरि श्री आचार्य जी महाप्रभु ने श्री ठाकुर जी के पास भट्ट मान्यो जो मेरे आगे दामोदरदास की देह न छूटे और श्री आचार्य जी महाप्रभु दामोदरदास सो कछू गोपा न रखते और श्री आचार्य जी महाप्रभु श्रीभागवत अहर्निस देखत कथा कहते और मार्ग की सिद्धान्त भगवत लीला रहस्य श्री आचार्य जी महाप्रभु आप दामोदर व्यास के हृदय मे स्थापन कीयो।''

स्पष्टत यहाँ वाक्य-विन्यास या भाव स्पष्टीकरण की दृष्टि से कोई सिर-पैर नही, फिर भी कथ्य समझ मे आ ही जाता है। १६वी शती मे लिखित हित हरिवश की पत्री भी व्रजभाषा के गद्य-रूप को प्रस्तुत करती है। यह पत्री विट्ठलनाथ को लिखी गई थी। इसी युग मे नाभादास विचरित राम की दिनचर्या से सम्वन्धित 'अष्टयाम' नामक रचना भी मिलती है। 'ज्ञान मजरी' नामक रचना भी किसी अज्ञात लेखक द्वारा इसी युग मे लिखी गई। सेवक द्वारा रचे गये नायिका-भेद-सम्वन्धी ग्रन्थ 'वाग्विलास' मे भी व्रजभाषा-गद्य के कुछ उदाहरण मिलते हैं। अष्टछाप के प्रमुख कवि नन्ददास की भी तीन गद्य रचनाएँ (हितोदेश, नासिकेत पुराण-भाषा, विज्ञानार्थ प्रवेशिका) वताई जाती हैं, किन्तु अभी तक ये प्रकाश मे नही आ सकी। जैन मतावलम्वी कवि वनारसीदास ने भी अनेक गद्य-रचनाएँ रची। अष्टछाप के एक अन्य कवि स्वामी चतुर्भुजदास ने 'षट्ऋतु की वार्ता' की रचना व्रजभाषा-गद्य मे ही की थी। किसी अज्ञात लेखक द्वारा विरचित 'भुवन-दीपिका' नामक एक गद्य-पुस्तक भी मिली है। इन सवमे गद्य के अनेक रूप देखने को मिलते है।

व्रजभाषा-गद्य की अन्य अनेक रचनाएँ भी प्राप्त हुई हैं। सन् १६२३ के लगभग

ओरछा के दरबारी कवि द्वारा रचित 'अगहन महात्म्य' और 'वैशाख महात्म्य' नामक दो ग्रन्थ भी मिले है। इसी वर्ष विष्णुपुरी द्वारा 'भक्ति रत्नावली' का गद्यानुवाद भी मिलता है। सुरति मिश्र-प्रणीत 'वैताल-पच्चीसी' के अतिरिक्त किसी अज्ञात लेखक द्वारा विरचित 'नासिकेतोपाख्यान' भी मिले हैं। बाद मे इनके हिन्दी रूपान्तर भी प्रस्तुत किए गए हैं।

सन् १७९५ मे जयपुर से राजा प्रतापसिंह की आज्ञा से हीरालाल ने 'आइने-अकबरी की भाप वचनिका' नामक पुस्तक ब्रजभापा-गद्य मे लिखी थी। अनेक पूववर्ती प्रसिद्ध रचनाओ की टीकाएँ भी १८वी एव १९वी शताब्दी मे ब्रजभापा-गद्य मे प्रस्तुत की गई, किन्तु इनका कोई विशेप महत्त्व नही है। यहाँ गद्य की ह्रासात्मक प्रवृत्तियो के ही दर्शन होते हैं। कुछ अन्य ग्रथ भी उल्लेखनीय है। इनके नाम हैं—१६१२ ई० मे प्राप्त तुससीदास का पत्र, १६११ ई० मे प्राप्त बनारसीदास का 'वचनिका की अनुगति' १६७२ ई० मे प्राप्त ब्रजभूपण के 'नित्य-विनोद' और 'नीति-विनोद' आदि, १७१० ई० मे प्राप्त श्री द्वारिकाधीश जी की प्रकाट्य वार्ता, श्री महाप्रभु और गोसाई जी के चरित्र, १७३५ ई० मे वेनी कवि द्वारा विरचित 'टिकैताराय प्रकास' आदि। इनसे स्पष्ट है कि ब्रजभापा गद्य मे कहने को अनेक रचनाएँ हुई, किन्तु खेद का विपय यह है कि इनसे गद्य का क्रमश विकास न हो सका, क्रमश ह्रास के ही यहाँ दर्शन होते हैं, क्योकि साहित्यिक रूप से गद्य की रचना की ओर तब प्रवृत्ति न थी। वैसे कहने को रीतिकाल के आचार्य कवियो ने भी अपने लक्षणोदाहरण स्पष्ट करने के लिए कही-कही ब्रजभापा-गद्य का प्रयोग किया है, किन्तु यह सभी दृष्टियो से सर्वथा सामान्य है।

राजस्थानी और ब्रजभापा के गद्य के अतिरिक्त खडीबोली-गद्य के विकास के पूर्व मैथिली भापा मे भी गद्य के कुछ रूप मिलते हैं। विशेपत मैथिली नाटको मे और कुछ-कुछ विद्यापति की रचनाओ मे भी। किन्तु इन सबका कोई विशेप साहित्यिक महत्त्व नही है। फिर विकास का कोई निश्चित क्रम या योजनाबद्ध प्रयत्न भी यहाँ नही हुआ है। विधात्मक साहित्य यहाँ केवल काव्य ही है। अतः गद्य का अभाव होना स्वाभाविक ही है।

खड़ीबोली गद्य—आरम्भ से ही खडीबोली एक ऐसी भापा रही है, जो देश

के सभी वर्गो की आवश्यकता पूरी कर सकती थी। हमे इसका साहित्यिक रूप सर्वप्रथम अमीर खुसरो के साहित्य मे मिलता है। इनकी मुकरियाँ और पहेलियाँ तो खडीवोली मे रची गई। कहा जाता है कि इन्होने एक गद्य-ग्रंथ की रचना भी की थी, जो आज उपलब्ध नही है। खडीवोली के गद्य की परम्परा का आरंभ सर्वप्रथम हमे अकवर के दरवारी कवि गग की रचना 'चन्द छन्द वरनन की महिमा' से मिलने लगता है। यह ग्रन्थ सन् १५७० मे रचा गया था। इसकी भाषा दरवारी प्रभाव के कारण काफी शिष्ट एव परिष्कृत है। इसका एक उदाहरण देखें —

"इतना सुनके पातसाहिजी श्री अकवर साहिजी आध सेर सोना नरहदास चारन को दिया। इनके डेढ सेर सोना हो गया। राम वचना पूरन भया। आम-खास वरखास हुआ।"

सन् १८२३ में जटमल की प्रसिद्ध रचना 'गोरा-वादल की कथा' का गद्य मे अनुवाद किया गया। यह अनुवाद सामान्यत परिमार्जित है। सन् १७४१ मे पटियाला दरवार मे कथावाचक रामप्रसाद निरजनी ने 'भाषा योग वाशिष्ठ' नामक रचना की। इसकी भाषा काफी परिष्कृत है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसीके आधार पर इस रचना को खडीवोली की प्रथम प्रौढ गद्य रचना माना है। इसका उदाहरण प्रस्तुत है —

"मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनो है, समझाव के कहो। इतना सुन अगस्त मुनि वोले कि हे ब्राह्मण! केवल कर्म से मोक्ष नही होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनो से प्राप्त होता है। कर्म से अन्त करण शुद्ध होता है, मोक्ष नही होता और अन्त करण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नही होती।"

यहाँ हिन्दी गद्य मे काफी निखार देखा जा सकता है। सन् १७६१ मे मध्य-प्रदेश-निवासी पण्डित दौलतराम ने 'जैन पद्म पुराण' का हिन्दी गद्य मे अनुवाद प्रस्तुत किया, किन्तु इनकी भाषा पर सर्वत्र आचलिकता का प्रभाव है। इसके वाद सन् १७८३ के आस-पास किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक ने 'मण्डोवर का वर्णन' नामक गद्य ग्रंथ रचा। इस पर राजस्थानी, उर्दू और फारसी भाषाओ

का पर्याप्त प्रभाव है। इस प्रकार स्पष्ट है कि १६ वी शती से ही हिन्दी गद्य की रचना आरम्भ हो गई थी। किन्तु इसके विकास का तादातम्य निश्चय ही कही नही मिलता। निरजनी को छोडकर गद्य रूप मे परिष्कार भी कही नही है। फिर भी यह सत्य नही है कि अग्रेजो के आगमन के बाद ही हिन्दी-गद्य के स्वरूप का विनिर्माण एव विकास हुआ। आगे चलकर सन् १८५७ से कुछ पूर्व और बाद मे देश की विविध स्थितियो मे जो अनेकरूपता और परिवर्तन आए, इन सबने गद्य के विकास एव क्रमबद्ध विकास मे योगदान अवश्य प्रदान किया। अग्रेजो की शिक्षा-नीति, ईसाई मिशनो के प्रचार-कार्य, प्रेस आदि की स्थापना, समाचारपत्रो का प्रकाशन, ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो के द्वार उन्मुक्त होना, पाश्चात्य साहित्य का सम्पर्क आदि कुछ ऐसी बातें हैं, जिनके प्रभावो एव नव्य उपलब्धियो की अभिव्यक्ति के लिए जनता द्वारा प्रयुक्त भाषायी-अभिव्यक्ति-माध्यम ही उचित होता है। अत क्रमश· काव्य या पद्य का स्थान गद्य ग्रहण करता गया। भारत पर शासन करने वाले अग्रेजो एव उनके धर्मादि के प्रचारको ने भी यह बात अच्छी प्रकार समझ ली थी और भारतीय साहित्यकारो ने भी कि जन-सामान्य तक अपनी बात पहुँचाने का सरलतम माध्यम गद्य ही हो सकता है, अत साहित्य के क्षेत्र मे गद्यात्मक प्रवृत्तियाँ स्वत ही विकसित होती गई।

हिन्दी-गद्य के विकास का अगला दौर फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से आरम्भ होता है। सन् १८०० मे अग्रेजो ने अपने भाषा-सस्कृति के प्रचार तथा प्रशासनिक कार्यो मे क्लर्कों की पूर्ति के लिए कलकत्ता मे फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की थी। अन्य स्थानो पर भी इसके बाद इसी प्रकार के प्रयत्न होने लगे। सर जॉन गिलक्राईस्ट फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यक्ष थे। इन्होने हिन्दी-उर्दू भाषाओ मे गद्य-पुस्तकें लिखवाने का आयोजन किया। इसके लिए कुछ भाषा-मुशी नियुक्त किये गए। इन मुशियो मे हिन्दी-गद्य मे पुस्तकें लिखने वालो मे मुशी लल्लूलाल और सदलमिश्र के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी समय सदासुखलाल और इशा अल्ला खाँ ने भी स्वतत्र रूप से कुछ गद्य रचनाएँ की। ये चारो व्यक्ति भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी गद्य के इतिहास मे 'लेखक चतुष्टय' के नाम से प्रसिद्ध है।

लल्लूलाल (१७६३-१८२४ ई०)—पूर्णत सानुप्रासिक नाम वाले ये आगरा निवासी गुजराती ब्राह्मण थे। इन्हे भाषा मे कविता करने के साथ-साथ उर्दू की भी यथेष्ट जानकारी थी। इन्होने सर जॉन गिलक्राईस्ट की प्रेरणा से अनेक ब्रजभाषा-ग्रन्थो के हिन्दी-उर्दू अनुवाद प्रस्तुत किये थे। इनका श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का 'प्रेमसागर' नाम से किया गया अनुवाद विशेष प्रसिद्ध है और आज भी चाव से पढा जाता है। इनकी अभिव्यक्ति शैली कथावाचको के समान है और भाषा पर ब्रज का भी यथेष्ट प्रभाव है। इनकी भाषा मे काफी जटिलता एव ऊबाहट है। इसी कारण किसी अग्रेज ने इनके 'प्रेम सागर' की भाषा को 'थका देने वाली' कहा था। उसका कथन है—"ऐसी थका देने वाली भाषा उसने कही नही देखी। इस ग्रन्थ मे उनकी भाषा अनियन्त्रित तथा अव्यवस्थित है। तत्सम शब्दो का अधिक प्रयोग है। वाक्य-विन्यास मे भी क्रमबद्धता नही।" इनकी भाषा के सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल ने कहा था—"साराश यह है कि लल्लूलाल जी का काव्याभ्यास गद्य भक्तो की कथा-वार्ता के काम का ही अधिकतर है, न नित्य व्यहार के अनुकूल है, न सम्बद्ध विचारधारा के अनुकूल।"

इनका 'सस्कृत प्रेस' नाम से निजी प्रेस था। यही से इन्होने अपने ब्रजभाषा के पद्य-सग्रह 'सभाविलास' तथा 'माधव विलास' प्रकाशित किये थे। ब्रजभाषा की अनेक कथा-वार्ताओ के इन्होने उर्दू अनुवाद भी प्रस्तुत किए थे। सिहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, माधोनल और शकुन्तला नाटक इसी प्रकार की अनूदित रचनाएँ हैं। इनमे हिन्दी-उर्दू की अपेक्षा हिन्दोस्तानीपन अधिक है। इन्होने 'बिहारी सतसई' की 'लालचन्द्रिका' नाम से टीका भी लिखी थी। कुल मिलाकर इनका गद्य कोई आदर्श नही माना जाता।

सदलमिश्र (१७६८-१८४७ ई०)—ये बिहार प्रान्त के आरट नामक स्थान के निवासी और फोर्ट विलियम कॉलेज मे नियमित मुशी थे। सस्कृत के भी विद्वान् थे। इनकी खडीबोली गद्य मे लिखित रचना का नाम 'नासिकेतोपाख्यान' है। इनकी भाषा पर पूर्वी बोली का स्पष्ट प्रभाव है। फिर भी इनकी भाषा लल्लूलाल की भाषा की तुलना मे अधिक साफ एव स्पष्ट है। इसी कारण अनेक विद्वान् आधुनिक खडीबोली के गद्य का पूर्वाभास इनकी रचना मे पाते हैं।

इनकी भाषा का उदाहरण देखे :—

"जो नर चोरी आदि नाना भाँति के कुकर्म मे आप तो दिन-रात लगे रहते है, तिस पर औरो को दूखते हैं वो एक अक्षर भी जिससे पढते है विसे गुरु के बराबर नही मानते है, सो तब तक महानरक को देखते हैं जब तक यह ससार बना रहता है।"

स्पष्ट है कि इनकी भाषा मे कोई विशेष उलझाव या भोंडापन नही है। इनका कहने का ढग ठीक पूर्वीपन से सयत है।

सदासुखलाल (१७४६-१८२४ ई०)—इनका उपनाम 'नियाज़' था। यह उर्दू, फारसी और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। कम्पनी (ईस्ट इण्डिया कम्पनी) मे भाषा-मुशी तो नही, पर एक अच्छे पद पर नौकर थे। इनकी उर्दू मे अनेक रचनाएँ मिलती है। इन्होने 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक' तथा 'रामायण' का उर्दू-पद्य मे सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया था। इनकी हिन्दी-गद्य मे 'सुखसागर' प्रमुख रचना है और भक्तो द्वारा यह आज भी बडे चाव से पढी जाती है। वास्तव मे यह भागवत का स्वतत्र अनुवाद है। कही-कही पण्डिताऊपन का प्रभाव होते हुए भी इनकी भाषा काफी शुद्ध एव परिमार्जित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनकी भाषा को हिन्दी गद्य का आदर्श मानते हुए कहते हैं—"अपने समय मे उन्होने हिन्दुओ के बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारो ओर पूर्वी प्रान्तो मे भी प्रचलित पाई उसी मे रचना की। स्थान-स्थान पर शुद्ध तत्सम सस्कृत शब्दों का प्रयोग करके इन्होने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया।" इनकी भाषा का उदाहरण देखे —

"कोई बुरा माने कि भला माने, विद्या इस हेतु पढते हैं कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप मे लय हूजिए। इस हेतु नही पढते हैं कि चतुराई की बाते कहके लोगो को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन-द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, जो कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए।"

६५ वर्ष की अवस्था मे कम्पनी की नौकरी छोडकर यह प्रयाग जाकर निवास करने लगे थे।

इशा अल्ला खाँ (१७६४-१८१८ ई०)—ये दिल्ली-दरवार के हकीम माशा अल्ला खाँ के सुपुत्र थे। ये उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे। अरवी, फारसी और उर्दू के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी इन्होने एक तरह से प्रणवद्ध होकर ठेठ हिन्दी में 'रानी केतकी की कहानी' रची थी। अनेक विद्वान् इसीको हिन्दी गद्य की पहली मौलिक रचना मानते हैं। मौलिकता की दृष्टि से यह मान्यता उचित भी है; क्योकि इससे पूर्व तो अधिकाशत अनुवाद ही प्रस्तुत होते रहे थे। यद्यपि लेखक ने अन्य किसी भाषा की 'पुट' न आने देने का प्रण किया था, फिर भी उर्दू से इनकी भाषा-शैली दोनो ही काफी प्रभावित हैं। फारसीयत का भी पर्याप्त प्रभाव है। भाषा मुहावरेदार, सरल, चुस्त, चटकीली और प्रभावी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'लेखक चतुष्टय' ने अपने अनवरत प्रयत्नो से गद्य का एक स्वरूप अवश्य विनिर्मित कर दिया था। इसके वाद काफी दिनो तक गद्य साहित्य प्राय उपेक्षित रहा। वैसे इसके बाद अर्थात् सन् १८०३ से लेकर १८५७ तक आन्दोलन-प्रचार तो अनेक हुए, किन्तु गद्य-निर्माण मे या विकास मे इनका कुछ उपयोग नही माना जा सकता। हाँ, पूर्व विनिर्मित रूपो से लाभ उठाने के प्रयत्न अवश्य सराहनीय कहे जा सकते हैं।

ईसाई मिशन—यह सभी स्वीकार करते हैं कि हिन्दी-गद्य के अब तक विनिर्मित रूप से सर्वाधिक लाभ ईसाई मिशनरियो ने उठाया। इन्होने अपने धर्म-प्रचार के लिए हिन्दी गद्य मे अनेक प्रकार की पुस्तकें, पैम्फलेट आदि प्रकाशित करके जनता में बँटवाए। वास्तव मे इनका उद्देश्य हिन्दी का प्रचार नही, अपितु ईसाई धर्म का प्रचार करना था और हिन्दी देश की सर्वाधिक व्यापक भाषा थी, इसी कारण इन्होने इसे अपना माध्यम वनाया था। अत कुछ लोगो की यह धारणा नितान्त भ्रममूलक है कि हिन्दी गद्य के विकास मे भी इनका कुछ योगदान है।

इन पादरियो ने सीरामपुर मे अपना प्रमुख केन्द्र स्थापित कर रखा था। विलियम केरे, वॉर्ड और मार्शमैन प्रभृति पादरी इनमे प्रमुख थे। इन्होने सीराम-पुर मे प्रेस की स्थापना भी की थी। यहाँ से ही इन्होने अनेक प्रकार की प्रचार-सामग्री प्रकाशित करके मुफ्त वितरित की। कुछ ईसाइयत के प्रभाव से समन्वित

शिक्षा-पुस्तकें भी प्रकाशित की थी। इन्ही लोगो ने आगरा मे 'स्कूल बुक सोसाइटी' भी स्थापित की थी। इनके द्वारा मिर्जापुर मे एक 'आरफेन प्रेस' स्थापित किया गया था। इन सबके द्वारा प्रकाशित पुस्तको मे उल्लेखनीय हैं—मॉर्शमैन के 'प्राचीन इतिहास' के 'कथासार' नाम से अनुवाद, भूगोल, मनोरजक वृत्तान्त, भू-चरित्र दर्पण, जन्तु प्रवन्ध तथा अन्य अनेक। सभी प्रकार के प्रकाशित साहित्य मे इनका दृष्टिकोण अपने-आपको और अपनी सस्कृति को श्रेष्ठ प्रमाणित करना ही था। ऐतिहासिक दृष्टि मे इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि अपनी सरलता एव सीधेपन के कारण ईसाइयो द्वारा प्रचारित गद्य, गद्य के स्वरूप को निखारने मे अवश्य सहायक हुआ। इन्होने नागरी लिपि मे टाईप आदि की सुन्दर व्यवस्था भी की। दूसरे इन्होने ही हमारी प्रवृत्ति अपने साहित्य-सस्कृति की ओर भी जाग्रत की। तात्पर्य यह है कि ईसाइयो के अपने धर्म प्रचार की प्रवृत्ति ने हिन्दी को अनेक दृष्टियो से परोक्ष लाभ अवश्य पहुँचाया।

ईसाई मिशनो के प्रति प्रतिक्रिया—ईसाई मिशनो ने यहाँ जो कार्य किए, उसकी प्रतिक्रिया यहाँ दो रूपो मे हुई। एक तो अनेक भारतीय इनसे प्रभावित होकर इन्हीकी सभ्यता-सस्कृति के अग वन गये, दूसरे अपनी सभ्यता-सस्कृति, भाषा, साहित्य, इतिहास आदि की रक्षा का भाव भी देश मे वडी तीव्रता के साथ जाग उठा। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज आदि सस्थाओ ने इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन्होने सरकारी भाषा तथा धर्म-सम्वन्धी नीतियो के विरुद्ध अपने प्रखर स्वर मुखरित किये। ब्रह्मसमाज जैसी वगाली मूल की सस्था के प्रर्वत्तक राजा राममोहनराय ने सन् १८१५ मे अपने वेदान्त-सूत्रों के भाष्य हिन्दी गद्य मे प्रकाशित करवाये। 'वगदूत' नामक हिन्दी-पत्र का प्रकाशन भी आरम्भ किया। हिन्दी का प्रथम सम्वाद-पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' भी १८२६ ई० मे कलकत्ता मे प्रकाशित होना आरम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त और भी कई पत्र उपरोक्त भावनाओ से अनुप्राणित होकर प्रकाशित हुए। फलस्वरूप चारो ओर स्वत्व-रक्षा के लिए एक स्पष्ट सन्नद्धता के दर्शन होने लगे।

सरकारी भाषा-नीति—लार्ड मैकाले की शिक्षा-नीति एव पद्धति को अपनाकर सारे भारत मे अग्रेजी शिक्षा को प्राय अनिवार्य कर दिया गया। सरकारी

स्कूलो मे भी हिन्दी विपय की उपेक्षा की जाने लगी, उधर अदालती भापा के रूप मे तो मुगलो के काल से ही फारसी का महत्त्व स्थापित था। इन दोनो बातो को लेकर अपनी भापा हिन्दी के अस्तित्व की रक्षा के लिए हिन्दी भापियो एवं प्रेमियो को काफी सघर्ष करना पडा। फलस्वरूप सन् १८३६ मे अदालती कामो के लिए फारसी अक्षरो मे लिखी जाने वाली हिन्दी के प्रयोग की आज्ञा तो अग्रेजो की ओर से मिल गई, किन्तु मुस्लिम विरोध के कारण यह व्यवस्था कार्यान्वित न हो सकी। सरकारी तौर पर अन्त मे उर्दू भापा को ही अदालतो का माध्यम घोपित किया गया। अग्रेजो ने एक निश्चित एव मुसलमानो से प्रभावित नीति के कारण हिन्दी को अविकसित एव अपूर्ण भापा घोपित कर दिया। सभी जगह उर्दू का ही वोलवाला होने लगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन स्थितियो का उल्लेख करते हुए लिखा है —

"उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्म हुआ और जन्म के साथ ही साथ सरकार की ओर से उसकी उपेक्षा शुरू हुई। सरकारी उपेक्षा ने वीच-वीच मे विरोध का रूप भी ग्रहण किया। किन्तु हिन्दी जनता की भापा थी, उसके विना सरकार का काम नही चल सकता था। उसे वरावर जनता का सहारा मिलता रहा। हिन्दी मे समाचार-पत्र जनता के प्रतिनिधियो ने निकाले। पाठ्य-पुस्तकें भी सरकार की ओर से नही प्रकाशित हुई। अदालतो मे हिन्दी को स्थान नही मिला। शिक्षा का माध्यम भी नही हिन्दी नही वना। सरकार की ओर से कभी-कभी यह अनुभव तो अवश्य किया गया कि हिन्दी भापा और देवनागरी लिपि को उचित स्थान मिलना चाहिए, परन्तु साहस और सौमनस्य के साथ वह कभी हिन्दी के उचित दावे को मानने को प्रस्तुत नही हुई। हिन्दी का विकास उसकी अपनी भीतरी शक्ति के वल पर ही हुआ है।"

स्पष्ट है कि आरम्भ मे जहाँ अग्रेजो की सरकार की शह से ही ईसाई मिशनरियो ने हिन्दी गद्य को अपने धर्म प्रचार का साधन वनाया था, वाद मे घोर सम्प्रदायवादी मुस्लिमो के प्रभाव मे आकर उसी हिन्दी के ये विरोधी वन गये। विभिन्न लोह-शक्तियो का सम्वल भी उसे प्राप्त होता रहा। अत हिन्दी मरी नही। अपनी तेजस्विता मे वह जन-मानस का सम्वल पाकर स्वत विविध रूपो मे

विकसित होती गई।

आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द—मुसलमानो की साम्प्रदायिक हठधर्मी और उनसे प्रभावित अग्रेज सरकार की हिन्दी-विरोधी नीतियो की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इस प्रतिक्रिया का क्रियात्मक स्वरूप आर्यसमाज और इसके सस्थापक स्वामी दयानन्द की रीति-नीतियो द्वारा प्रत्यक्ष हुआ। स्वामी दयानन्द ने हिन्दी को आर्यभापा घोपित कर समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए इसे पढना-लिखना एक धार्मिक नियम-सा बना दिया। सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए और आरम्भ मे उसीको अभिव्यक्ति का माध्यम बना लेने पर भी बाद मे स्वामी दयानन्द ने भापण एव लेखन दोनो मे हिन्दी माध्यम को ही प्रश्रय दिया। इन्होने अपने प्रसिद्ध सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना भी शुद्ध हिन्दी मे की। इसके अतिरिक्त अपने वेद-विरुद्ध मतखण्डन, वेदो के भाष्य, अनुभ्रमोच्छेदन, वेदान्त ध्वान्त-निवारण सस्कार-विधि जैसे ग्रन्थो की रचना भी परिमार्जित एव प्रौढ हिन्दी मे की। निश्चय ही हिन्दी गद्य के विनिर्माण एव विकास मे इन रचनाओ का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

ब्रह्म समाज और राजा राममोहन राय—आर्यसमाज के समान ब्रह्म समाज एव इसके सस्थापक राजा राममोहन राय और अन्य नेताओ ने भी सरकारी नीतियो के विरुद्ध हिन्दी भापा को प्रश्रय दिया। समाज के प्रचार की समस्त सामग्री हिन्दी मे ही प्रकाशित करनी आरम्भ की। 'बगदूत' नामक पत्र भी प्रकाशित किया गया। अपनी रचनाओ के हिन्दी रूपान्तर भी प्रस्तुत किए। इन सब कार्यो से निश्चय ही हिन्दी गद्य के विकास एवं निर्माण को पर्याप्त महत्त्व मिला।

प्रेस तथा पत्र-पत्रिकाएँ—ईसाई मिशनो के प्रयासो से भारत मे प्रेस की स्थापना तो हो ही चुकी थी, इसका लाभ उठाकर हिन्दी मे अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी, जिनमे 'उदन्त मार्तण्ड', 'बगवासी', 'प्रजामित्र', बगदूत' आदि के नाम विशेप उल्लेखनीय है। इन सभीने गद्य को विशेप महत्त्व दिया। फलत इसका स्वरूप क्रमश निखरता गया।

इन सब प्रयत्नो के साथ-साथ व्यक्ति-स्तर पर भी अनेक प्रयत्न चलते रहे। ऐसेप्रयासको मे उल्लेखनीय ये हैं :—

नवीनचन्द्र राय—राय पजाव के निवासी थे। यह ब्रह्म समाज के सिद्धान्तो एव विचारो के पोपक थे। हिन्दी के विरुद्ध होने वाले पड्यन्त्रो को निहारकर इन्होने उनका विरोध करने के लिए विशेप प्रयत्न किए। इन्होने अपने समाज एव हिन्दी के प्रचार के लिए अनेक प्रान्तो का दौरा किया। 'ज्ञान-प्रदायिनी' नामक पत्रिका भी प्रकाशित की। इसमे ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा, धर्म एव समाज-सुधार सम्बन्धी गद्यात्मक रचनाएँ अधिक प्रकाशित होती थी। इन्होने 'विधवा-विवाह' नामक एक पुस्तक भी इस प्रकार के विवाहो का समर्थन करने के लिए लिखी थी। यह उर्दू के कट्टर विरोधी थे। लाहौर की एक सस्था 'अजुमन लाहौर' की बैठक मे उर्दू के समर्थक सैयद हादी हुसैन खाँ के भाषण का उत्तर देते हुए इन्होने स्पष्ट कहा था —

"उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियो को कोई लाभ नही होगा, क्योकि वह भापा खास मुसलमानो की है। उसमे मुसलमानो ने व्यर्थ वहुत से अरवी-फारसी के शब्द भर दिए हैं। पद्य या छन्दोवद्ध रचना के लिए भी उर्दू उपयुक्त नही। हिन्दुओ का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी परम्परागत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दु मे आशिकी के अतिरिक्त किसी गम्भीर विपय को व्यक्त करने की शक्ति नही है।" कहा जाता है कि इनके वक्तव्य ने अनेक कट्टरपन्थियो को इनका शत्रु वना दिया था और इन्हें कट्टर हिन्दू कहना आरम्भ कर दिया था।

श्रद्धाराम फिल्लौरी—हिन्दी भापा एव गद्य के विकास मे पजाव-निवासी लाला श्रद्धाराम फिल्लौरी का महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकार किया जाता है। यह सस्कृत-हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् और धार्मिक प्रवृत्ति के समाज-सुधारक थे। इन्होने अपने जीवन काल मे ईसाईयत और उर्दू का डटकर विरोध तथा मुकावला किया था। इनका प्रौढ एव सुसस्कृत गद्य के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण हाथ माना जाता है। यह एक समर्थ एव प्रभावी वक्ता भी थे। इन्होंने ईसाईयत का विरोध करने के लिए अनेक सस्थाएँ भी प्रतिष्ठापित की थी।

इनकी प्रौढतम और प्रसिद्ध रचना 'सत्यामृत प्रवाह' मानी जाती है। कुछ लोग इनकी 'भाग्यवती' नामक रचना को हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास भी मानते है। इनकी अन्य प्रौढतम रचनाएँ हैं—तत्त्वदीपक, उपदेश-सग्रह, आत्म-

चिकित्सा, धर्म रक्षा, शतोपदेश। यह भी मान्यता है कि इन्होने अपनी वृहद् जीवनी भी लिखी थी, किन्तु वह उपलब्ध नही है। अब यह बात भी प्रकाश मे आई है कि सारे देश मे बडे चाव और सम्मान से गाई जाने वाली आरती 'ओ जय जगदीश हरे…' भी इन्हीके द्वारा रची गई थी। इनकी भापा तत्समममयी, प्रौढ एव स्पष्ट है। निश्चय ही इसने गद्य को काफी पुष्ट किया।

राजा-द्वय—भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी गद्य-साहित्य के विकास मे राजा-द्वय का भी महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकारा जाता है। भापा-विपयक जो विवाद चला था, उसके सुलटने मे भी इनका काफी महत्त्व है। इनमे से एक राजा तो पहले सस्कृत-मिश्रित हिन्दी के पक्षपाती होते हुए भी वाद मे हिन्दी विरोधी वन गए, जवकि दूसरे राजा ने डटकर हिन्दी-पक्ष का समर्थन किया। इनका परिचय निम्नलिखित है —

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' (सन् १८२३-१८९५)—आरम्भ मे राजा शिवप्रसाद सस्कृत-मिश्रित हिन्दी के ही समर्थक थे, किन्तु एक तो अग्रेजो के कृपापात्र तथा दूसरे शिक्षा-विभाग मे नियुक्त हो जाने के कारण वाद मे इनकी भापा-नीति मे परिवर्तन आ गया। यह 'हिन्दी मे से गँवारूपन निकालकर उसे फैशनेवल वनाने' की रट लगाने लगे। फिर भी हिन्दी साहित्य इस दृष्टि से इनका हसान कभी नही भूल सकता कि शिक्षा विभाग मे आने के वाद इन्होने स्कूलो के ाए हिन्दी पाठ्यक्रम तैयार कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन्हीके प्रयत्नो अग्रेजो ने हिन्दी को स्कूलो के पाठ्क्रम मे स्थान भी प्रदान किया। वास्तव मे ोने युगीन परिस्थितियो के अनुकूल समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाकर हिन्दी सरकारी तौर पर अपमानित होने से वचाया।

राजा भोज का सपना, आलसियो का कीडा, भूगोल हस्तामलक, मानव धर्म गुटका, इतिहास तिमिरनाशक, योग-वाशिष्ठ, हिन्दुस्तान के पुराने राजाओ ाल, उपनिपद्-सार आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ है। इन्होने सन् १८४५ मे ान्दु' नामक एक पत्र भी प्रकाशित किया था। इसकी लिपि तो देवनागरी ही ान्तु इसमे भापा-नीति के अनुसार प्राय उर्दू शब्दो की भरमार रहा करती न्होने विशुद्ध हिन्दी को रक्षार्थ सन् १८५० मे वावू तारामोहन मिश्र

के सहयोग से 'सुधाकर' नामक एक अन्य पत्र भी प्रकाशित किया था। इन्होने स्कूली पाठ्यक्रम तैयार करवाने के लिए प० वशीधर, वद्रीलाल और श्री लाल जैसे कई व्यक्तियो का सहयोग लिया था। इस प्रकार इन्होने वडी सतर्कता से भापा के उस सकट-काल मे हिन्दी भापा एव गद्य को अनेक प्रकार से सम्बल प्रदान किया।

राजा लक्ष्मणप्रसाद सिह (सन् १८२६-१८६६)—इनका नाम विशुद्ध हिन्दी के कट्टर समर्थको मे लिया जाता है। राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी को 'फैशनेवुल' वनाने की जो बात कही थी, इन्होने उसका डटकर विरोध किया। अपने कार्यों से यह स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया कि हिन्दी भापा सव प्रकार के विचारो को रूपायित कर पाने मे पूर्ण रूप से सक्षम है। ये उर्दू के शब्दो को निकालकर सस्कृत तत्सम शब्दो के प्रयोग के प्रबल समर्थक थे, अत इनका प्रयास इसी प्रकार के हिन्दी-गद्य के निर्माण की ओर विशेप रहा। इन्होने 'रघुवश' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करते समय उसकी भूमिका मे स्पष्ट लिखा —

"हमारे मत मे हिन्दी और उर्दू दो वोली न्यारी-न्यारी हैं—हिन्दी मे सस्कृत के पद वहुत आते हैं और उर्दू मे अरवी-फारसी के। किन्तु कुछ आवश्यक नहीं कि अरवी, फारसी शब्दो के विना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं, जिसमे अरवी-फारसी के शब्द भरे है।"

इन्होने अपनी भापा-नीति को उचित वढावा देने के लिए आगरा से 'प्रजा हितैपी' नामक पत्र भी प्रकाशित किया। यह भी प्रसिद्ध है कि इन्होने सदासुखलाल के भापायी आदर्श को सदा अपने सामने रखा। इनकी भापा-शैली के सम्वन्ध में डॉ० जगन्नाथ कहते हैं—"जितना पुष्ट और व्यवस्थित गद्य इनकी रचनाओ मे मिला उतना किसी भी पूर्व के लेखक की रचना मे उपलब्ध नही हुआ था। गद्य के इतिहास मे इतना स्वाभाविक विशुद्धता का प्रयोग उस समय तक किसी ने नही किया था यदि राजा साहव विशुद्धता लाने के लिए बद्ध परिकर होने में कुछ भी आगा-पीछा करते तो भापा का आज कुछ और ही रूप होता।"

राजा साहव ने कालिदास के 'मेघदूत', 'रघुवश' और 'शकुन्तला' नाटक के अनुवाद भी प्रस्तुत किये। इनमे 'शकुन्तला' का अनुवाद सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

हिन्दी के कट्टर समर्थक होते हुए भी इनकी भाषा पर ब्रज एव तद्भव शब्दो का प्रभाव अवश्य पडा है।

स्पष्टत 'राजा-द्वय' के सक्रिय सघर्ष ने अन्ततोगत्वा सभी प्रकार से हिन्दी भाषा और उसके गद्य को सजाया-सँवारा ही। इनके सघर्ष से अहित किसी भी प्रकार से नही हुआ।

इन प्रमुख व्यक्तियो एव सस्थाओ आदि के अतिरिक्त भी पूर्व-भारतेन्दु-युग मे हिन्दी भाषा एव गद्य के विकास मे अनेक व्यक्तियो ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। पण्डित सुखदयाल शास्त्री ने नवीनचन्द्र राय की भाषा-शैली से प्रभावित होकर 'न्याय-प्रबोधिनी' नामक ग्रन्थ प्रौढ गद्य मे लिखा। शिवसिह ने 'शिवसिह सरोज' लिखकर हिन्दी साहित्य के इतिहास-निर्माण की प्रक्रिया को सर्वप्रथम प्रश्रय दिया। इनके अतिरिक्त इस दिशा मे प० वशीधर, रामप्रसाद त्रिपाठी, बिहारीलाल चौबे, पण्डित बद्रीलाल, मथुराप्रसाद, श्रीलाल, ठाकुर ब्रजवासीदास आदि के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि १९वी शती से आरम्भ होकर अनेक प्रकार के अवरोधो के रहते हुए भी हिन्दी भाषा एव गद्य का विनिर्माण किसी न किसी रूप मे होता रहा। पर यह भी सत्य है कि इसमे कोई क्रमबद्धता नही है। इसमे विधात्मक गद्य का विकास भी कही परिलक्षित नही होता। बस एकमात्र गद्य ही रचा गया। इसके पीछे प्रचार एव उपदेश-सुधार की भावना ही स्पष्ट रूप से विद्यमान थी। अत साहित्यिक दृष्टियो से उन सबका इतना महत्त्व नही। तात्त्विक एव विधात्मक गद्य-साहित्य का प्रवर्तन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रयत्नो से भारतेन्दु-युग मे ही हो सका। अत हिन्दी गद्य का क्रमबद्ध विकास एव इतिहास भी हमे यही मे उपलब्ध है। भाषायी आदर्श एव गद्य-साहित्य की विविध विधाओ का आरम्भ भी भारतेन्दु-युग मे ही हुआ। अत गद्य-साहित्य का विधिवत् प्रवर्तन यही से माना जाना चाहिए।

अपनी उपरोक्त मान्यताओ के आधार पर ही आगे गद्य-साहित्य के विधात्मक विकास एव उस विकास मे योगदान करने वालो का इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है। यह प्रस्तुतीकरण समग्रता की दृष्टि से ही किया गया है।

गद्य साहित्य विधात्मक विकास

रूप वैविध्य—आधुनिक हिन्दी गद्य का विधिवत् प्रवर्तन भारतेन्दु-युग मे स्वय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा ही हुआ था। पूर्व-भारतेन्दु युग मे जो थोडा-मा गद्य साहित्य उपलब्ध था, वह कथा-वार्ताओ तक ही सीमित था। गद्य-माहित्य की अन्य आधुनिक विधाओ—कहानी, उपन्यास, निवन्ध आदि से तव कोई परिचित नही था। नाटक साहित्य के क्षेत्र मे भी लगभग ऐसी ही स्थिति थी। जैसे-जैसे हिन्दी के लेखक और कवि वगला, मराठी आदि भारतीय भापाओ तथा अग्रेज़ी आदि पाश्चात्य भापाओ के सम्पर्क मे आये, तो गद्य-साहित्य के क्षेत्र मे विभिन्न विधाओ अथवा रूपो ने जन्म लिया। इनमे नाटको की परम्परा तो भारत में प्राचीनतम काल से प्रचलित थी, किन्तु उपन्यास कहानी, निवन्ध या आधुनिक अर्थो में आलोचना आदि की प्रवृत्ति यहाँ नही मिलती। इन विधाओ का प्रवर्त्तन भारतेन्दु युग मे ही हुआ। इन समस्त दिशाओ की ओर पहला कदम भी स्वय भारतेन्दु जी ने ही उठाया। इसके बाद सभी गद्य विधाओ का क्रमश. विकास होता गया। आज हिन्दी गद्य का विधात्मक साहित्य विकास की चरम सीमाओ को छू रहा है, जहाँ वह किसी भी समृद्ध भापा की समकक्षता मे स्थिर भाव से ठहर सकता है। यहाँ भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक के गद्य-साहित्य के विकास का मूल्याकन समग्र रूप मे किया जा रहा है।

नाटक उद्भव एव विकास

भारतीय भापाओ, विशेषत सस्कृत भाषा में नाटक साहित्य की अत्यन्त समृद्ध परम्परा विद्यमान है। किन्तु हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल के आरम्भ भारतेन्दु-युग से पूर्व तक नाटक-परम्परा का प्राय अभाव ही रहा है। डॉ० दशरथ ओझा १३वीं शती से हिन्दी नाटको का आरम्भ मानते हैं। इन्होने सम्वत् १२८६ में रचे गए 'गाय सुकुमार रास' को हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। किन्तु अधिकाश विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार नही करते, क्योकि इस रचना में परम्परागत एव आधुनिक दोनो प्रकार के नाटकीय तत्त्वो का अभाव है। इसमें अभिनियेता

नाम की तो कोई चीज है ही नही। इसके वाद डॉ० दशरथ ओझा ने रामलोला राम लीला-विषयक अनेक नाटको की चर्चा की है। मैथिली भाषा के नाटको का भी उल्लेख किया है। मैथिली नाटको को हिन्दी भाषा के आरम्भिक नाटक मानने का कुछ अन्य विद्वानो ने भी समर्थन किया है। मैथिली भाषा के प्रभाव को नेपाली, उडिया एव असमी नाटको में भी देखा जा सकता है। रासलीला सम्बन्धी नाटक व्रज-प्रदेश में विकसित हुए। इनमें नृत्य-गीत आदि तो हैं, किन्तु नाटकीय तत्त्वो का प्राय अभाव है। इसके वाद १७वी तथा १८वी शती मे लिखे गए कुछ नाटक प्राप्त होते हैं। इनकी रचना प्रमुखत. पद्यो में ही हुई। इनमें से प्रमुख हैं—रामायण महानाटक, हनुमन्नाटक, समय सार और प्रवोध चन्द्रोद्रय। यह परम्परा आगे १९वी शती मे भी उपलब्ध होती है। इनमे से 'प्रवोध चन्द्रोदय' को छोडकर शेष मे पद्यबद्धता है और नाटकीय तत्त्वो का अभाव है। इन नाटको को छोडकर सत्रहवी तथा अठारहवी शतियो मे मिलने वाले अन्य नाटकों के नाम हैं—चण्डी चरित्र, शकुन्तला और करुणाभरण। इसी परम्परा मे १९वी शताब्दी मे प्राप्त होने वाले नाटक हैं—माधव-विनोद नाटक, जानकी रामचरित नाटक, रामलीला विहार नाटक, प्रद्युम्न विजय, आनन्द रघुनन्दन आदि। इनमे से किसीमे भी रगमच की सम्भावनाओ का ध्यान नही रखा गया है। दूसरे ये नाटक अन्य नाटकीय तत्त्वो की कसौटी पर भी खरे नही उतरते।

इन नाटको के वाद नाटकीय नियमो का कुछ-कुछ पालन करते हुए भारतेन्दु जी के पिता वावू गोपालदास, उपनाम 'गिरिधर राय' ने 'नहुष' नामक नाटक रचा। कुछ विद्वान् इसीको आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रथम नाटक मानते हैं। किन्तु आज हिन्दी नाटक का विकास जिस सुव्यवस्थित परम्परा मे हो रहा है, उसका पूर्वाभास तक भी इस नाटक मे नही मिलता। अत अक्सर विद्वान् इस मत से पूर्णतया सहमत हैं कि आधुनिक हिन्दी नाटको का उन्मेष भारतेन्दु-युग मे भारतेन्दु हरिचन्द्र के अपने ही नाटको से हुआ। तव से लेकर आज तक नाटको के विकास की जो परम्परा चली है, उसे समझने के लिए प्राय विद्वान् इस विकास को तीन चरणो मे विभाजित करते हैं —

१ भारतेन्दु-युग।
२ प्रसाद-युग।
३ प्रसादोत्तर-युग।

१ **भारतेन्दु-युग**—भारतेन्दु-युग को आधुनिक समस्त विधात्मक साहित्यिक चेतनाओ का युग माना जाता है। भारतेन्दु जी ने नव सास्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय जागरण एव समाज-सुधार की विविध प्रवृत्तियो को लेकर साहित्य के क्षेत्र मे प्रवेश किया था। इन चेतनाओ के प्रसार-प्रचार के लिए नाटक एक सशक्त माध्यम हो सकते हैं, इसी कारण इन्होने इस विधा को विशेष प्रश्रय दिया। आरम्भ मे इनके नाटक सस्कृत-परम्परा का अनुकरण प्रतीत होते हैं, किन्तु धीरे-धीरे इनकी नाट्य कला मे क्रमश विकास आता गया। इन्होने सस्कृत, बगला एव अग्रेजी के नाटको का गहन अध्ययन किया था, उनमे से कइयो के अनुवाद भी किए थे, फलत स्वत ही इनकी चेतना में क्रमश नव्य तत्त्वो का समावेश होता गया। भारतेन्दु जी के नाटककार के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे डॉ० गणपतिचद्र गुप्त का मत विशेष उल्लेखनीय है —

"यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूँढें जिसने नाटक शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के आधार पर नाट्य-कला पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटको का अध्ययन व अनुवाद किया हो, जिसने वैयक्तिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय समस्याओ को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक और मौलिक नाटको की रचना की हो, और जिसने नाटको की रचना ही नही अपितु उन्हे रगमच पर खेलकर भी दिखाया हो—इन सब विशेषताओ से सम्पन्न नाटककार हिन्दी मे ही नही, समस्त विश्व-साहित्य मे केवल दो-चार मिलेंगे और उन सबमे भारतेन्दु का स्थान सबसे ऊँचा है।"

भारतेन्दु जी ने मौलिक, अनूदित एव रूपान्तरित तीन प्रकार के नाटक हिन्दी साहित्य को दिए हैं। इस प्रकार इनके नाटको की सख्या १८ तक पहुँच जाती है। चद्रावली, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अधेरनगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम्, सतीप्रताप और प्रेम जोगिनी इनके मौलिक नाटक हैं। मुद्रा राक्षस, धनजय विजय, विद्यासुन्दर, भारत जननी, कर्पूरमजरी, पाखण्ड

विडम्बना, रत्नावली और दुर्लभ बन्धु इनके अनूदित तथा रूपान्तरित नाटक हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' इनका अर्द्धानुवादित नाटक है। इनमे ऐतिहासिक, पौराणिक एव सामाजिक सभी प्रकार के नाटक हैं। हास्य एव व्यग्य-विनोद का भाव भी सर्वत्र विद्यमान है। इन्होने अक्सर समाज-सुधार, देश-प्रेम, सास्कृतिक गौरव की महत्ता आदि विषयो को अपनाया है। नाटको के सम्वादो मे पद्यो की योजना भी मिलती है। चरित्र-चित्रण, सघर्ष, कार्य-व्यापार की एकता आदि का भी प्राय ध्यान रखा गया है। इनके नाटको का एकमात्र उद्देश्य भारतीय जन-मानस मे नव्य जागृति, राष्ट्रीय चेतना का विकास, देश-प्रेम एव स्वाभिमान का भाव भरना था। इन्होने अपने महान् उद्देश्य का निर्वाह अन्य विधात्मक रूपो के समान नाटक मे भी पूर्ण कुशलता से किया है।

भारतेन्दु-युग के अन्य नाटककारो ने भी इन्ही उद्देश्यो से अनुप्राणित होकर नाटक रचे थे। इन्होने विषयो का चयन भी पुराण, इतिहास एव समाज से ही किया है। इनके समकालीन नाटककारो मे प्रमुख नाम लाला श्रीनिवासदास का है। इन्होने सयोगिता स्वयवर, तृप्ता सवरण, प्रह्लाद चरित्र आदि नाटक लिखे। दूसरे लेखक पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने 'शिक्षा-दान' नामक नाटक रचा था। शालिग्राम ने मोरध्वज, भोजदेव उपाध्याय ने सुलोचना सती, राधाकृष्णदास ने महाराणा प्रताप, प्रतापनारायण मिश्र ने हठी हम्मीर, गोसकट, कलि-कौतुक और बद्रीनारायण चौधरी ने 'भारत सौभाग्य' आदि नाटक रचे थे। राधाकृष्ण दास का 'दुखिनी बाला' भी एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। कुछ अन्य नाटककारो ने भी सामान्य नाटक रचकर इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रश्रय दिया था।

मौलिक नाटको की रचना के साथ-साथ अनुवाद-कार्य भी चलता रहा। बगला, सस्कृत और अग्रेजी भाषा के अनेक प्रसिद्ध नाटको के अनुवाद इस युग मे हुए थे। बगला से द्विजेन्द्रलाल राय एव कवीन्द्र रवीन्द्र के नाटको का विशेष रूप से अनुवाद हुआ। लाला सीताराम ने सस्कृत के अनेक नाटको के अनुवाद प्रस्तुत किये। रामकृष्ण वर्मा बगला नाटको के अनुवाद के लिए प्रख्यात हैं तो श्री तोताराम अग्रेजी नाटको के अनुवादक के रूप मे। इस प्रकार अनुवादो से इतना लाभ तो निश्चित रूप से हुआ कि हम लोग अन्य समृद्ध भाषाओ की नाट्य-कला से

परिचित हो सके। इनका प्रभाव परवर्ती नाट्य-साहित्य पर भी स्पष्टत देखा जा सकता है।

जहाँ तक भारतेन्दु-युग के नाट्य-शिल्प का प्रश्न है, ये परम्परागत सस्कृत नाटको की परम्परा के अधिक निकट हैं। फिर भी इनमें आधुनिकता का शिल्प-वोध कुछ न कुछ अभिव्यक्त होने लगा था। प्रमुख वात तो यह है कि चिरकाल से उपेक्षित इस भारतीय साहित्य-विधा का पुनरारम्भ इस युग मे हुआ। जन-जीवन के भाव-वोध को अभिव्यक्ति प्रदान करने की दृष्टि से इस युग के नाटको को निश्चय ही सफल कहा जा सकता है।

२ प्रसाद-युग—नाट्य-साहित्य के विकास की दृष्टि से भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग का कोई विशेष योगदान नही माना जाता है। द्विवेदी युग सामान्यत सुधारवादी ही अधिक था, अत यहाँ, प्रगतिवादी चेतना से सयत नाटको के विकास की सम्भावना भी नही थी। इस युग मे नाटक के नाम पर पारसी थियेट्रीकल कम्पनियो का ही बोलबाला रहा। अत शृगार चेतना से समन्वित रसिकता-प्रधान नाटक ही इस युग मे रचे गये थे। आगाहश्र काश्मीरी, हरिकृष्ण जौहर, राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद बेताव आदि नाटककार पारसी नाटक कम्पनियो के लिए प्राय निम्नकोटि के नाटक रच रहे थे। राधेश्याम कथावाचक ने अपने नाटको को अश्लीलता से अवश्य वचाये रखा, किन्तु साहित्यिक एव आधुनिक नाटकीय तत्त्व का यहाँ भी अभाव ही है। इनके अतिरिक्त अभिनय तत्त्वो से विरहित कुछ विशुद्ध साहित्यिक नाटक भी द्विवेदी-युग मे अवश्य रचे गये। इनमे से मिश्रबन्धुओ द्वारा विरचित 'नेत्रोन्मलीन' मैथिलीशरण गुप्त-विरचित 'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास', प्रेमचन्द का 'कर्बला', माखनलाल चतुर्वेदी-विरचित 'कृष्णार्जुन युद्ध' आदि नाटको के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बद्रीनाथ भट्ट द्वारा विरचित 'विवाह-विज्ञापन' और 'मिस-अमेरिका' तथा जी० पी० श्रीवास्तव द्वारा रचे गये अनेक प्रहसनात्मक नाटको को भी इस युग मे सराहा गया है। गोविन्द वल्लभ पन्त के 'वरमाला' जैसे कुछ नाटक भी इस युग मे प्रकाश मे आये। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रसाद जी के आगमन तक भारतेन्दु-युग के वाद द्विवेदी-युग मे नाटक तो पर्याप्त

रचे गये, किन्तु नाट्य-शिल्प-विधान आदि की दृष्टि से नाटक के विकास मे उनका किसी भी प्रकार से उल्लेखनीय महत्त्व नही स्वीकार किया जाता। अत इस काल को नाटकीय विकास की दृष्टि से गत्यवरोध का युग ही कहा जायेगा।

भारतेन्दु-युग के शैशवी वातावरण से नाटक साहित्य को निकालकर यौवन की प्रखरता प्रदान करने के कारण श्री जयशकर प्रसाद का इस क्षेत्र मे विशेष महत्त्व है। वास्तव मे प्रसाद जी इस क्षेत्र मे एक युगान्तरकारी प्रतिभा को लेकर आये। इन्होने सभी दृष्टिकोण से नाट्य-विधा को नव्यता एव प्रभुविष्णुता प्रदान की। प्रसाद जी ने अपने नाटको मे जहाँ साहित्यिकता एव काव्यमयता की रक्षा की, वहाँ इनमे मनोरजक तत्त्वो का भी भरपूर समावेश किया। ऐतिहासिक परिवेश मे आधुनिक चेतनाओ को सहेजकर इन्होने युगीन उत्तरदायित्व को भी सक्षमता से निभाया। नाटको को समग्रत नव्य शिल्प एव स्वरूप प्रदान किया। कला की दृष्टि से इनके नाटको मे नवीन-प्राचीन का अद्भुत समन्वय हुआ है। आरम्भ मे इनके नाटको मे भी प्राचीनता का मोह दृष्टिगत होता है। जैसे—स्वगत भाषणो का प्रयोग, सवादो मे पद्यमयता, आरम्भ मे स्तुति या नान्दी-पाठ और अन्त मे 'भरत वाक्य' का प्रयोग आदि। किन्तु बाद मे क्रमश इन सब बातो का ह्रास होते-होते अन्त मे सर्वथा लोप हो गया है। बाद मे इनके नाटको का रूप-विधान अधिकाधिक निखरता गया है। घटनाओ का आकर्षण, पात्रो का द्वन्द्वात्मक सघर्षपूर्ण चित्रण, वातावरण-देशकाल की सजीवता एव भावो का संगठन आदि सारी बातें इनके नाटको मे पाई जाती हैं। इनके नाटको मे भाव-सौन्दर्य के साथ-साथ दार्शनिक तत्त्वों का भी पर्याप्त समावेश मिलता है। छाया-वादी काव्यधारा की प्रवृत्तियो का प्रभाव भी यहाँ स्पष्ट है। भारतीय 'सुखान्त' एव पाश्चात्य 'दुखान्त' पद्धतियो का यहाँ समन्वित रूप देखने को मिलता है। इसी कारण इनके नाटको को 'प्रसादान्त' कहा जाता है। गीतो की योजना भी प्रभावशाली ढग से हुई है। इस प्रकार प्राचीन एव नव्य नाट्य-कला का यहाँ अद्भुत समन्वय हुआ है।

सज्जन, एक घूंट, कल्याणी-परिणय, करुणालय, प्रायश्चित्त राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी

आदि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। हमारे विचार मे कलात्मकता की दृष्टि से अजातशत्रु स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, और ध्रुवस्वामिनी इनके श्रेष्ठ नाटक ह। आधुनिक तत्त्वो की दृष्टि से और सामान्यत कलात्मकता के निखार की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसादजी का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसे हम हिन्दी नाट्य-साहित्य मे समस्या नाटको का प्रवर्त्तक भी कह सकते हैं। सबमे बडी बात तो यह है कि इनमे प्रसादजी ने रगमच की समग्र सम्भावनाओ का पूर्णतया ध्यान रखा है। पूर्ववर्ती नाटक रगमच की दृष्टि से कतई अपूर्ण हैं, किन्तु यहाँ ऐसी कोई भी बाधा नही है। सबसे अधिक सामयिकता भी इसी नाटक मे विद्यमान है। राष्ट्रीयता, सास्कृतिक एव उदात्त दार्शनिक चेतनाओ का सन्देश इनके प्रत्येक नाटक से मिलता है। अतीत के खण्डहरो मे अन्वेषक दृष्टि से भटककर भारतीय सस्कृति के जिन तत्त्वो को खोजकर प्रसादजी लाये है, वह वास्तव मे उनकी महान् देन है। शृगार एव वीर रस का समन्वय भी इनके नाटको मे अद्भुत रूप से हुआ है, किन्तु सबके ऊपर छा रही मानवीय करुणा की अजस्र भावना एव उदात्त वृत्तियो के उन्नयन का जागरूक प्रयास। वास्तव मे प्रसाद के नाटक साहित्य की यही प्रमुख देन है।

प्रसाद-युग के अन्य नाटककारो मे प्रमुख है सर्वश्री हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पन्त, उदयशकर भट्ट आदि। इनमे से प्रेमी जी ने मध्यकाल के भारत से कथानको का चुनाव कर राष्ट्रीय एकता एव हिन्दू-मुस्लिम-सौहार्द्य की ओर विशेष बल दिया। रक्षाबन्धन, जौहर, आहुति स्वप्नभग, विषपान, पाताल विजय, प्रकाशस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ, भग्न प्राचीर, प्रतिशोध, शिवा-साधना, शीशदान आदि इनके प्रसिद्ध नाटक है। इनके सभी नाटको मे राष्ट्र-साधना, त्याग एव बलिदान का स्वर ही प्रमुखत मुखरित हुआ है।

इस युग के दूसरे नाटककार गोविन्द वल्लभ पन्त ने पौराणिक, ऐतिहासिक एव सामाजिक सभी प्रकार के नाटक रचे है। इनके नाटक अभिव्यजना-पद्धति के उत्कृष्ट उदाहरण ह। इनका कोई विशेष उद्देश्य नही। इनके नाटको मे अभिनेयता आदि आधुनिक तत्त्व विशेष रूप से विद्यमान है। वरमाला, राजमुकुट, कजूस की खोपडी, अगूर की बेटी, सिन्दूर-बिन्दी, ययाति, अत पुर का छिद्र, विषकन्या और सुजाता आदि इनके प्रसिद्ध नाटक है। इनमे ऐतिहासिक एव सामाजिक

परिवेश मे जीवन की विभिन्न समस्याओ एव ऊँच-नीच की भावनाओ का सम्यग् चित्रण किया गया है ।

उदयशकर भट्ट ने भी अपने ऐतिहासिक, पौराणिक एव सामाजिक नाटको की रचना इसी युग मे आरम्भ कर दी थी । विक्रमादित्य, अम्बा, सगर विजय, मत्स्यगन्धा, विश्वामित्र, दाहर, मुक्तिपथ, शकविजय, कमला और अन्तहीन अन्त आदि इनके प्रसिद्ध नाटक है । इन्होने अपने कथानक एव पात्र अतीत एव वर्तमान जीवन से ही चुने हैं । इनको 'दाहर' या 'सिन्ध विजय' नाटक के कारण ही विशेष ख्याति प्राप्त हुई थी । अभिनेयता की सभावना समग्रत इनके नाटको मे नही पाई जाती ।

इनके अतिरिक्त इस युग मे सुदर्शन द्वारा रचे गए कुछ नाटक भी मिलते है । लक्ष्मीनारायण मिश्र के दो नाटक क्रमश· 'सिन्दूर की होली' और 'राजयोग' भी इसी युग मे प्रकाश मे आ गये थे, इन्हीसे हिन्दी नाट्य-साहित्य के क्षेत्र मे समस्या-नाटको का विधवत् प्रवर्त्तन हुआ । पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' के अनेक नाटक भी इस युग मे प्रकाशित हुए । 'मिलिन्द' जी का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नामक नाटक अत्यधिक सशक्त एव प्रसिद्ध है । जी० पी० श्रीवास्तव के अनेक नाटक भी इस युग मे रचे गये है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रसाद-युग नाट्य-साहित्य के विकास की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग है । इस युग के नाटको मे समस्त युगीन चेतनाओ का समर्थ प्रत्यकन देखा जा सकता है । सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ यहाँ सस्कृति के उन्नयन एव राष्ट्रोत्थान के भावो की प्रधानता सर्वत्र दिखाई देती है । अनेक नाटको मे विशेषत प्रसादजी के 'ध्रुवस्वामिनी', लक्ष्मीनारायण मिश्र के दोनो नाटको तथा कुछ अन्य नाटको मे रगमचीयता भी विद्यमान है । शेष नाटको मे यह अभाव अवश्य खटकने वाला है । इसका कारण यही हो सकता है कि तब रगमच की ओर आज के समान रुचि का विकास नही हो पाया था, अत नाटककारो ने भी इस दिशा मे कोई विशेष ध्यान नही दिया । शेष सभी दृष्टियो से प्रसाद-युग का नाटक साहित्य सम्पन्न एव भविष्य मे होने वाली समग्र ...
... का पूर्णत द्योतक है ।

३ प्रसादोत्तर-युग—प्रसादजी के युग मे इनके तथा अन्य नाटककारो के महयोग से हिन्दी नाटक का स्वरूप काफी निखर गया था। अब हमारा देश पाश्चात्य सभ्यता, सस्कृति एव साहित्य के प्रभावो को अधिकाधिक ग्रहण करने लगा था। रगमच की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित होने लगा था। जीवन के अनेकानेक मूल्य भी द्रुतगति से वदल रहे थे। फलत नाटक साहित्य ने एक नया मोड लिया। इसमे भावना-तत्त्व का स्थान बुद्धि तत्त्व ने ग्रहण कर लिया। नाटक प्रत्यक्ष जीवन को और अधिक निकट से देखने का प्रयत्न करने लगा। रगमचीय सम्भावनाओ के अनुकूल समस्या नाटको की मर्जना अधिकाधिक होने लगी। इस युग के नाटककारो मे लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रामकुमार वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा आदि प्रमुख हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र की नाट्यकला इब्सन, ज़ोला एव वर्नार्ड शॉ जैसे पाश्चात्य नाटककारो से अत्यधिक प्रभावित है। इनके नाटको मे से आधी रात, सन्यासी, मुक्ति का रहस्य, राक्षस का मन्दिर, अशोक, गरुड-ध्वज, नारद की वीणा, वत्सराज, वितस्ता की लहरें आदि प्रसादोत्तर युग मे रचे गए नाटक हैं। इन्होने कुछ पाश्चात्य नाटको के अनुवाद भी प्रस्तुत किये हैं। इनके प्राय सभी नाटक किसी न किसी विशेप समस्या का उद्घाटन करने वाले हैं। फिर भी इनमे भारतीय सस्कृति की सामान्यतया रक्षा हुई है।

सेठ गोविन्ददास के नाटको मे सामाजिक जीवन के धरातल को छूने का प्रत्यक्ष प्रयास किया गया है। कर्त्तव्य (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध) हर्ष, अशोक, कुलीनता, शशिगुप्त, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, शेरशाह आदि इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं। दुख क्यो, महत्त्व किसे, वडा पापी कौन, प्रकाश, विकास, त्याग या ग्रहण, पाकिस्तान, पतित सुमन, प्रेम या पाप आदि इनके प्रख्यात सामाजिक नाटक हैं। इनके नाटको पर गाधीवादी विचारधारा का प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित होता है। आकस्मिकता एव कौतूहल का भाव विशेष दर्शनीय है। मनो-विश्लेपण की दृष्टि से इनके नाटक सफल नही, वैसे अभिनेयता के तत्त्व इनमे येयथेप्ट हैं

'अश्क' जी ने कुछ ऐतिहासिक एव अधिकाश सामाजिक नाटक रचे हैं।

'जय पराजय' इनका ऐतिहासिक नाटक है। स्वर्ग की झलक, कैद, उडान, छटा बेटा, आदि मार्ग, अलग-अलग रास्ते, पैतरे, अजो दीदी, आदि इनके प्रसिद्ध सामाजिक नाटक है। सक्षेप मे कहा जा सकता है सरलता, स्पष्टता, अभिनेयता, प्रभविष्णुता आदि सभी गुण इनके नाटको मे विद्यमान हैं।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी 'विजयपर्व' जैसे कुछ नाटक लिखे हैं। इनके नाटको मे सबसे बडा दोष यह है कि ये विभिन्न एकाकियो के सकलन जैसे प्रतीत होते हैं। वास्तव मे ये कवि एव एकाकीकार के रूप मे ही अधिक सफल है। वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासो के समान ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं, परन्तु यहाँ ये उपन्यासो के समान सफल नही हैं।

इनके अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री, अमृतलाल नागर, चन्द्रगुप्त विद्यालकार, विष्णु प्रभाकर, जयनाथ नलिन, पृथ्वीनाथ शर्मा, रमेश मेहता, रागेय राघव, देवराज 'दिनेश', राजेश शर्मा ('बनास के तट से' के सदर्भ मे) आदि ने भी प्रसादोत्तर नाटक साहित्य के विकास मे विशिष्ट योगदान प्रदान किया है। किन्तु सबसे बढकर दो नामो ने इधर हिन्दी नाटक-प्रेमियो को विशेष रूप से आकर्षित किया है। ये दो नाम हैं—जगदीशचन्द्र माथुर और मोहन राकेश। जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कोणार्क' और 'पहला राजा' नामक अपने नाटको मे बडे विश्वास के साथ कुछ साहसिक नव्य प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगो ने निश्चय ही हिन्दी नाटक को नया मोड प्रदान किया है। अभिनेयता आदि सभी आधुनिक नाटकीय तत्त्व तो इनमें विद्यमान हैं ही, परम्परागत भारतीय नाट्य-परम्परा को भी इनमे स्पष्टत प्रश्रय दिया गया है। इसी प्रकार मोहन राकेश ने भी अपने क्रमश प्रकाशित 'अषाढ का पहला दिन', 'लहरो के राजहस' और 'आधे-अधूरे' मे अनेक प्रकार के साहसिक नव्य प्रयोग किये हैं। इन दोनो साहसिक प्रयोगवादियो के प्रभाव से निश्चय ही प्रसादोत्तर हिन्दी नाट्य-साहित्य के क्षेत्र मे जहाँ विकास के चरम शिखर दिखाई देने लगे हैं, वहाँ नया मोड भी प्रस्तुत हुआ है। लगता है कि आज का नाटककार नये क्षितिजो की खोज के लिए अत्यधिक आकुल है। अत. हिन्दी नाटक-साहित्य का भविष्य हमें अत्यधिक उज्ज्वल एव सम्पन्न प्रतीत होता है।

एकाकी उद्भव एव विकास

हिन्दी एकाकी के उद्भव का मूल स्रोत क्या है, यह प्रश्न पर्याप्त विवादास्पद है। कुछ लोग इसका सम्बन्ध सस्कृत के 'रूपक' और 'उपरूपक' के अनेक भेदो के साथ जोडने का प्रयत्न करते है तो अन्य लोग अग्रेज़ी साहित्य के 'कर्टेन' या 'इण्टरल्यूड' जैसे सामान्य दृश्य-बन्धो से। हमारे अपने विचार मे हिन्दी एकाकी में न्यूनाधिक इन दोनो के ही तत्त्व विद्यमान हैं। किन्तु यह एक निखरा हुआ एव सर्वमान्य तथ्य है कि अपने आरम्भिक रूपो मे हिन्दी एकाकी सस्कृत के रूपको तथा उपरूपको के ही अधिक निकट था। बाद मे वह क्रमश पाश्चात्य साहित्य के अधिकाधिक निकट आता गया और आज तो यह पूर्णत पाश्चात्य एकाकी-विधा से ही प्रभावित दिखाई देता है।

हिन्दी मे एकाकी का उद्भव कब हुआ, यह विषय भी पर्याप्त विवादपूर्ण रहा है। कुछ लोग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही अन्य आधुनिक विधाओ के समान हिन्दी एकाकी का भी प्रवर्त्तक मानते हैं, तो अन्य लोग प्रसाद के 'एक घूंट' से एकाकी का आरम्भ स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग भुवनेश्वरप्रसाद के 'कारवाँ' से एकाकी का उद्भव मानते है तो अन्य लोग डॉ० रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' से। समन्वयात्मक दृष्टि से कहा जा सकता है कि भारतेन्दु जी मे केवल एकाकी के प्रारूप के ही दर्शन होते हैं, जबकि प्रसाद जी के 'एक घूंट' मे उस प्रारूप मे मात्र रग-रेखा को उभारने का प्रयत्न दिखाई देता है। भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' पश्चिम से चलकर आया प्रतीत होता है। अत डॉ० रामकुमार वर्मा मे ही सर्वप्रथम आधुनिक एकाकी के मौलिक तत्त्वो के दर्शन हो सके तब से लेकर आज तक हिन्दी एकाकी विकास के अनेक चरणो को लाँघता हुआ अपना विस्तार अनेक रूपो मे करता हुआ निरन्तर गतिशील है। विकास के इ० चरणो को क्रमश तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है —

१ आरम्भिक चरण।
२ विकासोन्मुखता।
३ विकसित रूप।

१ **आरम्भिक चरण**—जैसाकि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओ के समान आधुनिक एकाकी का श्रीगणेश भी भारतेन्दु-युग मे स्वय भारतेन्दु जी द्वारा ही किया गया। यद्यपि इनके एकाकी सस्कृत रूपको के समान अको मे विभाजित है, तो भी सूक्ष्मत वहाँ एकान्विति एव प्रभावान्विति का ध्यान रखा गया है। इनके विषय भी प्राय आधुनिक है। अत' युगानुकूल नव्यता के प्रति वहाँ आग्रह भी देखा जा सकता है। भारतेन्दु-युग के अन्य समस्त नाटककारो ने भी इस दिशा मे सामान्य उत्साह प्रदर्शित किया।

इनके वाद 'प्रसाद जी' का 'एक घूंट' हमारे सामने आया। इसे हम भारतेन्दु जी की आरम्भिक एकाकी कला का अगला कदम मात्र कह सकते हैं, क्योकि आधुनिक एकाकी के सभी तत्त्वो एव लक्षणो की कसौटी पर यह एकाकी भी पूर्णतया चरितार्थ नही होता। इससे पहले भी प्रसादजी 'सज्जन' नाम से एक अन्य एकाकी जैसी रचना कर चुके थे। इसकी तुलना मे अवश्य ही 'एक घूंट' अधिक समुन्नत है। फिर भी जो गति, जो द्रुतता, जो स्पष्टता और प्रभाव परवर्ती एकाकियो मे क्रमश आता गया, इसकी सीमा को एकाकीकार के रूप मे प्रसादजी स्पर्श नही कर सके। इस प्रकार इन एकाकियो के रचना-काल तक को हम हिन्दी एकाकी का आरम्भिक चरण ही मानते हैं।

२ **विकासोन्मुखता**—इसके वाद सन् १९३६ के आसपास से हिन्दी एकाकी के विकास का युग प्रारम्भ होता है। एकाकी को विकास प्रदान करने वाले प्रमुख एकाकीकार हैं—डॉ० रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वरप्रसाद, गोविन्दवल्लभ पन्त, सुदर्शन, सेठ गोविन्ददास, गणेशप्रसाद द्विवेदी, वेचन शर्मा उग्र, सदगुरुशरण अवस्थी आदि। यह चरण डॉ० रामकुमार वर्मा के एकाकी 'वादल की मृत्यु' से आरम्भ होता है। इसके वाद इन्होने 'रेशमी टाई' नामक अन्य अनेक एकाकी रचे। इनकी यह परम्परा आज तक चलती आ रही है। और इनके प्रयत्नो से एकाकी आज नये परिवेश मे विकसित हो रहा है। उपरोक्त अन्य व्यक्तियो ने भी इन्हीके साथ-साथ एकाकी रचना प्रारम्भ कर दी। इन सबके सम्मिलित प्रयत्नो से ही एकाकी के स्वरूप मे क्रमशः निखार आता गया और यह अपने तीसरे चरण 'विकसित रूप' मे प्रवेश पा सकने मे समर्थ हो सका है।

३ विकसित रूप—अपने इस तीसरे चरण मे पहुँचकर आज हिन्दी एकाकी पूर्णतया 'विकसित' रूप मे आ चुका है। इसके विकसित रूप के दर्शन आज हमें रेडियो रूपक, रेडियो रूपान्तरण, ध्वनि रूपक, फीचर, झलकियाँ आदि अनेक रूपो मे हो रहे हैं। विकास की इस दिशा मे दूसरे चरण के समस्त लेखक तो प्राय हैं ही, अन्य अनेक प्रतिभाशाली कलाकार भी इस दिशा मे विशेष प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने ऐतिहासिक एव सामाजिक दोनो प्रकार के दुखान्त एकाकी रचे हैं। पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, सप्तकिरण, चार ऐतिहासिक एकाकी, विभूति, कौमुदी महोत्सव आदि इनके अनेक एकाकी सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वास्तव मे एकाकी के विकास मे डॉ० वर्मा का योगदान अविस्मरणीय है। अन्य एकाकीकारो के एकाकी सग्रह भी प्रकाशित हुए हैं और पत्र-पत्रिकाओ मे भी अक्सर पढने को मिलते रहते हैं।

एकाकीकार के रूप मे वर्माजी के बाद सर्वाधिक प्रसिद्धि श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को ही मिल सकी है। अश्क जी ने अधिकतर सामाजिक एव राजनीतिक व्यग्य-विनोद से भरे एकाकी ही रचे हैं। इनके देवताओ की छाया मे, चरवाहे, तूफान से पहले, कैद और उडान आदि अनेक एकाकी सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

हरिकृष्ण प्रेमी ने नाटको के समान एकाकियो में भी मध्यकालीन भारतीय कथानकों को अपनाकर राष्ट्रीय एकता को प्रश्रय दिया है। सेठ गोविन्ददास अपने नाटको के समान यहाँ भी गाधीवाद से अधिक प्रभावित एव परिचालित हैं। सप्तरश्मि, चतुष्पथ, नवरस, स्पर्धा, एकादशी आदि इनके भी अनेक एकाकी सकलन प्रकाश मे आ चुके हैं। उदयशकर भट्ट ने अपने एकाकियों मे मध्यवर्गीय जीवन विडम्बनाओ को उभारने का सफल प्रयास किया है। इनके समस्या का अन्त आदि कुछ एकाकी सग्रह भी प्रकाशित हैं।

इनके अतिरिक्त रेडियो की माँग को ध्यान मे रखते हुए चन्द्रगुप्त विद्यालकार, लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर, शम्भुदयाल सक्सेना, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि अनेक एकाकीकार इस दिशा मे सक्रिय हैं। परवर्ती एव नवयुवक एकाकीकारो मे लक्ष्मीनारायण लाल, हरिश्चन्द्र खन्ना, धर्मवीर भारती, चिरजीत, देवराज 'दिनेश', गिरिजाकुमार माथुर, राजेश

शर्मा (मिल के फाटक से, अन्तिम रात्रि, नया साँचा आदि के सन्दर्भ मे) तथा अन्य अनेक लोग एकाकी के सभी दिशाओ से चरम विकसित रूप को और अधिक विकास प्रदान करने मे सक्रिय है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रायः समस्त जीवित नाटककार, एकाकी के समस्त चरणो के नये-पुराने कलाकार तथा अन्य अनेक उदीयमान नव्य कलाकारो का पूर्ण सक्रिय सहयोग पाकर हिन्दी एकाकी निरन्तर गति-पथ पर अग्रसर है। अपनी स्थितियो एव साधनो के अनुरूप किसीकी साधना का स्वर अधिक प्रचारित हो रहा है और कोई मौन-भाव से ही इस दिशा मे सक्रिय है। सभीका सहयोग निश्चय ही सराहनीय है।

एकाकी के विकास की इस परम्परा मे काव्यात्मक एकाकियो का उल्लेख भी आवश्यक है। इस प्रकार के एकाकियो की रचना पद्यबद्ध रूप मे हो रही है। इस प्रकार के एकाकीकारो मे हरिकृष्ण प्रेमी, सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, आरसीप्रसाद सिह, केदारनाथ मिश्र, सुमित्रानन्दन पन्त, गौरीशकर मिश्र, हंसकुमार तिवारी, ऊपा मित्रा, जानकीप्रसाद श्रीवास्तव, जमुनादास गौड आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। स्पष्ट है कि हिन्दी नाटक की यह आधुनिक विधा (एकाकी) अनेक रूपो मे अपने भव्य कलेवर के निर्माण की दिशा मे अनवरत निरत एव प्रयत्नशील है।

प्रमुख नाटक तथा एकाकीकार

जयशकर प्रसाद (१८८९—१९३६ ई०)—कवि के समान ही जयशकर प्रसाद का नाटककार का व्यक्तित्व भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। नाटक-साहित्य के लिए तो इनका व्यक्तित्व समग्रत युगान्तरकारी प्रमाणित हुआ। सन् १९१० से लेकर १९३६ तक इन्होने क्रमश निम्नलिखित नाटक रचे —

सज्जन, एक घूंट, कल्याणी-परिणय, करुणालय, प्रायश्चित्त, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी। इनमे से 'ध्रुवस्वामिनी' इनका सर्वाधिक कलात्मक नाटक है। हमारे विचार मे हिन्दी मे समस्या नाटको का प्रवर्त्तन भी इसी नाटक से हुआ। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा अजातशत्रु प्रसाद जी के अन्य महत्त्वपूर्ण नाटक हैं।

प्रसाद जी के प्राय समस्त नाटको का सम्बन्ध भारत के अतीत गौरव से है। अतीत भारत के खण्डरो मे भटककर उन्होने भारतीय उदात्त सास्कृतिक एव दार्शनिक चेतना के जो कण सकलित किये, इन्हीका चित्रण इनके नाटको मे प्रमुख रूप से हुआ है। इनके नाटको मे आधुनिक सदर्भो की दृष्टि से राष्ट्रीय चेतना, देश-प्रेम तथा अन्यान्य समस्याओ का सफल अकन भी देखा जा सकता है। इनके अनेक पात्र भी आधुनिक तत्त्वो से समन्वित है। तात्पर्य यह है कि ऐतिहासिक परिवेश एव सन्दर्भो में प्रसाद जी ने सामयिक चेतनाओ को बडी कुशलता से सजाया-सँवारा है। इसी तथ्य की दृष्टि से इनके नाटको का सर्वाधिक महत्त्व भी है।

रूप एव शिल्प-विधान की दृष्टि से भी नाटककार प्रसाद के नाटको का विशेष महत्त्व है। यह अपने आरम्भिक नाटको मे यद्यपि सस्कृत-नाट्य-परम्परा के अधिक समीप प्रतीत होते हैं, किन्तु उसके बाद इनके नाटको मे क्रमशः आधुनिक पाश्चात्य शिल्प का समन्वय होता गया है। पाश्चात्य दुखान्त एवं भारतीय सुखान्त प्रवृत्तियो का वहाँ अद्भुत समन्वय मिलता है, इसी कारण उपसहार की दृष्टि से इनके नाटक 'प्रसादान्त' कहलाते हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक तक पहुँचते-पहुँचते तो इनकी नाट्य-कला पूर्णतया आधुनिक हो गई है। इसमे आधुनिकता का पूर्ण वेग एव कथानक-विकास मे द्रुत-गति तथा सूक्ष्म कलात्मक चुनाव है। यहाँ सम्वाद-योजना मे भी पहले जैसी काव्यमयता नही रह गई है। दृश्य-योजनाओ, स्वगत-भाषणो एव आरम्भिक 'भरत वाक्य' जैसी योजनाओ का तो सर्वथा अभाव है। 'सकलन त्रय' का यद्यपि पूर्णतया पालन नही हुआ, परन्तु उसकी रक्षा के प्रति आग्रह का भाव अवश्य दिखाई देने लगता है। पात्रो के चरित्र-चित्रण मे भी मनोवैज्ञानिकता एव अन्तर्द्वन्द्व का स्वाभाविक रूप देखा जा सकता है। प्रसाद जी का नारी पात्रो के उच्च एव आदर्शात्मक चित्रण का आग्रह सर्वत्र विद्यमान है। हमारी दृष्टि मे सर्वत्र यह आग्रह सफल नही हो सका है। उनमे कृत्रिमता अधिक आ गई है। वे निम्न से निम्न स्वभाव वाले नारी-पात्रो को भी अन्ततोगत्वा पतित नही होने देते, यह भी अस्वाभाविक स्थिति है।

देश-काल, वातावरण की रक्षा एव सोद्देश्यता इनके नाटको मे सर्वत्र विद्यमान

है। भाषा की दृष्टि से काव्यमयता का आग्रह प्राय रहा है। भाषायी प्रयोगो छायावादी जटिलता भी है। वैसे कहने को तो लोग अभिनय की दृष्टि से प्रसा जी के नाटको के उपयुक्त रंगमच का अभाव बताते है, जबकि तथ्य यह है कि 'ध्रुवस्वामिनी' को छोडकर रगमच की सम्भावनाओ का इन्होने प्राय कही भी ध्यान नही रखा। इनके अनेक आदर्श, विशेषत. नारी पात्रो के आदर्श भी ओढे हुए लगते है। नाटको मे कल्पना का मुक्त प्रयोग भी हुआ है। फलत· ऐतिहासिक नीरसता यहाँ नही मिलती। गीत-योजना के प्रति आग्रह भी इनमे सर्वत्र परिलक्षित होता है। कुल मिलाकर अपने युग-परिवेश मे, परिस्थितियो के क्रोड मे प्रसाद जी निश्चय ही अद्वितीय नाट्यकार थे। सबसे बडी बात तो यह है कि इन्होने इस उपेक्षित एव अधूरी कला को पुनर्जीवित किया, इसे विकास-पथ पर निरन्तर गतिशील किया।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'—प्रसाद जी के बाद हरिकृष्ण प्रेमी ने एक सशक्त नाटककार के रूप मे आकर हिन्दी की ऐतिहासिक नाटक-परम्परा को विकास के नए सदर्भ एव अभिव्यक्ति का नया माध्यम प्रदान किया। प्रेमी जी ने मध्यकालीन भारत के मुस्लिम-युग से कथानक लेकर अपने नाटकीय परिवेश को रूप एवं आकार प्रदान किया। स्पष्टत इनका उद्देश्य अपने युग की प्रवृत्ति तथा आवश्यकता के अनुकूल राष्ट्रीय एकता के महत्त्व को प्रतिष्ठापित करना था। देश-प्रेम और इसकी स्वतत्रता का प्रत्यक्ष प्रश्न इनके सामने था। इन्होने ऐतिहासिक कथानको को युगीन साँचे मे ढालने की दृष्टि से कल्पना का भी खुलकर प्रयोग किया। किन्तु ऐसा करते समय मूल ऐतिहासिक चेतना को कही भी मरने नही दिया है।

रक्षा-बन्धन, पाताल विजय, स्वप्न भग, प्रकाश-स्तम्भ, भग्न प्राचीर, कीर्ति-स्तम्भ, शिवा-साधना, प्रतिशोध, विषपान, आहुति, बादलो के पार, शीशदान आदि इनके पूर्ण ऐतिहासिक नाटक है। इन्होने 'बन्धन' जैसे कुछ सामयिक राजनीतिक एव सामाजिक नाटक भी लिखे थे, किन्तु इनका प्रखर व्यक्तित्व ऐतिहासिक नाटको मे ही प्रतिध्वनित हुआ है। इनके नाटको के प्रमुख स्त्री-पुरुष पात्र प्रायः आदर्शवादी हैं। अन्य पात्र सामान्यत. युगीन प्रवृत्तियो से परिचालित है। इनकी

प्रकार के पात्रो के चरित्रो का पूर्ण विकास मिलता है। सम्वाद-योजना मे चुस्ती है। इन्होने गीतो का प्रयोग भी प्राय सभी नाटको मे किया है। देश-काल और वातावरण का सवल अकन भी सर्वत्र मिलता है। भाषा ओजस्वी, प्रवाहमयी एव नाट्य-शैली सरल तथा सीधी है। अको के वाद दृश्यो की योजना मे रगमच की दृष्टि से इनके नाटको को उतना सफल नही होने दिया, वैसे सामान्यतया अभिनेयता के सभी गुण इनमे विद्यमान है।

प्रेमी जी नाटककार के साथ-साथ एक सफल एकाकीकार भी हैं। इनके एकाकियो के वस्तु-विषय प्राय ऐतिहासिक है। शेष सभी वातें भी प्राय पूर्ण नाटको के समान ही हैं।

गोविन्दवल्लभ पन्त—हिन्दी नाटक के विकास मे गोविन्दवल्लभ पन्त का विशेष योगदान माना जाता है। इन्होंने ऐतिहासिक, पौराणिक एव सामाजिक तीन प्रकार के नाटक रचे हैं। इनके नाटको मे किसी विशेष मतवाद के प्रति आग्रह का भाव नही है। साहित्य की इस विधा को इन्होने अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम मात्र ही वनाया है।

कजूस की खोपडी, अगूर की वेटी, वरमाला, राजमुकुट, सिन्दूर-विन्दी, अन्त पुर का छिद्र, ययाति, सुजाता और विषकन्या आदि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि इन्हे विशेष प्रसिद्धि 'वरमाला' और 'राजमुकुट' के कारण ही प्राप्त हुई है। प्राय नाटको के विषयो में वैविध्य है। इन्होने 'सुजाता' मे समस्या-नाटको की विधा को अपनाया है। 'अगूर की वेटी' मे मदिरापान की वुराइयो को अकित किया गया है। 'सिन्दूर-विन्दी' का सम्वन्ध पारिवारिक जीवन से है। अन्य नाटको में ऐतिहासिक तथ्यो का प्रतिपादन हुआ है। इनके ऐतिहासिक नाटको मे कल्पना-तत्त्व का उचित प्रयोग भी मिलता है।

इनके नाटक शिल्प विधान की दृष्टि से सस्कृत, पारसी-थियेटर और अग्रेजी नाट्य-कला से स्वत प्रभावित प्रतीत होते हैं। इनके नाटको मे अभिनेयता के तत्त्व भी विद्यमान हैं। इन्होने एकाकी भी रचे हैं।

उदयशकर भट्ट—श्री उदयशकर भट्ट भी अपने युग के एक सफल नाटककार हैं। इन्होंने प्रधानत पौराणिक नाटक रचे, इनके साथ साथ ऐतिहासिक और

सामाजिक नाटक भी रचे हैं।

विक्रमादित्य, अम्बा, सगर-विजय, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र, दाहर (या सिन्ध-विजय), मुक्ति-पथ, शक विजय, कमला और अन्तहीन अन्त आदि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इनमे से अन्तिम दोनो सामाजिक नाटक है। हमारे विचार मे सामाजिक नाटककार के रूप मे भट्ट जी विशेष सफल नही हैं। इनका नाटककार का व्यक्तित्व मूलत पौराणिक एव सामान्यत ऐतिहासिक नाटको मे ही चरितार्थ हुआ है। पौराणिक एव ऐतिहासिक नाटको मे धार्मिक संघर्षो का चित्रण विशेष रूप मे हुआ है। प्राय. सभी नाटको के पात्र सजीव एव सक्रिय हैं। इनका चरित्र-चित्रण भी ठीक हुआ है। देश, काल और वातावरण के चित्रण सम्बन्धी सफलताएँ भी दर्शनीय हैं।

स्वरूप-विधान की दृष्टि से इनके नाटको मे परम्परा का ही अधिक ध्यान रखा गया है। सामाजिक नाटको मे निश्चय ही आधुनिक तत्त्व अधिक हैं। इन्होने गीतो की योजना भी की है। सामान्यतया अभिनेयता का ध्यान रखा गया है। कुल मिलाकर इनकी नाट्य-कला मध्यम श्रेणी की ही है। एकाकी नाटको मे भट्ट जी पूर्णत' सफल हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र—इन्हे हिन्दी मे बौद्धिक तत्त्वो से समन्वित यथार्थवादी समस्या-नाटको की परम्परा का प्रवर्तक माना जाता है। यद्यपि इनसे पहले या समकाल मे प्रसाद जी 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे समस्या नाटक रच चुके थे, फिर भी यह निर्भ्रान्त सत्य है कि समस्या-नाटक को आलोचनात्मक स्वरूप इन्हीके नाटको से प्राप्त हुआ। इनकी मान्यता के अनुसार आज की समस्याएँ बुद्धि की देन हैं, अत. इन्होने अपने नाटको मे बौद्धिक स्तर पर ही इनका चित्रण एव समाधान खोजने का प्रयास किया है। इनके नाटको मे फ्रायडियन मनोवैज्ञानिक सैक्स की भावना एव कुण्ठित अह का चित्रण विशेष रूप से हुआ है। इतना होते हुए भी विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि मिश्रजी के नाटको मे कही न कही भारतीय संस्कृति की चेतनागत हूक भी अवश्य रहती है। तभी तो बाद मे ये इतिहास की ओर मुड़े।

सन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिन्दूर की होली,

आधी रात, अशोक, गरुडध्वज, नारद की वीणा, वत्सराज, वितस्ता की लहरें आदि इनके प्रसिद्ध नाटक है। इन्होने दो पाश्चात्य नाटको 'गुडिया का घर' और 'समाज के स्तम्भ' के हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किये ।

इनके नाटक स्वरूप विधान की दृष्टि से इब्सन, जोला और बर्नार्ड शॉ की नाट्यकला से पूर्णत प्रभावित हैं। नाटको के पात्र सुशिक्षित मध्यवर्गीय चेतनाओ से परिचालित रहते हैं। इनके चरित्रो मे अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण विशेष रूप से रहता है। कथानकके विकास मे सहज गतिशीलता, कौतूहल एव तन्मयता का भाव बना रहता है। गीतो, स्वगत भाषणो का यहाँ पूर्णत बहिष्कार है। सकेतो एव प्रतीको का प्रयोग अधिक मिलता है। सम्वाद अत्यन्त सक्षिप्त, सजीव एव सचित्र होते है, किन्तु अन्त मे उनमे कुछ न कुछ विस्तार अवश्य आ जाता है, जो कि समस्या नाटक शिल्प की एक अनिवार्यता है। रग सकेतो और भावाभिव्यक्ति के सकेतो की भी इनमे पूर्ण योजना की गई है। अभिनेयता की सम्भावनाओ का पूर्णतया ध्यान रखा गया है। विशेष बात यह है कि प्रभाव नाटकान्त तक ही नही, बल्कि इसके बाद भी बना रहता है, क्योकि इनमे सोचने-विचारने की काफी सामग्री मिल जाती है ।

नाटको के समान मिश्र जी एक सफल एकाकीकार भी हैं। इनके एकाकी भी नाटको के समान ही समस्त गुणो से सम्पन्न एव अभिनेय है।

सेठ गोविन्ददास—सेठ गोविन्दास की समग्र साहित्यिक चेतना गाधीवाद से प्रभावित है। अत इनके सामाजिक, ऐतिहासिक एव पौराणिक सभी प्रकार के नाटको पर गाधीवादी चेतना का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। सामाजिक जीवन का यथार्थ धरातल भी यहाँ प्राप्त होता है, किन्तु इसकी अन्तिम परिणति भी गाधीवाद मे ही होती हुई दिखाई देती है।

'कर्त्तव्य' और 'कर्ण' इनके पौराणिक नाटक हैं। कर्त्तव्य के पूर्वार्द्ध का सबध राम तथा उत्तरार्द्ध का सम्बन्ध कृष्ण के जीवन से है। हर्ष, अशोक, कुलीनता, महाप्रभु वल्लभाचार्य, शशिगुप्त और शेरशाह इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं। दुख क्यो, महत्त्व किसे, बडा पापी कौन, प्रकाश, विकास, त्याग या ग्रहण, पाकिस्तान, पतित सुमन, प्रेम या पाप आदि इनके प्रसिद्ध सामाजिक नाटक हैं।

प्राय सभी नाटको मे वर्तमान सन्दर्भ भी खोजे जा सकते हैं। गाधीवादी होने के कारण इनके नाटको मे सत्य, अहिंसा, त्याग, तपस्या एव वलिदान की भावना सर्वत्र प्रतिध्वनित होती सुनी जा सकती है। परन्तु चरित्र-चित्रण एव विकास की दृष्टि से इनमे मनोवैज्ञानिकता का अभाव काफी खटकने वाला है।

नाटको का स्वरूप विधान प्राय आधुनिक है। भावावेश के क्षणो मे नाटको के सम्वाद कही-कही भाषण की सीमा तक लम्बे हो गये हैं। दृश्य-विधान आदि सरल हैं। प्राय नाटको मे अभिनेयता का पूर्णतया ध्यान रखा गया है। इन्होने अपने समस्त नाटकीय प्रभावो एव विधानो को लेकर ही अनेक सफल एकाकियो की भी रचना की है।

उपेन्द्रनाथ अश्क—अश्क जी पूर्णतया सामाजिक चेतना के नाटककार हैं। अपने उपन्यासो एव कहानियो के समान यहाँ भी इनका दृष्टिकोण समग्रत यथार्थवादी एव यथार्थान्वेषी ही है। इन्होने नाटकीय कथानको का चयन व्यवहार जीवन के आसपास और दैनिक जीवन से ही किया है। इनके नाटको मे व्यग्य एव हास्य का भाव सर्वत्र विद्यमान है। इन्होने कठोर से कठोर वात एव कलुपित तथ्यो के उद्घाटन करने के लिए हास्य व्यग्य का ही प्रमुखत आश्रय लिया है।

'जय पराजय' इनका प्रथम एव एकमात्र ऐतिहासिक नाटक है। स्वर्ग की झलक, कैद, उडान, आदि मार्ग, छटा वेटा, पैतरे, अलग-अलग रास्ते, अजो दीदी आदि इनके प्रख्यात सामाजिक नाटक हैं। प्राय सभी नाटको मे सामयिक समस्याओ का सन्तुलित प्रकाशन हुआ है। ये समस्याएँ जटिल न होकर सामान्य जीवन से ही सम्बन्ध रखती हैं। इनके पात्र अत्यन्त सजीव एव प्रभावी हैं। इनका रूपायण अत्यन्त सयमित और प्रभावशाली ढग से हुआ है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पात्रो की गतिशीलता का विशेप महत्त्व है। इनके सम्वाद चुस्त, सक्षिप्त, भावपूर्ण एव प्रवाहमय हैं। इनके प्राय सभी नाटक पूर्णतया अभिनेय हैं।

नाटको के समान अश्क जी ने सामाजिक एव राजनीतिक चेतनाओ से अनुप्राणित होकर अनेक प्रकार के सफल एकाकी भी रचे हैं। अच्छे, अभिनेय एव सफल एकाकी की समस्त सम्भावनाएँ इनमे विद्यमान हैं।

जगदीशचन्द्र माथुर—आधुनिक हिन्दी नाटक मे साहसिक प्रयोग करने

वाले तथा इसके परम्परागत स्वरूप मे समग्रत नव्यता का सचार करने वाले नाटककारो मे माथुर जी का नाम प्रमुख है। नव्य-प्रयोग, आधुनिक परिवेश मे परम्परागत भारतीय मच-विधा की रक्षा एव पुनर्स्थापना का सफल प्रयत्न माथुर जी के नाटको की प्रमुख विशेषता है। इनके नाटको की मच-रचना मे नाटक, रेडियो रूपक एव सिने-कला की मचीय योजनाओ का अभूतपूर्व समन्वय मिलता है। सबसे बडी बात तो यह है कि इन्होने नयी एव पुरानी नाट्य-कलाओ का समन्वय करके नाटक के भीतर से नाटक एव इसकी नव्य कलाओ तथा दिशाओ मे विकसित होने के द्वार खोल दिये हैं।

इनका 'कुंवरसिंह की टेक' सबसे पहला प्रकाशित पूर्ण नाटक है। इसके बाद 'शारदीया' नामक नाटक प्रकाश मे आया। सन् १९५१ मे हिन्दी नाट्य-क्षेत्र मे तहलका मचा देने वाला तथा नवीन नाट्य-विधान की घोषणा करने वाला इनका 'कोणार्क' नामक नाटक प्रकाश में आया। इसके बाद सन् १९६९ मे इनका 'पहला राजा' नामक नाटक प्रकाशित हुआ, जो 'कोणार्क' से भी कई कदम आगे है। इनके प्राय सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। इन्होंने इतिहास मे कल्पनाओ एव सम्भावनाओ की अत्यधिक सजीव अन्त योजना की है। सभी नाटको के कथ्य का सम्बन्ध ऐतिहासिक परिवेश से होते हुए भी जीवन की चिरन्तन एव ज्वलन्त समस्याओ के साथ है। विशेष बात तो यह है कि इनके नाटको के मूल कथानक अत्यन्त सक्षिप्त होते हैं। इनका विकास यह पूर्णतया नये एव निजी दृष्टिकोण से करते है। पात्रो के चरित्रों का उद्घाटन एव चित्रण सर्वत्र मनोवैज्ञानिक धरातल पर किया गया है। सम्वाद-योजना मे समस्या-नाटको के समान साकेतिकता और अन्त मे कुछ विस्तार है। देश, काल, वातावरण आदि का सबल चित्रण रहता है। इनकी भाषा का अपना अलग सौष्ठव एव प्रभाव है। रग-सकेतो का सभी दृष्टियो से ध्यान रखा गया है। इनके नाटको मे अभिनेयता के सभी प्रभावी एव सफल तत्त्व विद्यमान हैं। माथुरजी एक सफल एकाकीकार भी हैं।

मोहन राकेश—आधुनिक सक्रिय नाटककारो मे जगदीशचन्द्र माथुर के बाद सर्वाधिक सफल एव नव्य साहसिक प्रयोग करने वाले नाटककारो मे मोहन राकेश का ही एकमात्र नाम आता है। इन्होने ऐतिहासिक एव सामाजिक दो

प्रकार के ही नाटक लिखे हैं। दोनो प्रकार के नाटको का परिवेश चाहे कोई भी क्यो न रहा हो, आधुनिक युग-बोध ही प्रमुखत मुखरित हुआ है। लेकिन हमारे विचार मे अपने नाटको मे मोहन राकेश ने जिस द्वन्द्वग्रस्त आधुनिक चेतना का वर्णन किया है, वह जितनी आधुनिक है, उतनी ही परम्परागत भी है, क्योकि प्रत्येक दर्शन एव युग मे द्वन्द्व-भाव अवश्य रहता ही है। इस दृष्टि से इनके नाटको की समस्याओ एव द्वन्द्वो का शाश्वत महत्त्व है।

'आषाढ का एक दिन,' 'लहरो के राजहस' और 'आधे-अधूरे'—ये तीन ही इनके नाटक अभी तक प्रकाश मे आये हैं। इनमे से पहले दो ऐतिहासिक नाटक हैं और तीसरा सामाजिक। तीनो का स्वरूप-विधान पूर्णतया आधुनिक है। कथानक अत्यन्त सक्षिप्त और इनका विकास तीन अको मे, एक ही दृश्य-बन्ध मे चित्रित किया गया है। प्राय. सभी पात्र द्वन्द्वग्रस्त है और द्वन्द्व की स्थितियो मे ही इनके चरित्र की समग्र सफलता प्रगट होती है। सवाद समस्या-नाटको के समान साकेतिक अधिक हैं। देश-काल और वातावरण आदि का चित्रण भी प्रभावशाली ढग से हुआ है। भाषा मे प्रतीकात्मक साकेतिकता अधिक है। रग सकेत सभी दृष्टियो से अभिनेयता के अनुकूल हैं। पूर्ण अभिनेयता का प्रमाण यह है कि देश-विदेश मे इनके सभी नाटको का अनेक बार सफल अभिनय हो चुका है और अब भी होता रहता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मोहन राकेश आधुनिक चेतना के एक पूर्ण सफल नाटककार हैं।

उपन्यास : उद्‌भव और विकास

उपन्यास आधुनिक साहित्य की सर्वाधिक व्यापक लोकप्रिय एव सशक्त विधा है। अपने व्यापक परिवेश मे यह सर्वथा आधुनिक विधा है। इसका उद्‌भव पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से एक सर्वथा आधुनिक घटना है। यह जीवन के सर्वाधिक निकट, इसका व्याख्याता, सर्जक एव पथ-प्रदर्शक के साथ-साथ इसके लिए मनोरजन के साधन जुटाने वाला भी है। वास्तव मे यही एक ऐसी विधा है, जिसमे मानव-जीवन के विविध रूपो, विविध उपलब्धियो, ज्ञान-विज्ञान, कला आदि से सम्बन्धित समस्त विषयो का समावेश हो सकता है। इसी कारण इसे

मानव-जीवन का गद्यात्मक महाकाव्य भी कहा जाता है।

कुछ पूर्वाग्रही प्रवृत्तियो के लोग आधुनिक मौलिक विधा उपन्यास का सबध भी सस्कृत साहित्य से जोडने का प्रयत्न करते हैं। (शुक्र है, ऋग्वेद से नहीं जोडते!) ये 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' को भारत के प्राथमिक उपन्यास मानकर इन्हीसे आधुनिक उपन्यास की उत्पत्ति एव विकास मानते हैं। वैसे 'रूपक' और 'उपरूपक' के भेदो मे, नाटको की सन्धियो मे कथानक के विकास की एक दशा के रूप मे 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग मिलता है। दण्डी के 'दशकुमार चरित' मे से भी औपन्यासिकता को खोज निकाला गया है। हमे इन मत-वादो से पूर्णतया सहानुभूति है और इस सम्बन्ध मे केवल इतना ही कहना चाहते है कि इन रचनाओ मे कही औपन्यासिकता के दर्शन होते भी हैं तो वह मात्र सयोग है, वैसे प्राचीन सस्कृत साहित्य मे उपन्यास नाम की कोई विधा नही थी। यदि होती तो इतनी लोकप्रिय विधा का नाटक आदि के समान ही पूर्ण विकास हुआ होता। इस प्रकार की रचनाओ मे वहाँ मात्र कथा कहने और विभ्राट प्रकृति-चित्रणो के प्रति आग्रह है। अत यह स्वत सिद्ध तथ्य है कि अन्य आधुनिक गद्य-विधाओ के समान उपन्यास का आरम्भ भी भारतेन्दु-युग मे ही हुआ है।

हिन्दी का प्रथम उपन्यास किसे माना जाय, यह भी पर्याप्त विवाद का विषय रहा है। कुछ लोग 'रानी केतकी की कहानी' से उपन्यास का सम्बन्ध जोडते है, जबकि अन्य लोग श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा सन् १८७१-७६ मे रचे गये 'भाग्यवती' को पहला उपन्यास कहते है। किन्तु ये दोनो मत उचित नही है। 'रानी केतकी की कहानी' मे आधुनिक कहानी के पूर्ण तत्त्व भी नही मिलते, जबकि 'भाग्यवती' मे नारी-शिक्षा और उपदेश से अधिक कुछ भी नही है। भारतेन्दु जी ने भी 'कुछ आप बीती, कुछ जग बीती' नामक एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था, जिसके कुछ फूल (अध्याय) ही प्रकाश मे आ पाये थे कि इनका स्वर्गवास हो गया। इसमे आधुनिक औपन्यासिक तत्त्वो का समावेश अवश्य मिलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'भाग्यवती' का उल्लेख करते हुए भी लाला श्रीनिवास-दास द्वारा रचे गये उपन्यास 'परीक्षा गुरु' को ही प्रथम उपन्यास स्वीकार किया है, जबकि यह भी लिखा है कि 'देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासो ने धूम मचा दी'।

'परीक्षा गुरु' मे एक तो वस्तु-वर्णन एव शैली मे कुछ कलात्मकता है और दूसरे उपन्यासकार ने स्वय भी इसे एक नूतन विद्या कहा था। इन्ही कारणो से प्रायः विद्वान् 'परीक्षा गुरु' को ही हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं। निष्कर्षत कहा जा सकता है कि उपन्यास का प्रवर्त्तन तो अन्य विधाओ के समान भारतेन्दु जी ने ही किया, किन्तु प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' के रूप मे लाला श्रीनिवास-दास ने ही हिन्दी को दिया, जबकि उपन्यास की धूम देवकीनन्दन खत्री जैसे लोगो ने मचाई। तब से लेकर आज तक जो उपन्यास-साहित्य का विकास हुआ है, उपन्यास कला-सम्राट प्रेमचन्द को उनका केन्द्र-विन्दु मानकर विकास के इस क्रम को समझने के लिए निम्नलिखित चार अन्तर्युगो मे विभाजित किया जा सकता है :—

१. पूर्व-प्रेमचन्द युग।
२ प्रेमचन्द युग।
३. उत्तर-प्रेमचन्द युग।
४ स्वातान्त्र्योत्तर उपन्यास साहित्य।

१. पूर्व-प्रेमचन्द युग—ऊपर यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि भारतेन्दुजी ने एक उपन्यास 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' लिखना आरम्भ किया था, किन्तु वह अधूरा ही रह गया। यही से पूर्व-प्रेमचन्द युग के उपन्यास के इतिहास का विकास आरम्भ होता है। भारतेन्दु जी ने एक मराठी उपन्यास 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' का अनुवाद भी किया था। इसके बाद हम लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' को प्रथम पूर्ण मौलिक उपन्यास स्वीकार कर ही चुके हैं। वास्तव मे इसका उद्देश्य भी युगीन प्रवृत्ति के अनुसार उपदेश एव सुधार भावना ही है। इसके बाद उपन्यास सर्जना का यह क्रम निरन्तर प्रवाहित होने लगा। सामाजिक पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रेम-प्रधान, ऐय्यारी, जासूसी, तिल्समी आदि सभी प्रकार के उपन्यास निरन्तर रचे जाने लगे। यह कहने मे भी अत्युक्ति न होगी कि उप-न्यासों की एक बाढ-सी आ गई। इस युग मे पुस्तकाकार प्रकाशनो के अतिरिक्त औपन्यासिक पत्र-पत्रिकाओं की भी भरमार हुई। आलोचको का कथन है कि सामान्य स्तर के ही सही, जितने उपन्यास इस युग मे रचे गये है, परवर्ती किसी भी

युग मे नही रचे गये।

'परीक्षा गुरु' के बाद ठाकुर जगमोहनसिंह का 'श्यामास्वप्न' नामक व
मयतापूर्ण उपन्यास हमारे सामने आया। फिर रतनचन्द प्लीडर का 'नूतन च
प्रकाशित हुआ। बालकृष्ण भट्ट ने क्रमश 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजा
सुजान' नामक उपन्यास लिखे। राधाकृष्णदास ने 'निस्साहाय हिन्दू', देवी
शर्मा तथा राधाचरण गोस्वामी के 'विधवा-विपत्ति', बालमुकुन्द गुप्त वि
'कामिनी' और किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा लिखे गए 'लवगलता' और '
कुमारी' जैसे अनेक सामाजिक उपन्यास प्रकाशित हुए। किशोरीलाल गोस
ब्रजनन्दन सहाय, बलदेवप्रसाद मिश्र आदि ने इस युग मे ऐतिहासिक नाम
कई उपन्यास रचे, किन्तु उनमे ऐतिहासिकता का निर्वाह नही हो पाया है
इनमें से ब्रजनन्दन सहाय के 'लाल चीन' तथा मिश्र बन्धुओ के 'वीरमणि
कुछ ऐतिहासिक एव तात्त्विक महत्त्व अवश्य स्वीकार किया जाता है।

इनके साथ-साथ तिलस्मी, ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासो की
परम्परा चलती रही। ये उपन्यास मूलत घटना-प्रधान थे और मनोर
इनका मुख्य उद्देश्य था। देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्र
सन्तति' जैसे क्रमश प्रकाशित होने वाले, धूम मचा देने वाले उपन्यास रचे
पढने के लिए लाखो लोगो ने हिन्दी सीखी। गोपालराम गहमरी ने दर्जनो
उपन्यासो की रचना की। किशोरीलाल गोस्वामी ने सभी प्रकार के उ
लिखे। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'अधखिला फूल' भी इसी
रचना है। इनके अतिरिक्त प्रेमाख्यानक उपन्यास लिखने वालो मे किशो
गोस्वामी के साथ-साथ जगन्नाथ मिश्र, शशीप्रसाद आदि के नाम विशेष
नीय हैं। किन्तु इनमे कोई नवीनता या मौलिकता दिखाई नहीं देती।

मौलिक रचनाओ के साथ-साथ अनुवाद कार्य भी खूब हुआ। भारते
स्वय तो 'राजसिंह', 'चन्द्रप्रभा और पूर्णप्रकाश' नामक क्रमश बगला एव
उपन्यासो के अनुवाद किये ही थे, इनके समकालीनो ने भी अनेक अच्छे अनुवाद
प्रस्तुत किये। प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी ने अनेक बगला उप-
न्यासो के अनुवाद किये। बगला के अतिरिक्त मराठी तथा अग्रेजी से भी अनुवाद

हुए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपन्यास साहित्य का आरम्भ बडे ही उत्साहजनक वातावरण मे हुआ।

वस्तु-वर्णन की दृष्टि से इस अन्तर्युग के सम्बन्ध मे समग्रत कहा जा सकता है कि उपन्यास साहित्य का व्यापक सृजन होने पर भी इनमे सृजनात्मक तत्त्वो का प्राय अभाव है। मनोरजन, उपदेश एव सुधार की प्रवृत्ति अधिक है। सभी प्रकार के उपन्यासो मे घटना-योजना की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। चारित्रिक विकास आदि की विशेष परवाह नही की गई है। औपन्यासिक तत्त्वो की दृष्टि से भी प्रायः रचनाएँ अशक्त एव अप्रभावी हैं। साहित्य की चिरन्तन निधि बन पाने वाली कोई भी कृति इस युग मे नही रची गई। भाषा, भाव और अभिव्यक्ति-पद्धति आदि समस्त बातो का एक सीमित घेरा है, फिर भी प्रयास सराहनीय है।

२ प्रेमचन्द-युग—हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र मे प्रेमचन्द जी का आगमन इसी प्रकार युगान्तरकारी प्रमाणित हुआ, जिस प्रकार नाटक के क्षेत्र मे प्रसाद जी का। यही से उपन्यास के वास्तविक स्वरूप मे निखार आने लगा। प्रेमचन्द जी ने हिन्दी उपन्यास को घटनाओ के स्थान पर चरित्र, कल्पना के स्थान पर जीवन का यथार्थ धरातल प्रदान किया। इसे व्यवहार-जगत् के प्रति अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण बनाया। जीवन के समग्र व्यापक परिवेश को अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनाया। इन्होने ओढे हुए आदर्शों को उतार फेंका; हाँ, जीवन के यथार्थ-चित्रण मे से आरम्भ मे आदर्शों को खोज निकालने का अनवरत प्रयास अवश्य किया; किन्तु अन्ततोगत्वा ये पूर्णतया आदर्शोन्मुखता से विमुख होकर यथार्थ जीवन के कुशल चितेरे एव अभिभावक बन गये। औपन्यासिक तत्त्वो की समग्रता के दर्शन ी सर्वप्रथम इन्हीके उपन्यासो मे हो सके। गाधी-युग का इतिहास दैवयोग मे दि खो जाये, तो प्रेमचन्दजी के उपन्यासो के आधार पर इसका पुनर्लेखन सम्भव सकता है—ऐसा प्राय. विद्वान् मानते हैं। इनका समूचा युग, इसकी समग्र नाएँ, समन्वित आन्दोलन, धारणाएँ एव मान्यताएँ उपन्यासो मे सूक्ष्मत· त स्यूत हैं। इस प्रकार ये सच्चे अर्थों मे युग के सशक्त चित्रकार प्रमाणित हुए।

प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासो के विषय क्रमश. दो क्षेत्रो से चुने—

एक सामाजिक क्षेत्र से और दूसरे राजनीतिक क्षेत्र से। पर मानवता की समग्र करुणा का चित्रण दोनो प्रकार के कथानको मे प्रधान रूप से हुआ है। 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि', 'निर्मला', 'कायाकल्प', 'गवन', 'कर्मभूमि', 'गोदान', और अधूरा उपन्यास मगलसूत्र' इनके क्रमशः विरचित उपन्यास हैं। 'सेवासदन' मे इनकी उपन्यास-कला मे प्रखरता एव विशेष प्रभुविष्णुता का आरम्भ हुआ, जो क्रमश. वढता ही गया। इनमे से 'रगभूमि' और 'गोदान' को महाकाव्यात्मकता का महत्त्व प्राप्त है। इनके वर्ण्य विषयो का सम्बन्ध सामान्यत निम्न, निम्न मध्य और मध्यवर्गों तक ही सीमित रहा है। किन्तु किसी भी रूप मे इनके सम्पर्क मे आने वाले प्राय अन्य सभी वर्गो का यथार्थ चित्रण भी इनके उपन्यासो मे हो गया है। ग्राम्य-जीवन और सभ्यता—सस्कृति का इन जैसा कुशल चितेरा अन्यत्र कही नही मिलता है।

इनके समकालीन उपन्यासकारो मे जयशकर प्रसाद ने 'ककाल', 'तितली' और 'इरावती' (अधूरा) उपन्यास लिखे। शिवपूजन सहाय ने 'देहाती दुनिया', विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक की 'मां' तथा 'भिखारिणी', चतुरसेन शास्त्री विरचित 'परख', 'हृदय की प्यास' और 'अमर अभिलाषा' वेचन शर्मा उग्र के 'दिल्ली का दलाल', 'चन्द हसीनो के खतूत' (पत्रात्मक), भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा', जैनेन्द्र के 'सुनीता', 'कल्याणी', 'तपोभूमि', वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास 'गढ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'कचनार', 'मृगनयनी' आदि सभी प्रकार के उपन्यास इसी युग मे रचे गये। इन सभीका अपना-अपना विशिष्ट महत्त्व है। सभी उपन्यासो मे कला की प्रौढता दिखाई देती है। श्री इलाचन्द्र जोशी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासो का आरम्भ भी इसी युग में हो गया था। इनके 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'सन्यासी' आदि उपन्यास इसी युग मे प्रकाश मे आये। इनके अतिरिक्त भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जी० पी० श्रीवास्तव, ऋषभचरण जैन, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और सुदर्शन आदि ने भी इसी युग मे उपन्यास विधा के विकास मे अपना सशक्त योगदान प्रदान किया।

३ उत्तर-प्रेमचन्द युग—प्रेमचन्द जी के वाद हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में

विविध प्रवृत्तियो ने जन्म लिया। इनमे से दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख मानी जाती हैं। एक है फ्रॉयडवादी सिद्धान्तो से प्रभावित मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणवादी, जबकि दूसरी है मार्क्सवाद के सिद्धान्तो से प्रभावित प्रगतिवादी धारा। इनका समानान्तर पर क्रमश विकास हुआ है और आगे चलकर इन्हीके अन्तराल मे से अन्य अनेक धाराओ ने भी जन्म लिया है।

फ्रॉयड के सिद्धान्तो से प्रभावित मनोवैज्ञानिक मनोविश्लेषणवादी धारा का प्रवर्त्तन जैनेन्द्र के 'परख' नामक उपन्यास से माना जाता है। आगे चलकर 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' मे इस धारा का क्रमश· विकास हुआ है। यहाँ यह वात विशेष ध्यातव्य है कि जैनेन्द्र के उपन्यासो पर सूक्ष्म दार्शनिकता का एक झीना पट सर्वत्र दिखाई देता है। ये गाधीवादी आत्मपीडन के सिद्धान्त से भी प्रभावित दिखाई देते हैं। किन्तु इनकी यह सैद्धान्तिकता वास्तव मे वासनाओ के उन्नयन की प्रक्रिया मे एक सामाजिक अश्लीलता वनकर रह गई है। इसके साथ ही इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया', 'घृणामयी', 'मुक्ति पथ' और 'जहाज का पछी' आदि उपन्यास भी आते हे। इनमे स्पष्टत वासनात्मक मनोविश्लेपणवादी धारा का विकसित रूप देखा जा सकता है। अज्ञेय इस धारा के तीसरे प्रमुख उपन्यासकार है। इनके 'शेखर एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' आदि प्रमुख उपन्यासो मे वासना और सत्रास के साथ-साथ जिज्ञासाभावो की प्रतिक्रिया का मनोविश्लेपण सशक्त रूप मे मिलता है। इनके अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा के परवर्ती उपन्यास, नरोत्तम नागर और डॉ० धर्मवीर भारती की रचनाएँ भी इसी श्रेणी मे गिनी जाती हैं।

मॉर्क्स के सिद्धान्तो से प्रभावित प्रगतिवादी या समाजवादी धारा का प्रवर्त्तक यशपाल को माना जाता है। इनके रचे उपन्यासो मे से 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप', 'झूठा सच' आदि इसी प्रकार के उपन्यास हैं। इनमे इनकी साम्यवादी सामाजिक चिन्तनधारा का स्पष्टत प्रतिपालन हुआ है। 'दिव्या' यशपाल का एक ऐतिहासिक उपन्यास है, किन्तु चिन्तन-पद्धति यहाँ भी समाजवादी ही है। सामन्ती साम्राजी एव पूँजीवादी सस्कृति के प्रति आक्रोश का स्वर मुखरित करने वाले अन्य समाजवादी उपन्यासकार हैं—राहुल, नागार्जुन, अमृतलाल नागर आदि। वैसे सामान्यतया समाजवाद की प्रवृत्ति एव सामन्ती-

साम्राजी परम्पराओ के प्रति आक्रोश का स्वर आज के और इस युग के प्रत्येक उपन्यास मे न्यूनाधिक अवश्य सुन पडता है और है भी अत्यधिक तीव्र एवं प्रखर।

इसके अतिरिक्त पूर्व-प्रेमचन्द-युग या भारतेन्दु-युग से चली आ रही ऐतिहासिक उपन्यासो की परम्परा को वृन्दावनलाल वर्मा जैसे उपन्यासकारो ने सशक्त ढग से जीवित रखा। इनके अतिरिक्त भगवतशरण उपाध्याय, राहुल, रागेय राघव, निराला, चतुरसेन शास्त्री आदि के नाम भी ऐतिहासिक उपन्यास-कारो के रूप मे इसी युग मे हमारे सामने आए। यशपाल का 'दिव्या', राहुल का 'वोलगा से गगा', चतुरसेन शास्त्री का 'वैशाली की नगरवधू', 'सोमनाथ' आदि और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी विरचित 'वाणभट्ट की आत्मकथा' अत्यन्त सुसगठित एव पूर्णत सफल ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

इसी युग मे आचलिक उपन्यासो की नई परम्परा ने भी जन्म लिया। वैसे तो भारतेन्दु-युग मे ही शिवपूजन सहाय ने 'देहाती दुनिया' जैसा अचल विशेष से सम्बन्धित उपन्यास रचा था, प्रेमचन्द एव वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो मे भी आचलिक तत्त्व विशेप रूप मे विद्यमान है, पर इस प्रक्रिया को विधात्मक नाम फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' से ही प्राप्त हुआ। इनका 'परती परिकथा' भी इसी प्रकार का उपन्यास है। इनके अरिरिक्त अमृतलाल नागर का 'सेठ वाँकेमल' और 'बूंद और समुद्र', उदयशकर भट्ट का 'सागर और लहरें', देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये', राघेय राघव के 'काका' और 'कब तक पुकारूँ' नागार्जुन के 'वलचनमा' तथा 'वरुण के वेटे', रामदरश मिश्र का 'पानी की प्राचीर', शैलेश मटियानी का 'होल्दार', शिवप्रसाद मिश्र का 'वहती गगा' आदि प्रमुख आचलिक उपन्यास हैं। राजेश शर्मा के 'कौए' नामक उपन्यास मे भी यथेष्ट आचलिक तत्त्व हैं और विष्णु प्रभाकर ने भी इस दिशा मे पर्याप्त योगदान किया है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम भी इस युग के उपन्यासकारो मे प्रमुखता के साथ लिया जाता है। 'गिरती दीवारें' इनकी इसी युग की रचना है। इन्होने अपने इस तथा परवर्ती उपन्यासो मे मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन की अनेक कुण्ठाओ का सशक्त ढग से चित्रण किया है।

समग्रत कहा जा सकता है कि उत्तर-प्रेमचन्द-युग मे उपन्यास-साहित्य निश्चय ही समृद्धि एव विकास के चरम शिखरो को छूने का सतत प्रयास करने लगा। इसमे प्रेमचन्द-युग की चेतनाएँ तो विभाजित होकर विकसित हुई ही, अन्य अनेक नव्य चेतनाओ ने भी जन्म लिया। सभीका अपना-अपना प्रत्यक्ष महत्त्व है। किसीकी किसी भी दृष्टि से उपेक्षा नही की जा सकती। विषयो के चुनाव मे वैविध्य तो है ही सही, भाषा एव शिल्प-प्रयोगो मे भी यहाँ वैविध्य दिखाई देता है। अगले चरण मे समग्रत इन्ही समस्त वातो को विकास मिला है।

४. स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यास-साहित्य—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वाद उपन्यासकार ने नये उत्साह एव प्रेरणाओ से अनुप्राणित होकर लेखनी उठाई। अपनी परम्पराओ की निरन्तर रक्षा करते हुए आज उपन्यास की धारा विकास के नये क्षितिजो को खोजने मे अविरत निरत है। सामाजिक एव राजनैतिक मूल्यो में आने वाले समग्र परिवर्तनो का लेखा-जोखा इनमे अकित किया जा रहा है। शिल्प-विधान की दृष्टि से भी इस क्षेत्र मे आज नये प्रयोग हो रहे हैं। इन प्रयोगो मे चौवीस घन्टो का विनियोजन भी हुआ है और अनेक युगो का भी। 'ग्यारह सपनो का देश' जैसी रचनाओ मे अनेक उपन्यासकारो ने मिलकर लेखन-प्रक्रिया का एक नया मानदण्ड प्रतिष्ठापित किया है। इसी प्रकार 'वहती गगा' मे १७ कहानियो के माध्यम से काशी का विगत दो सौ वर्षों का इतिहास औपन्यासिक परिवेश मे अकित किया गया है। आज के उपन्यास को हम पूर्ववर्ती युगो के समस्त वादो, धारणाओ एव मान्यताओ को समन्वित रूप से प्रस्तुत करने वाला कह सकते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर-युग के उपन्यासकारो मे प्रेमचन्द-युग के सर्जक भी विद्यमान हे हैं और परवर्ती युगो के भी। अनेक नवीन सशक्त लेखनियाँ भी इस दिशा मे त्पर दिखाई देती हैं। वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, दयशकर भट्ट, यशपाल, अश्क आदि उपन्यासकार प्रेमचन्द-युग से ही चले आ हे हैं। चतुरसेन शास्त्री के 'वैशाली की नगरवधू', 'सोमनाथ', 'धर्मपुत्र', 'सोना ार खून', 'वयं रक्षाम' आदि उपन्यास इसी युग की देन हैं। इलाचन्द्र जोशी 'सुवह के भूले' और 'जहाज का पछी' जैसी रचनाएँ भी इसी युग मे रची हैं।

भट्टजी की 'शेप-अशेप' तथा 'लोक-परलोक' जैसी रचनाएँ भी इसी युग की देन हैं। भगवतीचरण वर्मा का 'भूले विसरे चित्र' जैसा सशक्त उपन्यास स्वातन्त्र्योत्तर युग की एक ऐतिहासिक घटना है। यशपाल के 'झूठा सच' की उपेक्षा कौन कर सकता है! 'अश्क' ने स्वतन्त्रता के वाद ही 'गर्म राख', 'वडी-वडी आँखें', तथा 'पत्थर अल पत्थर' जैसी सशक्त रचनाएँ प्रदान की हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वाद के अन्य सशक्त उपन्यासकारो मे रागेय राघव, फणीश्वरनाथ रेणु, मन्मथनाथ गुप्त, अमृतलाल नागर, धर्मवीर भारती, नागार्जुन, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, रजनी पनिकर, विष्णु प्रभाकर, हिमाशु श्रीवास्तव, कमलेश्वर, शैलेश मटियानी, मनहर चौहान, भैरवप्रसाद गुप्त, प्रभाकर माचवे, अचल, अमृतराय, श्रीराम शर्मा, यशदत्त शर्मा, गुरुदत्त, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेश शर्मा और श्री शरण आदि के नामो की गौरव के साथ चर्चा की जा सकती है। इनके अनेक उपन्याम प्रकाशित हुए और हो रहे है।

इन सवका व्योरा यहाँ प्रस्तुत कर सकना तो सम्भव नही, फिर भी कुछ नामो की चर्चा अनिवार्य है। मनहर चौहान के 'सीमाएँ' जैसे उपन्यास इधर विशेप चर्चा के विषय रहे हैं। इसी तरह श्री शरण के 'जिन्दगी की तहे' की खूब चर्चा रही है। अन्य उपन्यासो मे 'आत्मदाह' आदि भी इसी कोटि मे आते हैं। राजेश शर्मा के 'कौए' उपन्यास का तो अन्य अनेक भापाओ मे अनुवाद भी हो चुका है। इनके अन्य प्रमुख उपन्यास हैं—'घर-द्वार', 'रूप और प्यास', 'अपराधी' और 'मिलन-गीत' आदि। इनमे स्वच्छन्दतावादी किन्तु स्वस्थ औपन्यासिक परम्परा के दर्शन होते हैं। डॉ० शरणविहारी गोस्वामी को व्रज भाषा का प्रथम उपन्यासकार होने का गौरव प्राप्त हुआ है। इनके 'पूछरी को लोठा' नामक व्रजभापा के उपन्यास की इधर खूब चर्चा हुई है। इसी प्रकार राजाराम शास्त्री के अनेक उपन्यासो के साथ-साथ हरियाणवी भापा मे भी इनका 'झाडूफिरी' नामक एक उपन्यास प्रकाशित हो चुका है। आचलिक भापाओ के कुछ अन्य उपन्यासो की चर्चा भी इधर सुनने मे आ रही है।

यहाँ वाल-किशोर उपन्यासो की नई परम्परा का उल्लेख भी अपरिहार्य है।

यह परम्परा तो सर्वथा नवीन एव स्वातन्त्र्योत्तर युग की प्रमुख देन है। इस दिशा मे भी आज विशेष प्रयत्न हो रहा है। परन्तु अभी तक इस विधा का कोई निश्चित स्वरूप निर्धारित नही हो सका, क्योकि इस विधा की रचना के मूल मे प्रकाशको की माँग ही अभी तक प्रमुखत काम कर रही है। जब तक बाल-किशोर-उपन्यासो की धारा प्रकाशको के चगुल से मुक्त नही हो जाती, इसका स्तर और स्वरूप निश्चित हो पाना सम्भव प्रतीत नही होता।

कहानी उद्भव एव विकास

गुनगुनाने के समान कथा कहने और सुनने की प्रवृत्ति भी मानव के जन्म जात स्वभाव का एक अग है। इस कारण कहानी की प्रवृत्ति का उद्भव किसी भाषा मे कब हुआ, यह कह सकना सहज बात नही है। स्वभाव तो स्वभाव ही होता है। बच्चा स्वभावत नई बातें सुनना चाहता है। अच्छा-भला समझदार मनुष्य भी कहानी के रूप मे कही जाने वाली बातो की ओर विशेष ध्यान देता है और दिलचस्पी से उनका श्रवण करता है। यह एक निखरा हुआ तथ्य है कि कौतूहल की प्रवृत्ति ने ही कहानी को जन्म दिया। पहले-पहल विभिन्न प्राकृतिक दृश्यो एव पशु-पक्षियो की विचित्रताओ ने कौतूहल की प्रवृत्ति को भडकाया। अत: तत्सम्बन्धी विचित्र अनुभवो को सुनने-सुनाने को प्रवृत्ति जागी। सुनने-सुनाने की प्रवृत्ति मे स्वभावत कथात्मक तत्त्वो का समावेश हो जाता है। अत कहानी की प्रवृत्ति आदिम एव जन्मजात है।

हमारे निजी विचार के अनुसार कहानी शब्द की व्युत्पत्ति 'कह नानी' शब्द से हुई है। अनादि काल से बच्चे रात को सोने से पहले अपने बडे-बूढो से कहानी सुनते चले आ रहे है। नानी का अपने नाती-दोहतो के प्रति स्नेहाधिक्य एव विशेष आग्रह का भाव भी चिरन्तन है। बच्चे भी नानी को कहानी कहने की बात विशेष आग्रह से कहते चले आ रहे है। अत. भाषा-विज्ञान की अक्षरो एव वर्णो के लोप होने की मान्यता के अनुसार 'कह नानी' मे से पहले 'न' का लोप हो गया और बाकी रह गई—'कहानी।'

भारतीय साहित्य मे कथात्मक प्रवृत्तियाँ ऋग्वेद काल से ही उपलब्ध होने

लगती हैं। उसके बाद उपनिषद, पुराण, जातको मे भी कथा के यथेष्ट तत्त्व
कथात्मक आख्यान पाये जाते हैं। मौखिक रूपो मे भी पीढी-दर-पीढी चलन
अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। समय-समय पर इनका रोचक ढग से लेखन
रहा है। सस्कृत मे प्राप्त होने वाली कथा सरित्सागर, वृहत् कथा, वैताल पच
पचतन्त्र, हितोपदेश आदि ग्रन्थ मूलत लोक-प्रचलित कथाओ के ही सकलित
हैं। मध्ययुग मे फारसी प्रभाव से युक्त अनेक कहानियाँ मिलती है। इस प्र
स्पष्ट है कि कहानियो के आरम्भ की परम्परा चिरन्तन है। कालक्रम एव
तथा परिस्थितियो के अनुसार कहानियो मे पहले प्राकृतिक तत्त्वो—पशु-प
आदि का समावेश हुआ, बाद मे इनके साथ मानव-तत्त्व एव जीवन्त भाव
समन्वित होने लगे और मनोरजक तत्त्वो की प्रमुखता के साथ इसका क्र
विकास होता गया। कथा, आख्यायिका, आख्यान आदि शब्द घुमा-फिरा
कहानी की प्रवृत्ति के ही परिचायक हैं। इन स्वीकृतियो के बाद भी इस तथ्
इनकार नहीं किया जा सकता कि आज कहानी जिस रूप मे लिखी जा रही
वह पम्परागत कदापि नही है, वल्कि इससे पूर्णत स्वतन्त्र एव भिन्न है।

हिन्दी की पहली कहानी कौन-सी मानी जाए, इसके बारे मे विवाद
भी विद्यमान है, किन्तु इतना तो निश्चित है कि अन्य आधुनिक गद्य-विधाओ
समान आधुनिक कहानी का प्रवर्त्तन भी भारतेन्दु-युग मे ही हुआ था।
विचारक 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी की प्रथम कहानी कहते हैं, कि
यहाँ मध्य-युग की किस्सागोई के अतिरिक्त कुछ भी नही है। तदनन्तर रा
शिवप्रसाद सिंह का 'राजा भोज का सपना' और भारतेन्दु जी के 'एक अद्
अपूर्व स्वप्न' को भी पहली कहानी मानने की बात कही जाती है, किन्तु इनमे
कहानी के आधुनिक तत्त्व किसी भी अश मे उपलब्ध नही होते। भारतेन्दु जी
'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' तो कहानी से अधिक एक व्यग्यात्मक निबन्ध ही अधि
है। इन्ही सब कारणो से प्राय विद्वान् हिन्दी कहानी का आरम्भ वगला
मराठी कहानियो के अनुवाद से स्वीकार करते हैं, क्योंकि इन अनुवादों ने
सर्वप्रथम हिन्दीवालो का ध्यान कहानी के आधुनिक रूपो की ओर आकर्षि
किया था। 'सरस्वती' मासिक के प्रकाशन ने इस आकर्षण को रूपायित कर

का अच्छा अवसर प्रदान किया। इसमे सर्वप्रथम किशोरीलाल गोस्वामी-विरचित 'इन्दुमती' नामक कहानी प्रकाशित हुई थी। इसीमे विद्वान् आज की कहानी के मौलिक तत्त्व सर्वप्रथम देखते है। अत यही से आधुनिक कहानी का प्रवर्त्तन माना जाना चाहिए। आचार्य शुक्ल जैसे विद्वानो का भी यही मत है।

'इन्दुमती' के वाद 'सरस्वती' मे किसी वग महिला की 'दुलाईवाली' कहानी प्रकाशित हुई। तत्पश्चात् आचार्य शुक्ल-विरचित 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाश मे आई। इन तीन कहानियो का प्रवर्त्तन-काल की कहानियो के रूप मे महत्त्व सर्व-स्वीकृत है। इससे वाद कहानी-लेखन का क्रम निरन्तर वृद्धि पाता गया। तव से लेकर आज तक की हिन्दी कहानी को विकास के चार चरणो मे विभाजित किया जा मकता है .—

१. पूर्व-प्रेमचन्द हिन्दी कहानी।

२ प्रेमचन्द प्रसाद युग की कहानी।

३. उत्तर-प्रेमचन्द युग की कहानी।

४ स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी।

१ **पूर्व-प्रेमचन्द हिन्दी कहानी**—इस काल को वास्तव मे प्रयोगात्मक काल का हिन्दी कहानी का शैशव-काल ही कहा जा सकता है। ऊपर जिन तीन चार कहानियो का उल्लेख किया गया है, वास्तव मे वही इस समग्र युग का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनके अतिरिक्त गोस्वामी किशोरीलाल ने 'इन्दुमती' के वाद 'गुलवहार' नामक कहानी भी लिखी थी। मास्टर भगवानदास की 'प्लेग की चुडेल', गिरिजादत्त वाजपेयी की 'पण्डित और पण्डितानी' वृन्दावनलाल वर्मा की क्रमश 'राखीवन्ध भाई', 'नकली किला', 'निन्यानवे का फेर' आदि कुछ कहानियाँ प्रकाश मे आई। माधवप्रसाद मिश्र, सत्यदेव, विश्वम्भर दास 'जिज्जा' और गिरिजाकुमार घोष की अनेक कहानियाँ भी 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुई। इन सभीको शैशवी महत्त्व भी प्राप्त है, किसी प्रकार की प्रौढता या स्पष्टता यहाँ दिखाई नही देती है।

इनके अतिरिक्त विभिन्न स्रोतो से जासूसी, तिलस्मी और ऐय्यारी, प्रेम-प्रधान अश्लील शृगारी कहानियाँ भी इस युग मे प्रकाशित हुईं; किन्तु इनमे

विशुद्धता, साहित्यिकता या तात्त्विकता आदि कुछ भी नही मिलता । कुछ ऊल-जलूल घटनाओ की ही यहाँ योजना हुई है, जिसमे सस्ता मनोरजन हो सके कुल मिलाकर यह युग हिन्दी कहानी का सभी दृष्टियो से अबोध शैशवी युग ही है।

२ **प्रेमचन्द-प्रसाद युग**—'सरस्वती' के बाद 'इन्दु' नामक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसमे सन् १९११ मे प्रसाद जी की 'ग्राम नामक कहानी प्रकाशित हुई थी। कुछ विद्वानो ने इसीको प्रथम मौलिक कहानी स्वीकार किया है। यद्यपि यह प्रथम तो नही है, पर भावी समृद्धि का सकेत इस कहानी से अवश्य मिल जाता है। प्रसादजी ने दर्जनो भाव-प्रधान ऐतिहासिक रोमास से सयत और सामाजिक कहानियाँ लिखी। इनकी कहानियो मे आदर्श और सास्कृतिक चेतनाओ का पूर्णत समन्वित स्वर सुना जा सकता है। मूलत छायावादी कवि एव नाटककार होने के कारण इनकी कहानियो मे काव्यमयता और नाटकीयता स्पष्ट है। 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी 'इन्द्रजाल'—प्रसाद जी कहानियो के प्रकाशित ये पाँच सकलन आज उपलब्ध हैं।

प्रसाद जी की कहानी परम्परा का विकास रायकृष्णदास, चण्डीप्रसाद हृदयेश, विनोदशकर व्यास, गोविन्दवल्लभ पन्त की कहानियो मे स्पष्टत देखा जा सकता है। इसी समय जी० पी० श्रीवास्तव की हास्य-व्यग्य-विनोद से समन्वित कहानियाँ भी प्रकाश मे आने लगी थी। राधिकारमणसिह, कौशिक ज्वालादत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री आदि अन्य अनेक कहानीकार इस युग कहानी-साहित्य को अनवरत सम्बल प्रदान करते रहे।

प्रसाद जी के बाद और प्रेमचन्द के सम-सामयिक इस युग के अन्य प्रमुख ए प्रख्यात कहानीकार हैं—श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी। इन्होने 'सुखमय जीवन 'बुद्धुवा का काँटा' और 'उसने कहा था' नामक तीन कहानियाँ रची और हिन्दी कथा-साहित्य मे हमेशा के लिए अमर हो गए। हमारे विचार से 'उसने कहा था' इस युग की सर्वश्रेष्ठ कहानी है और इसका नायक लहनासिह विश्व साहित्य के कुछ गिने-चुने अमर नायको मे से एक है। इसी युग मे उपन्यास साहित्य

समान कहानी-साहित्य मे भी प्रेमचन्द का प्रवेश सर्वथा युगान्तरकारी प्रमाणित हुआ। इनकी 'पच परमेश्वर' (सन् १६१४) नामक कहानी के प्रकाशित होते ही इनके नाम की धूम मच गई। इन्होने उपन्यास के समान हिन्दी कहानी को भी कल्पना के रोमानी वातावरण से मुक्ति दिलवाकर जीवन के ठोस यथार्थ धरातल पर सशक्त ढग से प्रतिष्ठापित किया। प्रत्यक्ष जीवन और इससे सम्बन्धित विविध प्रश्नो को अपने चित्रण का विषय बनाया। कहानी के क्षेत्र मे प्रेमचन्द यद्यपि आदर्शोन्मुख यथार्थवादी ही रहे, फिर भी 'कफन' जैसी कहानियाँ रचकर इन्होने अपने समग्रत. प्रगतिवादी दृष्टिकोण का भी परिचय दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कहानी लिखकर ये अपनी असहायावस्था मे अपने लिए ही कफन की योजना कर गए थे। उपन्यासो के समान अपने समूचे युग का बोध इनकी कहानियो मे भी परिवेष्टित है।

प्रेमचन्द जी के समवर्ती कहानीकारो मे गुलेरी जी के अतिरिक्त पृथ्वीनाथ भट्ट, विश्वम्भरनाथ कौशिक, सुदर्शन, शिवपूजन सहाय, कमला चौधरी, सुभद्रा-कुमारी चौहान आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। गुलेरी जी के लहनासिंह के समान सुदर्शन की कहानी 'हार की जीत' का बाबा भारती भी विश्व-कहानी-साहित्य का एक अमर पात्र है। ये सभी कहानीकार अपनी विशिष्ट कलात्मकता के कारण विशेष महत्त्व रखते हैं। कई दृष्टियो से तो इनकी कहानी-कला का महत्त्व प्रेमचन्द से भी अधिक माना जाता है।

इस अन्तर्युग के अन्य कहानीकारो मे बेचन शर्मा 'उग्र' चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन, वृन्दावनलाल वर्मा, जी० पी० श्रीवास्तव, ज्वालादत्त शर्मा आदि के नाम भी उल्लेखनीय है। इनमे से 'उग्र' ने कहानियो मे परम्परा से हटकर विद्रोही स्वर मुखरित किया है। इन्होने आदर्शो के आवरणो को उखाडकर सामाजिक कुरीतियो एव कुत्सित भावनाओ को उजागर करने की दिशा मे विशेष दिलचस्पी ली। चतुरसेन शास्त्री की कहानियाँ भी इसी परम्परा मे आती हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ने प्रमुखत ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी। अन्य कहानीकारो मे विविध युगीन प्रवृत्तियो के दर्शन होते है। समग्रत यह युग हिन्दी कहानी की परम्परा की श्रेष्ठता एव सम्पन्नता का युग है।

३ **उत्तर-प्रेमचन्द युग**—उपन्यास के समान कहानी साहित्य मे भी उत्तर-प्रेमचन्द युग मे प्रमुखत दो प्रवृत्तियो के दर्शन होते है। वे प्रवृत्तियाँ हैं—मनोवैज्ञानिक एव समाजवादी। इनमे से पहली चेतना के अन्तर्गत जैनेन्द्र जी की दार्शनिकता-समन्वित मनोविश्लेषणवादी कहानियाँ, इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय जी की 'कामा' एव 'स्वप्न' सिद्धान्तो से अनुप्राणित कहानियाँ आती हैं। वैसे जैनेन्द्र जी ने प्रेमचद-युग मे ही कहानी लिखना आरम्भ कर दिया था, पर इनकी मूल चेतना का विकास इस उत्तर युग मे ही आकर हुआ। यही स्थिति इलाचद्र जोशी आदि कहानीकारो की भी है। प्रेमचद की परम्परा का पालन करते हुए भी भगवतीचरण वर्मा, अश्क, विष्णु प्रभाकर आदि कहानीकार मनोवैज्ञानिक परम्परा के ही अधिक निकट प्रतीत होते हैं।

यशपाल दूसरी सामाजिक परम्परा के प्रवर्त्तक हैं। इन्होंने अपनी कहानियो मे सामाजिक रूढियो पर कुठाराघात करने का सफल प्रयास किया है। राहुल, रागेय राघव, नागर, नागार्जुन, अश्क आदि ने भी इसी परम्परा से प्रभावित होकर अनेक सशक्त कहानियाँ रची हैं। इन परम्पराओ के अतिरिक्त इस युग मे, इस विधा मे अन्य अनेक विचारो को भी प्रश्रय मिला। सामाजिक एव पारिवारिक जीवन को प्रश्रय देने वाली कहानियाँ लिखने वालों मे चद्रगुप्त विद्यालकार, रामप्रसाद पहाडी, चद्रकिरण सोनरेक्सा आदि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। विचार-प्रधान कहानी लेखको मे सियारामशरण गुप्त, कन्हैयालाल मिश्र के नाम प्रमुख हैं। ऐतिहासिक परम्परा की कहानी लिखने वाले एकमात्र वृन्दावनलाल वर्मा ही हैं।

इस युग मे कुछ आचलिक कहानियाँ भी लिखी गईं और आज भी लिखी जा रही हैं। हास्य-रस-प्रधान कहानियो का भी समुचित विकास हुआ है। हास्य-कथाकारो मे जी० पी० श्रीवास्तव के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय नाम हैं—हरिशकर शर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड, अन्नपूर्णानद, वेढव बनारसी, जयनाथ नलिन आदि।

इस युग के अन्य प्रमुख कहानीकार हैं—भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवती चरण वर्मा, अचल, शिवरानी प्रेमचद, भुवनेश्वरप्रसाद, आरसीप्रसादसिंह,

सदगुरुशरण अवस्थी, देवेन्द्र सत्यार्थी, गजानन 'मुक्तिवोध', सुभद्राकुमारी चौहान, तेजरानी पाठक, उपा मित्रा आदि। ये तथा अन्य अनेक कहानीकार इस युग की सीमा को लांघकर आज भी कहानी-साहित्य के क्रमश विकास मे दत्तचित्त हैं।

४ स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी—विभाजन के वाद विशेपत सन् १९५० से हिन्दी कहानी ने सर्वथा नया मोड काटा है। इसके वस्तु-विधान एव शिल्प-विधान मे सर्वथा नवीन प्रयोग होने लगे हैं। अत इसे भी प्रयोगवादी युग की कविता के समान प्रयोगवादी ही कहा जा सकता है। किन्तु अक्सर विद्वान् इतिहासकारो ने इसे 'नई कहानी' के नाम से अभिहित करना उचित माना है। यहाँ नये और पुराने का सघर्प भी दिखाई देता है। अनेक कहानीकार तो दोनो के मध्यवर्ती रूप को लेकर चल रहे हैं, पर अनेक मे असन्तोप, आत्महीनता, विद्रोह, कामभावो का आधिक्य भी दिखाई देता है। आज कहानी मे घटनाएँ न लेकर 'क्षण-वोध' को निश्चय ही अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इसके लिए साकेतिकता को अधिक प्रश्रय मिला है। प्रतीक एव विम्ब-विधान कहानी मे भी नयी कविता के समान ही दिखाई देने लगा है। इसी कारण इसका कोई नाम अभी तक नही रखा जा सका। किसीने अचेतन कहानी कहा, तो किसीने सचेतन। कोई-कोई तो 'अ-कहानी' की सीमा का स्पर्श करते हुए भी देखे जा सकते हैं। इस सघर्प मे एक वात अवश्य विशेप ध्यान देने योग्य है, वह यह कि आज कहानी-कला अत्यधिक सूक्ष्म होती जा रही है। विदेशी कहानी का वैचारिक एव शिल्पगत प्रभाव भी आज अधिक दिखाई पडने लगा है।

आज का कहानीकार एक ओर तो व्यक्ति-चेतना की सीमित परिधियो मे अधिकाधिक घिरता जा रहा है, जवकि दूसरी ओर समष्टिगत चेतनाओ को भी अधिकाधिक विकास मिल रहा है। इस प्रकार एक विचित्र-सी विरोधी स्थिति आज उपस्थित है। इन दोनो चेतनाओ पर सार्त्र, कामू आदि का प्रभाव तो है ही सही, फ्रॉयड एव मार्क्स का प्रभाव भी अत्यधिक घनीभूत हो उठा है। लेकिन यह तथ्य अत्यधिक अखरने वाला है कि कहने के समान सामान्य पाठक आज की कहानी मे किसी भी प्रकार का रस नही ले पा रहा है। इसी कारण कई वार सुन पडना है कि आज की कहानी मे और सव कुछ हो सकता है, पर कहानी नाम

३ **उत्तर-प्रेमचन्द युग**—उपन्यास के समान कहानी साहित्य मे भी उत्तर-प्रेमचन्द युग मे प्रमुखत दो प्रवृत्तियो के दर्शन होते हैं। वे प्रवृत्तियाँ हैं—मनोवैज्ञानिक एव समाजवादी। इनमे से पहली चेतना के अन्तर्गत जैनेन्द्र जी की दार्शनिकता-समन्वित मनोविश्लेषणवादी कहानियाँ, इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय जी की 'कामा' एव 'स्वप्न' सिद्धान्तो से अनुप्राणित कहानियाँ आती हैं। वैसे जैनेन्द्र जी ने प्रेमचद-युग मे ही कहानी लिखना आरम्भ कर दिया था, पर इनकी मूल चेतना का विकास इस उत्तर युग मे ही आकर हुआ। यही स्थिति इलाचद्र जोशी आदि कहानीकारों की भी है। प्रेमचद की परम्परा का पालन करते हुए भी भगवतीचरण वर्मा, अश्क, विष्णु प्रभाकर आदि कहानीकार मनोवैज्ञानिक परम्परा के ही अधिक निकट प्रतीत होते हैं।

यशपाल दूसरी सामाजिक परम्परा के प्रवर्त्तक हैं। इन्होंने अपनी कहानियो मे सामाजिक रूढियो पर कुठाराघात करने का सफल प्रयास किया है। राहुल, रागेय राघव, नागर, नागार्जुन, अश्क आदि ने भी इसी परम्परा से प्रभावित होकर अनेक सशक्त कहानियाँ रची हैं। इन परम्पराओ के अतिरिक्त इस युग मे, इस विधा मे अन्य अनेक विचारो को भी प्रश्रय मिला। सामाजिक एव पारिवारिक जीवन को प्रश्रय देने वाली कहानियाँ लिखने वालो मे चद्रगुप्त विद्यालकार, रामप्रसाद पहाडी, चद्रकिरण सौनरेक्सा आदि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। विचार-प्रधान कहानी लेखकों मे सियारामशरण गुप्त, कन्हैयालाल मिश्र के नाम प्रमुख हैं। ऐतिहासिक परम्परा की कहानी लिखने वाले एकमात्र वृन्दावनलाल वर्मा ही हैं।

इस युग मे कुछ आचलिक कहानियाँ भी लिखी गईं और आज भी लिखी जा रही हैं। हास्य-रस-प्रधान कहानियो का भी समुचित विकास हुआ है। हास्य-कथाकारो में जी० पी० श्रीवास्तव के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय नाम हैं—हरिशकर शर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड, अन्नपूर्णानद, बेढब बनारसी, जयनाथ नलिन आदि।

इस युग के अन्य प्रमुख कहानीकार हैं—भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवती चरण वर्मा, अचल, शिवरानी प्रेमचद, भुवनेश्वरप्रसाद, आरसीप्रसादसिंह,

सदगुरुशरण अवस्थी, देवेन्द्र सत्यार्थी, गजानन 'मुक्तिबोध', सुभद्राकुमारी चौहान, तेजरानी पाठक, उपा मिश्रा आदि। ये तथा अन्य अनेक कहानीकार इस युग की सीमा को लांघकर आज भी कहानी-साहित्य के क्रमश विकास मे दत्तचित्त हैं।

४ स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी—विभाजन के वाद विशेपत सन् १९५० से हिन्दी कहानी ने सर्वथा नया मोड काटा है। इसके वस्तु-विधान एव शिल्प-विधान मे सर्वथा नवीन प्रयोग होने लगे हैं। अत इसे भी प्रयोगवादी युग की कविता के समान प्रयोगवादी ही कहा जा सकता है। किन्तु अक्सर विद्वान् इतिहासकारो ने इसे 'नई कहानी' के नाम से अभिहित करना उचित माना है। यहाँ नये और पुराने का सघर्प भी दिखाई देता है। अनेक कहानीकार तो दोनो के मध्यवर्ती रूप को लेकर चल रहे है, पर अनेक मे असन्तोप, आत्महीनता, विद्रोह, कामभावो का आधिक्य भी दिखाई देता है। आज कहानी मे घटनाएँ न लेकर 'क्षण-वोध' को निश्चय ही अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इसके लिए साकेतिकता को अधिकाधिक प्रश्रय मिला है। प्रतीक एव विम्व-विधान कहानी मे भी नयी कविता के समान ही दिखाई देने लगा है। इसी कारण इसका कोई नाम अभी तक नही रखा जा सका। किसीने अचेतन कहानी कहा, तो किसीने सचेतन। कोई-कोई ो 'अ-कहानी' की सीमा का स्पर्श करते हुए भी देखे जा सकते हैं। इस सघर्प एक वात अवश्य विशेष ध्यान देने योग्य है, वह यह कि आज कहानी-कला त्यधिक सूक्ष्म होती जा रही है। विदेशी कहानी का वैचारिक एव शिल्पगत भाव भी आज अधिक दिखाई पडने लगा है।

आज का कहानीकार एक ओर तो व्यक्ति-चेतना की सीमित परिधियो मे धेकाधिक घिरता जा रहा है, जवकि दूसरी ओर समष्टिगत चेतनाओ को भी रकाधिक विकास मिल रहा है। इस प्रकार एक विचित्र-सी विरोधी स्थिति ा उपस्थित है। इन दोनो चेतनाओ पर सार्त्रे, कामू आदि का प्रभाव तो है ही , फ्रॉयड एव मार्क्स का प्रभाव भी अत्यधिक घनीभूत हो उठा है। लेकिन त्थ्य अत्यधिक अखरने वाला है कि कहने के समान सामान्य पाठक आज की ी मे किसी भी प्रकार का रस नही ले पा रहा है। इसी कारण कई वार डना है कि आज की कहानी मे और सव कुछ हो सकता है, पर कहानी नाम

की कोई वस्तु वहाँ नहीं रह गई। इस प्रकार की धारणा को किसी भी दृष्टि से शुभ नही कहा जा सकता। इस कुहासे से निकलकर ही आज का नया कहानीकार अपने साहित्यिक एव सामाजिक दायित्व को सफलतापूर्वक निभा सकेगा। हमारे विचार मे हिन्दी के अतिरिक्त भारतीय भाषाओ के कहानीकार इस तथ्य से अवगत हो चुके हैं। इसी कारण वहाँ अधिक सजगता बरती जाने लगी है। अब हिन्दी कहानीकारो का ध्यान भी कुछ कुछ इस ओर जाने लगा है। अत आशा करनी चाहिए कि यह अनवूझता का कुहासा छँटेगा और हिन्दी कहानी का स्वच्छ क्षितिज शीघ्र ही आभासित होने लगेगा।

इस दिशा में कहानीकारो के प्रमुख नाम हैं—अमृतराय, प्रभाकर माचवे, मोहनसिह सेंगर, राजेन्द्र यादव मोहन राकेश, जगनाथ नलिन, अमरकान्त, कमलेश्वर, मनहर चौहान, सत्यवती मलिक, प्रयाग शुक्ल, मार्कण्डेय, भीष्म साहनी, नागार्जुन, शेखर जोशी, कृष्णा सोवती, रमेश बख्शी, उषा प्रियम्वदा तथा अन्य अनेक।

अन्त मे कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक की हिन्दी कहानी की यात्रा का इतिहास प्राय सुखद ही है। विषय, भाव, शिल्प-विधान आदि सभी दृष्टियों से कहानी के व्यक्तित्व मे स्पष्टतः क्रमश निखार आया है। भविष्य मे भी निराशा का कोई कारण नही दीखता।

प्रमुख उपन्यासकार तथा कहानीकार

प्रेमचन्द (१८८०—१९३६ ई०) —भारतेन्दु-युग मे उपन्यास साहित्य क आरम्भ तो हो चुका था, किन्तु इसके बाद इसका स्वरूप वायवी ही अधिक हे गया था। समूची औपन्यासिकता कुछ रहस्य-रोमाचो मे उलझकर रह गई थी घटना-प्रधान तिलस्मी जासूसी एव ऐय्यारी उपन्यास ही प्राय रचे जाने लगे थे यही दशा कुछ-कुछ हिन्दी कहानी की भी हो रही थी। ऐसी स्थितियो मे 'कलम के सिपाही' प्रेमचन्द का आगमन हिन्दी उपन्यास और कहानी दोनो के लिए वर-दान सिद्ध हुआ। प्रेमचन्द जी ने कहानी और उपन्यास को कोरी कल्पनाओ के क्षितिज से उतारकर जीवन के यथार्थ एव भोगे जा रहे धरातल पर प्रतिष्ठित

किया। घटना के स्थान पर इसे चारित्रिक आयाम प्रदान किया और वायवी परिवेश के स्थान पर इसे जीवन के सत्य पर्यावरण से सवलित किया।

प्रेमचन्द जी ने जीवन की विभिन्न कटुताओ को केवल निकट से देखा ही नही, अपितु भोगा भी था। उस समय देश मे जो सामाजिक एव राजनीतिक चेतनाएँ सक्रिय थी, ये स्वय उनके अग थे। जीवन के सभी क्षेत्रो मे नये मूल्यो एव मानो की स्थापना हो रही थी। युग के स्वर वदल रहे थे। इनमे परम्पराओ के प्रति विद्रोह मुखर हो रहा था। धर्म, समाज, राजनीति, घर-परिवार एव आर्थिक क्षेत्र सभी जगह परिवर्तन की आकाक्षा से समन्वित हलचल मच रही थी। इन्ही समस्त चेतनाओ को प्रेमचन्द जी ने अपने कथ्यो का आधार वनाया। इसी कारण कहा जाता है कि गाधी-युग की समस्त चेतनाएँ इनके उपन्यासो मे अपने समग्र सन्दर्भो मे रूपायित हुई हैं। यदि गाधी-युग के भारत का इतिहास खो भी जाए, तो प्रेमचन्द जी के उपन्यासो के आधार पर इसका पुनर्लेखन सम्भव हो सकता है।

कुछ लोग प्रेमचन्द जी को यथार्थवादी उपन्यासकार मानते है और कुछ आदर्शवादी, किन्तु इन्होंने स्वय अपने-आपको आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहा है। वास्तव मे 'निर्मला', 'गोदान' आदि कुछ उपन्यासो को छोडकर अन्य उपन्यासो मे इनका दृष्टिकोण तो यथार्थवादी रहा, किन्तु गन्तव्य आदर्श ही था। इन्होने गाधीवादी आदर्शो को ही अपना गन्तव्य काफी दिनो तक वनाये रखा, किन्तु 'गोदान' तक पहुँचते-पहुँचते आदर्शो का नशा उतर चुका था और ये पूर्णतया समाजवादी चेतनाओ से प्रभावित मार्क्सवादी हो गए थे। यहाँ इन्होने यथार्थ को प्रखरता से मुखरित किया। अपने अधूरे उपन्यास 'मगलसूत्र' मे इनकी परवर्ती विचारधारा वडी प्रखरता से मुखरित होती हुई दिखाई देती है, किन्तु इसे समग्रता प्रदान करने के लिए ये जीवित न रह सके। सन् १९३६ मे कठोर काल ने इस महान् चेतना को हिन्दी साहित्य से छीन लिया।

'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'सेवासदन', 'निर्मला', 'गवन', 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि', 'कायाकल्प', 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' (अधूरा) इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनमे से 'रगभूमि' और 'गोदान' का महाकाव्यात्मक महत्त्व है। इनमे जीवन के विशेष

भागो एव वर्गो का समग्र चित्रण है। प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासो मे निम्न, निम्न मध्य एव मध्य वर्गो की चेतनाओ को ही प्रमुखत चित्रित किया है। इनसे सम्बन्ध रखने वाले उच्च एव अन्य वर्गो का चित्रण स्वय ही हो गया है। इन वर्गो से सम्वन्धित सभी प्रकार की समस्याएँ इनके उपन्यासो मे आ गई है। उपन्यासो मे कही-कही प्रेमचन्द जी का उपदेशक और सुधारवादो स्वरूप ही देखा जा सकता है। बीच-बीच मे ये स्वय भी उपस्थित हो जाते हैं। इनका कथानक प्राय सीधा एव सरल होता है। पात्रो का चरित्र-चित्तण वडे सुलझे हुए सवल ढग से करते है। इनके पात्रो मे से सुमन, प्रेमशकर, सूरदास, होरी और मेहता-मालती आदि पात्र केवल हिन्दी साहित्य के ही नही, वलिक विश्व-साहित्य के अमर पात्र हैं। इनकी भापा भी सीधी एव सरल है। उपन्यासो मे इनका सूक्तिकार का रूप भी दिखाई देता है। मनोरजकता सर्वत्र बनी रहती है। सभी दृष्टियो से ये प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं। कुछ विद्वान् प्रेमचन्द को 'कबीर' के समान ही प्रथम श्रेणी का कलाकार मानने को तैयार नही है, लेकिन उन रसवादियो एव मात्र सम्भ्रान्त चेतनाओं के शिकार विद्वानो से हमारा नम्र निवेदन है कि वे रगीन *चश्मों से नही, वलिक दृष्टिदान करने वाले चश्मो से युग-युगो के इस महान् कला*-कार को देखने का प्रयास करे। इन्होने जीवन के जिस व्यापक, यथार्थ एव सवेदना-पूर्ण चित्र को प्रस्तुत कर साहित्य एव साहित्यकार के दायित्व को निभाया है, वैसा वास्तव मे अन्य कोई नही निभा सका।

उपन्यासकार के समान प्रेमचन्द जी एक सफल एव सशक्त कहानीकार भी थे। उपन्यासो के समान इनकी कहानियो का परिवेश एव विषय भी व्यापक व्यवहार जगत् से ही सम्वन्धित हैं। यहाँ भी आरम्भ मे इनका दृष्टिकोण आदर्शो-न्मुख ही रहा, किन्तु 'कफन' तक पहुँचते पहुँचते ये पूर्णतया यथार्थवादी वन गये। कुल मिलाकर इन्होने ३०० से अधिक कहानियाँ रची। जिनका सकलन—'प्रेम-पचीसी', 'सप्त सरोज', 'प्रेम पूर्णिमा', 'प्रेम-द्वादशी', 'प्रेम-पीयूप' 'प्रेम-प्रतिमा', 'पच प्रसून', 'सप्त सुमन', 'प्रेम-प्रमोद', 'प्रेम चतुर्थी' आदि मे हुआ है। उपन्यासो के समान आज भी इनकी कहानियाँ चाव से पढी जाती हैं और इनके समकक्ष कहानीकार आज भी हिन्दी ने कोई दूसरा पैदा नहीं किया। 'आत्माराम', 'पच-

परमेश्वर', 'शतरज के खिलाडी', 'ईदगाह', 'बूढी काकी', 'वडे घर की वेटी', 'दो वैलो की कथा', 'वडे भाई साहव', 'पूस की रात' और 'कफन' आदि इनकी अमर कहानियाँ हैं। ये इनकी समग्र चेतनाओ का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन्होने घटना, चरित्र, वातावरण एव सहज मनोवैज्ञानिक सभी प्रकार की कहानियाँ रची। इनमे हम समग्र युग-चेतना को विविध खडो में देखकर युग की तस्वीर तैयार कर सकते हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द जी सभी दृष्टियो से जीवन के उन्मुक्त एव सशक्त कलाकार थे। इन्होने हिन्दी उपन्यास एवं कथा-साहित्य को स्थिरता, जीवन का सन्तुलित परिवेश एव अमरता प्रदान की।

जयशकरप्रसाद (१८८९—१९३६ ई०)—कविता एवं नाटक के क्षेत्र मे युग-प्रवर्त्तन करने वाले प्रसाद जी एक सफल उपन्यास-सर्जक एव कहानीकार भी थे। इन्होने दो पूर्ण एव एक अधूरा उपन्यास रचा। 'ककाल' और 'तितली' इनके पूर्ण उपन्यास हैं, जवकि 'इरावती' अधूरा। काल-कवलित हो जाने के कारण ये इसे पूरा न कर सके। काव्य एव नाटक के क्षेत्र मे आदर्श सास्कृतिक चेतनाओ को रूपायित करने वाले प्रसाद का दृष्टिकोण उपन्यासो मे सर्वथा भिन्न है। यहाँ ये अधिकांशत यथार्थवादी दृष्टिगोचर होते हैं। इन्होने 'ककाल' उपन्यास मे समाज के पीडित-शोषित वर्गो, यौन-दुर्वलताओ, जाति-भेद एव धार्मिक पाखडो आदि का सजीव, यथार्थ एवं मार्मिक चित्रण किया है। उपन्यासकार के रूप मे प्रसादजी 'ककाल' मे ही सफल हैं। 'तितली' प्रेम के आदर्श को प्रगट करने वाला साधारण कोटि का उपन्यास है। इन्होंने 'इरावती' मे ऐतिहासिक कथानक चुना था, परन्तु उसकी सफलता-असफलता की सम्भावनाओ के सम्वन्ध मे इसके अधूरेपन के कारण कुछ नही कहा जा सकता। उपन्यासो मे नाटको के समान काव्यमयता और भापा की लाक्षणिकता भी नही है। यहाँ ये प्राय यथार्थवादी ही रहे हैं।

उपन्यासो से भी अधिक सफलता प्रसाद जी को कहानी के क्षेत्र मे प्राप्त हुई है। इन्होंने ऐतिहासिक-कल्पनाप्रधान, सामयिक कहानियाँ ही प्रमुखत: लिखी हैं। कहानियो मे भावना एव कवित्वमयता की प्रधानता है। कुल मिलाकर ६९

कहानियाँ रची, जो 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' आदि सकलनो मे सकलित हैं। 'पुरस्कार', 'ममता,' 'आकाशदीप,' 'नन्हा जादूगर,' 'मधुआ', 'प्रतिध्वनि', 'देवदासी', 'आँधी' आदि इनकी प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। इनकी भाव-प्रधान कहानियों में कहीं-कहीं रहस्यमयता के कारण अस्पष्टता भी है। फिर भी हृदय पर ये एक भावुकतापूर्ण प्रभाव अवश्य छोड जाती हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा—भारतेन्दु जी के युग मे जो ऐतिहासिक उपन्यासो एव कहानियो की परम्परा चली थी, इसका पूर्णतया एव वास्तविक विकास हमे वर्मा जी के उपन्यासो एव कहानियो मे ही देखने को मिलता है। वास्तव मे भारतेन्दु-युग के ऐतिहासिक उपन्यास नाममात्र को ही ऐतिहासिक थे, किन्तु वर्मा जी ने ऐतिहासिक तत्त्वो की समग्रत पूर्णतया रक्षा करते हुए सशक्त, प्रभावी एव रोचक उपन्यास रचे है। इन्होंने कल्पना का सहारा तो अवश्य लिया है, किन्तु इनका भी आधार वहाँ प्रचलित किंवदन्तियाँ एव प्रत्यक्ष जीवन ही है। बुन्देलखण्ड का समूचा वैभव इनके उपन्यासो मे जैसे झकृत होता हुआ साकार हो उठा है।

'गढ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'सगम', 'झाँसी की रानी', 'लक्ष्मीबाई', 'मुसाहिबजू', 'कचनार', 'कुण्डली चक्र', 'प्रत्यागत', 'माधवजी सिंधिया', 'मृगनयनी', 'भुवन विक्रम', 'अमरबेल', 'अचल मेरा कोई', 'टूटे काँटे' आदि इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक एव सामाजिक उपन्यास है। सभी उपन्यासों मे औपन्यासिक तत्त्वों एव रोचकता की पूर्ण रक्षा हुई है। इनमे देशभक्ति, राष्ट्रीयता, सस्कृति एव कलात्मकता का स्वर सर्वत्र प्रखर है। इनके उपन्यासो मे आचलिक तत्त्वो का समावेश विशेष रूप से देखा जा सकता है।

उपन्यासो के समान वर्माजी की कहानियो को भी पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई है। कहानियो का परिवेश भी अधिकाशत ऐतिहासिक है, पर वहाँ कल्पना एव परम्परागत सास्कृतिक चेतनाएँ एव मानवतावादी दृष्टिकोण प्रखरता के साथ रूपायित हुआ है। कहानियो मे गाधीयुग की चेतनाएँ भी विद्यमान हैं। कुल मिलाकर वर्मा जी एक सफल ऐतिहासिक कथाकार हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (सन् १८९१—१९४५ ई०)—कौशिक जी प्रेमचन्द-युग और प्रेमचन्द-परम्परा के कुशल उपन्यास-लेखक तथा कहानीकार

हैं। इनका साहित्यिक स्वर पहले-पहल उर्दू भाषा मे मुखरित हुआ था, बाद मे यह हिन्दी के क्षेत्र मे आए थे। इनके 'माँ', 'भिखारिणी' और 'सघर्ष' आदि प्रसिद्ध उपन्यास हैं। ये अपने उपन्यासो मे एक विशिष्ट दृष्टिकोण लेकर चले है। अत यहाँ प्रेमचन्द के समान जीवन के वैविध्यो के दर्शन नही होते। फिर भी जो कुछ इन्होने चित्रित किया है, उसमे कोई कमी नही रहने दी। 'माँ' उपन्यास का सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से है, जबकि 'भिखारिणी' मे एक प्रेम-कथा सरस रूप मे चित्रित की गई है। इनका विषय-प्रतिपादन और भाषा-भावना आदि मे सर्वत्र एक तरल ऋजुता है। किसी भी प्रकार की कुण्ठा या दुरूहता नही है।

इन्होने उपन्यासो के अतिरिक्त २०० के लगभग कहानियाँ भी लिखी है, जिनका सकलन—'गल्प मन्दिर', 'चित्रशाला' (३ भाग), 'मणिमाला', 'पैरिस की नर्तकी', 'कल्लोल' और 'प्रेम-प्रतिमा' नामो से प्रकाशित हुआ है। इनकी कहानियो के वर्ण्य विषय प्रत्यक्ष जीवन की सामाजिक चेतनाओ मे ही सम्बन्धित हैं। इन्होने नारी-समस्या, शिक्षा, सामाजिक कुरीतियो आदि विषयो को सरल रोचकता एव सबलता से कहानियो मे रूपायित किया है। इनकी 'ताई' और 'रक्षाबन्धन' प्रतिनिधि कहानियाँ मानी जाती हैं। विषय, भाषा और भावनाओ की सरलता विशेष दर्शनीय है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री (१८९१-१९६७ ई०)—उपन्यास एव कहानी के क्षेत्र मे शास्त्रीजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होने अपने १६५ के लगभग छोटे-बडे ग्रन्थो मे बत्तीस के करीब सरस-सफल उपन्यास रचे हैं। इनमे सामाजिक एव ऐतिहासिक दोनो प्रकार के उपन्यास हैं। ऐतिहासिक उपन्यासो मे यह एक पुरातत्ववेत्ता के रूप मे हमारे सामने आते हैं, फलतः वहाँ पाठक को अनेक प्रकार की कठिनाइयो का सामना भी करना पडता है। सामाजिक उपन्यासो मे जीवन की चिरन्तन समस्याओ के साथ-साथ सामाजिक समस्याओ का चित्रण भी मिलता है। प्रेम-शृगार के भी यह सफल चितेरे प्रमाणित हुए हैं।

'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'नीलमणि', 'आत्मदाह', 'निरमेध', 'वैशाली की नगरवधू', 'सोना और खून', 'सोमनाथ', 'अपराजिता', 'धर्मपुत्र', 'वय रक्षाम ', 'गोली', 'बिना चिराग का शहर', 'पत्थर युग के दो बुत्त' आदि

इनके विशेष उल्लेखनीय एव बहुचर्चित उपन्यास हैं। इनके उपन्यासो की सबसे बडी विशेषता है—रोचकता। शेष औपन्यासिक तत्त्वो की भी इन्होने पूर्ण पालना और रक्षा की है।

इन्हे कहानी के क्षेत्र मे अधिक यथार्थवादी माना जाता है। इन्होने सामाजिक एव ऐतिहासिक दोनो प्रकार की कहानियो मे अन्त तक औत्सुक्य बनाए रखने की अपूर्व शक्ति का परिचय दिया है। इन्होने सामाजिक कुरीतियो पर कठोर प्रहार करने के साथ-साथ कुछ यथार्थवादी कहानियाँ भी रची हैं, जिन्हे कुछ लोग अश्लील की सज्ञा देते है। 'दुखवा मैं कासे कहूँ मेरी सजनी' आदि कहानियाँ इसी प्रकार की है। प्रत्येक कहानी मे यह एक स्पष्ट उद्देश्य लेकर चले हैं। इनके बीस से अधिक कहानी-सकलन प्रकाशित हो चुके हैं। इनके नाम हैं—'अक्षत', 'वीर-गाथा', 'नवाब ननकू', 'मुगल बादशाहो की अनोखी बातें', 'सोने की पत्नी', 'कैदी', 'सफेद कौआ', 'लम्बग्रीव' और 'दुखवा मैं कासो कहूँ मोरी सजनी' आदि। 'ककडी की कीमत', 'पानवाली', 'अक्षत' और 'दुखवा मैं कासो कहूँ मोरी सजनी' आदि इनकी प्रतिनिधि कहानियाँ मानी जाती हैं।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'—अपने नाम के अनुरूप ही 'उग्र' जी हिन्दी कथा-साहित्य के अत्यधिक उग्र एव सशक्त कथाकार हैं। इन्होने अपने उपन्यासो मे तीव्र मानसिक एव बौद्धिक अनुभूतियो को ओजस्वी एव प्रभावी भाषा मे अभिव्यक्त किया है। किन्तु स्वाभाविक अक्खडता तथा असयमित अभिव्यक्तियो ने इन्हें अनेक प्रकार की कुठाओ से ग्रस्त कर दिया, फलस्वरूप यह 'नाम न होगा तो बदनाम तो होगे ही' इस कहावत को चरितार्थ करके ही रह गये।

'दिल्ली का दलाल', 'चन्द हसीनो के खतूत' (पहला पत्रात्मक उपन्यास), 'बुधुआ की बेटी', 'घण्टा', 'शराबी', 'चॉकलेट', 'जीजाजी', 'सरकार तुम्हारी आँखो मे', 'कढी मे कोयला' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनमे से 'घण्टा' ऐतिहासिक उपन्यास है। शेष उपन्यासो मे सामाजिक कुरूपताओ को पूर्ण अक्खडता एव उग्रता से रूपायित किया गया है।

उपन्यासो के अतिरिक्त कहानीकार के रूप मे भी 'उग्र' जी को पर्याप्त ख्याति मिली है। इनकी कहानियो मे एक ओर तो त्याग, बलिदान एव राष्ट्रीयता

से सम्पन्न तीव्र स्वातन्त्र्य चेतना के दर्शन होते हैं, जबकि दूसरी ओर प्रवृत्त यथार्थवादी धरातल पर वासना का उग्र नृत्य भी हुआ है। 'उसकी माँ' जैसी कहानियाँ यद्यपि गोर्की के 'मदर' उपन्यास से प्रभावित है, तो भी वहाँ इनका एक दृष्टिकोण अवश्य रूपायित हुआ है। 'उसकी माँ' के समान 'जल्लाद' को भी इनकी प्रतिनिधि सर्जना माना जा सकता है। 'चिन्गारियाँ', 'निर्लज्ज', 'रेशमी', 'इन्द्रधनुष', दोजख की आग', 'जब सारा आलम सोता है', 'पंजाब की महारानी', 'सनकी अमीर' और 'कलाकार का पुरस्कार' आदि इनके प्रसिद्ध कहानी संकलन है। इनकी कहानियो मे व्यंग्य-विनोद का भाव भी पर्याप्त मिलता है। इनका प्रमुख उद्देश्य सामाजिक कुरूपताओ को आवरणहीन करना ही रहा है। इनकी कहानियाँ चरित्र-चित्रण, संवाद-योजना एवं कथानक-विकास आदि की दृष्टि से पर्याप्त प्रभावी हैं।

जैनेन्द्र कुमार (जन्म १६०५ ई०)—जैनेन्द्र जी आधुनिक हिन्दी साहित्य के एक प्रमुख सशक्त स्तम्भ हैं। ये अपनी दार्शनिक चिन्ताओ के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्हे हिन्दी मे मनोवैज्ञानिक उपन्यासो एवं कहानियो का प्रस्तोता माना जाता है। इन्होने उपन्यासो मे प्राय. वैयक्तिक समस्याओ का मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया है। इन वैयक्तिक समस्याओ का सम्बन्ध काम-कुण्ठाओं से ही अधिक है। इन पर दार्शनिक चेतनाओ का एक ऐसा झीना नीला पर्दा डाल दिया गया है कि वहाँ वीभत्स भी करुण हो उठा है। गाधी जी के 'आत्म-पीडा' सिद्धान्त से उपन्यासो मे इनकी चेतना अधिक परिचालित है। पर हमारा स्पष्ट मत है कि काम-कुण्ठाओ को आत्म-पीडन की दार्शनिक पद्धतियो मे घेरकर चित्रित करने के बाद भी इनका समाधान प्रस्तुत कर सकने मे ये उसी प्रकार असफल हैं, जैसे व्यवहार-जगत् मे गाधी आदि के वाद और रसद्धान्त। व्यापक जीवन की अनुभूतियो के चित्रण की ओर इनका ध्यान प्राय नही गया। यहाँ आत्म-सीमाओ के विस्तार की ही चेष्टा है, उन्नयन की नही। यथार्थ एवं दर्शन के दो पाटो में पिसकर उपन्यासो की प्रत्येक नारी अपने वस्त्रो को स्वय उघाडती हुई दिखाई देती है। हमारे विचार मे किसी भी दर्शन की यह घोर असफलता है। यहाँ किसी भी रूप मे सैक्सवादियो की दृष्टि से अधिक स्वस्थता नही कही जा सकती है।

क्योंकि नग्नता विद्रूप को तो जन्म दे सकती है, स्वस्थ काम-भावनाओ के उचित प्रतिफलन को नही। इन्होंने बस, एक ही स्वर मे एक ही सी अभिव्यक्ति-पद्धति में प्राय सभी उपन्यासो मे आलापा है।

'परख', 'तपोभूमि', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'त्यागपत्र', 'जयवर्धन', 'व्यतीत', 'विवर्त', 'सुखदा' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनमे से भी 'सुनीता' और 'त्याग-पत्र' अपनी तकनीकी दृष्टियो से अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। एक वाक्य मे जैनेन्द्रजी को व्यक्ति-कुण्ठाओ का उपन्यासकार ही कहा जा सकता है।

हमारे विचार मे जैनेन्द्र जी स्वस्थ-साहित्य-सर्जना की दृष्टि से उपन्यासकार की अपेक्षा कहानीकार के रूप मे अधिक शसक्त एव सफल हैं। कहानियो मे मानव-स्वभावो का वैविध्यपूर्ण एव सशक्त मनोविश्लेपण हुआ है। यहाँ व्यक्ति-वाद पर आध्यात्मिकता का झीना आवरण तो पडा है, पर यह उपन्यासो की दार्शनिकता का अन्ध झुटपुटा नहीं है। 'फाँसी', 'स्पर्धा' 'एक रात', 'वातायन', 'पाजेव', 'नई कहानियाँ', 'उद्भ्रान्त' आदि इनके प्रसिद्ध कहानी-सकलन हैं। इनकी समस्त कहानियाँ 'जैनेन्द्र की कहानियाँ' (सात भाग) नाम से भी प्रकाशित हो चुकी हैं। कहानीकार के रूप मे जैनेन्द्र निश्चय ही अधिक सृजनशील प्रमाणित हुए हैं।

भगवतीचरण वर्मा—हालावादी-प्रगतिवादी चेतना के कवि होने के साथ-साथ ये एक सफल उपन्यासकार एव कहानी-लेखक भी हैं। इन्हे यथार्थवादी प्रगतिशील चेतना का प्रमुख उपन्यासकार माना जाता है। इन्होने अपने उपन्यासो मे पाप-पुण्य, सत्-असत्, भलाई-वुराई का वडा ही मनोरजक, यथार्थ एव प्रभावी विवेचन किया है। वैयक्तिक एव सामाजिक सभी प्रकार की चेतनाएँ इनके उपन्यासो मे मिलती हैं।

सन् १९२७ मे 'पतन' नामक इनका पहला उपन्यास छपा था, किन्तु वह विशेप ध्यान आकर्पित न कर सका। इसके वाद सन् १९३४ मे जैसे ही इनका 'चित्रलेखा' नामक उपन्यास प्रकाश मे आया, इनकी धूम मच गई। हिन्दी के साहित्यिक उपन्यासो मे यह सर्वाधिक छपने और विकने वाला उपन्यास है। 'और पाप ?' इस प्रश्न से ऐतिहासिक परिवेश वाले इस उपन्यास का आरम्भ होता है

और अन्त मे उत्तर मिलता है कि पाप-पुण्य कुछ नही, मानव परिस्थितियो एवं नियति का दास है। इन्हीके अनुरूप उसे काम करना पडता है। वास्तव में 'चित्रलेखा' हिन्दी साहित्य की एक अजोड सर्जना है। 'तीन वर्ष', 'टेढे-मेढे रास्ते', 'आखिरी दांव', 'भूले-बिसरे चित्र', 'वह फिर नही आई', 'सामर्थ्य और सीमा', 'सबहि नचावत राम गोसाई' आदि इनके अन्य उपन्यास हैं। इनमे से 'चित्रलेखा' के बाद 'भूले-बिसरे चित्र' इनकी सर्वाधिक सशक्त सर्जना है, जिसमे क्रमश कई पीढियो की युग-चेतनाओ को सूक्ष्म सतर्कता और सजीवता के साथ रूपायित किया गया है।

उपन्यासो के समान वर्मा जी ने कहानियाँ भी कोई अधिक नही लिखी फिर भी जितनी है वे काफी सुरुचि-सम्पन्न एव कलात्मक हैं। इन्होने अपनी कहानियो मे प्रत्यक्ष जीवन के विभिन्न आयामो को बाँधने का सफल प्रयत्न किया है। यहाँ व्यग्य-विनोद एव मनोरजक तत्त्वो की प्रधानता है। सामाजिक रूढियो एव खोखलेपन पर करारे प्रहार भी हैं। यथार्थवादी दृष्टिकोण होते हुए भी वर्मा जी की कहानियो मे एक अपना ही सौन्दर्य सौष्ठव है। 'दो बांके' 'इन्स्टॉलमैण्ट', 'खिलते फूल', 'राग और चिनगारी' आदि इनके प्रसिद्ध कहानी सकलन हैं। समस्त कहानियो मे वास्तविक मोहन-शक्ति है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव—आधुनिक तथाकथित उच्च एव सम्भ्रान्त वर्गों की सभ्यता-सस्कृति के खोखलेपन को औपन्यासिक परिवेश मे अभिव्यक्ति देने वालो मे उपन्यासकार श्रीवास्तव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'विदा', 'विसर्जन', 'वेकसी का मजार'. 'विकास', 'विजय', 'बयालीस', 'पाप की ओर', 'विषमुखी' आदि इनके प्रसिद्ध प्रकाशित उपन्यास हैं। इनमे पाश्चात्य रगो मे रगे और उसी को सभी कुछ मानने वालो की ह्रासोन्मुख मानवीय प्रवृत्तियो एव सवेदनाओ का बहुमुखी चित्रण हुआ है। भाषा-भावना और अभिव्यक्ति पक्ष मे सरल सहजता है। पात्रो के चरित्र-चित्रण पूर्ण यथार्थ धरातल पर हुए हैं। इनके चित्रण मे तरलायित सवेदना एव करुणा है। सवाद-योजना भी काफी सजीव एव महत्त्व-पूर्ण है। कुल मिलाकर इनमे एक अच्छे उपन्यास और उपन्यासकार की समस्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी—प्रेमचन्द जी ने जिस स्वस्थ औपन्यासिक परम्परा को जन्म दिया था, अपने आरम्भिक उपन्यासो मे वाजपेयी जी उसीसे प्रत्यक्षत प्रभावित दिखाई देते हैं। उन्हीके समान आरम्भ मे इन्होने सामाजिक समस्याओ का जीवन के यथार्थ एव भोगे हुए धरातल पर चित्रण करके अन्त मे किसी न किसी आदर्शोन्मुखता का परिचय दिया है। किन्तु बाद मे ये अपनी इस परम्परा से क्रमश हटते हुए दिखाई देते हैं और आज तो इनकी समग्र चेतना प्राकृत यथार्थ से मासल वासना, रोमास और नग्न-शृगारिकता से घिरकर रह गई है। इमे हम प्रवृत्ति-परिवर्तन से अधिक रोटी-रोज़ी की समस्या के निराकरण का उपाय मानते हैं। कुछ भी हो, हिन्दी उपन्यास एव कहानी के विकास मे इनका योगदान निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

'दो बहनें', 'अनाथ पत्नी', 'पतिता की साधना', 'प्रेमपथ', 'लालिमा', 'पिपासा', 'चलते-चलते', 'त्यागमयी', 'निमत्रण', 'गुप्तधन', 'पतवार', 'यथार्थ से आगे', 'सूनी राह', 'भूदान', 'रात और प्रभात', 'अधिकार का प्रश्न' आदि इनके अनेक उपन्यास हैं। इधर और भी कुछ उपन्यास प्रकाश मे आये हैं, जहाँ वासना का ताण्डव ही अधिक है, फिर चाहे हम उसे मानसिक द्वन्द्व एव मनो-विश्लेषणात्मकता के आवरण से ढकने का ही प्रयत्न क्यो न करें।

उपन्यासकार के समान ही भगवतीप्रसाद वाजपेयी एक अच्छे कहानीकार भी हैं। इनकी कहानियों की स्थिति भी आदि-अन्त की दृष्टि से उपन्यासो के समान ही है। इन्होने मानव-जीवन की ह्रासशील चेतनाओ को अपनी कहानियों का विषय बनाया है, मध्यवर्गीय चेतनाओ के रोहावरोहो को रूपायित किया है, इन्हे मनोविश्लेषणात्मक ढग से स्वरूप एव आकार प्रदान करने की चेष्टा की है। 'मधुपर्क', 'दीपमालिका', 'हिलोर', 'पुष्करिणी', 'खाली बोतल', 'मेरे सपने', 'ज्वारभाटा', 'कला की दृष्टि', 'उपहार,' 'शृगार', 'उतार-चढाव' आदि इनके कहानी-सग्रह हैं। कुल मिलाकर वाजपेयी जी ह्रासोन्मुखी चेतनाओ के ही कलाकार हैं, जो अनवरत लिखते ही जा रहे हैं।

इलाचन्द्र जोशी—जोशी जी यद्यपि बहुमुखी प्रतिभा एव प्रवृत्तियो के कला-कार हैं, ये एक साथ कवि, आलोचक, निबन्धकार, कहानी लेखक और उपन्यास-

का इस सर्जना मे व्यापक चित्रण हुआ है। कला की दृष्टि से इनकी दूसरी सर्जना नदी के द्वीप' को प्रौढ स्वीकार किया गया है। इसमे काम-भावना और समस्या का चित्रण प्रमुखत. और कही-कही अमर्यादित रूप से हुआ है। उपन्यासकार के रूप मे अज्ञेय जी सैक्स-भावनाओ के ही प्रधान चितेरे हैं।

कहानीकार के रूप मे भी अज्ञेय जी ने मनोवैज्ञानिकता के आग्रह का सफलता से निर्वाह किया है। उपन्यासो के समान यहाँ भी बौद्धिकता तो है ही, साथ ही काव्यमयता का उन्मेष भी है। इन्होने निम्न एव मध्यवर्ग की चेतनाओ को अपनी कहानियो मे प्रश्रय दिया है। परिस्थितियो के सन्दर्भ में पात्रो के मनोविश्लेषण करने मे यह विशेष सिद्धहस्त हैं। 'कोठरी की वात', 'जयदोल', 'कडियाँ', 'परम्परा', 'त्रिपथगा', 'अमर वल्लरी' आदि इनके प्रसिद्ध कहानी सग्रह हैं। 'पठार का धीरज', 'सेव और देव' तथा 'शत्रु' आदि इनकी प्रतिनिधि कहानियाँ मानी जाती हैं।

यशपाल—परवर्ती-प्रेमचन्द्र युग मे रूसो, वाल्टेयर और कार्ल मार्क्स जैसे समाजवादी चिन्तको की विचारधारा से प्रभावित समाजवादी-यथार्थवादी उपन्यासो की जो धारा चली, यशपाल उस धारा के प्रवर्त्तक और प्रतिनिधि कलाकार हैं। इसके साथ-साथ जीवन की विस्तृत परिधियो मे जो रोहावरोह आते रहते है, उन्हे इन्होने ऐतिहासिक परिवेश मे देखा, सुना, समझा और भोगा है। फलस्वरूप इनकी उपन्यास-कला जीवन के यथार्थ स्तर-स्पन्दनो से विशेष रूप मे स्पन्दित है। उपन्यासकार के रूप में इनकी सबसे बडी देन यह है कि इन्होने सामाजिक चेतना को ऐतिहासिक परिवेश एव सन्दर्भों मे हमारी चिन्तना का विषय वनाया है। ऐतिहासिक परिवेश से हमारा अभिप्राय कथानको की ऐतिहासिकता नही, बल्कि मानव-विकास की चिन्तना और चेतना की ऐतिहासिकता से है। इसी आधार पर इन्होने रूढिवादी, धर्म, भाग्य, एव ईश्वर से सम्वन्धित चेतनाओ को सामन्ती-साम्राजी एव पूँजीवादी चेतनाओ की देन मानकर इनका सशक्त खण्डन किया है। यह इनकी साहित्य-साधना का प्रमुख स्वर है और देन भी है।

उपन्यासकार के रूप मे अभी तक यशपाल हिन्दी-साहित्य को निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रदान कर चुके हैं—'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' 'पार्टी

कामरेड', 'दिव्या' (ऐतिहासिक परिवेश), 'जनानी ड्योढी', 'मनुष्य के रूप', 'अमिता' और 'झूठा मच'। वैसे तो इनके सभी उपन्यास अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं, किन्तु हमारे विचार मे 'झूठा सच' इनका सर्वाधिक सशक्त एव सजीव उपन्यास है। यह दो युगो की एक विस्तृत परिधि-सीमा है—यशपाल की चेतना की भी और भारतीय राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना की भी।

उपन्यासकार के समान ही यशपाल का कहानीकार भी अत्यन्त सजग, व्यावहारिक, यथार्थ और इन्हीं कारणो से ग्राह्य भी है। इनकी कहानियो मे विविध परिवेशो मे जीवन की समग्रता को उभारने—अकित करने का सफल प्रयास हुआ है। इनका दृष्टिकोण यहाँ भी चेतना के ऐतिहासिक परिवेश मे समाजवादी ही है। अत· इन्होने आडम्बरपूर्ण जीवन की विवशताओ को अत्यन्त कलात्मक ढग से उघाडा है। इन्होने मानव प्रगति एव हित-साधन की भावना से अनुप्राणित होकर सामाजिक एव राजनीतिक पहलुओ का सफलता के साथ स्वर एव आकार प्रदान किया है। 'अभिशप्त', 'ज्ञान-दान', 'वो दुनिया', 'फूलो का कुर्त्ता', 'पिंजरे की उडान', 'तर्क का तूफान', 'उत्तराधिकारी', 'चित्र का शीर्षक', 'तुमने क्यो कहा था मैं सुन्दर हूँ', 'भस्मावृत्त चिनगारी', 'धर्म-युद्ध', 'उत्तमी की माँ', 'सच बोलने की भूल' प्रभृति इनके प्रसिद्ध प्रकाशित कहानी-सकलन हैं। इनकी सभी प्रकार की कहानियाँ प्राणवत्ता से अन्वित, जीवन के भोगे हुए और भोगे जा रहे यथार्थ की द्योतक, सजीव एव प्रभावी हैं। कला-शिल्प, अभिव्यक्ति आदि सप्राण हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—परवर्ती-प्रेमचन्द युग के कलाकारो मे इनकी परम्परा की रक्षा करने वाले सशक्त कथाकार 'अश्क' जी कविता एव नाटक के क्षेत्रो के समान उपन्यास और कहानी के क्षेत्र मे भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'अश्क' जी का अपना जीवन जिस प्रकार के निम्न एव निम्न मध्यवर्गीय चेतनाओ तथा परिवेश मे पला-पुसा है, उस सबको सजीव साकारता इनके उपन्यासो मे प्राप्त हो सकी है। ये निम्न मध्य और मध्यवर्गीय चेतनाओ, सस्कारो, द्वन्द्वो एव उत्पीडनो को लेकर जीवन के सघर्ष-क्षेत्र मे अवतरित हुए, अतः इनके उपन्यासो के पात्र भी प्राय कुण्ठाग्रस्त मध्यवर्गीय बुर्जुआ समाज के सजीव अग हैं। इन्हे

बडी कुशलता से उपन्यासों मे रूपायित किया गया है। वस्तुयोजना और उसका विकास, चरित्र-चित्रण, चुस्त एव सजीव सम्वाद-योजना, देश-काल-वातावरण आदि सभी कसौटियो पर इनके उपन्यास खरे उतरे है। आचलिकता के विशेष तत्त्व भी इनके उपन्यासो मे पाये जाते हैं। 'गिरती दीवारें' (या 'चेतन'), 'सितारो के खेल', 'बडी बडी आँखें', 'रगसाज', 'ये आदमी ये चूहे', 'पत्थर अल पत्थर' और 'गर्म राख' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनमे 'गिरती दीवारें' और 'बडी-बडी आँखें' कलात्मक दृष्टि से अधिक सफल माने जाते हैं।

उपन्यासकार के अतिरिक्त 'अश्क' जी कहानी के क्षेत्र मे भी अपनी प्रगतिशीलता के कारण विशेष महत्त्व रखते हैं। इन्होने अपनी कहानियो के विषय निम्न, मध्य और मध्यवर्गों से लिये है। इन्होने परिस्थितियो के परिवेश मे अपनी अनुभूतियो से सवलित करके पात्रो के चरित्रो को बडी कुशलता से उभारा है। उनकी कहानियो मे कही-कही हास्य-व्यग्य की छटा भी है। मानवीय करुणा की सहज-अविरल अन्त धारा, वहाँ प्रवाहित है। 'काले साहब', 'जुँदाई की 'शाम का गीत', 'बैंगन का पौधा', 'पाषाण', 'पिजरा', 'निशानियाँ', छीटे', 'अकुर', 'दो धारा', 'चरवाहे' नामो से इनके अनेक कहानी-सग्रह प्रकाशित हुए हैं। हमारे विचार मे 'डाची' इनकी सर्वश्रेष्ठ एव प्रतिनिधि कहानी है।

रागेय राघव—स्वतन्त्र्योत्तर युग के उपन्यासकारो मे डॉ० रागेय राघव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैसे इनके उपन्यास-लेखन की प्रक्रिया 'घरौंदे' नामक उपन्यास से सन् १९४१ से आरम्भ की गई थी, पर तब इनकी ओर किसीका ध्यान आकर्षित नही हुआ था। यह लोगो का ध्यान अपनी ओर सन् १९५७ मे प्रकाशित उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' से ही आकर्षित कर सके। इनका यह उपन्यास आचलिक उपन्यासो की कोटि मे आता है। उपन्यासकार ने स्वानुभूत चित्रो को, उनके चरित्रो एव समस्त सीमाओ को बड़े यथार्थ रूप से उरेहा है। इनके अतिरिक्त 'धरती मेरा घर' आदि इनके अन्य अनेक उपन्यास भी प्रकाश मे आ चुके हैं।

फणीश्वरनाथ 'रेणु'—वैसे तो आचलिक उपन्यासो की परम्परा हिन्दी साहित्य मे सद्गुरुशरण अवस्थी के उपन्यास 'देहाती दुनिया' से ही आरम्भ हो

जाती है किन्तु 'आंचलिक' शब्द का प्रथम वार स्पष्ट प्रयोग रेणुजी के 'मैला आंचल' नामक उपन्यास के प्रकाशन के वाद ही आरम्भ हुआ है, अत इन्हे ही आंचलिक उपन्यासो का प्रस्तोता माना जाता है। इनकी दूसरी प्रमुख रचना है—'परती . परिकथा'। इन दोनो मे आंचलिक उपन्यासो के प्राय' सभी गुण एव तत्त्व विद्यमान हैं। निश्चय ही इन्होने आंचलिकता का एक विशेप मान स्थापित किया है।

उपन्यासो के अतिरिक्त इन्होने आंचलिक तत्त्वो से समन्वित अनेक कहानियाँ भी लिखी है।

मन्मथनाथ गुप्त—आधुनिक काल के समस्यात्मक एव समस्या-प्रधान उपन्यास रचने वालो मे मन्मथनाथ गुप्त.का प्रमुख स्थान है। इन्होने प्रत्यक्ष जीवन की ज्वलन्त समस्याओ को अपने उपन्यासो का विपय वनाया है। वेश्या समस्या, यौन-समस्या, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-ममस्या, अन्धरूढियो एव रीतियो का विरोध इनके उपन्यासो मे प्रत्यक्ष रूप मे देखा जा सकता है।

'चक्की', 'वलि का वकरा', 'सुधार', गृह-युद्ध', 'अवसान', 'जय-यात्रा', 'दो कैंचुल एक सांप', 'जिच' आदि इनके प्रमुख उपन्यास है। इनमे यथार्थ जीवन के कटु सत्यो का उद्घाटन वडे यथार्थ रूप से किया गया है। इन्होने कुछ कहानियाँ भी रची हैं। इनमे क्रान्ति-भावना की प्रमुखता है।

अमृतलाल नागर—स्वातन्त्र्योत्तर युग के उपन्यामकारो मे नागर जी सर्वाधिक शक्त उपन्यासकार हैं। इन्हे यथार्थवादी चेतना का प्रमुख उपन्यासकार कहा जा सकता है। इनके उपन्यासो मे इतिहास, पुरातत्त्व और आधुनिकता का अद्भुत सूक्ष्म समावेश मिलता है। अनेक परम्परागत मान्यताओ को इन्होने ऐतिहासिक परम्परा और युग-सन्दर्भो मे नवीन व्याख्याएँ भी प्रदान की हैं। इन्होने ऐतिहासिक सामाजिक एव हाम्य-व्यग्य-प्रधान तीन प्रकार के उपन्यास रचे हैं। 'महाकाल' वगाल मे पडने वाले अकाल की पृष्ठभूमि पर रचा गया इनका मर्वप्रथम उपन्याम है। इसीने इन्हे सफलता एव ख्याति के चरम शिखर पर पहुँचा दिया था। 'नवावी मसनद' और 'सुहाग के नूपुर' इनके दो ऐतिहामिक उपन्यास हैं। इनमे उनके पुरातत्त्व ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। 'सेठ वांकेमल' सामाजिक व्यग्य है, जिसमे

ऐतिहासिक परिवेश मे नये और पुराने युगो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। 'ये कोठेवालियाँ' एक यथार्थ जीवन की अनुभूतिपूर्ण चेतना का प्रतिपादक है। 'बूंद और समुद्र' इनका सर्वाधिक सफल एव बहुचर्चित उपन्यास है। इनमे नागर जी की बहुमुखी प्रतिभा, उपन्यास-कला और अन्वेषक पुरातत्त्ववादी प्रवृत्ति के चरम शिखरो को छूती हुई दिखाई देती है। इसमे उपन्यास के भीतर उपन्यास की एक नई प्रवृत्ति भी है। यह प्रवृत्ति 'अमृत और विष' मे और सबल रूप से उभरकर सामने आई है। 'एकदा नैभिषारण्ये' इनका अभी तक प्रकाशित अन्तिम सशक्त उपन्यास है। इसमे भी सामाजिक जीवन एव युग-सदर्भों का सफल रूपायण हुआ है।

इस प्रकार नागर जी की उपन्यास-कला विकास की सीढियाँ लाँघती हुई चरम शिखरो की ओर निरन्तर अग्रसर है।

डॉ० धर्मवीर भारती—कुशल कवि, सम्पादक और विचारक डॉ० भारती एक सफल उपन्यासकार भी हैं। इन्होने कविता के समान उपन्यास के क्षेत्र मे भी कुछ नये प्रयोग किये हैं। रोचकता और सर्वाङ्गीण सजीवता इनके उपन्यासो का प्रमुख गुण है। अभी तक 'गुनाहो के देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोडा' नामक दो ही सशक्त उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। दोनो ही बहुचर्चित और बहुपठित सफल रचनाएँ हैं।

नागार्जुन—फणीश्वरनाथ 'रेणु' से आधुनिक उपन्यास के क्षेत्र मे आचलिकता की जिस प्रवृत्ति ने जन्म लिया था, उस प्रवृत्ति को विकसित करने मे नागार्जुन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। रतिनाथ की चाची, बलचनमा, नई पौध, बाबा बटेसरनाथ, दुखमोचन आदि इनकी प्रसिद्ध औपन्यासिक रचनाएँ हैं। आधुनिक औपन्यासिक शिल्प को सजाने-सँवारने मे इनका विशेष महत्त्व माना जाता है।

मोहन राकेश—आज के सजग कलाकारों मे मोहन राकेश की बहुमुखी कला, निश्चय ही अनेक दशाओ मे उत्तरोत्तर विकास प्राप्त कर रही है। एक सफल नाटककार तो ये हैं ही, इन्हें एक सफल उपन्यासकार और कहानीकार के रूप मे भी विशेष ख्याति मिली है। 'अँधेरे बन्द कमरे' सन् १९६१ मे प्रकाशित

इनका प्रथम उपन्यास है, जिसने इनके उपन्यासकार के रूप की सभावनाओ को स्पष्टतः उजागर कर दिया था। इस वृहद् आकार वाले उपन्यास मे इन्होने आज के जीवन को अनेक दृष्टियो से देखने का सफल प्रयत्न किया है। इसके वाद इनके क्रमश 'नीली रोशनी की वाँहे', 'काँपता हुआ दरिया', 'न आने वाला कल' आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके है। 'उस रात के वाद' तथा 'जो कहे पापा, जो करें पापा' इनके द्वारा अनूदित उपन्यास हैं।

आधुनिक कहानीकार के रूप मे अभी तक यह अनेको सशक्त एव युग-वोध से समन्वित कहानियाँ हिन्दी साहित्य को प्रदान कर चुके हैं। इनके नौ-दस कहानी-सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके नाम हैं—'इसान के खडहर', 'नये वादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और जिंदगी', 'फौलाद का आकाश', 'आज के सोये', 'रोये-रेशे', 'एक-एक दुनिया', 'मिले-जुले चेहरे' आदि । सभी कहानियाँ सशक्त एव प्रभावी हैं।

विष्णु प्रभाकर—एकाकी नाटको के समान विष्णु प्रभाकर का अपने उपन्यासो का दृष्टिकोण भी पूर्णतया स्वस्थ मानवतावादी एव सृजनात्मक है। इनकी रचनाओ मे किसी भी प्रकार की अनास्था या कुण्ठा अथवा निराशा के दर्शन नही होते। इन्होने जीवन के स्वस्थ भावो से अपने उपन्यासो के कथानक चुने हैं और इन्हे प्रत्यक्ष जीवन की स्वस्थ व्यवहार-दृष्टि से ही विकसित किया है। इनके पात्र स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हुए भी जीवन की अविरल धारा के एक अग हैं, अत जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण भी पूर्णतया सृजनात्मक और आशावादी है।

इनके 'तट के वन्धन', 'निशिकान्त', 'ढलती रात' और 'स्वप्नमयी' आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इनमे 'निशिकान्त' सर्वाधिक चर्चा का विषय रहा है। इन्होने प्रमुखतः राष्ट्रीय महत्त्व की समस्याओ को ही अपने उपन्यासो मे महत्त्व दिया है। प्रेमचन्द जी की स्वस्थ परम्परा का निर्वाह आज इन्हीके उपन्यासो मे हो पा रहा है।

सुदर्शन—प्रेमचन्द-युग के कहानीकारो मे सुदर्शन जी का नाम एव काम विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्होने पहले उर्दू मे ही लिखना आरम्भ किया था और वाद मे हिन्दी क्षेत्र मे आये। ये कहानी के क्षेत्र मे मानवीय चेतनाओ और सास्कृतिक

आदर्शों के सफल चितेरे माने जाते हैं। इनकी पहली हिन्दी कहानी सन् १९२० मे 'सरस्वती' पत्रिका मे प्रकाशित हुई थी। तब से लेकर आज तक इन्होने दर्जनो सुन्दर कहानियाँ हिन्दी साहित्य को प्रदान की है। इनका जन्म सन् १८६९ में स्यालकोट मे और निधन सन् १९७० मे बम्बई मे हुआ।

'सुदर्शन-सुमन', 'गल्प मजरी', 'सात कहानियाँ', 'सुहराब और रुस्तम', 'परिवर्तन', 'पुष्पलता', 'सुदर्शन-सुधा', 'नगीना' आदि इनके अनेक कहानी सग्रह प्रकाशित हुए हैं। इन्होने सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। इनकी ऐतिहासिक कहानियो मे कल्पना का भव्य उन्मेप भी मिलता है। सामाजिक कहानियो मे पारिवारिक जीवन एव आस्थाओ का सम्यग् चित्रण हुआ है। इनकी प्रवृत्ति एव दृष्टि सामान्यत उपदेशात्मक एव सुधारवादी ही रही हैं। फिर भी कहानियो मे नीरसता नही। ये अपना एक अमिट प्रभाव छोड जाती है। मानवीय सहज सवेदनाओ को उभारने मे भी यह विशेप कुशल थे। हमारे विचार मे 'हार की जीत' इनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी है। इस कहानी का नायक 'बाबा भारती' विश्व-कथा-साहित्य के अमर नायको मे से एक है।

चन्द्रगुप्त विद्यालकार—आज के सफल कहानीकारों मे इनका नाम भी विशेष महत्त्व रखता है। इन्होने अपनी कहानियो मे समग्र युग-बोध के स्वस्थ मानवीय पक्षो का उद्घाटन बडी कुशलता से किया है। यह पात्रो का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने मे विशेष सिद्धहस्त हैं, पर वह मनोविज्ञान सैद्धान्तिक न होकर सहज ही होता है। इनकी कहानियो मे जीवन की विविधता एव अनेकरूपता स्पष्ट देखी जा सकती है।

'अमावस', 'वापसी', 'भय का राज्य', 'चन्द्रकला', 'पहला नास्तिक', 'तीन दिन' आदि इनके प्रकाशित कहानी सग्रह हैं। हमारे विचार मे 'गुलाब', 'मास्टर साहब' और 'मैं जरूर बचा लूंगा' इनकी सफलता का मान स्थापित करने वाली प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। भाषा, भावना, विपय-वर्णन की सुघडता और मानवतावादी दृष्टिकोण—सभी दृष्टियों से यह एक सफल कहानीकार हैं।

निबन्ध : उद्भव एवं विकास

अंग्रेजी शब्द 'एस्से' (Essay) के अर्थ मे हिन्दी निवन्ध एक पूर्णतया आधुनिक साहित्य विधा है। साहित्य की यह विधा इस दृष्टि से अत्यधिक लचीली है कि इसके अन्तर्गत किसी भी विषय को लेकर व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता से अपने विचारो को स्पष्ट अभिव्यक्त कर सकता है। इसके लिए किसी भी प्रकार का कोई कठोर नियम या अनुशासन नही है। बस, विचारो का एक क्रम अवश्य रहना चाहिए। इसका आकार-प्रकार लघु एव विस्तृत किसी भी प्रकार हो सकता है। लेखक किसी भी विषय को लेकर अपने विचार, मत या मान्यताएँ प्रतिष्ठापित कर सकता है। यह दिशा-निर्देश भी दे सकता है। किन्तु इतनी सारी सुविधाएँ रहते हुए भी निवन्ध-रचना सरल कार्य नही माना जाता। अत्यन्त सुलझे हुए मन-मस्तिष्क एव विचारो वाला व्यक्ति ही अच्छे निवन्ध की रचना कर सकता है। इसके लिए जीवन के विभिन्न परिवेशो, तत्सम्वन्धी विभिन्न विचारो, मान्यताओ एव दर्शन से निकट का सम्वन्ध होना आवश्यक है। सामयिक एव परम्परागत मान्यताओ तथा स्थितियो से परिचित होना भी अनिवार्य है। ये सव वातें रहते हुए किसी भी विषय पर अच्छा निवन्ध लिखा जा सकता है।

प्रेस की स्थापना, सामाजिक और अन्य राजनीतिक आदि क्षेत्रो मे जागरण, पत्र-पत्रिकाओ के प्रकाशन ने निवन्ध साहित्य के विकास मे विशेष योगदान प्रदान किया है। युगीन निवन्धकारो ने इन समस्त सुविधाओ का लाभ उठाकर उच्च कोटि के निवन्ध रचे है। सस्कृत में एक कहावत है—"गद्य कविना निकष वदन्ति"—अर्थात् गद्य कवियो का निकष होता है, जव कि वाद मे आचार्य शुक्ल ने कहा कि निवन्ध-लेखन गद्यकार की कसौटी है। निवन्ध-साहित्य के आरम्भ से लेकर आज तक के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के निवन्धकार इस कसौटी पर पूर्णतया खरे उतरे हैं।

गद्य-साहित्य की अन्य विधाओ के समान हिन्दी-निवन्ध का आरम्भ भी भारतेन्दु-युग से ही हुआ है। तव से लेकर आज तक हिन्दी-निवन्ध विकास की अनेक मंजिलें पार कर चुका है। इसके विकास की इस प्रक्रिया को चार चरणो

मे विभाजित करके ही उसका वास्तविक मूल्याकन सम्भव हो सकता है। विकास के ये चार चरण हैं —

१ प्रारम्भ (भारतेन्दु-युग)।
२ विकास (द्विवेदी-युग)।
३ प्रौढता (शुक्ल-युग)।
४ शुक्लोत्तर युग।

१ **प्रारम्भ (भारतेन्दु युग)**—निवध-साहित्य का प्रवर्त्तन राष्ट्रीय जागरण के उदय-काल भारतेन्दु-युग मे ही हुआ है। हिन्दी के सर्वप्रथम मान्य निवधकार स्वय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हैं। प्रारम्भिक युग होने के कारण इस युग का प्रत्येक साहित्यकार अपने दायित्वो से भली प्रकार परिचित तो था ही, इसके निर्वाह के प्रति सजग एव सचेष्ट भी था। इसके सामने सामाजिक एव राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण की अनेक चुनौतियाँ विद्यमान थी। ये अपनी सस्कृति के खोये हुए मूल्यो की भी पुनर्स्थापना चाहता था। इसके लिए एक विशेष आदर्श एव सुधारवादी दृष्टि-कोण की बहुत आवश्यकता थी। अत भारतेन्दु सहित इनकी मण्डली के समस्त लेखक इसी ज्वलन्त दृष्टिकोण को लेकर अन्य विधाओ के समान निबध के क्षेत्र मे भी आये। भारतेन्दु-मण्डल के प्राय सभी लेखक किसी न किसी विशिष्ट पत्र-पत्रिका से सबध रखते थे। इस युग के पत्रो मे कवि-वचन-सुधा, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, ब्राह्मण, हिन्दी प्रदीप और आनन्द-कादम्बिनी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु-मण्डल के लेखक इन पत्र-पत्रिकाओं मे प्राय निबधो को ही अधिक प्रश्रय देते थे, क्योकि निबधों के द्वारा ये अपने मन्तव्य सहज-सीधे भाव से प्रकट कर जन-जीवन तक पहुँच सकते थे। अत इन्होने प्रत्यक्ष जीवन से सबधित प्रत्येक प्रश्न को निवधो के माध्यम से उठाया। व्यवहार-जगत् से सबधित सभी विषय इस युग के निबधो की परिधि मे आ जाते हैं। कुछ ललित भावात्मक एव साहित्यिक निवध भी रचे गये। आलोचनात्मक निबधो को भी सामान्य प्रश्रय मिला। हास्य, व्यग्य-विनोद तो प्राय सभी प्रकार के निबधो में देखा जा सकता है। लगता है, जैसे सभी निवध किसी न किसी मन-मौज मे आकर ही रचे गये हैं।

जी के अतिरिक्त प० प्रतापनारायण मिश्र, वालकृष्ण भट्ट,

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त, तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास और ज्वालाप्रसाद आदि इस युग के प्रमुख निबंधकार है। भारतेन्दु जी ने धर्म, समाज, राजनीति, खोज, यात्रा, प्रकृति-चित्रण, आलोचना, व्यग्य-विनोद, आत्मचरितात्मक सभी प्रकार के निबध रचे थे। इनमे इन्होने अन्य रूढियो, कुरीतियो, पूर्वाग्रहो, सामयिक राजनीतिक चेतनाओ आदि पर करारे व्यग्य किये हैं। प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट इस युग के सर्वाधिक सशक्त निबधकार थे। इन्होने सामाजिक, राजनीतिक, ज्ञान-विज्ञान सबधी अच्छे निबध रचे। भट्ट जी ने भारतेन्दुजी की व्याख्यात्मक तथा विचारात्मक निबध-शैलियो को अधिक प्रश्रय दिया। 'बातचीत', 'स्वाभिमान', 'कौतुक-कलेवर' और 'मन की दृढता' आदि इनके प्रतिनिधि निबध माने जाते है। प्रतापनारायण मिश्र के निबधो मे मनमौजीपन और व्यक्तित्व का निखार अधिक हुआ है। विषय कोई भी हो, उसमे देश, समाज और भाषा-सेवा तथा प्रेम की बातें अवश्य आ जाती थी। 'प्रताप पीयूष' तथा 'प्रताप समुच्चय' आदि इनके प्रसिद्ध निबध-सकलन है। बालमुकन्द गुप्त ने 'शिवशम्भु का चिट्ठा' आदि के माध्यम से व्यग्यात्मक शैली के निबधो मे सामयिक स्थितियो का प्रखर चित्रण किया। बद्रीनारायण चौधरी के निबधो मे विषयो की विविधता और भाषा मे कलात्मक वक्रता विशेष दर्शनीय है। राधाचरण गोस्वामी के निबध भी सामयिक चेतनाओ से सम्पन्न है। शेष व्यक्तियो के फुटकर निबध इधर-उधर बिखरे मिलते है। इनमे स्पष्ट रूप से युगीन जागरूकता का आभास देखा जा सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक भारतेन्दु-युग मे निबध साहित्य का प्रवर्त्तन अत्यधिक सुदृढ धरातल पर हुआ था। उसमे विषयो का वैविध्य तो है ही सही, अभिव्यक्ति-पद्धतियो का वैविध्य भी विशेष दर्शनीय है। निबधकार और इनके चर्चित विषय प्राय घुल-मिलकर एकमेक हो गये है। इनकी प्रमुख विशेषता यही है कि वहाँ सभी कुछ निश्छलता एव पूर्ण आत्मीयता के साथ सम्पन्न हुआ है। इनमे प्रदर्शन आदि की प्रवृत्तियो, एव गूढ ज्ञान की रुचियो का सर्वथा अभाव है। इन्होंने अपनी बात कह मात्र दी है, कोई अन्तिम स्थापना नही की। हमारे विचार मे विशुद्ध निबध की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है।

फिर भी कुल मिलाकर विकास-प्रक्रिया की दृष्टि से वह निवध-साहित्य का शैशव-काल ही है।

२ विकास (द्विवेदी-युग)—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-भार सँभालते ही निवध-साहित्य के क्षेत्र मे क्रमश विकास के लक्षण प्रस्फुटित होने लगे। इन्होने सशक्त अभिव्यक्ति के लिए सर्वप्रथम भापा का सस्कार, परिष्कार एव नियमन किया। विराम-चिह्नो की उपयोगिता पर बल दिया। अन्य प्रचलित एव व्यवहार मे आने वाली भापाओ का साग्रह ग्रहण भी किया, ताकि हिन्दी समृद्ध होकर अभिव्यक्ति का सवल माध्यम वन सके। द्विवेदी जी मूलत नैतिक आदर्शो से अधिक परिचालित थे, अत इन वातो का आभास हमे इस युग के निवधो मे भी मिलता है। विकसित निवध-साहित्य की परम्पराओ से हिन्दीभापियो को परिचित कराने के लिए द्विवेदी जी ने 'वेकन-विचार-रत्नावली' नाम से प्रसिद्ध पाश्चात्य निवधकार वेकन के निवधो का अनुवाद भी प्रस्तुत किया। इन्होने युगीन निवधकारो का पथ-प्रदर्शन करने के लिए कुछ विधात्मक निवध भी लिखे। फलस्वरूप यह नव्य विधा भारतेन्दु-युग मे प्रवर्तित अभिव्यक्ति की एक सशक्त विधा वन सकी। निवधो मे क्रमश गम्भीरता आती गई। शैशवी किलकारियो से निकलकर निवध युवा-मुस्कान बिखेरने लगा।

इस अन्तर्युग के प्रमुख निवधकार हैं स्वय महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, पद्मसिह शर्मा, मिश्रवन्धु, माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सरदार पूर्णसिह, पण्डित गोविन्द नारायण मिश्र आदि। इनमे से बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रवन्धु आदि विद्वानो ने अपने निवधो मे द्विवेदी जी की परम्परा का ही प्रमुखत निर्वाह किया है। द्विवेदीजी का निबधकार के रूप मे इतना साहित्यिक महत्त्व नही स्वीकार किया जाता, जितना कि ऐतिहासिक, क्योकि इन्होने मुख्यत पथ-प्रदर्शन ही किया। इनके 'कवि और कविता', 'साहित्य की महत्ता', 'प्रतिभा', 'नाटक और उपन्यास', 'कवि-कर्त्तव्य' जैसे निवध वास्तव मे साहित्यकारो का मार्ग-निर्देशन की दृष्टि से ही लिखे गये थे। इनके अतिरिक्त इन्होने वहुत कम सख्या मे मौलिक चिन्तनपूर्ण निवध रचे। इन्होने 'प्रभात' जैसे

कुछ प्रकृति-चित्रण-प्रधान अलकृत निबंध भी लिखे।

अन्य निबधकारो मे से माधव मिश्र के निबध भावपूर्ण, सरस और मधुर है। इनमे मार्मिकता एव गम्भीरता भी है। इनके निबधो का सकलन 'माधव मिश्र निबध माला' नाम से प्रकाशित हो चुका है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने आलोचनात्मक निबध ही प्राय अधिक लिखे। इनके निबधो मे विचार-सचय की प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जा सकती है। मिश्रबन्धुओ के निबध अधिकतर शिक्षात्मक है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने कहानियो के समान निबध भी बहुत कम लिखे; किन्तु जो कुछ भी लिखा, वह इनकी कर्मठ प्रतिभा के अनुरूप अत्यधिक सराहनीय है। इनके 'कछुवा धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाव' जैसे कुछ निबध विशेष प्रसिद्ध है। सरदार पूर्णसिह ने विशुद्ध मानवतावादी दृष्टिकोण से परिचालित होकर विशेष भावात्मक कोटि के निबध लिखे थे। यहाँ व्यक्तित्व की छाप भी स्पष्ट है। 'मजदूरी और प्रेम', 'नयनो की गगा', 'आचरण की सभ्यता' और 'सच्ची वीरता' आदि इनके प्रसिद्ध निबध हैं। इसी प्रकार पद्मसिह शर्मा ने भी फडकती हुई भाषा मे अनेक सुन्दर निबध लिखे, जिनका प्रकाशन 'पद्म-पराग' और 'प्रबध मजरी' नामक सकलनो मे हो चुका है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग का निबंध-साहित्य विचारो की गम्भीरता से क्रमश बोझिल होता गया। इसमे भारतेन्दु-युग जैसी ताजगी नही रही, मनमौजीपन भी नही रहा, साहित्यिकता अधिक आती गई। उपदेश का भाव भी यहाँ विद्यमान है। हमारे निजी विचार मे अध्यापक पूर्णसिह जी को ही इस युग का सर्वश्रेष्ठ निबधकार माना जा सकता है, क्योकि जो स्वाभाविकता हमे यहाँ मिलती है, वह अन्यत्र सुलभ नही है। इसी प्रकार गुलेरी जी के निबन्ध भी काफी प्रभावी एव महत्त्वपूर्ण हैं। भाषा, शैली की प्रौढ़ता एव निखार यहाँ अवश्य सभीमे देखा जा सकता है। इन्ही सब कारणो से द्विवेदी-युग का महत्त्व इतना साहित्यिक नहीं, जितना ऐतिहासिक है।

३ प्रौढ़ता (शुक्ल-युग)—द्विवेदीजी के युग मे ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का साहित्य के क्षेत्र मे पदार्पण हो गया था। पर इनकी प्रतिभा का सहज एवं प्रखर विकास उनके बाद ही देखने को मिलता है। निबन्ध के क्षेत्र मे इनके

प्रवेश ने वास्तव मे क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत किए। इनका व्यक्तित्व हिन्दी निवन्ध को वास्तविक प्रौढता प्रदान करने वाला प्रमाणित हुआ। द्विवेदी-युग मे वर्णनात्मक वा विवरणात्मक निवन्ध ही अधिक रचे गये। यहाँ वैचारिक गम्भीरता एव चिन्तन की भी कमी रही। ये समस्त कमियाँ शुक्ल जी के आते ही स्वत सिमटने लगी। शुक्ल जी ने भारतीय एव पाश्चात्य निवन्ध शैलियो का सूक्ष्म समन्वय कर विचार-प्रधान, भावात्मक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि सभी प्रकार के निवन्ध लिखे। 'चिन्तामणि' (दो भाग) और 'विचार वीथी' नामक इनके तीन निवन्ध-सग्रह प्रकाशित हुए। मनोविकारो पर इनके द्वारा रचे गए निबन्ध विशेष महत्त्वपूर्ण है—जैसे 'लोभ और प्रीति', 'करुणा', 'उत्साह', 'मित्रता' आदि। इनके निवन्धो मे गम्भीरता, मरसता, सुबोधता आदि सभी गुण विद्यमान है। हाँ, इनके विशुद्ध शास्त्रीय विपयो पर रचे गए आलोचनात्मक निबन्ध काफी जटिल और दुर्बोध्य माने जाते है और ये वडे-वडे विद्वानो के भी छक्के छुडा देते हैं। इनके निवन्धो मे विषय और व्यक्तित्व सर्वत्र घुले मिला दृष्टिगत होता है। 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप' जैसे निवन्ध काफी गहन एव जटिल ह। कुल मिलाकर इनके निबधों मे मौलिक चितना, विश्लेषण की प्रौढता, विवेचन की सूक्ष्म गम्भीरता और व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप आदि सभी गुण पूर्ण प्रौढता के साथ विद्यमान है। इनका युग इमी कारण प्रौढता का युग कहलाता है।

इस युग के अन्य निबन्धकारो मे बाबू गुलाबराय, प्रेमचन्द, पदुमलाल, पुन्नालाल वख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, वियोगी हरि, निराला, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक आदि प्रमुख है।

वावू गुलाबराय ने भावात्मक एव विचारात्मक दो प्रकार के निबध लिखे हैं, इनके 'फिर निराशा क्यो' और 'मेरी असफलताएँ' नामक दो निबध सकलनो मे सभी प्रकार के निबध सकलित है। पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी ने भावात्मक एव विचारात्मक निबधो की रचना की। कुछ, त्रिवेणी, पचपात्र और हिन्दी साहित्य-विमर्श इनके प्रकाशित निबध सकलन है। 'अमीर इरादे गरीब इरादे'

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का प्रसिद्ध निवध-सकलन है। इनके निवध जीवन के प्रति तथ्यो के आग्रह से सम्पन्न मुख्यत भावप्रधान ही है। प्रसाद जी ने अनेक प्रकार के विचार-प्रधान निवध लिखे थे। 'काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध' इनका प्रकाशित निवध-सग्रह है। प्रेमचन्द ने भी विचार-प्रधान एव कलात्मक निवधो की सर्जना की थी। इनके निवधो का युग-चेतना के सदभ मे पर्याप्त महत्त्व आँका जाता है। महाप्राण निराला का कविता के समान ही निवधकार के रूप मे योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। इनके 'प्रबध-प्रतिभा' और 'प्रबध-पद्म' प्रकाशिन निवध सग्रह हैं। इनकी शैली मे जहाँ गम्भीरता एव विवेचनात्मकता है, वहाँ व्यग्य-विनोद का भाव भी विद्यमान है।

आचार्य शुक्ल के बाद के सशक्त निवधकारो मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका दृष्टिकोण सर्वत्र मानवतावादी रहा है। इनके निबध गहन अध्ययन, चिन्तन और मनन के साथ-साथ गवेपणात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है। 'अशोक के फूल' 'कल्प लता', 'विचार और वितर्क' आदि इनके उपलब्ध प्रकाशित सग्रह है। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने भाव एव विचार-प्रधान निवन्धो की रचना प्रमुखत की। वासुदेवशरण अग्रवाल के निवन्ध भी अनेक प्रकार के अनुसन्धानो का परिणाम हैं। 'कल्पवृक्ष' मे इनके निवन्ध सकलित हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेन्द्रजी ने भी दार्शनिकता से सम्पन्न भाव प्रवण एव विचारात्मक निवन्ध रचे हैं। पूर्वोदय, साहित्य का श्रेय और प्रेय, प्रेम और परिवार इनके प्रसिद्ध निवन्ध-सग्रह है। इसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी ने भी गभीर विवेचना एव चिन्तन प्रधान निवध रचे है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक भी एक प्रखर प्रतिभा वाले निबधकार है। इन्होने इस दिशा मे सौष्ठववादिता के विशेप मान स्थापित किये हैं।

इनके अतिरिक्त प्राय सभी छायावादी कवियो ने भी अपने छायावादी सिद्धान्तो को मान्यता दिलवाने के लिए तथा उसका महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए अनेक प्रकार के मौलिक निवन्धो की रचना की है। महादेवी वर्मा के सस्मरणात्मक निवन्ध विशेप करुणा एव मानवीय जीवन की दुखात्मक अनुभूतियो को लेकर रचे गये । कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि शुक्लजी का व्यक्तित्व

जिस गम्भीर चेतना को लेकर निवन्ध-क्षेत्र मे अवतरित हुआ था, उसका सम्यग् विकास इस युग के समग्र निबन्ध-साहित्य मे देखा जा सकता है। अखरने वाली बात केवल एक ही हुई कि विशुद्ध ललित निवन्ध साहित्य के स्थान पर युग ने प्राय आलोचनात्मक निबन्ध-सर्जना की प्रवृत्ति को वढावा दिया है, जो उचित नही है।

शुक्लोत्तर युग—शुक्लजी ने निवन्ध के क्षेत्र मे जिस नव्य एव गम्भीर चेतना को प्रश्रय दिया था, आगे चलकर उसे विकास के नये चरण एव परिवेश प्राप्त हुए तथा हो रहे हैं। अब तक युग-चेतना मे अनेक प्रकार के परिवर्तन होने लगे थे। नये मूल्यो का सगठन और प्राचीन मूल्यो का विघटन वडी तीव्रता से आरम्भ हो गया था। इन बदलते प्रभावो को हिन्दी-निवन्ध ने ग्रहण किया। इस युग मे अधिकाशत पूर्ववर्ती युग के निवन्धकार ही कार्यरत हैं। इनमे से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र प्रभृति विद्वान् भावात्मक, निर्णयात्मक एव विचार-प्रधान निबन्धो की रचना निरन्तर कर रहे हैं। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक जैसे तत्त्वान्वेषी एव कुशल निबन्धकार भी इसी दिशा में लीन दिखाई देते है। डॉ० उदयभानुसिह जैसे विद्वानो का नाम भी इस परम्परा मे लिया जा सकता है। इसके साथ-साथ मनोविज्ञान एव समाजवादी विचार-धाराओ को आधार बनाकर गम्भीर विचारात्मक एव आत्मतत्त्व-प्रधान निबन्धो की सर्जना भी निरन्तर हो रही है। इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि निबन्ध मे मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियो के उन्मेषक है, तो यशपाल, शिवदानसिह चौहान, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नामवरसिह आदि विद्वान् समाजवादी चेतनाओ से प्रभावित होकर निवन्ध साहित्य के विकास मे दत्तचित्त है।

यहाँ हास्य-व्यग्य-प्रधान निवन्धो की चर्चा भी अनिवार्य है। भारतेन्दु-युग के निवन्ध-साहित्य मे प्रथमत इस प्रवृत्ति के दर्शन हुए थे। द्विवेदी युग मे आकर यह प्रवृत्ति प्राय विलुप्त हो गई थी। आगे चलकर इस प्रवृत्ति को पुन प्रश्रय मिला। इस दिशा मे निबन्ध-सर्जना करने वालो के प्रमुख नाम हैं—बाबू गुलाव-राय, वरसानेलाल चतुर्वेदी, गोपालप्रसाद व्यास, वेढव वनारसी, हरिशकर परसाई, शरद् जोशी, ललित शुक्ल, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० ससारचन्द्र

आदि। इन सभीके हास्य-व्यग्यात्मक निवन्ध प्रमुख पत्र-पत्रिकाओ मे तो पढने को मिलते ही रहते हैं, साथ ही अनेको के निवन्धो के सग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने हास्य-व्यग्यात्मक निवन्धो के अतिरिक्त गम्भीर विपयो पर भी अनेक विचार-प्रधान निवन्ध लिखे हैं। डॉ० ससारचन्द्र के अभी तक हास्य-व्यंग्यात्मक निवन्धो के तीन सग्रह प्रकाश मे आ चुके हैं। उनके नाम हैं—'सटक सीताराम', 'सोने के दाँत' और 'अपनी डाली के काँटे'। इनका 'अनुभूति और विवेचन' नाम से ललित निवन्धो का सकलन भी प्रकाशित हुआ है। कुछ अन्य मुक्त रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। निवन्ध साहित्य की यह विधा अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है।

शुक्लोत्तर युग के निवन्धकारो मे मानवतावादी दृष्टि के सबल समर्थक एव प्रतिपादक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हमारे विचार मे सर्वश्रेष्ठ निवन्धकार हैं। यात्रा-सवधी निवन्धकारो मे राहुल साकृत्यायन, सत्यदेव परिव्राजक और देवेन्द्र सत्यार्थी आदि के नाम विशेप उल्लेखनीय हैं। रामधारीसिंह 'दिनकर' सियारामशरण गुप्त, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवती-चरण वर्मा, प्रभाकर माचवे, कन्हैयालाल मिश्र, धर्मवीर भारती, नलिन विलोचन शर्मा, रागेय राघव आदि निवधकारो के नाम विशेप उल्लेखनीय हैं। अन्य अनेक निवधकार भी इस दिशा मे विशेप सक्रिय हैं। आज के सतत जागरूक नवयुवक निवधकारो मे अनेक डॉक्टरो के नाम लिए जा सकते है। इस दिशा मे डॉ० ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री, डॉ० यश गुलाटी, डॉ० रामप्रकाश आदि के नामो का उल्लेख विशेप रूप मे किया जा सकता है। डॉ० ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री ने अनेक शोधात्मक निवध लिखकर कुछ नव्य मान्यताओ की स्थापना एव प्राचीनो का खण्डन भी किया है। डॉ० रामप्रकाश ने मेवाती भाषा के साहित्य को प्रकाश मे लाने की दिशा मे अपने निवधो मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

निवध-साहित्य के सवध मे, अन्त मे एक बात कहनी आवश्यक हो जाती है। वह यह कि आज का निवध साहित्य अपने विशुद्ध रूप मे विकसित नही हो पा रहा। इसके 'ललित' तत्त्व का ह्रास विशेप खटकने वाला है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक निवधकार किसी न किसी विशेप वाद [illegible]

नाम पर केवल आलोचना-प्रत्यालोचना करने मे ही जुट गया है। यही कारण है कि आज निबध मे भारतेन्दु-युग के समान व्यवहार-जगत् के प्रत्यक्ष विषयो को स्थान नही मिलता। परिणामत निबध शास्त्रीय विवेचन मात्र ही बनता जा रहा है। यह स्थिति किसी भी रूप मे शुभ एव प्रशस्य नही कही जा सकती। निबध साहित्य वास्तव मे व्यवहार-जगत् के साथ जुडकर ही अपने विधात्मक स्वरूप की सार्थकता की रक्षा कर सकता है। इस दिशा मे विशेष ध्यान देने की नितान्त आवश्यकता है।

आलोचना उद्भव एव विकास

भारतीय साहित्य मे आलोचना की प्रवृत्ति को सर्वथा नवीन नही कहा जा सकता। काव्यालोचना के रूप मे यह प्रवृत्ति सस्कृत-साहित्य मे अपने चरम विकसित रूप मे देखी जा सकती है। वहाँ रस, ध्वनि, अलकार, रीति औचित्य आदि विभिन्न काव्यशास्त्रीय आलोचनात्मक सम्प्रदायो के दर्शन होते हैं। परन्तु वहाँ आलोचना का सैद्धान्तिक स्वरूप ही प्रमुख एव प्रखर है। इसके व्यवहार-पक्ष की ओर प्राय ध्यान नही दिया गया है। बाद मे हिन्दी साहित्य के रीतिकाल तक यही आलोचना-पद्धति न्यूनाधिक रूप मे प्रचलित रही है। पर हिन्दी साहित्य मे आज 'आलोचना' नाम से जिस साहित्य को अभिहित किया जाता है, वह उससे सर्वथा भिन्न है। आज इसका अपना ही परिवेश एव स्वरूप है। इन अर्थो मे यह नितान्त आधुनिक एव नवीन है। इस पद्धति का आरम्भ आधुनिक साहित्य की अन्य विधाओ के समान भारतेन्दु-युग मे ही हुआ था। तब से यह निरन्तर विकास-पथ पर अग्रसर है।

वास्तव मे किसी भी व्यक्ति, वस्तु या स्थान के गुण-दोषो का विवेचन, दूसरो की बातो, विचारो एव मान्यताओ का सशोधन-परिवर्द्धन मानव का सहजात स्वभाव है। प्रत्येक युग मे इसका अपना एक अलग तथा स्वतत्र स्वरूप एव व्यक्तित्व रहता है। साहित्य के क्षेत्र मे 'आलोचना' की प्रवृत्ति का उदय वास्तव मे व्यवहार-जगत् की इसी प्रवृत्ति से ही माना जाना चाहिए। हाँ, यह अलग बात है कि साहित्य के क्षेत्र मे प्रत्येक युग मे आलोचना का स्वरूप

परिष्कृत, सयमित एव सतुलित रहा है। परन्तु हर युग मे अपनी सामयिक आवश्यकताओ के अनुरूप आलोचना का कोई न कोई स्वरूप अवश्य रहा है। इस सवध मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत विशेष उल्लेखनीय है।

"प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य ऐसी आलोचना की उद्‌भावना करता है, जो उसके अनुरूप होती है। और इसी प्रकार प्रत्येक युग की आलोचना भी उस युग की रचना को अपने अनुकूल बनाया करती है। वस्तुत देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ ही एक ओर साहित्य-निर्माण की दिशा का निश्चय करती हैं और दूसरी ओर समीक्षा का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं। कहा जा सकता है कि रचनात्मक साहित्य का इतिहास और समीक्षा के इतिहास मे धारा-वाहिक समानता रहा करती है।"

इस कथन से स्पष्ट है कि प्रत्येक युग ने अपनी-अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप समालोचना के स्वरूप निर्धारित किए हैं। आज जीवन के मूल्यो एवं क्षेत्रो के विस्तार के कारण आलोचना का क्षेत्र एव स्वरूप भी अधिक विस्तृत हो गया है। पहले जो वात एक वाक्य मे कहकर व्यक्ति सन्तोष कर लेता था, आज का बुद्धिवादी व्यक्ति तर्क-तुला पर तौल-तौलकर अनेक वाक्यो मे और अनेक रूपो मे कहना चाहता है। व्यापकता और विस्तार का यही प्रमुख कारण है। तभी तो भारतेन्दु-पूर्व-युग मे जहाँ हमे आलोचना की सूत्रात्मक पद्धति—'और कवि गढिया, नन्ददास जडिया', 'सूर सूर तुलसी शशी', सतसैया के दोहरे ज्यो नावक के तीर', तुलसी गग दुवौ भए सुकविन के सरदार' के दर्शन होते हैं, वहाँ परवर्ती भारतेन्दु-युग मे इसका रूप विशेष प्रकार की टिप्पणियो ने ले लिया और आगे चलकर उसका स्वरूप इन वातो से एकदम भिन्न एव स्वतन्त्र हो गया है। भारतेन्दु-युग मे परिवर्तित इस नव्य आलोचना-पद्धति के विकास पर निम्न-लिखित अन्त-शीर्षको के अन्तर्गत विचार करना अधिक युक्तिसगत एव सुविधाजनक है:—

१. भारतेन्दु युग। २. द्विवेदी युग।
३. शुक्ल युग।

४ शुक्लोत्तर नवीन युग।

१ **भारतेन्दु-युग**—भारतेन्दु-युग तक हिन्दी को प्रेस की सुविधा प्राप्त हो चुकी थी। अत अनेक पत्र-पत्रिकाओ के प्रकाशन के साथ-साथ टीका-टिप्पणियो के रूप मे आधुनिक आलोचना की प्रवृत्ति का उदय हुआ। सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ने अपनी 'कवि वचन सुधा' नामक पत्रिका मे 'हिन्दी कविता' नाम से एक आलोचनात्मक निवध लिखा था। इसके वाद उन्होने 'नाटक' नाम मे नाटक एव नाट्य-शास्त्र सवधी प्रौढ आलोचनात्मक निवध रचा था। डॉ० श्यामसुन्दरदास इस रचना को इनके द्वारा मात्र सशोधित मानते हैं, इनकी मौलिक कृति नही। पर अपने मत की स्थापना के लिए इन्होंने ग्राह्य तर्क या प्रमाण नही दिया है। इस सवध मे डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का कथन है—"यह ग्रन्थ एक अत्यन्त प्रौढ रचना है, जिसमे प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र एव आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा-साहित्य का समन्वय करते हुए तत्कालीन हिन्दी नाटककारो के लिए सामान्य नियम निर्धारित किए गए हैं, जिनमे स्थान-स्थान पर लेखक की मौलिक उद्-भावनाएँ प्रगट हुई हैं। वास्तव मे इस रचना का वर्ण्य विपय काफी गहन एव प्रभावी है। इसके अतिरिक्त भी अपनी पत्रिकाओ मे भारतेन्दु जी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित करते रहे थे।

इस युग के एक अन्य लेखक वद्रीनारायण चौधरी ने 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका का प्रकाशन ही आलोचनात्मक दृष्टिकोण से किया था। इसमे अनेक आलोचनाएँ प्रकाशित भी हुई थी। बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी प्रदीप' का भी आलोचना के प्रारूप निर्धारण मे विशेष हाथ है। इन दोनो पत्रो मे लाला श्रीनिवासदास विरचित नाटक 'सयोगिता स्वयम्वर' की सशक्त आलोचना-प्रत्यलोचनाएँ प्रकाशित हुई, जिससे अन्य लोगो का ध्यान भी इस नव्य विधा की ओर आकर्षित हुआ। गगाप्रसाद अग्निहोत्री और अम्विकाप्रसाद व्यास की आलोचनाएँ भी इस युग के पत्रो मे प्रकाशित हुई। प्राय आलोचनाओ की पद्धति गुण-दोप-विवेचन तक ही सीमित रही है और उसका स्वरूप भारतेन्दु-प्रवर्तित-पद्धति जैसा ही है। सक्षेपत कहा जा सकता है कि इस युग मे समालोचना-साहित्य का कोई स्वरूप स्थिर होना तो क्या, वन तक नही सका।

२. द्विवेदी-युग—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जैसे ही 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य सभाला, निवन्ध के ममान आलोचना को भी क्रमश· विकास मिलने लगा। वैसे तो इनके आगमन से पूर्व तक गगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा विरचित 'समालोचना' और अम्बिकादत्त व्यास प्रणीत 'गद्य काव्य-मीमासा' नामक लघु आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाश मे आ चुकी थी, किन्तु पुस्तकाकार समालोचना को आन्दोलन का स्वरूप द्विवेदी जी ने ही प्रदान किया। इन्होने सस्कृत साहित्य पर कई आलोचनात्मक पुस्तकें रची थी, इन्हीने प्रेरणा-स्रोत का काम किया। इन्होंने निर्णयात्मक एव प्रभाववादी आलोचना-पद्धतियो को प्रमुखतः प्रश्रय दिया। द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' पत्रिका मे 'पुस्तक-समीक्षा' नामक विशेप स्तम्भ आरम्भ किया था। इस स्तम्भ से वास्तव मे आलोचनात्मक दृष्टिकोण को सर्वत्र विशेप प्रश्रय मिला था। द्विवेदीजी के प्रयत्नो के सम्वन्ध मे अपने इतिहास मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं —

"यद्यपि द्विवेदीजी ने हिन्दी के वडे-वडे कवियो को लेकर गम्भीर साहित्य-समीक्षा का स्थायी साहित्य नही प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तको की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी-साहित्य का वडा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदीजी न उठ खडे होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊट-पटाँग भाषा चारो ओर दिखाई पडती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती। उसके प्रभाव मे लेखक सावधान हो गये और जिनमे भाषा की समझ और योग्यता थी, उन्होंने अपना सुधार किया।"

हमारे विचार मे आलोचक की दृष्टि से द्विवेदीजी का यह काम कम महत्त्वपूर्ण नही है। वास्तव मे द्विवेदीजी की आलोचनाओ ने भाषा, भावना और अभिव्यजना-पद्धति आदि सभी वातो की निरकुशता पर कठोर अकुश स्थापित किया। परिणामत साहित्य की विकास-प्रक्रिया स्पष्ट-सरल मार्ग पर प्रशस्त रूप मे अग्रसर हो सकी।

इस युग के अन्य प्रमुख आलोचको मे मिश्रवन्धु, कृष्णविहारी मिश्र, पण्डित पद्मसिह शर्मा, वावू श्यामसुन्दर दास, पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी आदि के नाम विशेप उल्लेखनीय हैं। मिश्रवधुओ ने 'हिन्दी नवरत्न' लिखकर हिन्दी के नौ

प्रसिद्ध कवियो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर समालोचना को सुनियोजित करने मे विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन्होने 'मिश्रबंधु विनोद' नामक एक समान्य आलोचनात्मक इतिहास भी रचा। इन्हीकी रचनाओ को लेकर देव-बिहारी मे कौन श्रेष्ठ है, यह विवाद भी चला। कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक रचना मे देव को श्रेष्ठ प्रमाणित किया। लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखकर बिहारी की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। इसी प्रकार पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' की विस्तृत आलोचना की। इस प्रकार यह आलोचनात्मक उत्तर-प्रत्युत्तर चलता रहा और हिन्दी आलोचना को कई दिशाएँ मिलती रही। किन्तु इस उत्तर-प्रत्युत्तर के कारण गम्भीर आलोचना पद्धति का विकास सम्भव न हो सका। सन् १९२२ मे बाबू श्यामसुन्दरदास विरचित 'साहित्यालोचन' नामक ग्रथ प्रकाश मे आया। इसमे भारतीय एव पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तो के समन्वय का प्रयास स्पष्टत परिलक्षित होता है। अत. हिन्दी मे सैद्धान्तिक समालोचना का समारम्भ भी यही से माना जाता है। इन्होने 'रूपक रहस्य' भी रचा, जिसका नाटको की आलोचना की दिशा मे विशेष महत्त्व है। इनके अतिरिक्त इन्होने तुलसीदास और भारतेन्दु की काव्या-साधना पर भी आलोचनाएँ रची। इन्ही दिनो पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'विश्व साहित्य' नामक सर्जना प्रकाशित करवाकर पाश्चात्य समालोचना की विभिन्न पद्धतियो एव मतो से हिन्दी-भाषियो को परिचित कराया। इससे भी स्पष्टत नई दिशा मिली।

इन सबके अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी पत्रिका तथा 'सरस्वती' मे प्रकाशित अनुसन्धानात्मक आलोचनाओ ने भी द्विवेदी-युग मे आलोचना साहित्य को निखारने की दिशा मे विशेष कार्य किया। इन समस्त प्रयत्नो के परिणामस्वरूप द्विवेदी-युग मे समालोचना साहित्य का प्रचार-प्रसार तो हुआ ही, अनेक दृष्टियो से इसका स्वरूप भी स्थिर हो सका।

३ शुक्ल-युग—द्विवेदी-युग ने समालोचना का मार्ग काफी प्रशस्त कर दिया था। पुस्तको की समीक्षा के रूप मे वहाँ तुलनात्मक एव निर्णयात्मक आलोचनाओ के स्वरूप भी प्राय निर्धारित हो चुके थे। इसके बाद इस विकास-

शील विधा को प्राप्त हुआ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रखर एव सर्वतोमुखी प्रभावी व्यक्तित्व। परिणामत इनके अनवरत प्रयत्नो से समालोचना साहित्य स्वतः ही प्रखरता एव प्रौढता प्राप्त करने लगा। इन्होने क्रमश शास्त्रीय, व्यावहारिक एव सैद्धान्तिक समीक्षा-पद्धतियो को पूर्णतया विकास के क्षितिज प्रदान किये। शुक्लजी मूलतः रसवादी आलोचक हैं, किन्तु इन्होने लोक-सग्रह की भावना को सर्वत्र प्रश्रय दिया है। इसीके फलस्वरूप व्याख्यात्मक आलोचना की नव्य पद्धति का समारम्भ हुआ। इन्होने जायसी, सूर, तुलसी आदि की विस्तृत समालोचनाएँ प्रस्तुत कर इसको चहुँमुखी विकास प्रदान किया। इन्होने 'रस-मीमासा' मे काव्य-सिद्धान्तो की व्याख्या कर स्वतन्त्र सैद्धान्तिक समालोचना को प्रश्रय प्रदान किया। इन्होने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखकर प्राय. समस्त कवियो की आलोचना की। इस प्रकार शुक्लजी का समूचा कार्य अत्यधिक गहन गम्भीर, व्यावहारिक एव सर्जनात्मक है। उनमे कोई पूर्वाग्रह, कोई सकीर्णता नही। वास्तव मे आज जितनी भी आलोचना-पद्धतियाँ हिन्दी मे दिखाई दे रही हैं, इन सबका मूल उत्स किसी न किसी रूप मे शुक्लजी की आलोचनाओ मे देखा जा सकता है।

इनके द्वारा प्रवर्तित आलोचना-पद्धति के आलोचको मे पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्णशकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल, शिलीमुख, चन्द्रबली पाण्डेय और रामशकर शुक्ल 'रसाल' आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी सैद्धान्तिक समीक्षा के समर्थको मे कन्हैयालाल पोद्दार, गुलाबराय, रामदहिन मिश्र, केशव प्रसाद मिश्र आदि के नाम आते हैं। शुक्ल जी की आलोचना पद्धतियो एव सिद्धान्तो की प्रतिक्रिया भी इनके अपने ही युग मे आरम्भ हो गई थी। इन प्रवृत्तियो के ध्वज-वाहक हैं आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक आदि। इन सभीने शुक्ल जी की अनेक मान्यताओ का विरोध करके, विशेषत इनके छायावादी साहित्य के प्रति दृष्टिकोण के विरोध मे इसे मान्यता दिलाने के लिए महत्त्वपूर्ण आलोचनाएँ कीं। आज भी ये लोग इस क्षेत्र मे सक्रिय हैं।

४ शुक्लोत्तर युग—शुक्ल जी के बाद भी आलोचना-साहित्य का पूर्ण

विकास हो रहा है। इस क्षेत्र मे नव्य मान्यताओ एव पद्धतियो का भी समावेश हुआ है। छायावादी कवियो ने अपनी काव्य-मान्यताओ के प्रतिष्ठापनार्थ अनेक प्रकार की आलोचनाएँ प्रकाशित की हैं। ये आलोचनाएँ सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी कहलाती हैं। ऐसे समालोचको मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, शातिप्रिय द्विवेदी और डॉ० स्नातक ही प्रमुख हैं और इनका रचनाकाल, जैसा कि पहले कहा जा चुका है शुक्ल-युग से ही आरम्भ हो गया था। सौष्ठव वादी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य वाजपेयी और डॉ० स्नातक का ही प्रमुख स्थान है। मनोविज्ञान को आधार बनाकर शास्त्रीय, सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक आलोचनाओ को प्रश्रय देने वालों मे डॉ० नगेन्द्र प्रमुख हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण सभी प्रकार से मानवतावादी है। वे विशेप सिद्धान्तो के चक्कर मे नही पडते। हाँ, सास्कृतिक एव ऐतिहासिक दृष्टिकोण उनकी आलोचनाओ मे अवश्य रहता है।

इधर मार्क्सवादी-समाजवादी सिद्धान्तो का भी आलोचना पर काफी प्रभाव पडा है। इस दिशा के समालोचको मे डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० नामवरसिंह किसी वाद विशेप से नही बधे अपितु स्वतत्र प्रगतिवादी आलोचक हैं। इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय आदि की आलोचनाएँ मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तो पर आधारित हैं। नई कविता और नई कहानी आदि के वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करने वाले आलोचको मे डॉ० जगदीशचन्द्र गुप्त, लक्ष्मीकात वर्मा आदि के नाम आते हैं। इस प्रकार आज समालोचना के क्षेत्र मे साहित्य की समस्त प्रवृत्तियो की अलग अलग आलोचना हो रही है। फलस्वरूप अनेक नव्य-पद्धतियो का उन्मेप भी हो रहा है।

उपरोक्त विद्वानो के अतिरिक्त भी अनेक प्रमुख आलोचक इस क्षेत्र मे विशेष क्रियाशील हैं। इनके नाम ही गिनाये जा सकते हैं और सभी के नाम भी गिना पाना यहाँ सम्भव नही। उनमे से भी प्रमुख हैं—अमृतराय, रामेश्वर शुक्ल 'अचल' भगवतशरण उपाध्याय, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० विनयमोहन शर्मा, डॉ० देवराज, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० भागीरथ मिश्र, परशुराम चतुर्वेदी, कन्हैयालाल

सहल, चन्द्रवली पाण्डेय, व्रजेश्वर वर्मा, डॉ० रामधन शर्मा डॉ० हरिवशलाल शर्मा, डॉ० नरनामसिह, डॉ० ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री, डॉ० मुन्शीराम आदि अनेक डॉ० तथा अनुसधित्सु। यहाँ हम अपनी ओर से एक और नाम की विशेप चर्चा करना चाहते हैं। वह नाम है—डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का। इन्होने इतिहास के क्षेत्र मे तो अपनी समीक्षात्मक प्रवृत्ति का विशिष्ट परिचय दिया ही है, कुछ कवियो के पुनर्मूल्याकन प्रस्तुत करके भी इन्होने आलोचक की सुलझी प्रवृत्तियो का परिचय दिया है। विहारी तथा महादेवी वर्मा से सम्वन्धित इनके पुनर्मूल्याकन विशेप महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार उपन्यास के क्षेत्र मे अपनी स्थिति जमा लेने के वाद डॉ० रामदरश मिश्र भी अव आलोचना-साहित्य के क्षेत्र मे जमने के लिए अपने कदम दृढ करने का प्रयत्न करते हुए प्रतीत होने लगे हैं।

इधर कुछ सशक्त आलोचिकाओ के भी दर्शन हुए हैं। भारतीय नारी ने साहित्य की अन्य विधाओ के समान आलोचना-साहित्य के विकास मे भी सप्राण योगदान किया है। ऐसी सशक्त एव सूक्ष्म दृष्टि से आलोचना करने वाली महिलाओ मे डॉ० सावित्री सिन्हा का नाम विशेप उल्लेखनीय है। 'व्रजभापा के कृष्ण-भक्ति काव्य मे अभिव्यजना-शिल्प', 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ', 'युग चरण दिनकर', 'तुला और तारे', और 'अनुसन्धान की प्रक्रिया' आदि इनकी प्रमुख आलोचनात्मक रचनाएँ हैं। इनमे प्रवृत्यात्मक आलोचना के स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। डॉ० निर्मला जैन का नाम भी इस दिशा मे उल्लेखनीय है। 'आधुनिक हिन्दी काव्य की रूप-विधाएँ', 'रससिद्धान्त और सौन्दर्य-शास्त्र' और 'प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त' आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। इनमे से 'रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र' पर इन्हे पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

अन्य महिला समालोचिकाओ मे डॉ० सुपमा धवन, डॉ० आशा मलिक, डॉ० शान्ति मलिक, डॉ० सुपमा पाल, डॉ० आशा गुप्त, डॉ० कुसुम वार्ष्णेय, श्रीमती उपा मित्रा, शचीरानी गुर्टू आदि के नाम विशेप उल्लेखनीय हैं। इन सवने शोध-प्रवन्धो के अतिरिक्त भी समालोचना के क्षेत्र मे कार्य किया है और कर रही हैं।

समग्रत कहा जा सकता है कि हिन्दी-आलोचना साहित्य अपने समूचे परि-

वेश मे जीवन के समग्र आयामो को सहेजता हुआ द्रुतगति से विकास के चरम शिखरो की ओर अग्रसर हो रहा है। कभी-कभी लगता है कि कहीं-कहीं विशेष प्रकार के अवरोधक आग्रह भी विद्यमान हैं जिन्हें किसी भी दृष्टि से शुभ नहीं कहा जा सकता। स्वस्थ समालोचना के विकास के लिए सर्व आग्रहो से मुक्त होना अनिवार्य है।

प्रमुख निबन्धकार और समालोचक

रामचन्द्र शुक्ल—द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी-साहित्य मे निबन्ध एव आलोचना के क्षेत्र मे जिन नई प्रवृत्तियो का विकास हुआ, वास्तव मे आचार्य शुक्ल उनके प्रस्तोता एव प्रवर्त्तक हैं। इन्होने साहित्य एव प्रत्यक्ष जीवन का गहन अध्ययन किया था। इनके चिन्तक मन ने अनेक प्रकार की मौलिक उद्भावनाएँ की और नव्य विचार सरणियो का उद्घाटन भी किया। इनकी समूची चेतना लोक-मगल की भावना से अनुप्राणित थी। अत इनके निबन्धो मे लोकपक्ष का सर्वत्र ध्यान रखा गया है। इनके निबन्ध प्रमुखत तीन प्रकार के हैं—(१) मनोविकार-सम्बन्धी निबन्ध (२) सैद्धान्तिक निबन्ध और (३) व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्ध। करुणा, उत्साह, लोभ और प्रीति आदि निबन्ध प्रथम श्रेणी

की शैली मे भी निजी विशिष्टता मिलती है। भारतेन्दु-युग की सी मौलिकता उसमे है किन्तु वे उसके छिछलेपन से दूर है। द्विवेदी-युग की विचारात्मकता उसमे है, किन्तु वैसी शुष्कता का अभाव है। विचारो की गम्भीर घाटियो से बीच-बीच मे उतरी हास्य-व्यग्य से ओत-प्रोत उक्तियाँ किसी स्वच्छ-शीतल निर्झर के कोमल-मधुर कलरव स्वर की तरह सुनाई पडती है।" इसके बाद निबन्धकार शुक्ल के सम्बन्ध मे और कुछ कहने की आवश्यकता नही रह जाती।

आलोचक-रूप—आलोचक शुक्ल का व्यक्तित्व निबन्धकार से कही अधिक प्रखर एव सम्पन्न है। ये मूलत रसवादी आलोचक हैं, फिर भी वहाँ व्यवहारपक्ष की उपेक्षा नही हुई है। ये साहित्य के द्वारा सामाजिक सहृदयता मे सुरुचि-सम्पन्नता एव सत्य, शिव, सुन्दर की प्रतिष्ठा चाहते थे। इसी कारण इन्होने अपनी आलोचनाओ मे लोक-सग्रह की भावनाओ को सर्वत्र प्रश्रय दिया है। व्यवहार समयत रसवादी आलोचना के साथ-साथ शुक्ल जी का व्यक्तित्व सैद्धान्तिक समालोचक के रूप मे भी अत्यधिक प्रभावी है। इन्होने 'रस-मीमासा' मे सुचारु ढंग से अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। इन्होने 'रस-मीमासा' के अतिरिक्त अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने के लिए कुछ स्वतन्त्र आलोचनात्मक निबन्ध भी रचे थे। उनमे से 'काव्य मे अभिव्यजनावाद', 'काव्य मे रहस्यवाद' और 'काव्य मे प्रकृति' आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

जायसी, सूर और तुलसीदास आदि के काव्यो का सम्पादन करते समय शुक्ल जी ने भूमिका के रूप मे जो आलोचनाएँ लिखी, इनसे व्याख्यात्मक आलोचना-पद्धति का सूत्रपात हुआ है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे भी इनकी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इन समस्त आलोचनाओ मे युग-सन्दर्भो मे कवियो की अन्त. प्रवृत्तियो के उद्घाटन का सफल प्रयास हुआ है। इस प्रकार आलोचना के क्षेत्र मे इनका दृष्टिकोण बहुमुखी एव व्यापक है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने आलोचक शुक्ल के सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है कि—"हिन्दी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने मे शुक्ल जी ने युग-प्रवर्त्तक का जो कार्य किया, वह हिन्दी के इतिहास मे सदैव स्मरण रहेगा।"

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि निबन्धकार और आलोचक रामचन्द्र

शुक्ल का व्यक्तित्व सभी दृष्टियो से ग्राह्य एव महान् होने के साथ-साथ विचारोत्तेजक भी है। आज भी आलोचको एव निवन्धकारो के लिए वे उस सामुद्रिक आलोक स्तम्भ के समान है, जो भूले-भटके जहाजो को अपनी झिलमलाहट की ओर आकर्पित करके, उन्हे सीधा-स्पष्ट मार्ग वता सकने की सामर्थ्य रखता है।

वावू गुलावराय एम० ए०—निवन्धकार के रूप मे इन्होने भावात्मक, विचारात्मक एव व्यग्य-विनोद-प्रधान निवन्ध ही प्रमुखत रचे हैं। इनके निवन्धो मे मनोवैज्ञानिक विपयो को विशेप प्रश्रय मिला है। अन्तर्द्वन्द्व, हीनता-ग्रन्थियाँ, प्रभुत्व कामना-प्रदर्शन आदि निवन्ध इसी प्रकार के है। 'फिर निराशा क्यो' और 'मेरी असफलताएँ, इनके श्रेष्ठ निवन्ध सकलन है। निवन्धो की भापा-शैली स्वच्छ, स्वाभाविक, भावानुकूल एव मुहावरेदार हैं। इन्होने गम्भीर विपयो को भी सहज ढग से स्पष्ट करने की अद्भुत क्षमता का परिचय दिया है।

आलोचना के क्षेत्र मे वावू गुलाबराय ने व्यावहारिक और सैद्धान्तिक समालोचनाएँ ही प्रमुखत प्रस्तुत की हैं। 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन' 'नवरस' और 'हिन्दी नाट्य-विमर्श' आदि रचनाएँ सैद्धान्तिक आलोचना का स्वरूप स्पष्ट करती हैं। इसके अतिरिक्त व्याख्यात्मक या व्यावहारिक आलोचनाओ से सम्वन्धित प्रमुख रचनाएँ है—प्रसाद की कला, हिन्दी-काव्य विमर्श, हिन्दी साहित्य का सुवोध इतिहास आदि।

पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी—विचारात्मक एव भावात्मक निवन्ध-सर्जको मे वख्शी जी का नाम प्रमुख है। दर्शन, इतिहास, साहित्य, समाज आदि विविध विपयो पर इन्होने स्वच्छ निवन्ध रचे हैं। गम्भीर चिन्तना, भावो एव अभिव्यक्ति की स्पष्टता इनके निवन्धो की प्रमुख विशेपताएँ हैं। 'हिन्दी साहित्य-विमर्श', 'पचपात्र', 'त्रिवेणी' तथा 'कुछ और कुछ' आदि इनके प्रसिद्ध निवन्ध-सकलन हैं। इनके निवन्धो मे एक सफल आलोचक की सम्भावनाएँ भी विद्यमान हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी—चतुर्वेदी जी प्रमुखत कवि हैं। अत भाव-प्रवणता इनके स्वभाव का स्पष्ट अग है। इसी कारण इन्होने भावात्मक निवन्ध ही प्रमुख रूप से रचे हैं, परन्तु यहाँ व्यावहारिक उपयोगितावादी दृष्टिकोण भी अवश्य रहता है। इनके भावो की सरणी जीवन के यथार्थ तत्त्वो का अविरल सग्रह

करती चलती है। "अमीर इरादे : गरीब इरादे" इनका प्रमुख निबन्ध सकलन है। सरल-सरस भाषा एव वाक्यावली मे गम्भीर से गम्भीर बात भी कह देना इनकी प्रमुख विशेषता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—आचार्य द्विवेदी मानव-जीवन के बाहर साहित्य की कोई गति या उपयोगिता नही मानते, अत इनके समग्र विधात्मक निबन्धो मे मानवतावादी स्वर ही प्रमुख एव प्रबल हैं। इन्होने इतिहास, पुरातत्व सस्कृति और बगला तथा सस्कृत-साहित्य का भी अत्यन्त गहन अध्ययन किया है। इन पर रवीन्द्र-साहित्य एव विचारधारा का भी पर्याप्त प्रभाव है। अत ये मानव-सस्कृति को समग्रत एक ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से देखने के ही पक्षपाती हैं। इनमे लोक-मगल एव सग्रह की भावना भी सर्वत्र विद्यमान है। इनके 'अशोक के फूल', 'कल्पलता' तथा 'विचार और वितर्क' आदि प्रमुख सग्रह हैं। निबन्धो मे व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। भाषा एव अभिव्यक्ति के सतत प्रवाह मे भी व्यक्तित्व खोजा जा सकता है।

निबन्धो के समान आलोचना के क्षेत्र मे भी आचार्य द्विवेदी का मानदण्ड मानवतावादी सास्कृतिक चेतनाओ मे सम्पन्न है। कबीर, सूर-साहित्य, हिन्दी कविता, नाथ-सम्प्रदाय, मध्यकालीन धर्म-साधना, हिन्दी साहित्य का आदिकाल और हिन्दी साहित्य आदि इनकी प्रसिद्ध आलोचनात्मक रचनाएँ हैं। वैसे इनकी सिद्धान्तो की प्रतिपादक कोई अलग रचना नही मिलती। इनकी समालोचनाओं को सामान्यत व्यावहारिक या व्याख्यात्मक नामो से अभिहित किया जा सकता है।

आचार्य शान्तिप्रिय द्विवेदी—इन्हे भी आचार्य के नाम से अभिहित किया जाता है। इनका निबन्ध जगत् मे निश्चय ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। सामयिकी, साहित्यिकी, प्रतिष्ठान, युग और साहित्य, परिव्राजक की प्रजा, पथ-चिह्न, वृन्त और विकास-धरातल आदि इनके प्रसिद्ध प्रकाशित निबन्ध-सग्रह हैं। इनमे प्राय विचारात्मक तथा भावात्मक निबन्ध ही मिलते हैं। विचारात्मक निबन्धो मे यह एक प्रखर आलोचक की सीमाओ का स्पर्श करते हुए दिखाई देते हैं, जबकि भावात्मक निबन्धो मे भावुकता एव तरलायित सवेदनशीलता है। भाषा-शैली मे भावना और विवेचना का सुन्दर समन्वय हुआ है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—इन्होने छायावाद काल को मान्यता दिलाने के लिए सर्वप्रथम आलोचना निवन्ध लिखने आरम्भ किये थे। अत इनकी आलोचनाओ मे आधुनिक विपयो की ही प्रमुखता मिलती है। यह मूलत सौष्ठव-वादी आलोचक हैं। वैसे इन्हे मध्यमार्गी ही अधिक माना जाता है। इन्होने युग-चेतनाओ का ध्यान रखते हुए कवियो को जीवन के मध्य मे रखकर ही देखने-परखने का प्रयत्न किया है। अत इनकी आलोचना-पद्धतियो को मुख्यत साम्यवादी ही माना जा सकता है।

'हिन्दी साहित्य वीसवीं सदी' और 'आधुनिक साहित्य' जैसी इनकी प्रमुख आलोचनात्मक रचनाएं है। इनकी अन्य रचनाओ मे प्रमुख है—महाकवि सूरदास, जयशकर प्रसाद, प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन, नया साहित्य, नये प्रश्न। नई कविता एव आधुनिक कहानी आदि की प्रवृत्तियो की भी इन्होने खरी खरी तथा प्रखर आलोचना की है। वास्तव मे शुक्लोत्तर युग के आलोचना-साहित्य के यह प्रमुख आधार-स्तम्भ है।

डॉ० नगेन्द्र—नगेन्द्र जी ने कुछ—बहुत कम ललित निवन्ध भी रचे हैं, किन्तु इनका मान एक प्रखर एव निर्द्वन्द्व समीक्षक के रूप मे ही स्थापित हो सका है। इसी कारण इनके प्राय निवन्ध आलोचनात्तक कोटि के है। भारतीय एव पाश्चात्य आलोचना-पद्धतियो के गम्भीर अध्येयता होने के कारण इनकी सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति अत्यन्त नुकीली एव प्रभावी हो गई है। इनकी आलोचनाओ मे पूर्व-पश्चिम की शैलियो का समन्वय भी इसी कारण परिलक्षित होने लगता है। वैसे प्रमुखत इनकी आलोचना-पद्धति विश्लेषणात्मक ही है। उसमे वैयक्तिक तत्त्वो का प्राय अभाव है। इनके विश्लेपण मे मनोवैज्ञानिक तत्त्वो को अवश्य ही पर्याप्त प्रश्रय मिला है। किसी भी रचना की समीक्षा करते समय यह युगीन पृष्ठ-भूमि तथा सर्जक के वैयक्तिक तत्त्वो का भी अवश्य उद्घाटन करते हैं। रस-सिद्धान्त, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, रीति-काल की भूमिका, देव और उनकी कविता, सुमित्रानन्दन पन्त तथा अन्य अनेक आलोचनात्मक निवन्धो के सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमे 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएं' जैसी रचनाएं प्रमुख हैं। प्राय स्व-सम्पादित पुस्तको

की भूमिका के रूप मे ही काव्य के विविध स्वरूपो को प्रकाशित किया है।

आरम्भ मे नगेन्द्र जी फ्रॉयड के सिद्धान्तो से भी प्रभावित थे, किन्तु अब अवस्था एव वैचारिक परिपक्वता के साथ उसका नशा उतर चुका है। इनकी भाषा-शैली परिपक्व, प्रौढ, परिमार्जित एव शब्द-योजना मे तत्सम शब्दो का आधिक्य है। आज के मूर्द्धन्य आलोचको मे इनका मुख्य स्थान है।

डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक—इन्होने वृन्दावन मे जन्म लेकर और वही से स्नातक की पदवी पाकर अध्यापन क्षेत्र मे प्रवेश किया। अध्यापक के कर्त्तव्यो का निष्ठापूर्वक निर्वाह करते हुए स्नातक जी साहित्य-सर्जना मे भी निरन्तर प्रवृत्त रहे। इनकी सार्वजनिक प्रतिभा का विकास मुख्य रूप से निबन्ध एव समालोचना के क्षेत्र मे ही हुआ है। कवियो, युगीन प्रवृत्तियो आदि पर इन्होने अनेक भाव एव विचारपूर्ण निबन्ध रचे हैं। 'कामायनी' के सौन्दर्य एव दर्शन-पक्ष को इनकी गवेषणापूर्ण आलोचनाओ ने विशेष रूप से उभारा है।

प्रबुद्ध निबन्धकार होने के साथ-साथ डॉ० स्नातक व्याख्यात्मक, व्यवाहारिक एव सौष्ठववादी समालोचना के एक सुदृढ आधार हैं। इन्होने समालोचनाओ मे सूक्ष्म तत्त्वान्वेषिणी प्रतिभा का परिचय दिया है। वे आधुनिक एव तदन्तर्गत नई कविता के सर्वाधिक समर्थ आलोचक हैं। 'राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य' इनका शोध प्रबन्ध है। चिन्तन के क्षण, विचार के क्षण, समीक्षात्मक निबन्ध, कामायनी-दर्शन, आलोचक रामचन्द्र, आदि इनकी प्रमुख आलोचनात्मक रचनाएँ हैं। इनकी भाषा-शैली सप्राण एव प्रवाहमयी है। इसमे विशेष प्रकार की प्रभविष्णुता भी विद्यमान है। इनके गम्भीर स्वभाव और निश्छल सादगी का प्रतिफलन भी यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है।

डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान—आज के मूर्द्धन्य निबन्ध-लेखको और समालोचको मे डॉ० मदान का स्थान निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। अपने गम्भीर अध्ययनशील सुन्दर व्यक्तित्व के परिणामस्वरूप इन्होने आलोचना साहित्य को आलोच्य रचनाओ के रचयिताओ के मूल कथ्य एव अभिव्यक्ति-पद्धतियो को ध्यान मे रख कर की गई आलोचनाओ मे निश्चय ही एक स्वस्थ दृष्टि तथा गति-दिशा प्रदान की है। आलोच्य कृति की युगीन परिस्थितियो एव तद्जन्य प्रभावो के उद्घाटन

का भी वे अपनी आलोचनाओ मे सूक्ष्मता से ध्यान रखते हैं और उनका सहज उद्घाटन भी करते हैं, जिससे आलोचना मे एक विशेप प्रभाव की सृष्टि स्वत ही हो जाती है।

हिन्दी कलाकार, प्रसाद • चिन्तन और कला, प्रेमचन्द चिन्तन और कला, कहानी की कहानी, प्रेमचन्द एक विवेचन, आज का हिन्दी उपन्यास, हिन्दी कहानी, आधुनिक कविता, कृतिकार की राह से आदि इनकी प्रमुख आलोचनात्मक रचनाएँ हैं। इन्होने 'महादेवी' नामक आलोचनात्मक कृति का सम्पादन भी किया है। इन्होने भूमिकाओ के रूप मे भी अनेक सुघड आलोचनाएँ लिखी हैं। पजाव मे तो साहित्यिक रचनात्मक गतिविधियो के वे एकमात्र आधार-स्तम्भ ही हैं। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के व्यक्तित्व मे मनमौजीपन और हास्य-व्यग्य के मुखर कण भी विद्यमान हैं। इस प्रकार के अनेक निवन्धो की रचना भी इन्होने की है। आधुनिक साहित्य की समस्त प्रमुख विधाओ के भी डॉ० मदान सवल समालोचक एव समर्थक हैं। इन्हे मान्यता दिलवाने मे इनकी प्रखरतम समालोचनाओ का विशेष हाथ है।

इनकी भापा-शैली सुसस्कृत, परिष्कृत और प्रभावी है। उसमे इनके व्यक्तित्व की झकृत अनुभूति भी स्वत ही होने लगती है। कुल मिलाकर डॉ० मदान ने अपनी रचनाओ मे सभी प्रकार के आग्रहो से मुक्त होकर स्वस्थ सृजनात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

डॉ० उदयभानुसिह—आज के प्रबुद्ध समालोचको तथा निवन्धकारो मे डॉ० उदयभानुसिह महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनकी समीक्षाएँ वस्तु-सत्य के उद्घाटन की दृष्टि से विशेप महत्त्वपूर्ण हैं। 'आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी' इनका वहुचर्चित शोध-प्रवन्ध है और 'तुलसी दर्शन' मे इन्होने भक्तिकालीन समग्र चेतना के सशक्त उद्वोधक तुलसी की सर्वागीण आलोचना प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त 'तुलसी के व्यजना-शिल्प' पर भी इन्होने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह तुलसी-साहित्य के प्रख्यात मीमासक है। इन्होने 'भारतीय काव्य-शास्त्र' और 'तुलसी' का सशक्त सम्पादन भी किया है। इनकी 'हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रवन्ध' एक अन्य आलोचनात्मक रचना है। इनकी समालोचनाओ मे किसी प्रकार के

आग्रह का भाव नही रहता। इनमे उपयुक्त ढग से हृदय एव बुद्धि-तत्त्वो का समन्वय रहता है। तथ्य तक पहुँचने की प्रवृत्ति विशेष सराहनीय है। इन जैसी भाषा की स्निग्ध स्वच्छता एव अभिव्यक्ति की स्पष्टता बहुत कम व्यक्तियो मे मिलती है।

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—गुप्तजी ने अपनी सशक्त आलोचनाओ मे एक नये दृष्टिकोण का सफल उद्घाटन किया है। इनका प्रभाववादी एव रूढ सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यो से मुक्त होकर सर्वांगीण वैज्ञानिक ढग से समीक्षा करने का प्रयत्न विशेष सराहनीय है। युगानुकूल प्रवृत्तियाँ एव सैद्धान्तिक आग्रह बदलते रहते है। वास्तव मे युगानुकूल भाव-ग्रहण करना मानव स्वभाव का प्रबल अग है। अत युगीन परिवेश मे साहित्यिक रचनाओ की ससन्दर्भ व्याख्या हमे इनकी आलोचनाओ मे मिलती है।

रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, महादेवी नया मूल्याकन, बिहारी सतसई वैज्ञानिक समीक्षा, आधुनिक साहित्य और साहित्यकार, साहित्य की आकर्षण शक्ति, साहित्य-शैली के सिद्धान्त, हिन्दी साहित्य का विकास, भारतीय एव पाश्चात्य कला-सिद्धान्त आदि इनकी प्रमुख आलोचनात्मक रचनाएँ है। इन्होने इनमे आलोचना के क्षेत्र मे निश्चय ही नये मान स्थापित किये है। विषय का सोदाहरण एव दार्शनिक प्रवृत्तियो के सन्दर्भ मे विवेचन करने मे यह विशेष दक्ष है। इनकी भाषा स्वच्छ, परिष्कृत प्रवाहमयी है। कृतिकार की सर्जना को इसीके सन्दर्भ मे प्रभावशाली ढग से व्याख्यायित करने मे इन्हे दक्षता प्राप्त है।

डॉ० ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री—इधर हिन्दी निबन्ध और समालोचन क्षेत्र मे अपनी पठन-पाठन एव अनुसन्धानात्मक तल्लीन रुचि को लेकर व्यक्तियो का व्यक्तित्व निखर रहा है, उनमे डॉ० ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री नामोल्लेख प्राय अपरिहार्य-सा हो गया है। जब इनका 'रीतिकालीन अर साहित्य का शास्त्रीय विवेचन' नाम से शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुआ था, विद्वानो का ध्यान इनकी ओर आकर्षित हो गया था। इनमे एक समर्थ निबन्ध और आलोचक की सम्भावनाएँ परिलक्षित होने लगी थी। आज यह इन f मे अपने स्वतंत्र ढग से नये क्षितिजो का उद्घाटन करने मे तत्पर है।

अभी तक की इनकी प्रकाशित आलोचनात्मक प्रमुख रचनाएँ हैं—आधुनिक साहित्य-परिचय, हिन्दी गद्य विकास और साहित्य, हिन्दी साहित्य दर्शन, समीक्षा तत्त्व, काव्यलोचन, काव्य-सिद्धान्त, काव्य-रसायन, मधुमालती-समीक्षा आदि। इनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थो की भी पर्याप्त लम्बी सूची है। इनमे प्रमुख हैं—शिवा बावनी, मीराबाई ग्रन्थावली, आचार्य भमीरदास ग्रन्थावली और अलकार-कोश। इन सम्पादनो की भूमिका रूप मे लिखे गये लेखो मे इनका समालोचक एव अनुसन्धित्सु का प्रखर रूप स्पष्टत देखा जा सकता है।

अन्य गद्यात्मक विधाएँ

शोध-साहित्य—हमारे विचार मे शोध-साहित्य के मूल मे किसी एक व्यक्ति या विषय को लेकर अनुसधानात्मक ढग से उसकी समग्र एव सर्वांगीण समीक्षा प्रवृत्ति ही काम कर रही है। इस प्रकार के साहित्य विकास शिक्षा के क्षेत्र मे उच्चतम मान स्थापित करने की प्रवृत्ति के कारण ही प्रमुखत हुआ है। किसी विशेष व्यक्ति या विषय के सम्बन्ध मे अपनी सर्वज्ञता का महत्त्व प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति भी शोध-साहित्य के मूल मे विद्यमान है। व्यावसायिक दृष्टिकोण भी कुछ न कुछ है ही सही। क्योकि पी-एच० या डी० लिट्० आदि की उपाधियाँ शोध-प्रबन्धो के माध्यम से प्राप्त करके अपने व्यावसायिक क्षेत्र मे, विशेषत साहित्य के क्षेत्र मे व्यक्ति विशेष महत्त्व प्राप्त कर सकता है। इससे साहित्य एव साहित्यकारो के सबध मे नव्य क्षितिजो का उद्घाटन भी हुआ है, अत निश्चय ही यह प्रवृत्ति साहित्य की समस्त विधाओ को प्रगति का विशेष स्तर प्रदान करने वाली है।

शोध करना वैसे मानव का सहजात गुण है। साहित्य एव साहित्येतर क्षेत्रो मे प्रगति एव निरन्तर विकास का कारण यह प्रवृत्ति ही है। हिन्दी साहित्य मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले तक बडी कठिनता से दो-चार डॉक्टर उपाधिधारी शोधकर्ताओ के नाम मिलते थे, किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के दो-चार वर्षो बाद से इस प्रवृत्ति को विशेष बल मिला है। आज हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर आज तक जितनी भी विधात्मक रचनाएँ हुई है, इन सब पर तथा इनके सभी

लेखकों पर उत्कृष्ट शोध-साहित्य उपलब्ध है। विभिन्न कालों के कवि, इनकी काव्यगत प्रवृत्तियाँ एव जीवनियाँ, इनके काव्य-शास्त्रीय स्वरूप एव विधात्मक विकास, गद्य के क्षेत्र मे नाटक, कहानी, उपन्यास, निवध, समालोचना आदि सभी क्रियाएँ एव इन विधाओं के अनेक सर्जक शोध साहित्य का विषय वन चुके हैं। अनेक विषयों एव लेखकों पर भी प्रकाश पड चुका है। शोध की दिशा मे नवयुवक शोधकर्त्ता दत्तचित्त होकर अग्रसर है। इसी कारण आज हिन्दी साहित्य मे शोधकर्त्ताओं एव शोधात्मक रचनाओं की एक विशिष्ट विकसित परम्परा वन चुकी है और इस परम्परा का निरन्तर विकास हो रहा है। वास्तव मे साहित्य की यह विधा और दिशा दोनो अनन्त है। इसकी परि-समाप्ति सम्भव ही नही। एक ही विषय को लेकर उसपर विभिन्न दृष्टियों से शोध एव विचार हो सकता है और हो भी रहा है।

शोध-ग्रथो एव शोधकर्त्ताओं की सूची अब काफी लम्बी हो चुकी है। कुछ मुख्य शोध-ग्रथ और इनकी सूची इस प्रकार है —

रासो साहित्य-विमर्श (डॉ० माताप्रसाद गुप्त), आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान (डॉ० देवराज), हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य (डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ), कबीर का रहस्यवाद (डॉ० रामकुमार वर्मा), सूर की काव्य-कला (डॉ० मनमोहन गौतम), अपभ्रश साहित्य (डॉ० हरिवश कोछड), राजस्थानी कहावतें एक अध्ययन (डॉ० कन्हैयालाल सहल), हिन्दी उपन्यास मे चरित्र-चित्रण का विकास (डॉ० रणवीर राग्रा), हिन्दी तथा मराठी उपन्यासो का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ० शातिस्वरूप गुप्त) प्रेमचद एक अध्ययन (डॉ० राजेश्वर गुरु), हिन्दी नाटक उद्भव और विकास (डॉ० दशरथ ओझा), रीतिकालीन अलकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन (डॉ० ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री), कृष्णभक्ति काव्य मे सखी भाव (डॉ० शरणविहारी गोस्वामी), भक्तिकालीन काव्य-सिद्धान्त (डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त), कृष्ण भक्ति साहित्य मे लीलादर्शन (डॉ० जगदीशचन्द्र भारद्वाज) आदि।

जीवनी साहित्य—हिन्दी साहित्य मे जीवनी-साहित्य की परम्परा काफी प्राचीन है। इसके प्रारम्भिक सूत्र भक्ति-काल मे मिलते है। नाभादास-विरचित

'भक्तमाल', गोसाई गोकुलनाथ विरचित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा '
सौ वावन वैष्णवन की वार्ता' इस दिशा मे प्रथम प्रयास प्रतीत होते हैं। इ
सख्याओ के अनुरूप ही अनेक वैष्णव भक्तो के चरित्र अकित किये गए हैं। हि
साहित्य के इतिहास-लेखन मे इन ग्रथो का योगदान महत्त्वपूर्ण है। इसके व
वेणीमाधवदास द्वारा रचित 'गोसाईं चरित' नामक जीवनी साहित्य उपल
होता है। अकवर-काल के एक कवि वनारसीदास ने 'अर्द्धकथानक' नाम से अ
आत्मकथा को भी पद्यवद्ध किया था। किन्तु इन समस्त रचनाओ मे लेखको
दृष्टिकोण अनेक प्रकार के पूर्वाग्रहों से प्रतिवद्ध है। अत इन्हे विशुद्ध जीव
साहित्य के अन्तर्गत नही रखा जा सकता।

साहित्य की अन्य अनेक आधुनिक विधाओ के समान जीवनी-साहित्य
स्वस्थ एव समग्र स्वरूप की सर्जना का आरम्भ भी भारतेन्दु-युग से माना
सकता है। इस दिशा मे भारतेन्दु जी की दो रचनाओ के नामोल्लेख किए
सकते है—(१) चरितावली और (२) पच पवित्रात्मा। पहली मे वि
कालिदास, रामानुज, जयदेव, सूरदास, राजाराम शास्त्री, मिस मेयो, रिपन अ
की सक्षिप्त जीवनियाँ अकित की गई है। दूसरी मे इस्लाम के प्रवर्त्तको
सवर्धको का चरित्राकन हुआ है। इसके वाद काशीनाथ खत्री का नाम अ
है। इन्होने अपनी रचना 'भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियो के जीवन-चरित्र
स्वस्थ ढग से अनेक नारी-चरित्राकन किए है। इसके अतिरिक्त इन्होने महार
प्रताप, छत्रपति शिवाजी, मीरावाई, विक्रमादित्य, विहारी, सूरदास
अहित्यावाई आदि के भी प्रशस्त जीवन-चरित्र अनेक पुस्तको मे चित्रित किए

भारतेन्दु-मण्डल के अन्य लेखको ने भी इस दिशा मे विशेष प्रयत्न किए
जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'पोप कवि का चरित', प्रतापनारायण मि
'चरिताष्टक', वालमुकुन्द गुप्त ने 'हरिदास गुरयानी' और प्रतापनारायण
का जीवन चरित्र, राधाकृष्णदास-विरचित 'आद्य चरितामृत', रमाशकर व
की रचना 'नेपोलियन वोनापार्ट का चरित्र', गोकुलनाथ शर्मा द्वारा वि
'देवी सहाय चरित्र' आदि प्रमुख रचनाएँ है। यह परम्परा यही समाप्त नह
जाती, आगे भी निरन्तर चलती रही। आगे चलकर अयोध्यासिह उपाध्या

'चरितावली' का सृजन किया। मुंशी देवीप्रसाद ने महाराजा मानसिंह कछवाह, राजा मालदेव, अकबर और बीरबल के चरित्र चित्रित किए। सन् १९०१ मे प० अम्बिकादत्त व्यास ने 'निज वृत्तान्त' नाम से अपनी जीवनी लिखने का प्रयास भी किया था। इनके अतिरिक्त डॉ० विजयेन्द्र स्नातक तथा डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने गार्सां द तासी के 'हिन्दुस्तानी इतिहास' और शिवसिंह सरोज द्वारा रचे गए इतिहास ग्रन्थो की गणना भी जीवनी साहित्य के अन्तर्गत ही की है। कुल मिलाकर इस युग का जीवनी-साहित्य पूर्णतया वैज्ञानिक नही स्वीकार किया जाता, क्योकि कवियो आदि की जीवनी मे प्रामाणिक सामग्री न प्रस्तुत करके किंवदन्तियो का सहारा अधिक लिया गया है। दूसरे चरित्रो के चित्रणो मे समग्रता भी नही है। मात्र गुणो के उद्घाटन की ओर ही कर्ताओ का ध्यान रहा है। अत इनका उतना साहित्यिक महत्त्व नही, जितना ऐतिहासिक।

जीवनी-साहित्य का सम्यग् विकास परवर्ती युगो मे ही हो पाया है। इस दिशा मे बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रयत्न विशेष सराहनीय हैं। इन्होने 'भारत-भक्त ऐण्ड्रयूज' तथा 'कवि सत्यनारायण की जीवनी' जैसी तथ्यो पर आधारित, अनुसन्धानात्मक, सारगर्भित जीवनियाँ प्रस्तुत की हैं। सरदार पूर्णसिंह द्वारा विरचित 'स्वामी रामतीर्थ की जीवनी' पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। सीताराम चतुर्वेदी ने 'महामना मालवीय जी की जीवनी' रची। जीवनी रचने की भावना से अनुप्राणित होकर अनेक प्रकार के लेख भी पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होते रहते है।

'आत्मकथा' भी जीवनी-साहित्य का ही एक अग है। यह खेद का विषय है कि अभी तक हिन्दी मे इस प्रकार की रचनाएँ नाममात्र को ही मिलती है। श्री श्रद्धानन्द की रचना 'कल्याणमार्ग का पथिक', भाई परमानन्द की 'आपबीती', बाबू श्यामसुन्दर दास की 'आत्म-कहानी', वियोगी हरि की 'मेरा जीवन-प्रवाह' और बाबू गुलाबराय द्वारा विरचित 'मेरी असफलताएँ' जैसी कुछ गिनी-चुनी रचनाएँ ही मिलती है। कुछ अग्रेजी आत्मकथाओ के हिन्दी अनुवाद भी हुए हैं। इनमे गाधी, नेहरू और राजेन्द्र बाबू की आत्मकथाएँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

यात्रा-साहित्य—यद्यपि यात्रा-साहित्य निबन्ध के अन्तर्गत ही आता है, फिर भी उसका एक स्वतन्त्र महत्त्व अंकित किया जाता है; क्योकि अनेकानेक स्थानो,

व्यक्तियो, वस्तुओ, भावनाओ का विवरणात्मक व्योरा रहते हुए भी इसका स्वरूप-विधान कही न कही चरित्र एव कहानी की सीमाओ का सस्पर्श करता हुआ दिखाई देता है। अत इसमे एक साथ निवन्ध, जीवनी और कहानी की त्रिवेणी प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है और पढने पर इन तीनो से समन्वित आनन्द भी प्राप्त होता है।

राहुल साकृत्यायन की रचनाएँ 'किन्नर देश' और 'हिमालय-परिचय' इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। भदन्त आनन्द कौसल्यायन विरचित 'आज का जापान' भी इसी प्रकार की उदात्त कृति है। रामवृक्ष वेनीपुरी की 'पैरो मे पख वाँधकर' यशपाल-विरचित 'लोहे की छह दीवारो के दोनो ओर' तथा 'राहवीती' आदि भी इसी श्रेणी की उत्तम कृतियाँ हैं। मोहन राकेश की 'आखिरी चट्टान तक' भी यात्रा-विवरण सम्बन्धी साहित्य ही है। यात्रा विवरणो को प्रकाशित करनेवाले कुछ लेखको के लेख भी सामयिक पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होते रहते है। ऐसे लेखकारो मे लल्लनप्रसाद व्यास का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

ससमरण—ससमरण साहित्य के प्रवर्त्तक के रूप मे श्री वनारसीदास चतुर्वेदी का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। पत्रकार होने के नाते यह अनेक महान् व्यक्तियो के निकट सम्पर्क मे रहे। नेशनल काग्रेस के प्रतिनिधि के रूप मे इन्होंने अफ्रीका की यात्रा भी की थी। इन्होने इन सवसे सम्वन्धित विशेष प्रकार के ससमरण लिखे है, अत इन्हे ससमरण लिखने की कला का पथ-प्रदर्शक माना जा सकता है। 'सावरमती आश्रम मे महात्मा जी' जैसे इन्होने अनेक सुघड ससमरण लिखे हैं।

इस दिशा मे कार्य करने वाले अन्य स्मरणीय नाम हैं—घनश्यामदास बिरला, श्रीमन्नारायण अग्रवाल, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, रामवृक्ष वेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र, नरहरि विष्णु गाडगिल। विरला जी ने 'वापू' नामक रचना मे गाधीजी के जीवन से सम्वन्धित अनेक ससमरण प्रस्तुत किए हैं। श्रीमन्नारायण की 'सेगाँव का सन्त' भी गाधी-जीवन से सम्वन्धित प्रसिद्ध ससमरणात्मक रचना है। भदन्त आनन्द कौसल्यायन के 'जो न भूल सका' तथा 'जो लिखना पडा' महत्त्वपूर्ण हैं। रामवृक्ष वेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' मे वडे ही सजीव एव

रोचक सस्मरण हैं। कन्हैयालाल मिश्र ने 'भूले हुए चेहरे' तथा नरहरि विष्णु गाडगिल ने 'स्मृति शेष' लिखकर इस विधा को समृद्ध किया है।

श्रीमती महादेवी वर्मा की तीन कृतियो को इस विधा मे रखा जा सकता है। किन्तु इनमे से 'पथ के साथी' तो निश्चय ही एक सर्वाधिक सशक्त सस्मरणात्मक सर्जना है। इसमे इन्होने अपने समसामयिक कवियो एव साहित्यकारो के अत्यन्त सजीव सस्मरण प्रस्तुत किए हैं।

रेखाचित्र—यह सस्मरणात्मक साहित्य से मिलती-जुलती हुई गद्य-विधा है। इसमे एक ओर जीवनी का सस्पर्श है तो दूसरी ओर निवन्ध एव कहानी का भी। जिस प्रकार किसी सशक्त चित्र मे रेखाओ का उभार प्रत्यक्ष रहता है, उसी प्रकार इस विधा मे किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान या विषय विशेष का सजीव शब्द-चित्राकन किया जाता है। इसके अन्तर-वाहिर की प्रत्येक रेखा धडकती हुई सी सजीव प्रतीत होती है। पढने के साथ-साथ प्रत्येक शब्द एव उसमे निहित अर्थ एक चित्र का सजीव अग वनकर पाठक के मन-मस्तिष्क मे उभरने लगता है।

इस दिशा मे अभी विशेष प्रगति तो नही हुई, फिर भी जो कुछ वन पाया है, वह पर्याप्त आकर्षक एव सजीव है। वावू गुलावराय-विरचित 'मेरे नापिताचार्य' एक सशक्त रेखाचित्र है। इसी प्रकार रामवृक्ष वेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' भी इसका सुन्दर उदाहरण है। वनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, प्रभाकर माचवे, कन्हैयालाल मिश्र आदि इस चित्रकला मे विशेष सिद्धहस्त हैं। श्रीराम शर्मा की 'वोलती प्रतिमा', प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'रेखाचित्र और पुरानी स्मृतियाँ' और 'नए स्कैच' आदि का इस दिशा मे ससम्मान उल्लेख किया जाता है।

रिपोर्ताज—पत्रकारिता से सम्वन्धित नव्य विधा 'रिपोर्ताज' को समाचार, निवध और कहानी की मध्यवर्तिनी विधा माना जाता है। यह प्राय घटना-प्रधान सर्जना है, क्योकि इसमे प्राय सत्य-घटित घटनाओ का ही इस आवेश एव शिल्प-सौष्ठव के साथ चित्रण किया जाता है कि यह प्रत्यक्ष-दर्शन-सी वन जाती है। वातावरण एव दृश्य-विधान इसकी प्रमुख विशेषताएँ है। सत्य के साथ यहाँ कल्पना और भावना का भी समन्वय हो जाता है। वातावरण एव दृश्य-

विधान के लिए यह समन्वय है भी परमावश्यक। द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्तराल से इस विधा ने जन्म लिया। इसके बाद इसका क्रमश विकास हो रहा है।

हिन्दी साहित्य मे अभी तक यह विधा अपने आरम्भिक चरण मे ही है। फिर भी इसके प्रति सुरुचि मे क्रमश विकास हो रहा है। डॉ० शिवदानसिंह चौहान, रागेय राघव, प्रभाकर माचवे, प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा अन्य अनेक पत्रकार और विशेष पत्रो से सम्बन्धित व्यक्ति इस दिशा मे विशेष सक्रिय हैं। यहाँ इस विधा का प्रारम्भ बगाल का अकाल, आजाद हिन्द फौज, विभाजन की स्थितियाँ एव समस्याओ के चित्रणो से हुआ है। भारत-चीन एव भारत-पाक युद्धो के अवसरो पर इस विधा को विशेष विकास मिला। बाद मे बगला देश (पूर्वी बगाल) के उन्नयन मे भी इस प्रवृत्ति को विशेष बढावा दिया है। इस समय मे पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित रिपोर्ताज़ अत्यधिक सशक्त एव सजीव हैं। 'धर्म-युग' साप्ताहिक के सम्पादक डॉ० धर्मवीर भारती ने निश्चय ही इस दिशा मे विशेष सफलता पाई है।

दैनन्दिनी (डायरी)—दैनन्दिनी या डायरी लिखना कई मनुष्यो की सहज प्रवृत्ति होती है। वे लोग दैनिक जीवन मे घटित होने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाओ को स्मरण के लिए तारीख के अनुसार नोट करते जाते है। कई बार वहाँ लिखित सस्मरण काफी रोचक प्रमाणित होते है। उनसे विशेष प्रकार की प्रेरणा भी मिलती है। वैयक्तिक दैनन्दिनी की इसी रोचकता और प्रेरणात्मकता ने साहित्य के क्षेत्र मे भी इस दैनन्दिनी-विधा को जन्म दिया है। वास्तव मे यह विधा पर्याप्त रोचक है, किन्तु हिन्दी मे अभी इस दिशा मे कोई विशेष प्रयत्न नही हुआ।

उपलब्ध दैनन्दिनी-साहित्य मे नरदेव शास्त्री की 'नरदेवतीर्थ की जेल-डायरी', घनश्यामदास बिरला की 'डायरी के कुछ पन्ने' तथा इलाचन्द्र जोशी की 'मेरी डायरी के नीरस पृष्ठ' आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। उल्लेखनीय एव ध्यातव्य तथ्य यह है कि हमे इस विधा का प्रयोग कुछ उपन्यासो और कहानियो मे भी मिलता है।

इण्टरव्यू—इण्टरव्यू या साक्षात्कार की नव्य विधा भी हिन्दी साहित्य मे क्रमश पनप रही है। इस विधा मे किसी व्यक्ति विशेष से भेंट के बाद उससे

होने वाली चर्चाओ, उसके व्यक्तित्व का आकलन, उसके द्वारा दिए गए प्रश्नो ` उत्तर या विचार आदि का रोचक ढग से सकलन रहता है। पत्र-पत्रिकाओ मे वसर इस प्रकार के लेख प्रकाशित होते रहते है।

इस दिशा मे, राजेन्द्र यादव और पद्मसिह शर्मा 'कमलेश' का नाम विशेष ल्लेखनीय है। राजेन्द्र यादव ने रूसी लेखक 'चेखव' से भेट के सस्मरण लिखे ,, जो पर्याप्त रोचक है। इसी प्रकार कमलेश का 'मैं इनसे मिला' भी काफी ाहत्त्वपूर्ण इण्टरव्यू-सकलन है।

गद्य गीत या गद्य-काव्य—गद्य मे काव्य जैसा प्रभाव उत्पन्न करके विचारो ो अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति ने इस विधा को जन्म दिया। अक्सर भावावेश े सुख-दुखात्मक क्षणो मे मानव की वाणी मे काव्यमयता का सचार होने लगता है। यदि इसमे ताल-लय एव सगीत का भी समन्वय हो जाता है, तब तो यह 'गीति-काव्य' के नाम से अभिहित किया जाता है और यदि भावावेश की यह अभिव्यक्ति तरलायित गद्य मे ही रहती है तो इसे गद्य-गीत या गद्य-काव्य के नाम से अभिहित किया जाने लगा।

इसमे स्वरूप-विधान की दृष्टि से लयात्मकता, भावावेश एव वातावरण की प्रवृत्ति अधिक रहती है। वास्तव मे 'गीत-काव्य' के समान इसमे भी किसी एक ही तरलायित भाव की अभिव्यक्ति रहती है। कुछ लोग इसके कलेवर मे निबध, सस्मरण और कहानी के तत्त्वो को पाते है, किन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रान्ति-मूलक है, क्योकि इसमे काव्यात्मक भाव ही गद्य मे अभिव्यक्त होता है। इसमे वैय-क्तिकता भी अवश्य रहती है। हिन्दी मे कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीताजलि' के अनुवाद के बाद ही इस विधा का प्रचलन हुआ। रायकृष्णदास को ही हिन्दी मे इस विधा का प्रवर्त्तक माना जाता है। साधना, प्रवाल, छायापथ, पगला और सलाप आदि इनके अनेक गद्य-गीत-सग्रह प्रकाशित हुए है। भाव-प्रवणता एव शिल्पगत वैशिष्ट्य आदि की दृष्टि से यह गद्य-गीत निश्चय ही अत्यधिक प्रभावी एव महत्त्वपूर्ण है।

इनके बाद वियोगी हरि की रचनाओ मे इस विधा का विशेष विकास दिखाई देता है। साहित्य-विहार, प्रेमयोग, भावना, ठण्डे छीटे, और अन्तर्नाद इनके बहु-चर्चित एव प्रशसित सकलन है। इनके अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री ने 'अन्तस्तल',

सुदर्शन ने 'झरोखे' डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'हिमहास' अज्ञेय ने 'भग्नदूत' और 'चिन्ता', रघुवीरसिंह ने 'जीवनकण', 'जीवनधूलि' तथा 'शेष-स्मृतियाँ', रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'गेहूँ और गुलाब', दिनेशनन्दिनी चोरडिया ने 'शबनम' तथा 'शारदीया' जैसे गद्य-गीतो के सशक्त सकलन हिन्दी-साहित्य को प्रदान किये हैं। अन्य अनेक लेखको का भी इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण योगदान है।

बाल-किशोर-साहित्य—वैसे तो बाल-किशोर-साहित्य रचने की प्रवृत्ति स्वतन्त्रता-पूर्व युग मे भी दिखाई देती है, क्योकि तब अवसर इस प्रकार की पत्र-पत्रिकाओ के लिए ऐसा साहित्य लिखा ही जाता रहा, पर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से इस प्रकार की सृजनात्मक प्रक्रिया को विशेष महत्त्व मिला है। आज इस प्रकार का साहित्य तात्त्विक एव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विशेष महत्त्व प्राप्त करता जा रहा है और इसकी रचना भी धूम-धडाके के साथ हो रही है।

बाल-गीत और कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, चुटकुने आदि अनेक प्रकार के विधात्मक साहित्य की रचना बाल-किशोरो के लिए अनवरत हो रही है। इस साहित्य के प्रवर्त्तक लेखको मे श्री रामनरेश त्रिपाठी, स्वर्गीय अध्यापक जहूरबख्श, आनन्द कुमार त्रिपाठी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। आज के लेखको मे निरकारदेव सेवक, जयप्रकाश भारती, शकुन, मनहर चौहान, सुशील शर्मा, योगराज थानी, राजेन्द्र अवस्थी, श्री शरण, व्यथित हृदय और राजेश शर्मा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। विधात्मक निर्माण की दृष्टि से आज बाल किशोर उपन्यासो की रचना ही सर्वाधिक हो रही है। राजेश शर्मा ने इस दिशा मे ऐतिहासिक महापुरुषो की जीवनियो को औपन्यासिक परिवेश मे प्रस्तुत करके महत्त्वपूर्ण काम किया है। इनके द्वारा रचे गये इस प्रकार के बाल-किशोर उपन्यासो की सख्या दो दर्जन से भी अधिक है। इनमे से प्रमुख हैं—महाराणा बाप्पा रावल, महाराणा साँगा, महाराणा हम्मीर, चित्तौड की पद्मिनी, राखी की चुनौती, महाराणा प्रताप, गुरु नानक देव, गुरु गोविन्दसिह, अन्य समस्त सिक्ख गुरु, नन्हे पहरेदार, अन्धे कुएँ के देव तथा एक और चाँद आदि। अन्य अनेक लेखक भी इस दिशा मे विशेष क्रियाशील हैं।